

J. 2070

14/10/2000

वर्धमान जीवनःकोश

[द्वितीय खण्ड]

श्रीकैलाससागरसूरि ज्ञानमन्दिर
श्रीमहावीर जैन आराधना केन्द्र
कोवा (गांधीनगर) पि. 322008

वर्धमान जीवन-कोश

[द्वितीय खण्ड]

CYCLOPAEDIA OF VARDHAMANA

जैन दशमलव वर्गीकरण संख्या

०३५४ तथा ६२२४

सम्पादक :

मोहनलाल बांठिया, बी० कॉम
श्रीचन्द चोरड़िया, न्यायतीर्थ (द्वय)



प्रकाशक :

जैन दर्शन समिति

१६-सी, डोवर लेन, कलकत्ता-७०००२६

सन् १९८४

जैन आगम विषय कोश ग्रन्थमाला

चतुर्थं पुष्प—वर्धमान जीवन-कोश, द्वितीय खण्ड : जैन दशमलव

वर्गीकरण संख्या ०३५४ तथा ६२२४

अर्थ सहायक—श्री भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट, जोधपुर

मारफत—श्री जवरमल भंडारी, तथा अन्यगण

प्रथम आवृत्ति ५००

मूल्य भारत में रु० ६५.००

विदेश में Sh 85/-

मुद्रक :

मिश्रा आर्ट प्रेस

२४ सी, रवीन्द्र सरणी,

कलकत्ता-७०००७३

समर्पण

महामहिम युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी हमारे निर्णायक रहे हैं। जीवन की नाव
आवतों से बचकर, ज्वारों को लांघकर जो मंजिलें पार कर रही है, उसमें
निर्यायक का कौशल एक अप्रतिम हेतु भी है। युगप्रधान आचार्य श्री
तुलसी ने तेरापंथ धर्म संघ में साहित्य की अनेक धाराओं का
सूत्रपात किया, जिसमें एक धारा आगम कोश की है।
जिन्होंने मेरे मन में श्रुत की धार प्रवाहित की, उन
आगमों के वाचना प्रमुख युगप्रधान आचार्य श्री
तुलसी को मैं वर्धमान जीवन कोश
द्वितीय खंड सभक्ति, सविनय
समर्पित करता हुआ अपूर्व
आनन्द का अनुभव
कर रहा हूँ।

—भीचन्द चोरड़िया

सकलन-संपादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की संकेत-सूची

| | |
|-------------|----------------------------------|
| — | अंगुत्तरनिकाय |
| अणुत्त० | अणुत्तरोववाइयदसाओ |
| — | अयोनव्यवच्छेदिका |
| अन्ययो० | अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका |
| अंत० | अंतगडदसाओ |
| अष्ट० | अष्टसहस्री |
| अभिधा० | अभिधान चिंतामणि संस्कृत कोष |
| अष्टपा० | अष्टप्राभृत |
| अणुओ० | अणुओगद्वाराइं |
| अणुओ० हारि० | अणुओगद्वाराइं हारिभद्रीयटीका |
| — | अर्धमागधी कोष |
| — | आगम और त्रिपिटक |
| आया० | आयरो-टीका-चूर्णी |
| — | आप्टे संस्कृत अंग्रेजी छात्र कोष |
| आया० चू० | आवश्यक चूर्णि |
| आव० नि० | आवश्यक निर्युक्ति |
| आव० भाष्य | आवश्यक भाष्य |
| आव० | आवस्सर्यं सुत्तं |
| उत्त० | उत्तरज्झयणाइं-टीका |
| उत्तपु० | उत्तमपुरुषचरित्रम् |
| उत्तरपु० | उत्तरपुराण |
| — | उपदेशमाला सटीक |
| उवा० | उवासगदसाओ-टीका |
| ओव० | ओववाइयं |
| कल्प० | कल्पसुत्तं |
| — | कल्पसूत्र कल्पलता व्याख्या |
| कल्पसू० चू० | कल्पसूत्रचूर्णि |
| कसापा० | कसायपाहुडं |
| क्रियाको० | क्रियाकोश |
| जंबू० | जंबुद्वीवपण्णत्ती |

| | |
|------------|----------------------------------|
| जीवा० | जीवाजीवाभिगमो |
| ठाणं० | ठाणं |
| — | ठाणं टीका |
| चउप्प० | चउप्पनपुरिसचरिउ |
| चतुः | चतुर्विंशतिस्तवन |
| चंद० | चंदपणत्ती |
| — | तित्थोगालीपइन्नयविविधतीर्थकल्प |
| तिलोप० | तिलोयपणत्ती |
| — | तुलसी प्रज्ञा |
| दसवे० | दसवेआलियं |
| त्रिशलाका० | त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र |
| — | दीर्घनिकाय |
| — | दर्शनसार |
| दसासु० | दसासुयखंधो-टीका |
| — | धर्म संग्रह सटीक |
| धर्मो० | धर्मोपदेशमाला |
| — | न्यायबिन्दु |
| ध्याको० | ध्यान कोश (अप्रकाशित) |
| नंदी० | नंदीसुत्तं |
| — | न्यायावतार |
| नाया० | णायधम्मकहाओ |
| निरया० | निरयावलियाओ |
| णिसी० | णिसीहं |
| पुद्दको० १ | पुद्दगल कोश (अप्रकाशित) खण्ड १ |
| पुद्दको० २ | पुद्दगल कोश (अप्रकाशित) खण्ड २ |
| परिको० | परिभाषा कोश (अप्रकाशित) |
| पउम० | पउमचरियं |
| पण्हा० | पण्हावागरणाइं |
| — | परिशिष्टपर्व |
| — | पंचाशकटीका |
| पाइ० | पाइअमहमहाणवो |
| प्रवसा० | प्रवचनसारोद्धार |
| पंचवस्तुक० | पंचवस्तुकग्रन्थ |
| पण्ण० | पण्णवणासुत्तं |
| भग० | भगवई-टीका |
| — | भरतेश्वरबाहुबलिवृत्ति |

| | |
|--------------|-------------------------------------|
| — | मज्झिमनिकाय |
| — | मज्झिमपणायक |
| मिआवि० | मिथ्यात्वोका आध्यात्मिक विकास |
| — | महावीरचरियं |
| — | मत्स्यपुराण |
| महापु० | महापुराण |
| योगको० | योग कोश अप्रकाशित |
| — | यजुर्वेद (अजुर्वेद) |
| बिह० | बिहकप्पो |
| रत्नश्रा० | रत्नकरण्डश्रावकाचार |
| राय० | रायपसेणइयं-टीका |
| वर० | वररुचिव्याकरण |
| लेको० | लेश्याकोश |
| — | युवत्यनुशासनम् |
| लेश्याको० | संयुक्त लेश्या कोश (दिगम्बरसोर्स) |
| वड्ढच० | वड्ढमाणचरिउ |
| — | वायुपुराण |
| विवा० | विवाग |
| वीरजि० | वीरजिणदचरिउ |
| — | विनयपिटक |
| वीरवर्धमानघ० | वीरवर्धमानचरितम् |
| — | विचारश्रेणि |
| वव० | ववहारो |
| विशेभा० | विशेषावश्यक भाष्य |
| सप्ततिशत० | सप्ततिशत स्थान प्रकरण |
| स्वभू० | स्वयंभू स्तोत्र |
| — | सिरिदुसमाकाल समण संघथयं-अवचूरि |
| सूर० | सूरपण्णत्ती |
| — | संयुक्तनिकाय |
| सम० | समवाओ टीका |
| सूय० | सूयगडो टीका |
| — | सुत्तनिपात्तपालि |
| — | स्कंधमहापुराण |
| हरिपु० | हरिवंशपुराण |
| हेम० | सिद्धहेमशब्दानुशासनम् |
| — | ऋग्वेदमंडल |

आशीर्वचन

भगवान महावीर का जीवन अनेक दृष्टियों से अनेक लेखकों ने लिखा है। कुछ लेखकों ने स्वतन्त्र रूप से लिखा है और कुछ लेखकों ने साधारण। स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया और श्रीचन्द्र चोरड़िया के संयुक्त प्रयास से कुछ वर्गीकृत कोशों का संकलन किया गया है। उनमें से लेश्या कोश, क्रियाकोश और वर्धमान जीवन कोश (प्रथम खण्ड) प्रकाशित हो चुके हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ वर्धमान जीवन-कोश (द्वितीय खण्ड) प्रकाशनाधीन है। यह कोई स्वतन्त्र या मौलिक चिन्तन से प्रसूत जीवन जीवनवृत्त नहीं है। जैन आगमों और प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर इसका संकलन किया गया है। इसमें संकलनकर्ता को अध्ययन, रूचि, धृति और परिश्रम को एक साथ उजागर होने का अवसर मिला है।

साधारण पाठकों के लिए इस ग्रन्थ का बहुत बड़ा उपयोग नहीं हो सकता। किन्तु जो विद्वान् भगवान महावीर के जीवन सन्दर्भ में विशेष रूप से जिज्ञासु और संश्लिप्त हैं, उनके लिए ग्रन्थमाला प्रकाशस्तम्भ का काम करनेवाली है। विद्वान लोग इस ग्रन्थमाला का सलक्ष्य उपयोग कर श्री बाँठिया और श्री चोरड़िया के श्रम को सार्थक ही नहीं करेंगे, अपने शोधकार्य में उपस्थित अनेक समस्याओं का समाधान भी पा सकेंगे, ऐसा विश्वास है।

—आचार्य तुलसी

२६ मार्च १९८४
चुरू (राजस्थान)

जैन वाङ्मय का दशमलख वर्गीकरण मूल विभागों की रूपरेखा

| | |
|--|---------------------|
| जै० द० व० स० (हमारे अंकन) | यू० डी० सी० के अंकन |
| ०—जैन दार्शनिक पृष्ठभूमि | + |
| ०१—लोकालोक | ५२३.१ |
| ०२—द्रव्य-उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य | + |
| ०३—जीव | १२८ सी० एफ० ५७७ |
| ०४—जीव परिणाम | + |
| ०५—अजीव अरूपी | ११४ |
| ०६—अजीव रूपी-पुद्गल | ११७ सी० एफ० ५३६ |
| ०७—पुद्गल परिणाम | + |
| ०८—समय-व्यवहार समय | ११५ सी० एफ० ५२६ |
| ०९—विशिष्ट सिद्धान्त | + |
| १—जैन दर्शन | १ |
| ११—आत्मवाद | १२ |
| १२—कर्मवाद-आस्रव-बंध | + |
| १३—क्रियावाद-संवर-निर्जरा-मोक्ष | + |
| १४—जैनेतरवाद | १४ |
| १५—मनोविज्ञान | १५ |
| १६—न्याय-प्रमाण | १६ |
| १७—आचार-संहिता | १७ |
| १८—स्याद्वाद-नयवाद-अनेकान्त | + |
| १९—विविध दार्शनिक सिद्धान्त | + |
| २—धर्म | २ |
| २१—जैन धर्म की प्रकृति | २१ |
| २२—जैन के धर्मग्रन्थ | २२ |
| २३—आध्यात्मिक मतवाद | २३ |
| २४—धार्मिक जीवन | २४ |
| २५—साधु-साध्वी-यति-भट्टारक-क्षुल्लकादि | २५ |
| २६—चतुर्विध संघ | २६ |
| २७—जैन धर्म का साम्प्रदायिक इतिहास | २७ |
| २८—सम्प्रदाय | २८ |
| २९—जैनेतर धर्म : तुलनात्मक धर्म | २९ |

| | |
|----------------------------|--------|
| ३—समाज विज्ञान | ३ |
| ३१—सामाजिक संस्थान | + |
| ३२—राजनीति | ३२ |
| ३३—अर्थशास्त्र | ३३ |
| ३४—नियम-विधि-कानून-न्याय | ३४ |
| ३५—शासन | ३५ |
| ३६—सामाजिक उन्नयन | ३६ |
| ३७—शिक्षा— | ३७ |
| ३८—व्यापार-व्यवसाय-यातायात | ३८ |
| ३९—रीति-रिवाज-लोक कथा | ३९ |
| | |
| ४—भाषाविज्ञान-भाषा | ४ |
| ४१—साधारण तथ्य | ४१ |
| ४२—प्राकृत भाषा | ४९१.३ |
| ४३—संस्कृत भाषा | ४९१.२ |
| ४४—अपभ्रंश भाषा | ४९१.३ |
| ४५—दक्षिणी भाषाएँ | ४९१.८ |
| ४६—हिन्दी | ४९१.४३ |
| ४७—गुजराती-महाराष्ट्री | ४९१.४ |
| ४८—राजस्थानी | ४९१.४६ |
| ४९—अन्य देशी-विदेशी भाषाएँ | ४९१ |
| | |
| ५—विज्ञान | ५ |
| ५१—गणित | ५१ |
| ५२—खगोल | ५२ |
| ५३—भौतिकी-यांत्रिकी | ५३ |
| ५४—रसायन | ५४ |
| ५५—भूगर्भ विज्ञान | ५५ |
| ५६—पूराजीव विज्ञान | ५६ |
| ५७—जीव विज्ञान | ५७ |
| ५८—वनस्पति विज्ञान | ५८ |
| ५९—पशु विज्ञान | ५९ |
| | |
| ६—प्रयुक्त विज्ञान | ६ |
| ६१—चिकित्सा | ६१ |
| ६२—यांत्रिक शिल्प | ६२ |
| ६३—कृषि विज्ञान | ६३ |

| | |
|---|----|
| ६४ — गृह विज्ञान | ६४ |
| ६५ — + | + |
| ६६ — रसायन शिल्प | ६६ |
| ६७ — हस्त शिल्प वा अन्यथा | ६७ |
| ६८ — विशिष्ट शिल्प | ६८ |
| ६९ — वास्तु शिल्प | ६९ |
| ७ — कला-मनोरंजन-क्रीड़ा | ७ |
| ७१ — नगरादि निर्माण कला | ७१ |
| ७२ — स्थापत्य कला | ७२ |
| ७३ — मूर्ति कला | ७३ |
| ७४ — रेखांकन | ७४ |
| ७५ — चित्रकारी | ७५ |
| ७६ — उत्कीर्णन | ७६ |
| ७७ — प्रतिलिपि-लेखन कला | ७७ |
| ७८ — संगीत | ७८ |
| ७९ — मनोरंजन के साधन | ७९ |
| ८ — साहित्य | ८ |
| ८१ — छंद-अलंकार-रस | ८१ |
| ८२ — प्राकृत साहित्य | + |
| ८३ — संस्कृत जैन साहित्य | + |
| ८४ — अपभ्रंश | + |
| ८५ — दक्षिणी भाषा में जैन साहित्य | + |
| ८६ — हिन्दी भाषा में जैन साहित्य | + |
| ८७ — गुजराती-महाराष्ट्री भाषा में जैन साहित्य | + |
| ८८ — राजस्थानी भाषा में जैन साहित्य | + |
| ८९ — अन्य भाषाओं में जैन साहित्य | + |
| ९ — भूगोल-जीवनी-इतिहास | ९ |
| ९१ — भूगोल | ९१ |
| ९२ — जीवनी | ९२ |
| ९३ — इतिहास | ९३ |
| ९४ — मध्य भारत का जैन इतिहास | + |
| ९५ — दक्षिण भारत का जैन इतिहास | + |
| ९६ — उत्तरी भारत का जैन इतिहास | + |
| ९७ — गुजरात-महाराष्ट्र का जैन इतिहास | + |
| ९८ — राजस्थान का जैन इतिहास | + |
| ९९ — अन्य क्षेत्र व वैदेशिक जैन इतिहास | + |

.०३ जीव द्वार का वर्गीकरण

- | | |
|---------------------------|--|
| ०३०० सामान्य विवेचन | ०३३१ पर्याप्त-अपर्याप्त |
| ०३०१ जीव औषिक | ०३३२ सूक्ष्म-बादर |
| ०३०२ सिद्ध अरूपी | ०३३३ त्रस-स्थावर |
| ०३०३ संसारी रूपी | ०३३४ संज्ञी-असंज्ञी |
| ०३०४ नारकी | ०३३५ गर्भज-संमुच्छिन्न |
| ०३०५ तिर्यंच | ०३३६ सइन्द्रिय-अनेन्द्रिय |
| ०३०६ एकेन्द्रिय तिर्यंच | ०३३७ आहारक अनाहारक |
| ०३०७ पृथ्वीकाय | ०३३८ |
| ०३०८ अप्पकाय | ०३३९ |
| ०३०९ अविनकाय | ०३४० |
| ०३१० वायुकाय | ०३४१ मिथ्या दृष्टि |
| ०३११ वनस्पतिकाय | ०३४२ सममिथ्या दृष्टि |
| ०३१२ प्रत्येक वनस्पतिकाय | ०३४३ सम्यक्त्वो |
| ०३१३ साधारण वनस्पतिकाय | ०३४४ असंयती |
| ०३१४ निगोद | ०३४५ संयतासंयती |
| ०३१५ विकलेन्द्रिय तिर्यंच | ०३४६ संयती |
| ०३१६ बेइन्द्रिय तिर्यंच | ०३४७ प्रमत्त |
| ०३१७ तेइन्द्रिय तिर्यंच | ०३४८ अप्रमत्त |
| ०३१८ चतुरिन्द्रिय तिर्यंच | ०३४९ सवेदी |
| ०३१९ पंचेन्द्रिय जीव | ०३५० अवेदी |
| ०३२० तिर्यंच पंचेन्द्रिय | ०३५१ सकषायी |
| ०३२१ मनुष्य | ०३५२ अकषायी |
| ०३२२ कर्मभूमिज मनुष्य | ०३५३ छद्मस्थ |
| ०३२३ अकर्मभूमिज मनुष्य | ०३५४ सर्वज्ञ - सर्वदर्शी (सामान्य केवली, तीर्थङ्कर) |
| ०३२४ अंतर्द्वीपज मनुष्य | ०३५५ सलेशी |
| ०३२५ युगलिया | ०३५६ अलेशी |
| ०३२६ दव | ०३५७ सयोगी |
| ०३२७ भवनपति | ०३५८ अयोगी |
| ०३२८ व्यंतर | ०३५९ सक्रिय |
| ०३२९ ज्योतिषी देव | ०३६० अक्रिय |
| ०३३० वैमानिक देव | |

"६२ जीवनी का वर्गीकरण

| | |
|-----------------------|----------------------|
| ६२०० सामान्य विवेचन | ६२२५ इन्द्रभूति गणघर |
| ६२०१ ऋषभनाथ तीर्थङ्कर | ६२२६ अग्निभूति ,, |
| ६२०२ अजितनाथ ,, | ६२२७ वायुभूति ,, |
| ६२०३ संभवनाथ ,, | ६२२८ व्यक्त ,, |
| ६२०४ अभिनन्दन ,, | ६२२९ सुधर्म ,, |
| ६२०५ सुमतिनाथ ,, | ६२३० मंडित ,, |
| ६२०६ पद्मप्रभु ,, | ६२३१ मौर्यपुत्र ,, |
| ६२०७ सुपार्श्वनाथ ,, | ६२३२ अकम्पित ,, |
| ६२०८ चंद्रप्रभु ,, | ६२३३ अचलभ्राता ,, |
| ६२०९ सुविधिनाथ ,, | ६२३४ मेतार्य ,, |
| ६२१० शीतलनाथ ,, | ६२३५ प्रभास ,, |
| ६२११ श्रेयांसनाथ ,, | ६२३६ धन्य अनगार |
| ६२१२ वासुपूज्य ,, | ६२३७ नमि राजर्षि |
| ६२१३ विमलनाथ ,, | ६२३८ करकंडू |
| ६२१४ अनंतनाथ ,, | ६२३९ दुर्मुख |
| ६२१५ धर्मनाथ ,, | ६२४० नगई |
| ६२१६ शांतिनाथ ,, | ६२४१ |
| ६२१७ कुंथुनाथ ,, | ६२४२ |
| ६२१८ अरनाथ ,, | ६२४३ आर्य चंदना |
| ६२१९ मल्लीनाथ ,, | ६२४४ मृगावती |
| ६२२० मुनिसुव्रत ,, | ६२४५ प्रभावती |
| ६२२१ नमिनाथ ,, | ६२४६ पद्मावती |
| ६२२२ नेमीनाथ ,, | ६२४७ |
| ६२२३ पार्श्वनाथ ,, | ६२४८ |
| ६२२४ वर्धमान ,, | |

प्रकाशकौ य

स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया ने, अपने अनेक अनुभवों से प्रेरित होकर, एक जैन विषय कोश की परिकल्पना प्रस्तुत की थी तथा श्रीचंदजी चोरड़िया के सहयोग से प्रमुख आगम ग्रन्थोंका मन्थन और चिन्तन करके, एक विषय सूची प्रणीत की थी। फिर उस विषय सूची के आधार पर जैन आगमों के विषयानुसार पाठ संकलन करने प्रारम्भ किये थे। प्रायः १००० विषयों पर पाठ संकलित हो चुके थे। वे जैन दर्शन समिति के पास अभी भी सुरक्षित हैं।

अस्तु लेश्या कोश, क्रिया कोश उन्होंने श्रीचंदजी चोरड़िया के सहयोग से क्रमशः सन् १९६६ व १९६९ में प्रकाशित किये थे।

इसके बाद पुद्गल कोश, ध्यान कोश, संयुक्त लेश्या कोश आदि का कार्य स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया ने पूर्ण किया जो अभी प्रकाशित नहीं हुए है। इन कोशों को जैन विश्व भारती, लाडनू जन्दी ही प्रकाशित करेगी। परिभाषा कोश' का कार्य भी स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया के सान्निध्य में चला। मैं यह भी उल्लेख करना चाहूँगा कि स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया के इस प्रयत्न और प्रयास में सक्रिय सहयोग दिया—श्रीचंदजी चोरड़िया ने।

तत्पश्चात् भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाण शताब्दी के सुअवसर पर स्वर्गीय साहित्य वारिधि श्री अगरचंदजी नाहटा की सद्प्रेरणा से वर्धमान जीवन कोश का शुभारंभ १७-५-१९७५ ई० को स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया ने शुभारंभ किया। जैन दर्शन समिति द्वारा श्री बाँठिया ने अपने जीवन काल में श्रीचंदजी चोरड़िया के सहयोग से वर्धमान जीवन कोश का संकलन कर लिया था। परन्तु २३-९-१९७६ में उनका आकस्मिक स्वर्गवास हो गया। बाँठियाजी के स्वर्गवास पर जैन दर्शन समिति को बहुत बड़ा धक्का लगा।

अस्तु वर्धमान जीवन कोश के साथ-साथ श्रीचंदजी चोरड़िया अपनी रवतंत्र कृति 'मिथ्यात्वी का अध्यात्मिक विकास' पुस्तक की तैयारी कर रहे थे। प.लस्वरूप मिथ्यात्वीका अध्यात्मिक विकास' पुस्तक ३०-११-१९७७ को जैन दर्शन समिति द्वारा प्रकाशित हुई। निःसंदेह दार्शनिक जगत में चोरड़ियाजी की यह एक अप्रतिम देन है। इसकी भी प्रतिक्रिया अच्छी रही। अतः वर्धमान जीवन कोश, प्रथम खंड के प्रकाशन में विलंब हुआ।

स्वर्गीय श्री बाँठियाजी के स्वर्गवास के चार वर्ष पश्चात् वर्धमान जीवन कोश—प्रथम खंड का प्रकाशन हुआ (१९८० ई० में) यह वर्धमान जीवन कोश—विद्वद् वर्ग द्वारा जितना समादृत हुआ। तथा जैन दर्शन और वाङ्मय के अध्ययन के लिये जिस रूप में इसे अपरिहार्य बताया गया और पत्र-पत्रिकाओं में समीक्षा के रूप में जिस तरह मुक्त कंठ से प्रशंसा की गई, यही उसकी उपयोगिता तथा सार्वजनिकता को आलोकित करने में सक्षम है।

इसके बाद उनके साथी श्री जबरमलजी भंडारी, जैन दर्शन समिति के अध्यक्ष श्री नवरतनमल सुराना, श्री मांगीलाल लूणिया, स्व० ताजमलजी बोथरा, धर्मचंदजी राखेबा, हनुतमलजी बांठिया, चंदमलजी मणोत, बच्छराजजी सेठिया आदि महानुभावों ने इस कार्य को अपने हाथ में लेकर वर्धमान जीवन कोश, द्वितीय खंड के प्रकाशित करने की योजना बनायी। इसके प्रति समिति इन सज्जनों को धन्यवाद ज्ञापित करती है।

इस महत्वपूर्ण ग्रंथ को प्रकाशित करने में श्री जबरमलजी भंडारी द्वारा—भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट हमें ६०००) रु० द्वितीय खंड के प्रकाशनार्थ देकर उत्साहित किया तथा श्री शोभाचंद्र सोहनलाल चोरड़िया चेरिटेबल ट्रस्ट कलकता ने १०००) और अन्य सज्जनों ने इस उत्साह के वातावरण में २५०) - २५०) रुपये देकर और उत्साह बढ़ाया। इसके लिये समिति उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करती है।

सहायक दत्ताओं के नाम निम्न प्रकार हैं—

| | |
|--|--------|
| १—श्री भगवतीलाल सिसोदिया ट्रस्ट, | जोधपुर |
| २—श्री नवरतनमल सुराना | कलकता |
| ३—श्री मोहनलाल बैद | ” |
| ४—श्री हनुतमल बांठिया | ” |
| ५—श्री रावतमल हरखचंद | ” |
| ६—श्री मानिकचंद बांठिया | ” |
| ७—श्री चंपालाल आंचलिया | ” |
| ८—सेठ मन्नालालजी सुराना मेमोरियल ट्रस्ट | ” |
| ९—श्री मानिकचंद सेठिया | ” |
| १०—श्री स्वागत फंड सभा | जयपुर |
| ११—श्री हनुमान चेरिटीट्रस्ट | ” |
| १२—श्री केशरीचंद जीतमल | कलकता |
| १३—श्री कुन्दनमल जयचंदलाल नाहटा चेरिटेबल ट्रस्ट | ” |
| १४—श्री विधी फाउन्डेसन | ” |
| १५—श्री जयचंदलाल सेठिया | ” |
| १६—श्री जंबरीमल बैद | ” |
| १७—श्री बेगराज भँवरलाल चोरड़िया चेरिटेबल ट्रस्ट | ” |
| १८—श्री बच्छराज सेठिया | ” |
| १९—श्री श्रीचंद रामपुरिया | ” |
| २०—श्री शोभाचंद सोहनलाल चोरड़िया चेरिटेबल ट्रस्ट | ” |

| | |
|-----------------------------|---------|
| २१—श्री रतनचंद नाहटा | कलकत्ता |
| २२—श्री देवचंद दुगड़ | ” |
| २३—श्री बिहारीलाल जैन, | ” |
| २४—श्री ज्ञानचन्द गुलाबचन्द | ” |

यद्यपि 'वर्धवान महावीर, जीवन के संबंध में अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं लेकिन यह वर्धमान जीवन कोश, शास्त्रों के आधार पर एक उच्च कोटि का कोश है जिसमें मूल आगम का आधार तो है ही—दिग्धर और श्वेताम्बर ग्रंथों का आधार भी प्रचुर मात्रा में लिया गया है। कुछ बौद्ध और वैदिक ग्रंथों का भी आधार रहा है। भगवान् महावीर के पूर्वभव, ग्यारह गणधर, आर्य चंदना आदि का विवेचन अनेक पुस्तकों में अनेक प्रकार से आये हैं। वे इस ग्रंथ में संकलित हैं। इस तरह यह जीववृत्त और जीवन प्रसंग का कोश है।

अस्तु हम आपके सामने वर्धमान जीवन कोश—द्वितीय खंड को रख रहे हैं। प्रस्तुत ग्रंथ का प्रतिपादन अत्यन्त प्राञ्जल एवं प्रभावक रूप में सूक्ष्मता के साथ किया गया है। यह भगवान् महावीर की जीवनधारा को शास्त्रों के आधार पर बताने वाला अनुपम ग्रंथ है। वर्धमान जीवन कोश के तृतीय खंड को भी जल्द ही प्रकाशित करने की योजना है। इसमें वर्धमान के साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका तथा ऐतिहासिक पुरुष विशेष का व्यक्तिगत रूप से विवेचन रहेगा।

परमाराध्य युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी हमारी प्रार्थना पर ध्यान देकर प्रस्तुत कोश पर आशीर्वाचन लिखा इसके लिये उनके प्रति श्रद्धावन्त हैं।

L. D. Institute of Indology अहमदाबाद के भूतपूर्व डाइरेक्टर दलसुखभाई मालवणिया जो जैन दर्शन के उद्भूत विद्वान हैं, उनके बहुमूल्य सुझाव बराबर मिलते रहे हैं तथा लखनऊ के डा० ज्योतिप्रसाद जैन जो जैन दर्शन के उच्चकोटि के विद्वान हैं। प्रस्तुत ग्रंथ पर 'Fore-word' लिखकर हमें अनुगृहीत किया है। इसके लिये हम उन दोनों विद्वानों के लिये अत्यन्त आभारी हैं।

स्व० श्री मोहनलालजी बांठिया तथा श्रीचंदजी चोरड़िया अनेक पुस्तकों का अध्ययन कर प्रस्तुत कोश को तैयार कर हमें प्रकाशित करने का मौका दिया—उनके प्रति भी हम आभारी हैं।

स्व० श्री ताजमलजी बोथरा को भी हम भूल नहीं सकते हैं। जिनका कोश कार्य में बराबर सहयोग रहा। जबरमलजी भंडारी जो हमारी संस्था को मार्ग-दर्श दे रहे हैं एवं इस कोश को प्रकाशित करने में तन मन, धन से सहयोग देते रहे—उनके प्रति हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं। समिति आपकी सेवाओं को सदैव स्मरण रखेगी।

हमारी समिति के द्वारा प्रकाशित अभी ३ पुस्तकें स्टोक में हैं। हमारी समिति के निर्णयानुसार (१००) रु० देने वाले सज्जनों को (१३०) रु० की निम्नलिखित पुस्तकें दी जाती हैं।

| | |
|----------------------------------|-----|
| १—मिथ्यात्वी का अध्यात्मिक विकास | १५) |
| २—वर्धमान जीवन कोश—प्रथमखंड | ५०) |
| ३—वर्धमान जीवन कोश—द्वितीयखंड | ६५) |

कतिपय व्यक्तियों ने अधिम ग्राहक बनकर हमारा उत्साह बढ़ाया है और हमें आशा है कि सभी जैन बंधु इस कार्य में सहयोगी होंगे ।

मेरे सहयोगी—जैन दर्शन समिति के सभापति श्री नवरतनमल सुराना, उपसभापति श्री हनुतमल बांठिया, श्री मांगीलाल लूणिया, श्री धर्मचन्द राखेचा, श्री बच्छराज सेठिया, श्री चंदमल मणोत, श्री जंवरीमल बैद आदि समिति के उत्साही सदस्यों, शुभ चिन्तकों, एवं संरक्षकों का साह्य और निष्ठा का उल्लेख करना मेरा कर्तव्य है । जिनकी इच्छाएँ और परिकल्पनायें मूर्तरूप में मेरे सामने आ रही है । स्व० श्री सूरजमलजी सुराना का भी हमें अभूतपूर्व सहयोग रहा है ।

जैन दर्शन समिति ने जैन दर्शन के प्रचार करने के उद्देश्य से इसका मूल्य केवल ६५) रखा है । जैनतर सभी समुदाय से हमारा अनुरोध है कि 'वर्धमान जीवन कोश' द्वितीय खंड को क्रय करके अंततः अपने सम्प्रदाय के विद्वानों भंडारों में, पुस्तकालयों में उसका यथोचित वितरण करने में सहयोग दे ।

मिश्रा आर्ट प्रेस तथा उनके कर्मचारी भी धन्यवाद के पात्र हैं । जिन्होंने अनेक बाधाओं के होते हुए भी (प्रेस कर्मचारियों की हड़ताल, बिजली लोडशेडिंग आदि) प्रकाशित करने में सक्षम रहे ।

१० सितम्बर १९८४

कलकत्ता

मोहनलाल बैद
मंत्री
जैन दर्शन समिति

प्रस्तावना

जैन दर्शन सूक्ष्म और गहन है तथा मूल सिद्धान्त ग्रन्थों में इसका क्रमबद्ध तथा विषयानुक्रम नहीं होने के कारण इसके अध्ययन में तथा इसके समझने में कठिनाई होती है। अनेक विषयों के विवेचन अपूर्ण अधूरे हैं अतः अनेक स्थल इस कारण से भी समझ में नहीं आते हैं। अर्थ बोध की इस दुर्गमता के कारण जैन-अजैन दोनों प्रकार के विद्वान् जैन दर्शन के अध्ययन से सकुचाते हैं। क्रमबद्ध और विषयानुक्रम विवेचन का अभाव जैन दर्शन के अध्ययन में सबसे बड़ी बाधा उपस्थित करता है—ऐसा हमारा अनुभव है।

अध्ययन की बाधा मिटाने के लिए हमने जैन विषय कोश की एक परिकल्पना बनायी और उस परिकल्पना के अनुसार समग्र आगम ग्रन्थों का अध्ययन किया और उस अध्ययन के आधार पर सर्वप्रथम हमने विशिष्ट पारिभाषिक शब्दात्मक और आध्यात्मिक विषयों की एक सूची बनाई। विषयों की संख्या १००० से भी अधिक हो गई तथा इन विषयों का सम्यक् वर्गीकरण करने के लिए हमने आधुनिक सार्वभौमिक दशमलव वर्गीकरण करने का अध्ययन किया। उत्पश्चात् बहुत कुछ इसी पद्धति का अनुसरण करते हुए हमने सम्पूर्ण वाङ्मय को १०० वर्गों में विभक्त करके मूल विषयों की वर्गीकरण की एक रूपरेखा (देखे पृष्ठ १०) की। यह रूपरेखा कोई अन्तिम नहीं है। परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन की अपेक्षा भी रह सकती है। मूल विषयों की सूची भी हमने तैयार की है। उनमें से जीव परिणाम (मूल विषयांक .०४) की उपविषय सूची लेश्या कोश में दे दी गई है तथा कर्मवाद (मूल विषयांक १२) तथा क्रियावाद (मूल विषयांक .१३) की उपसूची क्रियाकोश में दी गई है। जीव परिणाम, कर्मवाद तथा क्रियावाद की यह उपसूची भी परिवर्तन, परिपद्धन तथा संशोधन की अपेक्षा रख सकती है।

अस्तु प्रस्तुत ग्रन्थ—वर्धमान जीवन कोश—द्वितीय खण्ड में इस अवसर्पिणी काल के चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान के पूर्वभव का विवेचन है ही। साथ ही साथ वर्धमान महावीर भगवान् की स्तुति विषयक पाठों का भी विवेचन है। चतुर्विध संघ की उत्पत्ति भगवान् महावीर की प्रथम तथा द्वितीय देशना, अन्तिम देशना का भी उल्लेख है। भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों का भी विवेचन है। आर्य चन्दना का भी प्रचुर मात्रा में उल्लेख है। इस प्रकार पुस्तक बड़ी रोचक बन पड़ी है।

तीर्थंकर वर्धमान—जीव द्वार (जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण संख्या *०३) के अन्तर्गत तथा जीवनी (जैन वाङ्मय का दशमलव वर्गीकरण संख्या ६२) के अन्तर्गत समाविष्ट है। हमने जीव द्वार के उपविषयों की सूची अलग-अलग दी है। (देखें पृष्ठ १३-१४) इन सूचियों में भी परिवर्तन, परिवर्द्धन तथा संशोधन की अपेक्षा रह सकती है। जीव द्वार में वर्धमान नाम विषयांक ३५४ है तथा जीवनी में नाम शब्द विषयांक ६२२४ है।

पाठों के संकलन संपादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची में यद्यपि हमने कतिपय ग्रन्थों का ही नाम दिया है तथापि अध्ययन हमने अधिक ग्रन्थों का किया है। चूर्णों, निर्युक्ति, टीका आदि का भी अध्ययन किया है। दिगम्बर ग्रंथ-कषाय पाहुडं वड्डमाणचरिउ, वीरजिण्णदचरिउ, वर्धमानचरितम्, उत्तमपुराण आदि ग्रन्थों का भी उपयोग किया है।

लेश्याकोश क्रियाकोश, मिय्यात्वीका आध्यात्मिक विकास आदि की तरह पाठों का मिलान हमने कई मुद्रित प्रतियों से किया है। यद्यपि हमने सन्दर्भ एक ही प्रति का दिया है।

सम्पादन में निम्नलिखित बातों को हमने आधार माना है—

- १—पाठकों का संकलन और मिज्ञान
- २—विषय के उपविषयों के वर्गीकरण तथा
- ३—हिन्दी अनुवाद

अस्तु पाठों के मिलान के लिए हमने कई मुद्रित प्रतियों की सहायता ली है और यदि कोई महत्वपूर्ण पाठान्तर मिला तो उसे शब्द के बाद ही कोष्ठक में दे दिया है।

जहाँ 'वर्धमान' सम्बन्धी पाठ स्वतन्त्र रूप में मिल गया है वहाँ हमने उसे उसी रूप में लिया है लेकिन जहाँ वर्धमान सम्बन्धित पाठ अन्य विषयों के साथ सम्मिश्रित दिये गये हैं वहाँ हमने निम्नलिखित दो पद्धतियों को अपनाया है—

(१) पहली पद्धति में हमने सम्मिश्रित पाठों से 'वर्धमान' सम्बन्धी पाठ अलग निकाल दिया है तथा जिस सन्दर्भ में यह पाठ आया है उस सन्दर्भ को प्रारम्भ में कोष्ठ में देते हुए उसके बाद वर्धमान सम्बन्धी पाठ दे दिया है।

(२) दूसरी पद्धति में हमने सम्मिश्रित पाठों में से जो पाठ वर्धमान से सम्बन्धित नहीं है उसको बाद देते हुए वर्धमान सम्बन्धी पाठ ग्रहण किया है।

वर्गीकृत उपविषयों में हमने मूल पाठों को अलग-अलग विभाजित करके भी दिया है तथा कहीं-कहीं समूचे मूल पाठको एक वर्गीकृत उपविषय में देकर उस पाठ में निर्दिष्ट अन्य वर्गीकृत उपविषयों में उक्त मूल पाठकों बार-बार उद्धृत न करके जहाँ समूचा मूल पाठ दिया गया है उस स्थल को इंगित कर दिया गया है।

लेश्याकोश, क्रियाकोश, पुद्गलकोश, ध्यानकोश की तरह वर्धमान जीवन कोश को भी हमने दशमलव वर्गीकरण से विभाजित किया है।

अस्तु हमने वर्धमान जीवन कोश को तीन खण्डों में विभाजित किया है। जिसका प्रथम खण्ड चार वर्ष पूर्व प्रकाशित हो चुका है। जिसमें भगवान् महावीर के च्यवन, गर्भ, जन्म-दीक्षा, साधना काल, कैवल्यज्ञान तथा परि-निर्वाण आदि का विवेचन है। जिसका दूसरा खण्ड आपके हाथों में है। इसके मूल विभाग इस प्रकार है।

- १—वर्धमान (महावीर) के पूर्वभव—२७ भव अथवा ३३ भव
- २—भगवान् महावीर के पर्यायवाची नाम
- ३—वर्धमान-महावीर की स्तुति

४—भगवान् महावीर और चतुर्विध संघ की उत्पत्ति

५—भगवान् महावीर की देशना

६—वर्धमान और शासन सम्पदा

१—भगवान् के ग्यारह गणधरों का विवेचन

२—आर्य चन्दना ।

दिगम्बर सम्प्रदाय में भगवान् महावीर के चरित का विस्तृत वर्णन सर्वप्रथम गुणभद्राचार्य ने अपने उत्तर पुराण में किया है। तत्पश्चात् असग कवि ने वि सं० ६१० में महावीर चरित का संस्कृत भाषा में एक महाकाव्य के रूप में निर्माण किया। इसके पश्चात् संस्कृत भाषा में प्रस्तुत महावीर चरित को लिखनेवाले भट्टारक सकलकीर्ति है। इस प्रकार संस्कृत भाषा में निबन्ध उक्त तीन चरित पाये जाते हैं।

प्राकृत भाषा में किसी भी दि० आचार्य ने महावीर चरित लिखा हो—ऐसा अभी तक ज्ञान नहीं हो सका है। हाँ, अपभ्रंश भाषा में पुष्पदन्त लिखित महापुराण में महावीर चरित, जयमित्तहल्लका वड्डमाणचरित, विबुध श्रीधर का वड्डमाण चरित और रयधू कवि का महावीरचरित—इस प्रकार चार रचनार्ये पायी जाती है।

तीर्थंकर स्वयं संबुद्ध होते हैं। भगवान् महावीर स्वयं संबुद्ध थे। उन्हें अपने आप संबोधि प्राप्त हुई थी। उसके आधार पर उन्होंने विश्व के स्वरूप की समीक्षा और दार्शनिक विचारों की मीमांसा की। अस्तु सत्पुरुष उपकारी होते हैं तो फिर सर्व कृतज्ञ पुरुषों में शिरोमणि वर्धमान-महावीर प्रभु की तो बात ही क्या? तीर्थंकरों का यह नियम है कि वे किसी पुरुष विशेष को प्रणाम नहीं करते हैं। (कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी पृष्ठ १२७)।

तीर्थंकरत्व एक गरिमा पूर्णपद है। वह काम्य नहीं हुआ करता। वह तो सहज सुकृत संचयसे प्राप्त हो जाता है। तीर्थंकरत्व प्राप्ति के लिए बौद्ध निमित्त माने गये हैं। यथा—

१—अरिहंत की आराधना

२—सिद्ध की आराधना

३—प्रवचन की आराधना

४—गुरु का विनय

५—स्थविर का विनय

६—बहुश्रुत का विनय

७—तपस्वी का विनय

८—अभिक्षण ज्ञानोपयोग

९—निर्मल सम्यग् दर्शन

१०—विनय

११—षड् आवश्यक का विधिवत् समाचरण

१२—ब्रह्मचर्य का निरतिचार पालन

१३—ध्यान

१४—तपश्चर्या

१५—पात्रदान

१६—वैयावृत्ति

१७—समाधि-दान

१८—अपूर्व ज्ञानाभ्यास

१९—श्रुत भक्ति

२०—प्रवचन प्रभावना

गर्भहरण का प्रसंग दिगम्बर परम्परा में अभिमत नहीं है। कल्पसूत्र में संहरण-काल को भी अज्ञात बताया है। वह किसी अपेक्षा विशेष से ही यथार्थ हो सकता है। तत्त्वतः तो अवधि ज्ञान युक्त महावीर के लिए वह अगम्य नहीं हो सकता।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार कुमार वर्द्धमान माता-पिता के सामने झुक गये । उन्होंने विवाह कर लिया । महावीर भोग समर्थ होकर दाम्पतिक जीवन प्रारम्भ करते हैं । दिगम्बर परम्परा में महावीर का दाम्पतिक जीवन मान्य नहीं है । दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुमार वर्द्धमान ने विवाह का अनुरोध ठुकरा दिया । वे जीवन भर ब्रह्मचारी रहे ।

दिगम्बर परम्परा भगवान् महावीर का पाणि-ग्रहण तो नहीं मानती, पर इतना अवश्य मानती है कि माता-पिता की ओर से उनके विवाह का वातावरण बनाया गया था । अनेक राजा उन्हें अपनी-अपनी कन्यायें देना चाहते थे । राजा जितशत्रु अपनी कन्या यशोदा का उनके साथ विवाह करने के लिए विशेष आग्रहशील था । पर महावीर ने विवाह करना स्वीकार नहीं किया ।

भगवान् महावीर के दीक्षार्थ वन-गमन के समय उनके पिता का शोक और माता त्रिशला का करुण विलाप तो पाठों के नेत्रों में भी आसूँ लाये बिना न रहेगा । अतः दिगम्बर परम्परानुसार भगवान् के दीक्षा लेने के समय उनके माता-पिता जीवित थे । किन्तु श्वेताम्बर शास्त्रों के अनुसार दोनों के स्वर्गवास होने के दो वर्ष पश्चात् भगवान् महावीर ने दीक्षा ग्रहण की है । साधना काल के बारह वर्ष तेरह पञ्चवाङ्गों में केवल एक बार मुहूर्त भर नींद ली— ऐसा माना जाता है । कैवल्य प्राप्त होने पर भगवान् की साधना सम्पन्न हो गई । फिर उन्होंने नैर्दंतिक उपवास नहीं किये । उपवास अपने आप में कोई लक्ष्य नहीं है । वह लक्ष्य पूर्ति का एक साधन है । लक्ष्य की पूर्ति होने पर साधन असाधन बन गया ।

श्वेताम्बर परम्परानुसार भगवान् महावीर के प्रथम चार कल्याण उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में हुए, परिनिर्वाण स्वाति नक्षत्र में हुआ परन्तु दिगम्बर परम्परानुसार भगवान् महावीर के पाँचों कल्याणों की तिथि और नक्षत्र निम्न प्रकार थी—

- १—गर्भ कल्याणक—आषाढ़ शुक्ला षष्ठी, उत्तराषाढा नक्षत्र ।
- २—जन्म कल्याणक—चैत्र शुक्ला त्रयोदशी, उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र ।
- ३—दीक्षा कल्याणक—मार्गशीर्ष कृष्णादशमी, ,, नक्षत्र ।
- ४—केवल कल्याणक—बैशाख शुक्ला दशमी, मघा नक्षत्र ।
- ५—निर्वाण कल्याणक—कार्तिक कृष्णा अमावस्या, स्वाति नक्षत्र ।

दिगम्बर परम्परानुसार भगवान् महावीर के ५ नाम प्रसिद्ध रहे हैं

- १—वीर—जन्माभिषेक के समय इन्द्र-प्रदत्त नाम
- २—श्री वर्द्धमान—नाम संस्कार के समय पिता द्वारा प्रदत्त नाम
- ३—सन्मति—विजय-संजय मुनि द्वारा शंका समाधान होने पर प्रदत्त नाम
- ४—महावीर—संगम देव द्वारा प्रदत्त नाम
- ५—महति महावीर-स्थाणु रुद्र द्वारा प्रदत्त नाम

भगवान् महावीर के पूर्वभ्रम—दिगम्बर परम्परा में पुरूरवा झील से लेकर महावीर होने तक भगवान् के गणनीय ३३ भवों का उल्लेख है जबकि श्वेताम्बर परम्परा में २७ ही भव मिलते हैं । उनमें प्रारम्भ के २२ भव कुछ नाम परिवर्तनादि के साथ वे ही हैं जो कि दिगम्बर परम्परा में ब्रतलाये गये हैं । शेष भवोंमें से कुछको नहीं माना है ।

दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्वभवों में उक्त छह भवों का अन्तर कैसे पड़ा। यह प्रश्न विद्वद्जनों के लिए विचारणीय है।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने पूर्व के अनेक भव लक्ष्य कर मरीचि तापस को कहा—यह अन्तिम तीर्थंकर होगा। यह महावीर की घटना उनके पच्चीस भव की या इकतीस भवपूर्व की है।

मरीचि भरत का पुत्र था। सुर-असुरों द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव के केवल ज्ञान की महिमा को देखकर वह भी अपने पाँच सौ भाइयों के साथ निर्ग्रन्थ बना था। कालान्तर में भगवान् महावीर के संघ से निष्कासित हो गया। बाद में त्रिदंडी तापस हो गया।

श्वेताम्बर परम्परानुसार महावीर के कुल सत्ताईस भवों का वर्णन मिलता है, जिसमें दो भव मरीचि भव से पूर्व के हैं और शेष के बाद के। सत्ताईस भवों में प्रथम भव नयसार कर्मकार का था। इस भव में नयसार ने किसी तपस्वी मुनि को आहार-दान किया था और प्रथम बार सम्यग् दर्शन उपाजित किया। सत्ताईस भवों में महावीर ने जहाँ चक्रवर्तित्व और वासुदेवत्व पाया; वहाँ उन्होंने सप्तम नरक तक का भयंकर दुःख भी सहा। पच्चीसवें भव में तीर्थंकरत्व प्राप्ति के बीस निमित्तों की आराधना करते हुए तीर्थंकर-गोत्र-नामकर्म बांधा। छब्बीसवें भव में प्राणत नामक दशवें स्वर्ग में रहे और सत्ताईसवें भव में महावीर के रूप में जन्म लिया।

श्रीधर ने अपभ्रंश भाषा में रचित अपने वडूढमाण चरिउ में भगवान् महावीर का चरित दिगम्बर परम्परानुसार ही लिखा है तो भी कुछ घटनाओं का उन्होंने विशिष्ट वर्णन किया है। जैसे—

त्रिपृष्ठनारायण के भव में सिंह के उपद्रव से पीड़ित प्रजा जब उनके पिता से जाकर कहती है, तब वे उसे मारने को जाने के लिए उद्यत होते हैं। तब कुमार त्रिपृष्ठ उन्हें रोकते हुए कहते हैं।

जइ मइ संतेवि असिवरु लेवि पसुणिगहण कएण । उट्टिउ करि कोउ वइरि विलोउ ता कि मइ तणएण ॥

अर्थात् यदि मेरे होते सन्ते भी आप खंग लेकर एक पशु का निग्रह करने जाते हैं तो फिर मुझ पुत्र से क्या लाभ ?

ऐसा कहकर त्रिपृष्ठ कुमार सिंह को मारने के लिए स्वयं जंगल में जाता है और विकराल सिंह को दहाड़ते हुए सम्मुख आता देखकर उसके खुले हुए मुख में अपना वाम हाथ देकर दाहिने हाथ से उसके मुख को फाड़ देता है और सिंह का काय जीव से अलग कर देता है।

सिंह के मारने की इस घटना का वर्णन श्वेताम्बर ग्रंथों में भी पाया जाता है।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद ६६ दिन तक मौन पूर्वक विहार किया क्योंकि तब तक उन्हें गणधर-गणका-संघ का धारक, जो कि भगवान् के उपदेशों को स्मृति रखकर उनका संकलन कर सकता, नहीं मिला था। विहार करते-करते महावीर मगध देशकी राजधानी राजगृही में पधारे और उसके बाहर विपुलाचल पर्वत पर ठहरे। उस समय राजगृही में राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ राज्य करते थे।

दिगम्बर परम्परानुसार भगवान् महावीर को केवल ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् इन्द्रभूति गीतम के समागम नहीं होने तक ६६ दिन दिव्यध्वनि नहीं खिरने पर भी भूतल पर विहार करते रहे। केवलज्ञान रूप सूर्य की किरणों के

धारण कर लेने पर निर्गुन मुनि आदि के साथ भारतवर्ष में विहार करते हुए छयासठ दिन बीत जाने पर भी भगवान् की दिव्यवाणी प्रकट नहीं हुई तब अमरेश्वर इन्द्र के मन में चिन्ता हुई कि सकल सामग्री के होने पर भी क्या कारण है कि भगवान् अपनी वाणी से जीवादि तत्त्वों को नहीं कह रहे हैं। इन्द्र चिन्तित हुआ और अवधि ज्ञान से गणधर के अभाव को जानकर तथा वृद्ध ब्राह्मण का रूप बनाकर गौतम को लाने के लिए गया।

तिलोयपण्णत्ती, धवला-जयधवला टीका और हरिवंश पुराण में श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रातःकाल अर्थात् केवलज्ञान की बैसाख शुक्ला दशमी को उत्पत्ति हो जाने के ६६ दिन पश्चात् भगवान् महावीर के द्वारा धर्म देशना का स्पष्ट उल्लेख होने पर भी सकलकीर्ति ने वीर वर्धमान चरित में इसका उल्लेख क्यों नहीं किया—यह बात विचारणीय है।

वहीं पर आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा, जिसे गुरु पूर्णिमा भी कहते हैं, के दिन इन्द्रभूति नाम का गौतम गोत्रीय वेद-वेदांग में पारंगत एक शीलवान् ब्राह्मण विद्वान् जीव-अजीव विषयक संदेह को दूर करने के लिए महावीर के पास आया। और सन्देह दूर होते ही उसने महावीर के पादमूल में जिनदीक्षा ले ली और उनका प्रधान गणधर बन गया। उसके बाद ही प्रातःकाल में भगवान् महावीर की प्रथम देशना हुई। जैसाकि प्राचीन गाथाओं में लिखा है—

“पंच शैलपुर में (पांच पर्वतों में शोभायमान होने के कारण राजगृह को पंच शैलपुर या पंचणहाडी भी कहते हैं) रमणीक, नाना प्रकार के वृक्षों से व्याप्त और देव-दानव से घन्दित विपुल नामक पर्वत पर महावीर ने भव्यजनों को उपदेश दिया।”

वर्ष के प्रथम मास अर्थात् श्रावण मास में, प्रथम पक्ष अर्थात् कृष्ण पक्ष में, प्रतिपदा के दिन, प्रातःकाल के समय अभिजित् नक्षत्र के उदय रहते हुए धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

अस्तु दिगम्बर परम्परानुसार भगवान् की प्रथम देशना राजगृही में ही श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के ब्राह्ममुहूर्त होने के प्राचीन उल्लेख है।

हरिवंश पुराणकार आचार्य जिनसेन भी श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के प्रातःकाल अभिजित् नक्षत्र के समय भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि प्रकट होने का उल्लेख किया है—

भगवान् महावीर के धर्म संघ में १४००० साधु और ३६००० साध्वियाँ बताई गई है। संघ विस्तार का कार्य कैवल्य और बोध प्राप्ति के साथ-साथ ही प्रारम्भ हो गया। सहस्रों २ के थोक (समूह) विविध घटना प्रसंगों के साथ दीक्षित हुए थे। दीक्षित होनेवालों में बड़ा भाग वैदिक पण्डितों, परित्राजकों व क्षत्रिय राजकुमारों का होता था।

महावीर-इन्द्रभूति आदि ग्यारह पण्डितों व चार हजार चार सौ उनके ब्राह्मण शिष्यों को दीक्षित करते हैं। महावीर अपनी जन्मभूमि में आकर पांच सौ व्यक्तियों के परिवार से अपने जामाता को व पन्द्रह सौ परिवार से अपने पुत्री प्रियदर्शना को दीक्षित करते हैं।

अस्तु भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे। अग्निभूति, वायुभूति, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास—ये पांच गणधरों का निर्वाण भगवान् से पहले हो चुका था। श्यबल, मण्डल, मौर्यपुत्र और अंकपित—इन चार गणधरों का निर्वाण भगवान् के निर्वाण के कुछ महीने पहले हुआ। इन्द्रभूति भगवान् के परिनिर्वाण के साढ़े बारह वर्ष की

सुधर्मा साढ़े बीस वर्ष जीवित रहे । ये दोनों पचास वर्ष गृहवास में रहे । भगवान् का निर्वाण हुआ तब ये दोनों ८० वर्ष के थे । गौतम का निर्वाण ६२ वर्ष की तथा सुधर्मा का निर्वाण १०० वर्ष की अवस्था में हुआ ।

कुमार श्रमण केशी भगवान् पार्श्वनाथ के और श्रमण गौतम भगवान् महावीर के शिष्य थे । भगवान् महावीर अस्तित्व में आये ही थे । उनका धर्मचक्र अभी प्रवृत्त हुआ ही था । संक्षिप्त उत्तर से केशी की जिज्ञासा शांत हुई । तब गौतम ने भगवान् महावीर के जीवनवृत्त के अनेक चित्र केशी के सामने प्रस्तुत किये ।

निर्ग्रन्थ संघ में महावीर के प्रथम समवसरण में ही स्त्री-दीक्षायें हुईं । चन्दनबाला प्रथम शिष्या थी और वह छत्तीस हजार के वृहत् श्रमणी संघ में भी सदैव प्रवृत्ति-अग्रणी रही । केवलज्ञान प्राप्त कर जब महावीर मध्यम पावा पधारे तब चन्दनबाला उनके समवयण में दीक्षित हुईं ।

भगवान् बहत्तरवें वर्ष में चल रहे थे । उस अवस्था में भी वे पूर्ण स्वस्थ थे । वे राजगृह से विहार कर अपापापुरी में आये । वहाँ की जनता और राजा हस्तिपाल ने भगवान् के पाम धर्म का तत्व सुना । भगवान् के निर्वाण का समय बहुत नजदीक आ रहा था । भगवान् ने गौतम को आमन्त्रित कर कहा—गौतम ! पास के गाँव में सोमशर्मा (देवशर्मा) नाम का ब्राह्मण है । उसे धर्म का तत्व समझाना है । तुम वहाँ जाओ और उसे सम्बोधि दो । गौतम भगवान् का आदेश शिरोधार्य कर वहाँ चले गए ।

भगवान् प्रवचन करते-करते ही निर्वाण को प्राप्त हो गये । उस समय रात्रि चार घड़ी शेष थी (चतुर्घटिकाध-शेषायां रात्री-कल्पसूत्र-सूत्र १४७ सुबोधिका टीका) मल्ल और लिच्छवि गणराज्यों ने दीप जलाये । कातिकी अमावस्या की रात जगमगा उठी ।

सोमशर्मा ब्राह्मण प्रतिबुद्ध हो गया । गौतम अपने कार्य में सफल होकर भगवान् के पास आ रहे थे इतने में उन्हें सम्वाद मिला कि भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया । कुछ क्षणों के लिए गौतम मान भूल गये । उनकी अन्तरात्मा जागृत हुई । वे सम्भले । गौतम ध्यान के उच्च शिखर पर पहुँचे । उनका राग क्षीण हुआ । वे केवली हो गये ।

मंखली गौशाल की मृत्यु उनके जीवन काल में तथा गौतम बुद्ध के पहले ही महावीर का निर्वाण अपापा (पावा) में हो चुका था । बौद्ध ग्रन्थों में उल्लेखित विभिन्न संवादों से स्पष्ट है कि महावीर को गौतम बुद्ध से आयु में ज्येष्ठ माना जाता था । जैन परम्परा में गौशाल की मृत्यु महावीर के निर्वाण के साढ़े सोलह वर्ष पहले श्रावस्ती में होने तथा कृष्ण अजातशत्रु के शासन काल के सोलहवें वर्ष में भगवान् के निर्वाण के उल्लेख उपलब्ध हैं ।

महावीर के निर्वाण और अवन्तीदाज प्रद्योत के उत्तराधिकारी पालक का राज्यारोहण एक ही दिन हुआ था । महावीर ने निर्वाण के समय चुन्द समण्डेस का वर्षावास भी पावा में ही था ।

महावीर गौतम बुद्ध की अपेक्षा चिर-दीक्षित और ज्येष्ठ थे तथा महावीर का निर्वाण गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही हुआ था । महावीर को केवलज्ञान गौतम बुद्ध को सम्बोधि प्राप्त होने के पूर्व ही प्राप्त हो चुका था ।

चन्द्रगुप्त मौर्य और महावीर निर्वाण के बीच २१५ वर्ष का अन्तर (३१२ + २१५) माना गया गया है तथा महावीर निर्वाण के ४७० वर्ष बाद उज्जयिनी में विक्रमादित्य राजा के होने का उल्लेख है ।

स दिव्यध्वनिना विश्वसंशयच्छेदिना जिनः । दुन्दुभिध्वनिधीरेण योजनान्तगयायिना ॥
 श्रावणस्यासिते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यहि पूर्वाण्हे शासनार्थमुदाहरत् ॥

—हरिपु० सर्ग २, श्लो० ६०-६१

भगवान् के परिनिर्वाण के बाद—गौतम स्वामी को केवलज्ञान - केवल दर्शन उत्पन्न होने के पूर्व विचार करते हैं—

“राग और द्वेष संसार के हेतु है उसका त्याग करने के लिए—परमेष्ठी (भगवान् महावीर) ने हमारा त्याग किया होगा । इसलिए ऐसे ममता रहित प्रभु में ममता रखने से हमको क्या लाभ हुआ ।

रागद्वेषप्रभृतयः किं चामी भवहेतवः । हेतुना तेन च त्यक्तास्तेनापि परमेष्ठिना ॥२५६॥

ईदृशे निर्ममे नाथे ममत्वेन ममाऽप्यलम् । ममत्वं सममत्वेऽपि मुनीनां न हि युज्यते ॥२८०॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

यदि अजातशत्रु के द्वारा राजगृह हस्तगत करने की तिथि ई० पू० ५४४ मानी जाय तो गौतम बुद्ध के निर्वाण की तिथि ई० पू० ५०२ होगी ।

महावीर के निर्वाण की तिथि उसके राज्यारोहण के १६ वर्ष पश्चात् है जो कि जैन परम्परा को विश्वसनीय मानना अनुचित नहीं है ।

जैन परम्परा के अनुसार महावीर के कैवल्य प्राप्त करने के लगभग तेरह वर्ष पश्चात् श्रेणिक विम्बसार की मृत्यु हुई । अतः यह घटना ई० पू० ५४४ की रही होगी ।

अवंतीराज चंडप्रद्योत की मृत्यु महावीर के निर्वाण के कुछ दिनों के पहले हो चुकी थी, क्योंकि जैन परम्परा के अनुसार उसके उत्तराधिकारी और पुत्र पालक का राज्याभिषेक महावीर की निर्वाण रात्रि को हुआ था । प्रद्योत, मगध के शासक विम्बसार और उसके पुत्र अजातशत्रु दोनों का ही समकालीन था ।

भगवान् महावीर के परम्परानुसार तीन पाट केवली हुए—

१—गौतम स्वामी

२—सुधर्मा स्वामी

३—जम्बू स्वामी

सर्वज्ञ-सर्वदर्शी में हमने सामान्य केवली व तीर्थंकर को ग्रहण किया है । सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वर्धमान तीर्थंकर का विषयांकन हमने ३५४ किया है । इसका आधार यह है कि सम्पूर्ण जैन वाङ्मय को १०० विभागों में विभाजित किया गया है । (देखें—मूल वर्गीकरण सूची पृष्ठ १०-१२) । इसके अनुसार जीवका विषयांकन ०३ है । जीव को ६० विभागों में विभक्त किया गया है (देखें—जीव वर्गीकरण सूची पृष्ठ १३) इसके अनुसार वर्धमान का विषयांकन हमने ६२२४ किया है । इसका आधार इस प्रकार है—

जैन वाङ्मय के मूल वर्गीकरण में जीवका विषयांकन ०३ है तथा जीवनी (महापुरुषों की जीवनी) के उपवर्गीकरण में तीर्थंकर वर्धमान का विषयांकन २४ है अतः जीवनी में विषयांकन ६२२४ किया है ।

वर्धमान सम्बन्धी तुलनात्मक अध्ययन के लिए हम कई असुविधाओं के कारण अन्य धर्मों के दार्शनिक ग्रंथों का सम्यक् अध्ययन नहीं कर सके, केवल मज्झिम निकाय, अंगुत्तर निकाय, यजुर्वेद आदि का अध्ययन किया । उससे प्राप्त वर्धमान (महावीर) जीवनी सम्बन्धी पाठों को हमने दे दिया है ।

सामान्यतः अनुवाद हमने शाब्दिक अर्थ रूप ही किया है लेकिन जहाँ विषय की गम्भीरता या जटिलता देखी है वहाँ अर्थ को स्पष्ट करने के लिए विवेचनात्मक अर्थ भी किया है। कहीं-कहीं भावार्थ भी किया है। विवेचनात्मक अर्थ करने के लिए हमने सभी प्रकार की टीकाओं तथा अन्य सिद्धांत ग्रंथों का उपयोग किया है। छद्मस्था के कारण यदि अनुवादों में या विवेचन करने में कहीं कोई भूलभाति व त्रुटि रह गई हो तो पाठक वर्ग सुधार लें। जहाँ मूल पाठ में विषय स्पष्ट रहा है वहाँ मूल पाठ के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए हमने टीकाकारों के स्पष्टीकरण को भी अपनाया है तथा स्थान-स्थान पर टीका का पाठ भी उद्धृत कर दिया है।

अस्तु वर्धमान जीवन कोश—श्वेताम्बर आगम तथा दिगम्बर तथा श्वेताम्बर सिद्धांत ग्रंथों से तैयार किया गया है। सम्पादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के काम में निर्युक्ति, चूर्णी, वृत्ति, भाष्य आदि का भी उपयोग किया गया है।

संभव है हमारी छद्मस्था के कारण तथा मुद्रक के कर्मचारियों के प्रमादवश पुस्तक की छपाई में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हो। आशा है पाठकगण अशुद्धियों के लिए हमें क्षमा करेंगे तथा आवश्यकता के अनुसार संशोधन कर लेंगे।

हमारी कोश परिकल्पना का अभी भी परोक्षण काल चल रहा है अतः इसमें अनेक त्रुटियों हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन इस हमारी परिकल्पना में पुष्टता आ रही है। तथा हमारे अनुभव से यथेष्ट समृद्धि हुई है इसमें कोई सन्देह नहीं है। पाठक वर्ग से सभी प्रकार के सुझाव अभिनन्दनीय है। चाहे वे सम्पादन, अनुवाद या अन्य किसी प्रकार के हों। आशा है इस विषय में विद्वद् वर्ग अपने सुझाव भेजकर हमें पूरा सहयोग देंगे।

अस्तु वर्धमान जीवन-कोश—तृतीय खण्ड की तैयारी अधिकांश सम्पूर्ण हो चुकी है। इसमें वर्धमान तीर्थंकर के साधु-साध्वी-श्राविक-श्राविका का तो विवेचन रहेगा ही और भी प्रचुर सामग्री मिलेगी।

हम जैन दर्शन समिति के आभारी है जिसने वर्धमान जीवन-कोश के प्रकाशन की सारी व्यवस्था की जिम्मेवारी ग्रहण की। युग प्रधान आचार्य श्री तुलसी के प्रति भी हम श्रद्धावन्त है जिन्होंने अतिव्यवस्तता के कारण भी प्रस्तुत कोश पर आशोर्वचन लिखा। हम बन्धुवर जवरमलजी भंडारी के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने सदा इस कार्य के लिए प्रोत्साहित किया है। लखनऊ के डा० ज्योतिप्रसाद जैन को हम कभी नहीं भूल सकते—जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझाव देते रहे तथा प्रस्तुत कोश पर ‘Foreword’ लिखा। L. D. Institute of Indology अहमदाबाद के भूतपूर्व डाइरेक्टर श्री दलसुख भाई मालवणिया के प्रति हम आभारी हैं जिन्होंने समय-समय पर अपने बहुमूल्य सुझाव जताते रहे। हम उन देशी-विदेशी विद्वानों को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने लेश्या कोश, क्रिया कोश, मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास तथा वर्धमान जीवन-कोश प्रथम खण्ड पर अपनी अपनी सम्मतियाँ भेजकर हमारा उदसाहवर्धन किया है।

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी तथा युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ की महान दृष्टि हमारे पर सदैव रही है—जिसे हम भूल नहीं सकते।

हम जैन दर्शन समिति के सभापति श्री नवरतनमल सुराना, स्व० तजमलजी बोथरा, नेमीचन्दजी गधइया, मोहनलालजी बैद (मन्त्री), मांगीलालजी लूणिया, जयसिंहजी सिधी, सुमेरमलजी सुराना, धर्मचन्दजी राखेचा, भँवरलालजी सिधी तथा स्व० सूरजमलजी सुराना आदि आदि सभी बन्धुओं को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने हमारे विषय कोश निर्माण कल्पना में हमें किसी न किसी रूप में सहयोग दिया है।

कलकत्ता,

—श्रीचन्द चोरड़िया

११, नवम्बर, १९५४

दो शब्द

स्वर्गीय श्री मोहनलालजी बाँठिया तथा उनके साथियों ने जैनागम एवं वाङ्मय के तलस्पर्शी गंभीर अध्ययन कर आधुनिक दशमलव प्रणाली के आधार पर अलग-अलग अनेक विषयों पर कोश प्रकाशित करने की परिकल्पना की और इसको मूर्तरूप देने के लिए जैन दर्शन समिति की स्थापना महावीर जयंती के दिन सन् १९६९ के दिन की गई।

यह संस्था स्वर्गीय मोहनलालजी बाँठिया एवं श्रीचंद चोरड़िया द्वारा निर्मित विषयों पर कोश प्रकाशन का कार्य कर रही है। इसके द्वारा निम्नलिखित कोश प्रकाशित हैं जिनका सक्षिप्त विवरण इस प्रकार है।

१. लेश्याकोश—प्रथम पुष्प—लेश्या अध्यवसाय का बेरोमेटर है। इस कोश में छत्रों लेश्याओं का विस्तृत विवेचन है। इन लेश्याओं का आगम ग्रंथों में अनेक स्थल पर उल्लेख है उसका संकलन हुआ है। **CYCLOPAEDIA OF LESHYA** के रूप में इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है। जिससे कि लेश्या विषय पर अनुसंधान करने वालों को व दर्शन शास्त्र में रुचि रखने वालों को एक ही स्थान में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो सकेगी।

अमेरिका के एक छात्र ने इस विषय को लेकर **PH D.** डिप्लोमा प्राप्त किया। उनके कथनानुसार इस विषय पर अध्ययन करने में 'लेश्याकोश' से भरपूर सामग्री प्राप्त हुई।

२. क्रियाकोश—द्वितीय पुष्प—इसी प्रकार क्रिया कोश में आरंभिकी आदि पच्चीस क्रियाओं का विस्तृत विवेचन है। क्रिया का एकरूप पुण्य-पाप का बंधन है और उसका दूसरा रूप कर्म-बंधन से छुटकारा पाना है। क्रिया कोश में आगम व ग्रंथों के आधार पर विस्तृत विवेचन है।

३. मिथ्यात्वकी आध्यात्मिक विकास—तृतीय पुष्प—मिथ्यात्व प्राणी का सद् आचरण श्रेष्ठ नहीं माना जाय तो उसका आध्यात्मिक विकास कैसे हो सकता है। श्रीचंद चोरड़िया ने लगभग दो सौ ग्रंथों का गम्भीर परायण एवं आलोडन करके शास्त्रीय रूप में अपने विषय को प्रस्तुत किया है। अतः पंडित दलसुख भाई मालवणिया के शब्दों में यह ग्रंथ लेश्याकोश तथा क्रियाकोश की कोटिका ही है।

४. वर्धमान जीवन कोश—प्रथमखण्ड—चतुर्थ पुष्प—प्रस्तुत ग्रंथ जैन दर्शन समिति की कोश परम्परा की कड़ी में एक महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ है। वर्धमान जीवन कोश का यह प्रथम भाग स्वर्गीय मोहनलालजी बाँठिया द्वारा संकलित एवं तैयार सामग्री का व्यवस्थित संपादित रूप है। बाँठियाजी इस काम को अधूरा छोड़कर स्वर्गवासी हो गये, किन्तु श्रीचन्द चोरड़िया ने अत्यन्त परिश्रम कर इसे तैयार किया है। इसमें भगवान् महावीर के च्यवन, गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवल ज्ञान तथा परिनिर्वाण आदि का विस्तृत विवेचन है।

वर्धमान जीवन कोश—द्वितीय खण्ड—पंचम पुष्प—जो आपके सामने है। इसमें भगवान् महावीर के पूर्व श्वेताम्बर मतानुसार २७ भव तथा दिगम्बर मतानुसार ३३ भवों का आगम तथा सिद्धांत ग्रंथों के आधार पर विवेचन है। इसमें भगवान् महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों के जीवन पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार जैन दर्शन समिति के द्वारा सैकड़ों विषयों पर कोश संकलन कार्य हुआ है। कोशों के संबंध में भारत के उच्चकोटि के विद्वानों ने मुक्त कंठ से सराहना की है। इनमें मुख्य रूप से—

१—स्व० प्रज्ञाचक्षु पंडित सुखलाल जी संघवी

२—स्व० आदिनाथ नेमीनाथ उपाध्याय

३—डा० ज्योतिप्रसाद जैन

४—युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

५—प्रो० दलसुख भाई मालवणिया

६—स्व० डा० सुनीतिकुमार चटर्जी

७—प्रो० पद्मनाथ जैन U.S A.

८—प्रो० डा० L. ALSDROF, Hamburg आदि के नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार दशमलव प्रणाली के आधार पर करीब १००० विषयों पर आगम तथा प्राचीन भारतीय ग्रंथों का तलस्पर्शी अध्ययन करके स्व० श्री मोहनलालजी बाँठिया व श्रीचंद चोरड़िया ने पांडुलिपि तैयार की। जिसको हमने सुरक्षित रखा है।

इस समिति में भारतीय दर्शन में रुचि लेने वाले सभी सज्जन सदस्य हो सकते हैं। संस्था में दो सदस्य श्रेणी है—

१—आजीवन संरक्षक सदस्य—जिसकी सदस्यता फीस १०००) है। उन्हें संस्था द्वारा प्रकाशित साहित्य बिना मूल्य सप्रेम भेंट किया जाता है।

२—आजीवन साधारण सदस्य—जिसकी सदस्यता फीस सिर्फ १०१) है। सदस्य व्यक्तिगत रूप से ही लिये जाते हैं।

माननीय जोधपुर निवासी श्री जबरमलजी भंडारी इस संस्था के सहयोगी और शुभचिन्तक है। उनके समय-समय पर अभूतपूर्व सुझाव मिलते रहे। कोशों के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग भरपूर रहा है।

हमारी संस्था अब तक विद्वद् योग्य सामग्री तैयार करती रही है। अतः संस्था को जनप्रिय बनाने के लिये सरल भाषा में छोटी-छोटी पुस्तकें तैयार कराकर प्रकाशित करने की योजना है। और संभव हो तो उन्हें निःशुल्क वितरण की जाये।

अस्तु स्व० मोहनलालजी बाँठिया इस संस्था के संस्थापक ही नहीं थे, प्राण थे। वे इतने कोशों की रूप-रेखा तैयार करके छोड़ गये हैं कि कई विद्वान वर्षों तक कार्य करे तो भी समाप्त न हो। ऐसे मनीषि की स्मृति में ठोस कार्य होना ही चाहिए।

इस संस्था का पावन उद्देश्य जैन दर्शन व भारतीय दर्शन को उजागर करना है जिससे मानव ज्ञान रश्मियों से अपने अज्ञान अंधकार को मिटा सकें।

इस संस्था द्वारा प्रकाशित साहित्य सस्ते दामों में वितरण कर अधिक से अधिक प्रचार हो—यही इसका उद्देश्य है। इस पुनीत कार्य में सबका सहयोग अपेक्षित है।

भवदीय

कलकत्ता

१२-१२-८४

नवरतनमल्ल सुराना, अध्यक्ष
जैन दर्शन समिति

FOREWORD

This is an age of systematic enquiry and research. So, when a scholar undertakes the study of a particular topic, he does not rest satisfied with a single source or version handed down to him by traditions, literary, epigraphical or oral. Whereas a simple believer would not question the authority of the scriptures or traditions he puts his faith in, the modern investigator would try to explore all the sources relating to the subject under study, and examine thoroughly all the aspects and relevant details connected with it. This unbounded spirit of enquiry and tendency to a comprehensive methodical approach have been greatly facilitated by the discovery publication or availability and specialised studies of the diverse source material related to almost every subject or branch of learning which may arouse the interest of a scholar. There is thus now no dearth of source material of various kinds and categories on almost any topic which is sought to be investigated. This in itself however, makes the task of the researcher much more arduous and time consuming. And, herein lies the importance of different kinds of reference books which render his task comparatively easy and smooth. Topical dictionaries constitute a very valuable class of such reference books.

So far, as Jainological studies are concerned, encyclopaedies like the Abhidhana Rajendra Kosha and the Jainendra Siddhanta Kosha, several bibliographies, collections of colophons, catalogues of manuscripts, glossaries of technical terms, dictionaries of historical persons and places, and collections of inscriptions and of other historical records like potifical genealogies and Vijnapti patras, etc., have already been published. These reference books are undoubtedly of immense help to the research scholar of Jainological studies. The conception of topical dictionaries, like the present one, is however, a bit different from that of the works mentioned above.

The late Sri Mohanlal Bhanthia was, perhaps the first to initiate develop and launch upon a scheme of compiling topical dictionaries of Jaina religion, philosophy and traditions. He was lucky in having a hardworking, dedicated and competent assistant in Pt. Srichand Choraria. The scheme covered about a thousand topics, but to begin with they compiled and published in 1966, the Leshya Kosha, in 1969 the Kriya Kosha, in 1980, the Vardhamana Jivana Kosha Part I, and its Part II in 1984 in the form of the present publication.

The object in compiling and publishing this 'Cyclopaedia of Vardhamana', as they have Called it, is to indicate, with references the known sources, quoting the different texts with their Hindi translations, on almost all the details or data relating to Bhagawan Vardhamana Mahavira (599 527 B.C), the 24th and last Thirthankara of the Jaina tradition. The sources utilised include the canonical texts, their commentaries and the non canonical literature of the Shvetambara tradition, alongwith the more important works of the Digambara tradition, a few of Buddhish and Brahamanical works relevant to the purpose, and some later encyclopaedia, dictionaries and reference volumes.

Part-I of the Kosha contained details of the life of the great Hero from his conception to Nirvana, whereas Part-II, the present volume, deals with the 33 or so previous births of Mahavira, as gleaned from the Shvetambara and Digambara sources, incidentally facilitating a comparative study of the two traditional accounts, besides, the five Kalyanakas or auspicious events of his life, his aliases or epithets, his eulogies, his Samavasarana, Divya, dhvani or Discourse Divine, his sanghs or the fourifold order, his disciples including the Eleven Ganadharas headed by Indrabhuti Gautamas with particulars about each, and many other minor or miscellaneous details

On many points, the information collected in this part supplements that contained in the first part. The topics have been classified and arranged in the international decimal system as adapted by the editors of this Kosha and used in their earlier topical dictionaries, mentioned above.

There is no doubt as to the value and usefulness of this unique topical dictionary of the Tirthankara Mahavira for scholars and research workers. We heartily congratulate the Learned Pt Srichand Choraria for accomplishing this very painstaking and time-consuming task so satisfactorily. The Jain Darshan Samiti and its Office bearers deserve thanks for publishing the Volume.

Jyoti Nikunj,
Charbagh
Lucknow-19 (U.P.)
22th June, 1984

(JYOTI PRASAD JAIN)

भूमिका का हिन्दी अनुवाद

यह युग विधिवद्ध खोज व शोध का है। अतः जब कोई विद्वान किसी विषय पर शोध करता है तो वह किसी परम्परा से प्राप्त तथ्य पर ही केवल निर्भर नहीं करता चाहे वह तथ्य ग्रन्थ, शिलालेख या कथावत रूप से प्राप्त हुआ हो। जबकि सरल विश्वासी मानव जिस परम्परा में वह विश्वास रखता है उसके शास्त्र इतिहास पुराण को निर्विवाद रूप से सत्य मान लेता है तब आधुनिक अन्वेषक उस विषय पर जहां भी जो कुछ भी प्राप्त हो सके उसे प्राप्त करने का एवं प्राप्त तथ्यों को विशद् रूप से निरीक्षण व विभिन्न दृष्टिकोणों से परखने का प्रयास करता है। ज्ञान-विज्ञान के किसी भी विषय या शाखा जिसमें विद्वानों की रुची जागृत हो सकती है उस विषय या शाखा से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के तथ्य ग्रन्थों की खोज, प्रकाशन उनकी सहजतया प्राप्ति तथा विशद् अध्ययन शोध की इस असीमित प्रवृत्ति तथा तथ्य को समग्र रूप से यथाक्रम समझने के प्रयास को प्रोत्साहित किया है। शोध खोज के लिए प्राप्त विभिन्न प्रकार के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों की आज कोई कमी नहीं है। सत्य तो यह है कि इसने अन्वेषक के कार्य को और भी जटिल बना दिया है, समय सापेक्ष बना दिया है। अतः इनके कार्य को सहज व सुगम करने के लिए ही विभिन्न प्रकार के सन्दर्भ ग्रंथों की बड़ी उपयोगिता है। इन सन्दर्भ ग्रंथों से भी अधिक उपयोगिता है वर्गीकृत कोषों की।

जैन विद्या के क्षेत्र में अभिधान राजेन्द्र कोश, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश जैसे कोश ग्रंथ एवं ग्रन्थ पंजियों, प्रशस्ति संग्रह हस्तलिखित ग्रंथों की सूचियां, पारिभाषिक शब्द सूचियां ऐतिहासिक व्यक्ति व स्थानों का अभिधान, शिलालेख संग्रह व अन्य ऐतिहासिक प्रमाण जैसे वंशावलियां विज्ञप्ति पत्र आदि प्रकाशित हो चुके हैं। ये सभी सन्दर्भ ग्रन्थ जैन विद्या के अन्वेषकों के लिए बड़े सहायक होते हैं। किन्तु वर्गीकृत कोशग्रंथ जैसा कि प्रस्तुत ग्रंथ हमारे हाथों में है उपरोक्त सभी ग्रंथों से कुछ भिन्न है।

जैन धर्म दर्शन एवं पुराण के वर्गीकृत कोश ग्रन्थों के रचना क्षेत्र में शायद स्वर्गीय मोहनलालजी बांठिया ही प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने इसके प्रयोजन को समझकर उसे क्रियान्वित करने का प्रयास किया है। सौभाग्य से उन्हें इस कार्य के लिए पं० श्रीचन्द्रजी चोरड़िया जैसे कर्मठ समर्पित व समर्थ व्यक्ति का सहयोग भी प्राप्त हो गया। इस कार्य के लिए एक हजार विषयों की योजना बनाई गई जिसमें अभी तक लेश्या कोश (१९६६) क्रिया कोश (१९६९) वर्धमान जीवन कोश भाग-१ (१९८०) प्रकाशित हो चुके हैं एवं वर्धमान जीवन कोश का यह दूसरा भाग आपके सम्मुख है। वर्धमान जीवन-कोश के प्रकाशन में उनका उद्देश्य यह था कि चौबीसवें तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन (५६९-५२७ ई० पू०) से सम्बन्धित समस्त तथ्य जहां से भी जो कुछ भी प्राप्त हो उसे सन्दर्भ व हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित करना। इस कार्य के लिए उन्होंने आगम ग्रन्थ उनकी टीकार्यों, श्वेताम्बर व दिग्म्बर आगमेतर ग्रन्थ, कुछ बौद्ध एवं ब्राह्मण्य ग्रन्थ एवं परवर्ती कालीन कोश, अभिधान आदि का भी उपयोग किया है। वर्धमान जीवन-कोश भाग

एक में भगवान महावीर के गर्भ प्रवेश से निर्वाण तक का जीवनवृत्त संकलित किया गया है। भाग दो में उनके ३३ पूर्व भवों का विवरण है जो कि श्वेताम्बर व दिगम्बर परम्परा से लिया गया है। इससे तुलनात्मक अध्ययन सुगम हो जाता है। इसके अतिरिक्त इसमें भगवान महावीर के पाँचों कल्याणक, नाम एवं उपनाम, उनकी स्तुतियाँ, समवसरण, दिव्यध्वनि, संघ विवरण, इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधरों का पृथक-पृथक विवरणादि संकलित है।

इस भाग में संकलित अनेक विषय बहुधा प्रथम भाग में संकलित विषयों के परिपूरक हैं। विषयों को इसमें अन्तर्जातीय दशमलव के रूप में विभाजित व संकलित किया गया है जैसा कि सम्पादकों ने उपरोक्त वर्गीकृत कोश ग्रन्थों में किया है।

विद्वान् अन्वेषकों के लिए तीर्थंकर भगवान महावीर के इस भाँति के वर्गीकृत कोश ग्रन्थों की उपादेयता के विषय में कोई दो मत नहीं हो सकता। परिश्रम साध्य व समय सापेक्ष इस कार्य को इतने सुचारू रूप से सम्पादन करने के लिए हम विद्वान् पण्डित श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया का आन्तरिक भाव से अभिनन्दन करते हैं। साथ ही जैन दर्शन समिति और उनके कार्यकर्ताओं को भी इसके प्रकाशन के लिए धन्यवाद देते हैं।

ज्योति निकुंज
चार बाग, लखनऊ
१२ जून, १९८४

ज्योतिप्रसाद जैन

विषय सूची

| विषय | पृष्ठ |
|---|--------------------------|
| — संकलन-संपादन में प्रयुक्त ग्रन्थों की संकेत सूची | 4 |
| — आशीर्वचन | —आचार्य तुलसी 7 |
| — जैन वाङ्मय का दशमसव वर्गीकरण | 8 |
| — जीव का वर्गीकरण | 11 |
| — जीवनी का वर्गीकरण | 12 |
| — प्रकाशकीय | 13 |
| — प्रस्तावना | 17 |
| दो शब्द | —नवरतनमल सुराना 26 |
| भूमिका (Foreword) | —डा० ज्योतिप्रसाद जैन 28 |
| भगवान (महावीर) के पूर्व भव | १ |
| *००४ पूर्व भव विवेचन | १ |
| *०० अनन्त-संसार-भ्रमण | १ |
| *०१ भगवान महावीर का जीव | २ |
| ग्रामचित्तक — नयसारभिल्ल—पुष्टरवाभिल्ल के भव में | २ |
| पूर्वभव में प्रथम बार सम्यक्त्व प्राप्त— | २ |
| *०२ भगवान् महावीर का जीव —सौधर्मकल्प देव में | १० |
| *०३ भगवान् महावीर का जीव—मरीचिकुमार भव में—नीच गोत्रकर्म का उपार्जन | १२ |
| भावी तीर्थंकर वर्धमान | २५ |
| मिथ्यामत की प्ररूपणा—शिष्यत्व के लोभ से | २५ |
| मरीचि के शिष्य कपिल द्वारा सांख्य दर्शन का प्रवर्तन | ३० |
| *०४ भगवान् महावीर का जीव ब्रह्मकल्पदेव में— | ३१ |
| *०५ भगवान् महावीर का जीव—कौशिक परिव्राजक भव में अथवा जटिल ब्राह्मण भव में | ३३ |
| (क) कौशिक परिव्राजक भव में (३३०) | ३३ |
| (ख) जटिल ब्राह्मण भव में (दिग्०) | ३३ |
| *०५क चतुर्गति संसारभ्रमण | ३४ |

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| *०६ ईशान स्वर्गदेव अथवा सौधर्म स्वर्गदेव भव में | ३४ |
| *०६*१ सौधर्म स्वर्ग के देव भव में (श्वे०) | ३५ |
| *०६*२ सौधर्म स्वर्ग के देव भव में (दिग्०) | ३५ |
| *०७ पुण्यमित्रपरिव्राजक अथवा पुण्यमित्र ब्राह्मण भव में | ३५ |
| *०७क संसार भ्रमण | ३७ |
| *०८ सौधर्मकल्पदेव अथवा ईशानकल्पदेव भव में | ३७ |
| *०८क संसार भ्रमण | ३८ |
| *०९ अग्निद्योत परिव्राजक अथवा अग्निसह (अग्निशिख) ब्राह्मण भव में | ३८ |
| *१० ईशान कल्पदेव—या सानत्कुमार देव भव में | ३९ |
| *१०क संसार भ्रमण | ४० |
| *११ अग्निभूति परिव्राजक या अग्निमित्र ब्राह्मण | ४० |
| *११क संसार भ्रमण | ४२ |
| *१२ सनत्कुमार देव—या माहेन्द्र कल्पदेव भव में | ४२ |
| *१२क संसार भ्रमण | ४३ |
| *१३ भारद्वाज परिव्राजक भव में | ४३ |
| *१३क संसार भ्रमण | ४४ |
| *१४ माहेन्द्र कल्पदेव भव में | ४४ |
| *१४क संसार भ्रमण (श्वे०) | ४५ |
| *१४क त्रस-स्थावर योनि के असंख्यात भव (दिग्०) | ४५ |
| *१५ स्थावर परिव्राजक भव में | ४६ |
| *१६ ब्रह्मलोक कल्पदेव अथवा माहेन्द्र कल्पदेव भव में | ४७ |
| *१६क संसार भ्रमण | ४८ |
| *१७ विश्वभूति क्षत्रिय के भव में | ४८ |
| *१८ महाशुक कल्पदेव भव में | ५६ |
| *१९ त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में | ५७ |
| *१९*१ त्रिपृष्ठ वासुदेव का समयकाल | ५७ |
| *१९*२ प्रथम दो चक्रवर्ती के नाद—त्रिपृष्ठ वासुदेव | ५८ |
| *१९*३ त्रिपृष्ठ वासुदेव के माता-पिता के नाम | ५८ |
| *१९*४ त्रिपृष्ठ वासुदेव का निदान-पूर्व भव का | ५८ |
| *१९*५ त्रिपृष्ठ वासुदेव के प्रतिशत्रु | ५९ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|-------|
| *१६*६ त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता का पुत्री से विवाह | ५६ |
| *१६*७ त्रिपृष्ठ वासुदेव का अवतरण | ६१ |
| *१६*८ त्रिपृष्ठ वासुदेव के प्रतिशत्रु—अश्वघ्नीव प्रतिवासुदेव | ६३ |
| *१६*९ वासुदेवों में त्रिपृष्ठ प्रथम वासुदेव था | ६३ |
| *१६*१० त्रिपृष्ठ वासुदेव द्वारा केशरी सिंह का मारा जाना | ६४ |
| *१६*११ त्रिपृष्ठ वासुदेव द्वारा अश्वघ्नीव प्रतिवासुदेव का मारा जाना | ६५ |
| *१६*१२ त्रिपृष्ठ वासुदेव का राज्याभिषेक | ७२ |
| *१६*१३ त्रिपृष्ठ भव में कामों का गण्ड बंधन | ७२ |
| *२० सप्तम नरक के नारकी के भव में | ७३ |
| *२१ सिंह के भव में | ७४ |
| *२२ चतुर्थ नरक अथवा प्रथम नरक के नारकी के भव में | ७५ |
| *२२क कतिपय तिर्यग्—मनुष्य भव में | ७९ |
| *२३ सिंह के भव में | ७६ |
| *२४ सौषर्मा स्वर्ग का देव | ७७ |
| *२५ कनकोत्तवल राजा-कनकप्रभ राजा | ७६ |
| *२६ सान्ताव स्वर्ग का देव | ८१ |
| *२७ हरिषेण राजा | ८२ |
| *२८ महाशुक स्वर्ग का देव | ८४ |
| *२९ प्रियमित्र—प्रियदत्त चक्रवर्ती के भव में | ८५ |
| *२९*१ जन्म | ८५ |
| *२९*२ प्रियमित्र—चक्रवर्ती की दुह-खण्ड पर विजय | ८६ |
| (क) मागध तीर्थ पर विजय | ८६ |
| (ख) बरदाम तीर्थ आदि पर विजय | ८७ |
| *२९*३ एक विवेचन | ८८ |
| *२९*४ पोट्टिलभव (प्रियमित्र चक्रवर्ती) में (दिग्० व श्वे० माह्यता) | ९२ |
| *३० सहस्रार स्वर्ग का देव—अथवा महाशुक का देव | ९४ |
| *३१ नन्द-नन्दन राजा | ९५ |
| *३१*१ नन्दन राजा—मन्दीवर्धन राजा—मांडलिक राजा थे । | ९७ |
| *३१*२ नन्दराजा—मन्दीवर्धन राजा के—तीर्थकर प्रकृति का बंध | ९७ |
| *३२ अच्युत स्वर्ग—प्राणत स्वर्ग का देव | ९६ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|-------|
| *३२*१ देव रूप में उत्पन्न | ९९ |
| *३२*२ अच्युत स्वर्ग का इन्द्र अथवा प्राणत स्वर्ग का इन्द्र | १०० |
| *३२*३ आहार—शवासोच्छ्वास-ज्ञान | १०१ |
| *३२*४ पुष्पोत्तर विमान में भगवान् महावीर का जीव और भाविजन्म-क्षेत्र में भनवर्षा | १०१ |
| *३३ वर्धमान तीर्थंकर-भगवान् महावीर | १०३ |
| *३३*१ गर्भप्रवेश | १०३ |
| *३३*२ प्रियकारिणी (त्रिशला) के गर्भ के समय भन-वर्षा | १०६ |
| *३३क भगवान् महावीर—देवानंदा-गर्भ में | १०६ |
| *३३ख त्रिशला-गर्भ में (सिद्धार्थ राजा की पत्नी) | १०८ |
| *३३ख*१ गर्भ विवेचन | १०८ |
| *३३ख*२ गर्भ का प्रभाव—त्रिशला के गर्भ के समय भन-वर्षा | ११० |
| *३३ख*३ त्रिशला के गर्भ में अभिग्रह | ११० |
| *३३ख*४ वर्धमान का वंश | १११ |
| *३३ख*५ वर्धमान भगवान् का शरीर | १११ |
| *३३ख*६ वर्धमान भगवान् के शरीर के अवयवों का विवेचन | ११२ |
| (क) शिख-नख विवेचन | ११२ |
| *३३ख*७ बाल्यावस्था में अध्ययन | ११५ |
| *३३ख*८ कुमारदि पर्याय | ११५ |
| *३३ख*९ आमलकी कीड़ा | ११५ |
| *३३ख*१० चक्रवर्ती की कल्पना | ११६ |
| *३३ख*११ भगवान् के अभिनिष्क्रमण का विचार और नंदीवर्धन | ११६ |
| *३३ख*१२ नंदीवर्धन के आग्रह पर दो वर्ष और गृहस्थावास में | ११६ |
| *३३ख*१३ साधक दो वर्ष में विविध-नियम | ११६ |
| *१- रात्रि-भोजन न करने तथा सञ्चित जल न पीने की प्रतिज्ञा | ११६ |
| *२- एकत्व भावना | ११७ |
| *३३ख*१४ जीव-सञ्चित-अचित्त का ज्ञान | ११७ |
| *३३ख*१५ दीक्षा-पर्याय | ११७ |
| *३३ख*१६ प्रथम-भिक्षा-दाता ने कैसी भिक्षा दी | ११८ |
| *३३ख*१७ जूरुमक देवों द्वारा प्रथम पारणे में वृष्टि | ११८ |
| *३३ख*१८ भगवान् के छद्मस्थ-अवस्था का ज्ञान | ११८ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|-------|
| *१ कर्म और कर्मफल का ज्ञान | ११६ |
| *३३ख*१६ वर्धमान से चतुर्थ प्रहर में केवलज्ञान की उपलब्धि | ११६ |
| *३३ख*२० ज्ञान-कल्याणक | १२० |
| *१ देवों द्वारा महोत्सव | १२० |
| *२ केवलज्ञानोत्पत्ति के समय आसनकंपन | १२१ |
| *३३ख*२१ वर्धमान की अंतक्रिया और परिनिर्वाण | १२१ |
| *३३ख*२२ भगवान् के पर्यायवाची नाम | १२१ |
| *१ महामाहण | १२१ |
| *२ महागोप | १२१ |
| *३ महासार्थवाह | १२२ |
| *४ महाधर्मकथी | १२२ |
| *५ महानिर्यामक | १२३ |
| *३३ख*२३ मंगल और तप शब्दों में वर्धमान | १२३ |
| *१ वद्धमाणक (वर्द्धमानक) | १२३ |
| *२ आर्यबिल वद्धमाणं (आर्यबिल-वर्द्धमान) | १२३ |
| *३३ख*२४ तीर्थप्रवर्तन काल | १२३ |
| *३३ख*२५ वर्धमान के समय चारित्र | १२३ |
| *३३ख*२६ भगवान् महावीर और दीपमालिका | १२४ |
| *३३ख २७ वर्धमान-महावीर भगवान् की स्तुति | १२४ |
| *१ सूयगङ्गी (सूत्रकृतांग) से | १२४ |
| *२ कसाय पाहुंडं से | १३२ |
| *३ अग्र्याग्र्य आगमों से | १३३ |
| *४ अग्र्याग्र्य ग्रन्थों से | १३५ |
| *३३ख २७ जैनैतर ग्रन्थों में | १३७ |
| *१ ब्राह्मण ग्रन्थों में | १३७ |
| *२ बौद्ध ग्रन्थों में | १३७ |
| द्विगम्बर और त्रिवेताम्बर परम्पराओं में भगवान् महावीर के जीवनभूत विषयक आत्माय-भेद | १३६ |
| वर्धमान की जन्म-कुंडली | १३६ |
| *३४ वर्धमान-महावीर और समवसरण देशता | १४० |
| कीर्तियों का विस्तार | १४४ |

| | |
|---|-------|
| विषय | पृष्ठ |
| भगवान् महावीर और चतुर्विध संघ की उत्पत्ति | १४७ |
| द्वितीय समवसरण में—तीर्थोत्पत्ति | १४७ |
| भगवान् महावीर और दिव्यध्वनि | १४८ |
| दिग्भ्रमर मतानुसार | १४८ |
| गौतम के प्रश्न | १५० |
| गौतम के प्रश्न करने पर—प्रथम देशना भगवान् द्वारा—दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश— | १५० |
| गणौर्द्वादशभिः प्रोक्तैः परीतेन जिनेशिनः | १५२ |
| श्वेताम्बर मतानुसार भगवान् की द्वितीय देशना—अपापा नगरी में | १५७ |
| द्वितीय समवसरण में तीर्थ की स्थापना | १५७ |
| भगवान् महावीर और समवसरण । | १६० |
| देशना का निष्कर्ष—अपापा नगरी के द्वितीय समवसरण में—चतुर्विध संघ की स्थापना | १६० |
| अर्यचन्दना को प्रवर्तिनी पद पर स्थापित—भगवान् महावीर की देशना—द्वितीय धर्म देशना | १६१ |
| भगवान् महावीर की अन्तिम देशना के समय—इन्द्रभूति (गौतम) भगवान् के निकट नहीं थे | १६१ |
| भगवान् की अन्तिम देशना (अन्तिम रात्रि में) | १६२ |
| भगवान् महावीर की अन्तिम देशना | १६३ |
| भगवान् की अन्तिम देशना की समाप्ति पर-राजा हस्तिपाल राजाके द्वारा देखे गये आठ स्वप्नों की अर्थ पूछना | १६३ |
| भगवान् की अन्तिम देशना की समाप्ति पर हस्तिपाल राजा के आठ स्वप्नों का अर्थ स्वयं पूछना— | १६५ |
| भगवान् महावीर की राजगृह में धर्म देशना—(मेघवुमार के दीक्षित वर्ष में) | १६८ |
| ब्राह्मण कूंडग्राम में धर्मदेशना—(ऋषभदत्त—देवानन्दा दीक्षित) हुए | १६८ |
| चंपानगरी में धर्म देशना—(कूणिक राजा, सुभद्रादि देवियों के समक्ष) | १६९ |
| अन्यान्य नगर में भगवान् की धर्म देशना | १७० |
| श्रमण भगवान् महावीर के विविध विशेषण | १७२ |
| भगवान् महावीर और दुर्गम स्थान | १७२ |
| भगवान् महावीर और उनका प्रवचन | १७२ |
| भगवान् महावीर से उपदिष्ट और अनुमत पांच बस्तुएँ | १७२ |
| भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पांच स्थान | १७३ |
| भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पांच स्थान | १७३ |
| भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पांच स्थान | १७३ |
| ” | १७४ |
| ” | १७४ |

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| *३ भगवान् महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पांच स्थान | १७४ |
| *५ " " " | १७५ |
| *६ " " " | १७५ |
| *१० " " " | १७५ |
| *१६ भगवान् महावीर के शासन और अन्य तीर्थंकरों के शासन में अंतर— | १७६ |
| *४०/६६ वर्धमान (महावीर) और शासन संपत्ता | १७६ |
| *४०/४६ वर्धमान के ग्यारह गणधरों का विवेचन | १७६ |
| *४०/१ औचिक गणधर विवेचन | १७६ |
| *१ सोमिल ब्राह्मण द्वारा यज्ञ और गणधर—गणधरों के नाम (इवे०) | १७७ |
| *२ गणधर-परिवार (गणधर के साथ दीक्षित) | १७८ |
| *३ गणधर की व्याख्या | १७८ |
| *४ गौतम गणधर के संशय | १७९ |
| *५ अग्निभूति के संशय | १८० |
| *६ वायुभूति के संशय | १८० |
| *७ व्यक्त गणधर के संशय | १८० |
| *८ सुवर्भ गणधर के संशय | १८० |
| *९ षष्ठम गणधर—मंडित के संशय | १८० |
| *१० सप्तम गणधर—सौर्यपुत्र के संशय | १८० |
| *११ अष्टम गणधर—अकंपित के संशय | १८० |
| *१२ नवम गणधर—अचलभ्राता के संशय | १८१ |
| *१३ दशमम् गणधर—मेलार्य के संशय | १८१ |
| *१४ एकादशम् गणधर—प्रभास के संशय | १८१ |
| *१५ गणधरों का सामान्य विवेचन | १८१ |
| *१६ भगवान् महावीर के गण और गणधर— | १८३ |
| *१७ अंगपूर्वों की रचना और गणधर | १८६ |
| *१८ गणधरों का श्रुत | १८७ |
| *१९ गणधर और तीर्थ | १८७ |
| *२० गणधरों की प्रमुखता | १८७ |
| *२१ गणधर और वर्षावास | १८८ |
| *२२ भगवान् के गणधरों का परिनिर्वाण | १८८ |

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| *२३ भगवान् के अंतिम समय-काल में—सिर्फ दो गणधर थे | १५८ |
| *२४ गणधरों की जन्मभूमि | १५९ |
| *२५ गणधर और काल—नक्षत्र-चन्द्र-योग | १५९ |
| *२६ गणधरों के पिता के नाम | १६० |
| *२७ गणधरों की माता के नाम | १६० |
| *२८ गणधरों का गोत्र | १६१ |
| *२९ गणधरों की आगार पर्याय — | १६१ |
| *३० गणधरों का छद्मस्थकाल | १६१ |
| *३१ गणधरों का केवलिकाल—जिनपर्याय | १६२ |
| *३२ गणधरों की आयु-सर्वायु | १६२ |
| *३३ सब गणधरों के शरीर के संहनन और संस्थान | १६३ |
| *३४ सब गणधर लब्धि सम्पन्न थे | १६३ |
| *३५ परिनिर्वाण के समय तप | १६३ |
| *३६ गणधरों की श्रुत साधना—आगम अध्ययन | १६३ |
| *३७ भगवान् के परिनिर्वाण के समय—इन्द्रभूति और सुधर्म गणधर थे | १६४ |
| ४१ प्रथम इन्द्रभूति (गौतम) गणधर | १६५ |
| ४१*१ गौतम गणधर और सौधर्म इन्द्र का प्रश्न | १६५ |
| ४१*२ गणधर गौतम का भगवान् महावीर के पास आगमन | १६६ |
| ४१*३ अपापा नगरी में दीक्षा ग्रहण | १६६ |
| ४१*४ गौतम गणधर को सात ऋद्धियाँ व चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान | २०४ |
| ४१*५ गौतम का दूसरा नाम इन्द्रभूति | २०५ |
| ४१*६ इन्द्रभूति के माता-पिता के नाम | २०६ |
| ४१*७ गौतम गणधर—प्रथम गणधर | २०६ |
| ४१*८ साधु-समुदाय में प्रमुख इन्द्रभूति | २०६ |
| ४१*९ गौतम स्वामी के छद्मस्थावस्था का एक विवेचन | २०७ |
| ११*१० छद्मस्थावस्था में गौतम गणधर ने छट्ट-तप-बेले-बेले की तपस्या अनेक बार की | २०८ |
| ११*११ गौतम की जिज्ञासा | २१० |
| ११*१२ केशी और गौतम संवाद | २१० |
| *१२*१ केशी-गौतम-मिलन | २१० |
| *१२*२ केशी-गौतम संवाद | २१४ |

विषय

पृष्ठ

| | |
|--|-----|
| (क) चारयाम (महाव्रत) के सम्बन्ध में | २१४ |
| (ख) सचेलक-अचेलक के सम्बन्ध में | २१५ |
| (ग) अंतरंग शत्रुओं के सम्बन्ध में | २१६ |
| (घ) पाश (रागद्वेषादि) सम्बन्ध में | २१७ |
| (च) लता के सम्बन्ध में | २१७ |
| (छ) अग्नि (क्रोध-मान-माया-लोभ) के सम्बन्ध में | २१८ |
| (ज) (मनरूपी) दुष्ट अश्व के विषय में | २१९ |
| (झ) सन्मार्ग-कुमार्ग के सम्बन्ध में | २१९ |
| (ञ) धर्मरूप द्वीप के सम्बन्ध में | २२० |
| (ट) नौका के सम्बन्ध में | २२० |
| (ठ) सच्चे सूर्य के सम्बन्ध में | २२१ |
| (ड) क्षेमरूप-शिवरूप-बाधा-पीड़ा रहित स्थान के सम्बन्ध में | २२२ |

*४१*१२*३ गौतम स्वामी से केशी स्वामी ने चार महाव्रत से पाँच महाव्रत ग्रहण किये २२२

*४१*१२*४ श्रमण भगवान् महावीर की समकालीन अवस्था में गौतम स्वामी का भिक्षार्थ जाना २२२

*४१*१२*५ गौतम गणधर और आणंद श्रावक २२३

*१ वाणिज्य ग्राम में भिक्षार्थ आज्ञा मानना—भिक्षार्थ जाना २२३

*२ गौतम द्वारा आनन्द की चर्चा विषयक समाचार का श्रवण २२४

*३ गौतम का आनन्द के पास पहुँचना २२५

*४ आनन्द ने गौतम स्वामी को अपने पास आने का निवेदन किया २२५

*५ आनन्द द्वारा अपने ज्ञान की सूचना २२६

*६ गौतम का संदेह और आनन्द का उत्तर २२६

*७ गौतम का शंकित होकर भगवान् के पास आगमन २२७

*८ गौतम द्वारा क्षमा याचना २२८

*४१*१२*६ महाशतक श्रावक और गौतम गणधर २२८

*१ गौतम का आगमन २२८

*२ महाशतक का भूल स्वीकार करना और प्रायश्चित्त करना २२९

*३ गौतम का महाशतक श्रावक के घर से वापस आना २२९

*४१*१२*७ अन्य तीर्थियों से गौतम स्वामी का वाद-विवाद २२९

*१ अन्य तीर्थियों द्वारा प्रश्न २२९

*२ अन्य तीर्थियों के साथ सैद्धान्तिक मतभेद २३०

*३ भगवान् महावीर द्वारा गौतम स्वामी की प्रशंसा २३१

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| २८ परिनिर्वाण के दिन गौतम गणधर को देवशर्मा को प्रतिबोधार्थ भेजा | २३१ |
| २९ इन्द्रभूति को केवलज्ञान | २३३ |
| २१० वर्षमान महावीर के पश्चात् धर्म का प्रवर्तन | २३३ |
| ११ गौतम का परिनिर्वाण | २३४ |
| १२ इन्द्रभूति का एक विवेचन | २३४ |
| १३ इन्द्रभूति—सर्वलब्धि सम्पन्न थे | २३४ |
| १४ संहनन और संस्थान | २३५ |
| १५ इन्द्रभूति का जन्म-नक्षत्र | २३५ |
| १६ गौत्र | २३५ |
| १७ गृहस्थपर्याय | २३५ |
| १८ छद्मस्थपर्याय | २३५ |
| १९ केवलिपर्याय | २३५ |
| २० इन्द्रभूति का परिनिर्वाण—भगवान् महावीर के पश्चात् | २३६ |
| २१ गौतम गणधर का श्रुत | २३६ |
| २२ गौतम गणधर की आयु | २३६ |
| २३ परिनिर्वाण के समय तप | २३६ |
| ४२ द्वितीय अग्निभूति | २३६ |
| १ अग्निभूति का क्षमण भगवान् महावीर के पास आगमन और दीक्षा ग्रहण | २३६ |
| २ दीक्षा के समय—अग्निभूति की आयु | २४० |
| ३ अग्निभूति के माता-पिता के नाम | २४० |
| ४ अग्निभूति गणधर—द्वितीय गौतम से सम्बोधित | २४१ |
| ५ अग्निभूति का परिनिर्वाण—परिनिर्वाण के समय अवस्था | २४१ |
| ४३ तृतीय वायुभूति (तृतीय गौतम) गणधर | २४२ |
| ४३१ वायुभूति का भगवान् महावीर के पास आगमन-संशय का निवारण और दीक्षा | २४२ |
| ४३२ वायुभूति के माता-पिता के नाम | २४४ |
| ४३३ वायुभूति गणधर—तृतीय गौतम से संबोधित | २४४ |
| ४३४ वायुभूति की आयु | २४५ |
| ४४ वतुर्थ गणधर—व्यक्त | २४५ |
| ४४१ व्यक्त गणधर का भगवान् महावीर के पास आगमन | २४५ |
| ४४२ व्यक्त स्वामी के माता-पिता के नाम | २४७ |

| विषय | पृष्ठ |
|---|-------|
| *४४*३ व्यक्त गणधर की आयु | २४७ |
| *४५ पंचम गणधर—सुधर्मा गणधर | २४७ |
| *४५*१ सुधर्मा गणधर का भगवान् के पास आगमन, संशय निवारण और दीक्षा | २४७ |
| *४५*२ सुधर्मा गणधर के माता-पिता के नाम | २४९ |
| *४५*३ आर्य सुधर्मा का गौत्र | २४९ |
| *४५*४ सुधर्मा के जन्म के समय—नक्षत्र का योग | २४९ |
| *४५*५ गणधर सुधर्मा का श्रुत | २५० |
| *१ दीक्षा के पूर्व का श्रुत | २५० |
| *२ द्वादशांगी से पूर्व—पूर्वों की रचन | २५० |
| *४५*६ संहनन और संस्थान | २५० |
| *४५*७ आर्य सुधर्म का आयुष्य | २५१ |
| *४५*८ सुधर्मा गणधर का एक विवेचन | २५१ |
| *४५*९ सुधर्म का कैवल्यकाल और परिनिर्वाण | २५४ |
| *४५*१० सुधर्मा गणधर से जम्बू स्वामी के प्रश्नोत्तर | २५५ |
| *४५*११ भगवान् महावीर के पट्टधर—सुधर्मा गणधर | २५६ |
| *४५*१२ सुधर्मा गणधर का मासिक अनशन में परिनिर्वाण | २५७ |
| *४५*१३ सुधर्मा गणधर की निर्वाण भूमि | २५८ |
| *४५*१४ सुधर्मा गणधर की श्रुतसाधना | २५८ |
| *४५*१५ आर्य सुधर्मा की अपत्य-परम्परा-या वंश-परम्परा | २५८ |
| *४५*१६ सुधर्मा के पट्टधर—जम्बू स्वामी | २५८ |
| *१ जम्बू स्वामी—एक विवेचन | २५८ |
| *२ जम्बू स्वामी | २५९ |
| *३ जम्बू जाव पञ्जुवासामि | २५९ |
| *४ सुधर्मा के पट्टधर—जम्बू स्वामी थे | २६० |
| *४५*१७ सुधर्म गणधर के पट्टधर जम्बू के अनन्तर कतिपय विच्छेद | २६० |
| *४५*१८ सुधर्मा गणधर के बाद जम्बू स्वामी आदि | २६० |
| *४५*१९ भगवान् के परिनिर्वाण के बाद सुधर्मा स्वामी चम्पानगरी में | २६१ |
| *४५*२० सुधर्मा गणधर के विहार | २६२ |
| (भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के बाद) | २६२ |
| *४५क षष्ठः—मंडित गणधर | २६२ |

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| *४५*१ मंडित-मंडिक गणधर का भगवान् के पास आगमन | २६२ |
| *४५*२ मंडित के मातापिता के नाम | २६४ |
| *४५*३ मंडित गणधर की श्रमण-पर्याय | २६४ |
| *४५*४ मंडित पुत्र की आयु | २६४ |
| *४५*५ परिनिर्वाण के समय तप | २६४ |
| *४६ सप्तम मौर्यपुत्र गणधर | २६५ |
| *४६*१ मौर्यपुत्र का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन | २६५ |
| *४६*२ मौर्यपुत्र के माता-पिता के नाम | २६६ |
| *४६*३ दीक्षा के समय मौर्यपुत्र की अवस्था | २६७ |
| *४६*४ मौर्यपुत्र का आयुष्य | २६७ |
| *४७ अष्टम—अर्कपित गणधर | २६८ |
| *४७*१ अर्कपित गणधर का भगवान् महावीर के पास आगमन | २६८ |
| *४७*२ अर्कपित के माता-पिता के नाम | २७० |
| *४७*३ अर्कपित गणधर की आयु | २७० |
| *४८ नववें—अचलभ्राता गणधर | २७० |
| *४८*१ अचलभ्राता का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन | २७० |
| *४८*२ अचलभ्राता के माता-पिता के नाम | २७२ |
| *४८*३ अचलभ्राता गणधर के शरीर का संहनन-संस्थान | २७२ |
| *४८*४ अचलभ्राता गणधर की आयु | २७२ |
| *४९(क) दशम—गणधर-मेतार्य | २७३ |
| *४९(क)*१ मेतार्य गणधर का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन और दीक्षा ग्रहण | २७३ |
| *२ मेतार्य गणधर के माता-पिता के नाम | २७४ |
| *३ मेतार्य गणधर के संशय | २७४ |
| *४ मेतार्य गणधर का जन्म नक्षत्र | २७४ |
| *५ मेतार्य गणधर का गोत्र | २७४ |
| *६ मेतार्य गणधर की आगारपर्याय-गृहस्थपर्याय | २७५ |
| *७ मेतार्य गणधर की छद्मस्थ—दीक्षा-पर्याय | २७५ |
| *८ दीक्षा के पूर्व मेतार्य गणधर का अध्ययन | २७५ |
| *९ मेतार्य गणधर का केवलिकाल—जिनपर्याय | २७५ |
| *१० मेतार्य गणधर की आयु | २७५ |

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| *४६(ख) ग्यारहवें गणधर—प्रभास | २७६ |
| *१ प्रभास गणधर का भगवान् महावीर के पास आगमन | २७६ |
| *२ प्रभास गणधर के माता-पिता के नाम | २७६ |
| *३ प्रभास गणधर का परिवार (गणधर के साथ दीक्षित) | २७६ |
| *४ प्रभास गणधर के संशय | २८० |
| *५ प्रभास गणधर का श्रुत-अध्ययन | २८० |
| *६ प्रभास गणधर का जन्म-मक्षत्र | २८० |
| *७ प्रभास गणधर की आगार पर्याय—गृहस्थ पर्याय | २८० |
| *८ प्रभास गणधर का गौत्र और जाति | २८० |
| *९ प्रभास गणधर की छद्मस्थ-दीक्षा-पर्याय | २८० |
| *१० प्रभास गणधर का केवलिकाल—जिनपर्याय | २८१ |
| *११ प्रभास गणधर की आयु-सर्वायु | २८१ |
| *४६(ग) विविध | २८१ |
| *१ द्वादशांग का उपदेश | २८१ |
| *२ भगवान् महावीर और गौतम का भवान्तरीय सम्बन्ध | २८१ |
| *३ भगवान् के परिनिर्वाण के दिन ज्येष्ठ अनगार गौतम को केवल ज्ञान-केवल दर्शन समुत्पन्न | २८२ |
| *४ परिनिर्वाण के दिन गौतम स्वामी निकट में नहीं थे | २८२ |
| *५ अग्निभूति की अवगाहना | २८२ |
| *६ ग्यारह गणधरों के नाम—परम्परा में भिन्नता | २८२ |
| *७ आमशौषधि आदि लब्धि सम्पन्न थे | २८३ |
| *८ गौतम के प्रश्नोत्तर की जिज्ञासा | २८४ |
| *९ गणधर के उपदेश का समय | २८४ |
| *५० भगवान् पार्श्वनाथ के संतानीय शिष्य | २८४ |
| *५०*१ उदयपेढालपुत्र और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर | २८४ |
| *५०*२ उदयपेढालपुत्र का भगवान् गौतम के निकट-आगमन | २८६ |
| *५०*३ उदयपेढालपुत्र का प्रश्न | २८६ |
| *५०*४ भगवान् गौतम का उत्तर | २८७ |
| *५०*५ उदयपेढालपुत्र का प्रतिप्रश्न | २८८ |
| *५०*६ भगवान् गौतम का प्रत्युत्तर | २८८ |
| *५०*७ उदयपेढालपुत्र का—सपक्ष स्थापना | २८९ |

| विषय | पृष्ठ |
|--|-------|
| ५०*८ भगवान् गौतम का प्रत्युत्तर | २६० |
| ५०*९ श्रमण-दृष्टांत | २६० |
| ५०*१० प्रत्याख्यान-विषय-उपदर्शन | २६५ |
| ५०*११ नव-भंगी प्रत्याख्यान | २६६ |
| ५०*१२ त्रस-स्थावर-प्राणियों का अविच्छिन्न | ३०३ |
| ५०*१३ उपसंहार-पद | ३०५ |
| ५१ गौतम गणधर के प्रश्न | ३०७ |
| ५२ परिनिर्वाण के दिन—भगवान् महावीर ने गौतम गणधर को देवशर्मा को प्रतिबोधार्थ भेजा | ३०७ |
| ५३ भगवान् महावीर का परिनिर्वाण सुनकर गौतम का विलाप और केवलज्ञान | ३०८ |
| ५३*१ भगवान् के परिनिर्वाण की रात्रि को गौतम का क्रन्दन | ३०८ |
| ५३*२ भगवान् के परिनिर्वाण के दिन गौतम गणधर को केवलज्ञान की उपलब्धि | ३०९ |
| ५४ ग्यारह गणधरों के नाम (दिग्०) | ३०९ |
| ५५ श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी (अग्रणी)—आर्य चन्दना (साध्वी प्रमुखा) चन्दनवाला | ३१० |
| ५५*२ अभिग्रह फलित होने पर देवों द्वारा वृष्टि | ३२५ |
| ५५*३ दीक्षा-ग्रहण—भगवान् महावीर से | ३२८ |
| ५५*४ भगवान् महावीर की मुखिया—चंदना साध्वी | ३२८ |
| ५५*५ चन्दना आर्या को केवलज्ञान की उत्पत्ति | ३२८ |

वधमान (महावीर) के पूर्वभव

.००/४ पूर्वभव विवेचन

.०० अनन्त-संसार-भ्रमण

अनन्त संसार भ्रमण के पश्चात् भगवान महावीर के जीव का सर्वप्रथम मिथ्यात्व से निर्गमः—

(क) एतच्च सर्वं भगवन्महावीरलक्षणद्रव्याधीनमतस्तस्यैव प्रथमतो मिथ्यात्वादिभ्यो निर्गममभिधित्सुराह-

—आव० निगा० १४२ । टीका

पंथं किर देसित्ता साहूणं अडवि विप्पणट्ठाणं ।
सम्मत्तपढमलंभो बोद्धव्वो वद्धमाणस्स ॥

मलयटीका—पन्थानं 'किले' त्याप्तवादे देशयित्वा—कथयित्वा साधुभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात्, 'अडवि' त्ति प्राकृतत्वादेवात्र सप्तम्या लोपः अटव्यां पथो विप्रनष्टेभ्यः, परिभ्रष्टेभ्यः, पुनस्तेभ्यः एव देशानां श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्राप्तः, एवं सम्यक्त्वप्रथमलाभो बोद्धव्यो वर्द्धमानस्येति गाथाक्षरार्थः ।

—आव० निगा० १४३

अटवी में पथभ्रष्ट साधुओं को सही पथ दिखाने से तथा उन साधुओं की देशना श्रवण करने से भगवान महावीर के जीव को मिथ्यात्वादि से निर्गमन होकर, सम्यक्त्व की पहली बार प्राप्ति हुई ।

(ख) घत्ता—बहु-दुरिय-महल्लें मिच्छा-सल्लें विविह-देह-संघारइ ।

भरहेसर-णंदणु संसय-हय-मणु चिरुहिंडिवि संसारइ ॥५॥

—वीरजि० संधि १ । कडवक ५

भगवान महावीर का जीव अनेक जन्मों में अनेक प्रकार के शरीर धारण किये और वह मरीचि भरतेस्वर-पुत्र होकर भी मन में सशय के आघात से चिरकाल तक संसार में भ्रमण करता रहा ।



१०१ भगवान् महावीर का जीव—

ग्रामचित्तक— नयसार भिल्ल—पुरुरवाभिल्ल के भव में

पूर्वभव में प्रथम सम्यक्त्व प्राप्त—

(क) मलयटीका—×××एतच्च सर्वं भगवन्महावीरलक्षणद्रव्याधीनमतस्तस्यैव प्रथमतो मिथ्यात्वादिभ्यो निर्गममभिधित्सुराह—

पंथं किर देसित्ता साहूणं अडवि विप्पणट्ठाणं ।

सम्मत्तपढमलंभो बोद्धव्वो वद्धमाणस्स ॥१४३॥

टीका—पंथानं 'किले' त्याप्तवादे देशयित्वा—कथयित्वा साधुभ्यः, सूत्रे षष्ठी प्राकृतत्वात् 'अडवि' ति प्राकृत्वादेवात्र सप्तम्या लोपः अटव्यां पथो विप्रनष्टेभ्यः—परिभ्रष्टेभ्यः पुनस्तेभ्यः एव देशनां श्रुत्वा सम्यक्त्वं प्राप्तः, एवं सम्यक्त्वप्रथमलाभो बोद्धव्यो वर्द्धमानस्येति गाथाक्षरार्थः

—आब० निगा० १४३

अटवी में पद्यभ्रष्ट साधुओं की देशना भ्रवण करने से भगवान् महावीर के जीव को मिथ्यात्वादि से धिर्गमन होकर, सम्यक्त्व की पहली बार प्राप्ति हुई ।

(ख) कथानकादवसेयः, तेच्चेदम्-अवरविदेहे एगम्मि गामे बलाहितो, सो य रायाएसेण सगडाणि गहाय दारुनिमित्तं महाडवि पविट्ठो, इतो य साहुणो मग्गं पवन्ना सत्थेण समं वच्चंति, सत्थे आवासिए भिक्खं पविट्ठा, सत्थो गतो, ते मग्गतो पहाविया, अयाणंता रुहा, मूढदिसा पथं अयाणंता तेण अडविपथेण मज्झण्हदिवसकाले तण्हाए लुहाए य पारद्धा तं देसं गया जत्थ सो सगडसंनिवेशो, सो य बलाहिओ ते पासित्ता महंतं संवेगमावण्णो भणइ—अहो ! इमे साहुणो अदेसिया तवस्सिणो अडविमणुपविट्ठा, तेसिं सो परमभत्तीए विउलं असणपारणं दाऊण आह—एह भगवं । जेण पंथे समवतारेमि, पुरतो संपत्थितो, ताहे तेडवि साहुणो तस्सेव मग्गेण अणगच्छन्ति, ततोगुरु तस्स धम्मं कहेउमारद्धो, सो तस्सुवगतो, ततो पंथं समोयारित्ता नियत्तो, ते पत्ता सदेसं, सो पुण अविरयसम्महिट्ठी कालं काऊण सोहम्मो कप्पे पलितोवमड्डिइत्तो देवो जातो ॥

एतदेवोपदर्शयन् गाथाह्वयमन्तर्भाष्यकृदाह—

अवरविदेहे गामस्स चित्तगो रायदारुवणगमणं ।

साहू भिक्खनिमित्तं सत्था हीणे तर्हि पासे ॥१॥

दाणऽन्न पथ नयणं, अणुकंप गुरुण कहण सम्मत्तं ।

सोहम्मो उववन्नो पलियाउ सुरो महिड्डीतो ॥२॥

आव० मूलभाष्य । गा० १, २

मलय टीका—अपरविदेहे ग्रामस्य चिन्तको 'रायदारुवणगमण' मिति अत्र निमित्तशब्दलोपो द्रष्टव्यो राजदारुनिमित्तं तस्य वनगमनं, सुसाधून् भिक्षानिमित्तं सार्थाद्भ्रष्टान् तत्र दृष्टवान्, ततोऽनुकम्पया—परमभक्त्या दानं अन्नपानस्य, नयनं—प्रापणं पथि, तदनन्तरं गुरोः कथनं, ततः सम्यक्त्वप्राप्तिः, तत्रभावान्मृत्वाऽसौ सौधर्मलोके उत्पन्नः पलयोपमायुः सुरो महर्द्धिक इति ॥

लद्धूण य सम्मत्तं अणुकंपाए सो सुविहियाणं । भासुरवरबोदिधरो देवो वेमाणितो जातो ॥

—आव० निगा । १४४

मलय टीका—स ग्रामचित्तकः सुविहितानामनुकम्पया—परमभक्त्या तेभ्यः सम्यक्त्वं लब्ध्वा च भास्वरां—दीप्तिमतीं वरां-प्रधानां बोन्दीं—तनुं धारयति इति भास्वरवरबोन्दिधरः देवो वैमानिको जात इति नियुक्तिगाथार्थः ।

(ग) अस्यैव जम्बूद्वीपस्य प्रत्यग्विदेहभूषणे । विजयेऽस्ति महावप्रे जयन्ती नामतः पुरी ॥३॥
 दोर्वीर्येण समुत्पन्न इव नद्यो जनार्दनः । महासमृद्धिस्तत्रातोन्नृपतिः शत्रुमर्दनः ॥४॥
 तस्य ग्रामे तु पृथिवीप्रतिष्ठानाभिधेऽभवत् । स्वाभिभक्तो नयसाराभिधानो ग्रामचिन्तकः ॥५॥
 साधुसंबंधबाह्योऽपि सोऽकृत्येभ्यः पराङ्मुखः । दोषान्वेषणविमुखो गुणग्रहणतत्परः ॥६॥
 सोऽन्यदा वरदारुभ्यः पृथिवीपतिशासनात् । सपाथेयो महाटव्यामादाय शकटानगात् ॥७॥
 तस्य च्छेदयतो वृक्षान्मध्यन्दिनमुपाययौ । जठरेऽग्निरिव व्योम्नि दिदीपे तपनोऽधिकम् ॥८॥
 भृतकैर्नयसारस्य सारा रसवती तदा । समयज्ञैरुपनिन्ये मंडपाभतरोरधः ॥९॥
 क्षुधितस्तृषितोः वापि यदि स्यादतिथिर्मम । तं भोजयामीति नयसारोऽपश्यदितस्ततः ॥१०॥
 क्षुधितास्तृषिताः श्रान्ताः सार्थान्वेषणतत्पराः । घर्माभःप्लुतसर्वांगाः साधवश्चायुस्तदा ॥११॥
 साध्वमी साधवो मेऽत्रातिथयः समुपस्थिताः । चिन्तयन्निति नत्वा तान् सोऽब्रवीद् ग्रामचिन्तकः ॥१२॥
 भगवन्तो भवन्तोऽस्यामटव्यां कथमागताः । एकाकिनः शास्त्रिणोऽपि पर्यटन्ति न खल्विह ॥१३॥
 तेऽप्यभ्यधुर्वयं स्थानात् सार्थेन प्रस्थिताः पुरा । ग्रामे प्रविष्टा भिक्षायै ययौ सार्थतस्तदैव हि ॥१४॥
 अनान्तभिक्षाश्चलिताः सार्थस्यानुपदं वयम् । आगच्छन्तो महाटव्यामस्यां निपतितास्ततः ॥१५॥
 नयसारोऽब्रवीदेवमहो ! सार्थोऽतिनिष्कृपः । अहो पापाद्ध्यभोरुहो विश्वस्तघातकः ॥१६॥
 यत्सह प्रस्थितान् साधून् सार्थं प्रस्थाशया स्थितान् । अनागम्य प्रप्रयौ निजकार्यैकनिष्ठुरः ॥१७॥
 मत्पुण्यैर्युयमायाता वनेऽत्रातिथयो मम । इत्युक्त्वा भोजनस्थानं स निन्ये तान्महामुनीन् ॥१८॥
 स्वार्थोपनोतैः पानान्नैः स मुनीन् प्रपलाभयत् । अन्यत्र गत्वा विधिना तेऽप्यमुञ्जत साधवः ॥१९॥
 प्रामायुक्तोऽपि हि भुक्त्वा गत्वा नत्वाऽवदन्मुनीन् । चलन्तु भगवन्तोऽद्य पूर्णार्गं दर्शयामि वः ॥२०॥

ते तेन सहचेलुश्च प्रापुश्च नगरीपथम् । तरोरधश्चोपविश्य धर्मं तस्याचचक्षिरे ॥२१॥
 स प्रत्यपादि सम्यक्त्वं धन्यमन्यः प्रणम्य तान् । बलिवा दाहणि राज्ञे प्रैषीद् ग्रामे स्वयं स्वगात् ॥२२॥
 अथाभ्यस्यन् सदा धर्मं सप्ततत्त्वानि चिन्तयन् । सम्यक्त्वं पालयन् कालमनैषीत् स महामनाः ॥२३॥
 विहिताराधनः सोऽन्ते स्मृतपञ्चनमस्कृतिः । मृत्वा बभूव सौधर्मं सूरः पल्योपमस्थितिः ॥२४॥
 —त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १ । श्लो० ३ से २४

इस जम्बूद्वीप के पश्चिम महाविदेह क्षेत्र के आभूषण रूप महावप्र नाम के विजय में जयंती नामक नगरी थी । उस नगरी में भुजा के वीर्य से मानो नवीन वासुदेव उत्पन्न हुआ हो—ऐसा महासमृद्धिवान् शत्रुमर्दन नामक राजा था । उसके पृथ्वी प्रतिष्ठान नामक ग्राम में नयसार नामक एक स्वामीभक्त ग्रामचित्तक (गोमेती) निवास करता था । वह साधु-संग से दूर था तथापि स्वभाव से ही अपकृत्य से पराङ्मुख, दूसरों के दोष को देखने में विमुख और गुण-ग्रहण करने में तत्पर था ।

एकदा राजा की आज्ञा से मोटे काष्ठ लेने के लिए पाथेय (भातु) लेकर कितनेक शकटों के साथ महा अटवी में गया । वहाँ वृक्षों को छेदते हुए मध्याह्न समय हुआ—इतने में उदर में जठराग्नि की तरह सूयं आकाश में अधिक प्रकाश-तपायमान् हुआ । उस समय नयसार के समय को जानने वाले सेवक मंडपाकार वृक्ष के नीचे उसके लिए उत्तम रसवती लाये । स्वयं क्षुधा-तृषा से आतुर होते हुए भी 'कोई अतिथि का पदापण हो' तो मैं उसे भोजन कराकर बाद में मैं भोजन करूँ—ऐसा मन मैं धारण कर वह नयसार इधर-उधर देखने लगा । उसी समय क्षुधातुर तृषातुर, श्रांत, स्वयं के सार्थकी खोज करने में तत्पर और पसीना से जिसके सर्वाङ्ग व्याप्त हो गये थे—ऐसे कितनेक मुनि उस तरफ आये । ये साधु हमारे अतिथि हैं—सम्मुख उपस्थित हैं—ऐसा चिंतन कर उन्हें नमस्कार किया । नमस्कार कर नयसार ने उन साधुओं से पूछा कि हे भगवन् ! इस महा अटवी में आप कहां से आये हैं ? क्योंकि शस्त्रधारी भी एकाकी रूप में इस अटवी में नहीं फिर सकते हैं । तब वे साधु बोले—हम पूर्व हमारे स्थान से सार्थके साथ चले थे परन्तु इस मार्ग में किसी ग्राम में भिक्षार्थ गये—इधर में सार्थ चला गया । हमें कुछ भी भिक्षा नहीं मिली । अतः हम उस सार्थके पीछे-पीछे चलने लगे परन्तु वह सार्थ नहीं मिला । अतः भटकते-भटकते इस-अटवी में आ गये । प्रत्युत्तर में नयसार बोला—अहो ! यह सार्थ कैसा निर्दयी है ? पाप में भी अभीरु है, कैसा विश्वासघाती है कि उसकी आशा से साधुगण साथ में आये फिर उनको साथ लिये बिना वह स्वयं के स्वार्थ में ही निष्ठुर बनकर चला गया । परन्तु इस वन में मेरे पुण्योदय से आप अतिथि रूप में पधारे—यह कार्य बहुत अच्छा है । इस प्रकार कहकर नयसार उन महामुनियों को जहाँ स्वयं का भोजन स्थान था वहाँ ले गया । तत्पश्चात् स्वयं के लिये तैयार करके आया हुआ अन्नपान से उसने मुनियों को प्रतिलाभित किया । मुनिगण प्रतिलाभित आहार से अन्न स्थान में जाकर विधिवत् आहार किया । भोजन करके नयसार मुनियों के पास आया । उन्हें नमस्कार कर—प्रणाम कर उसने कहा—हे भगवंत ! आप पधारिये मैं आपको नगर का मार्ग बताऊँ । फलस्वरूप साधुगण उसके साथ चले और नगर के मार्ग पर आये । एक वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने नयसार को धर्म बताया । उस धर्म को सुनकर—आत्मा को धन्य मानकर नयसार ने उसी समय सम्प्रक्व को प्राप्त किया । मुनियों को नमस्कार-धंदन कर वापस नयसार आया और सर्व काष्ठ राजा के पास छोड़कर स्वयं के ग्राम में आया ।

तत्पश्चात् मोटा मनवाला नयसार सदा धर्म का अभ्यास करता हुआ, सप्त तत्त्व का चिन्तन करता हुआ और सम्यक्त्व का प्रतिपालन करता हुआ काल निर्गमन करने लगा । इस प्रकार आराधना करता हुआ नयसार अन्त समय में पाँच नमस्कार मंत्र का स्मरण कर मृत्यु को प्राप्त कर सौधर्म देवलोक में एक पल्योपम की आयु वाला देव हुआ ।

(घ) पायड-रवि-दीवइ-जंबू-दीवइ पुव्व-विदेहइ मणहरि ।

सीयहिं उत्तरयलि पविमल-सरजलि पुखलवइ-देसन्तरि ॥ १ ॥

वियसिय - सरस - कुसुम - रय - धूसरि ।

× × ×

महुयर-पिय-मणहरि महुयर-वणि ॥ सत्रह सुदूसित दु-परिणामें चंड-कंड-कोवंड-परिग्गहु ।
काल-सवरि-आलिगिय-विग्गहु ॥ अइ-परिरिखिय-थावर-जंगमु । सायरसेणु णामु जइ पुंगमु ॥
विघहुं तेण तेत्थु आढत्तउ । जाव ण मग्गणु कह व ण घित्तउ ॥

—वीरजि० संधि १। कड १,२

सूर्यरूपी दीपक से प्रकाशमान इस जंबूद्वीप के पूर्वविदेह नामक मनोहर क्षेत्र में निर्मल जल के प्रवाहयुक्त सोता नदी के उत्तर तट पर पुष्कलावती नामक देश है । उस देश में एक वन था । उस मधुकर नामक वन में पुरूरव नामक एक शबर रहता था । वह अत्यन्त दुर्भावनाओं से दूषित था । एक समय जब वह अपने प्रचण्ड धनुष और बाण को लिए हुए अपनी कृष्ण वर्णी शबरी के साथ उस वन में विचरण कर रहा था, तभी उसने स्थावर और जंगम जीवों की यत्नपूर्वक रक्षा करने वाले श्रेष्ठ मुनि सागरसेन को देखा । उसने तत्काल उन्हें अपने बाण से छेद देने का विचार किया, किन्तु वह अपने बाण को जबतक हाथ में ले तभी उसकी स्त्री ने उसे रोका ।

ताम तमाल - नील - मणि - वणइँ । सिमु - करि - दंत-खंड - कय-कणइँ ॥

घत्ता—तण - विरइय - कीलइँ गय - मय-नीलइँ तरु-पत्ताइ - गियत्थइँ

वेवली - कडि - सुत्तइँ पंकय - णेत्तइँ पल-फल-पिटर-विहत्थइँ ॥ २ ॥

—वीरजि० संधि १।कड२

वह शबरी तमाल और नीलमणि के सदृश काली थी, छोटे हाथों के दाँत के टुकड़ों से निर्मित कर्ण-भूषण पहने हुए थी तथा तृण के बने कोल धारण किये थी । वह हाथों के मद के समान नीलवर्णी थी, वृक्षों के पत्तों से बने वस्त्र धारण किये थी और लता-वेली से बने कटिपुत्र को पहने थी । उसके हाथ में मांस एवं फलों से भरी पिटारी थी । उसके नेत्र नील-कमल के सदृश थे ।

भणित्त पुलिंदियाइँ मा घायहि । हा हे मूढ ण किं पि विवेयहि ॥

मिगु ण होइ बुहु देवु भडारउ । इहु पणविज्जइ लोय - पियारउ ॥

तं गिसुणिवि भुय-दण्ड-विहूसणु । मुक्कु पुलिंदें महिहि सरासणु ॥

धणवित्त मुणिवरिंदु सव्भावे । तेणाभासित्त णासिय-पावे ॥

भो भो धम्म-बुद्धि तुह होज्जउ । बोहि - समाहि - सुद्धि संपज्जउ ॥
 जीव म हिंसहि अलिउ म बोल्लहि । कर-यल्लु परहणि कहिं मि म चल्लहि ॥
 पर-रमणिहि मुह-कमलु म जोयहि । थण-मंडलि कर-पत्तु म ढोयहि ।
 को वि म णिद्धि दूसिउ दोसें । संग-पमाणु करहि संतोसें ॥
 पंचुंवर - महु - पाण - णिवायणु । रयणि-भोयणु दुक्खहं भायणु ॥
 वाह विवज्जहि मणि पडिवज्जहि । णिच्चमेव जिणु भत्तिइ पुज्जहि ॥
 तं णिसुणेवि मणुय-गुण-णासहं । लइय णिवित्ति तेण महु-मासहं ॥
 घत्ता - हुउ जीव-दयावरु सवरु णिरक्खरु । लग्गउ जिणवर धम्मइ ॥
 मुउ कालें जंतें गिलिउ कयंतें । उप्पणउ सोहम्मइ ॥

—वीरजि० संधि १। कड ३

उस शबरी ने शबर से कहा—मत मार । हाय रे मूढ़, तू कुछ भी ध्वेक नहीं करता । यह कोई मृग नहीं है ।
 वे ज्ञानी मुनिराज हैं जो लोकप्रिय हैं, और सभी उन्हें प्रणाम करते हैं । शबरी की यह बात सुनकर उस पुलिन्द ने
 अपने भूजदंड के भूषण घनुष को भूमि पर पटक दिया । और सद्भाव पूर्वक मुनिवर को प्रणाम किया । पाप का
 नाश करने वाले उन मुनिराज ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा—हे शबर !, तुझे धर्मबुद्धि तथा शुद्धज्ञान और समाधि
 प्राप्त हो । अब तू जीवों की हिंसा मत करना, झूठ मत बोलना तथा कभी भी पराये धन को हाथ नहीं लगाना'
 परायो स्त्रियों के मुख कमल की ओर मत धरना और उनके स्तन-मंडल पर हाथ नहीं चलाना । दोषों से दूषित
 होने पर भी किसी की निंदा मत करना, घर में कितना साज-सामान रखना है इसकी संतोषपूर्वक सीमा कर लेना ।
 बट पीपल, पाकर, उमरव कठूमर इन पाँच उदुम्बर फलों का, तथा मधु, मद्य और मांस का भोजन एवं रात्रि
 भोजन, दुःख के कारण बनते हैं । तू आखेट करना छोड़ दे । इसकी अपने मन में दृढ़ प्रतिज्ञा करले । प्रतिदिन
 भक्तिभावपूर्वक जिन भगवान की पूजा करना । मुनि के इस उपदेश को सुनकर उस शबर ने मानवीय गुणों का नाश
 करने वाले मधु और मांस के त्याग की प्रतिज्ञा ले ली । इस प्रकार वह निरक्षर शबर जीवदया में तत्पर हो
 गया और जिन-धर्म में लग गया । काल व्यतीत होने पर वह यम द्वारा निगला जाकर मरा और सौधर्म स्वर्ग में
 देव उत्पन्न हुआ ।

(च) अथ-जम्बूद्वीपेति जम्बूद्वीपो विराजते । मध्ये द्वीपाब्धि सर्वेषां चक्रवर्तीव भूभुजाम् ॥२॥
 तन्मध्ये मेहराभाति सुदर्शनो महोन्नतः । मध्ये विश्वाचलानां च देवानामिव तीर्थकृत् ॥३॥
 तस्मात्पूर्वदिशो भागे भ्राजते क्षेत्रमुत्तमम् । रम्यं पूर्वविदेहाख्यं धार्मिकैः श्रोजिनादिभिः ॥४॥
 यतोऽत्र तपसानन्ता विदेहा मुनयश्चिदा । भवन्त्यतइदं क्षेत्रं विधत्ते सार्थनामहि ॥५॥

—वीरवर्धच० अधि २ ।

असंख्यात द्वीप-समुद्रों वाले इस मध्यलोक के मध्य में राजाओं में चक्रवर्ती के समान जबूद्वीप से संयुक्त
 जम्बूद्वीप शोभित है । उस जम्बूद्वीप के मध्य में महान् उन्नत सुदर्शन नाम का मेहरवर्त देवों के मध्य में तीर्थकर के
 समान सर्व पर्वतों में शिरोमणि रूप से शोभित है । उस मेहरवर्त के पूर्व दिशा में पूर्व विदेह नाम का एक उत्तम क्षेत्र

श्री जिनेन्द्र देवों से और धार्मिकजनों से रमणीय शोभित है। यतः उस क्षेत्र से अनन्त मुनिगण तप करके देहरहित हो गये हैं, अतः वह क्षेत्र 'विदेह' इस सार्थक नाम को धारण करता है।

तन्मध्येस्थितसीताया नद्या उत्तरदिक्त्ते । विषयः पुष्कलावत्यभिधो भाति महान् श्रिया ॥६॥

+ + +

तन्मध्ये नाभिवद् भाति नगरी पुण्डरीकिणी ॥१७॥ पूर्वार्ध

+ + +

तस्या बाह्ये भवद्रम्यं मधुकाख्यं वनं महत् । शीतलं सफलं द्रेधा ध्यानस्थमुनिभूषितम् ॥१८॥

वसेद् व्याधाधिपस्तत्र पुरुरवाभिधानकः ॥१९॥ पूर्वार्ध

कदाचित्कानने तस्मिन् वन्दनायै जिनेशिनः । मुनिः सागरसेनाख्य आयातः सपथे व्रजन् ॥२०॥

सार्थवाहेन धर्मस्य स्वामिना सह सोऽशुभात् । सार्थो भिल्लैर्गृहीतोःखिलोऽशुभात् किं न जायते ॥२१॥

अतस्तत्र मुनीन्द्रं तमीर्यापथविलोचनम् । दिङ्मोहाद्धर्मसंलीनं पर्यटन्तमितस्ततः ॥२२॥

दूराद्वीक्ष्य मृगं मत्वाहन्तुकामः पुरुरवाः । निषिद्धो द्रुतमित्युक्त्वा शुभात्तत्कान्तया गिरा ॥२३॥

वनदेवाश्चरन्तीमे विश्वानुग्रहकारिणः । न कर्तव्यमिदं नाथ त्वया कर्मावकारणम् ॥२४॥

तद्वचः श्रवणात्काललब्ध्या भूत्वा प्रसन्नधीः । उपैत्यासौ मुनीशं तं ननाम शिरसा मुदा ॥२५॥

+ + +

इति तद्वचसा त्यक्त्वा मद्यमांसवधादिकान् । नत्वा मुनीन्द्रपादाब्जौ श्रद्धया परयासमम् ॥३१॥

जग्राह दृष्टीना सार्थं भिल्लाधिपः शुभाशयः । द्वादशैव व्रतान्याशु श्रावकस्य वृषाप्तये ॥३२॥

ततो यतेः स पुण्यात्मा दर्शयित्वा पथोत्तमम् । नमस्कारं मुहुः कृत्वा जगाम स्वाश्रयंमुदा ॥३३॥

आजन्मान्त प्रपाल्योच्चैः सर्वं व्रतकदम्बकम् । अन्ते समाधिना मृत्वा व्रतजातशुभोदयात् ॥३७॥

सौधर्माख्ये महाकल्पेऽनेकशर्माकरेऽभवत् । महर्द्धिकोऽमरो भिल्ल एकसागरजीवितः ॥३८॥

—वीरच० अधि २

उस पूर्वविदेह क्षेत्र के मध्य में स्थित सीता नदी के उत्तर-दिशावर्ती तट पर लक्ष्मी से शोभायमान एक पुष्कलावती नामक देश है। उस पुष्कलावती देश में एक पुण्डरीकिणी नामकी नगरी है। उस नगरी के बाहर मधुक नाम का एक रमणीक महावन है, जो शीतल छायावाले और फले-फूले हुए वृक्षों से युक्त तथा ध्यानस्थ मुनियों से भूषित है।

उस वन में पुरुरवा नाम का भद्र प्रकृति का एक भालों का स्वामी रहता था। उसकी कालिका नाम की एक भद्र और कल्याणकारिणी प्रिया थी। किसी समय जिनदेव की वन्दना के लिए जाते हुए सागरसेन नामक एक मुनिराज उस वन में आये। वे मुनिराज धर्म के स्वामी किसी सार्थवाह के साथ आ रहे थे कि मार्ग में उस सार्थवाहको पापोदय से भालों ने पकड़ लिया। अशुभ कर्म के उदय से बचा नहीं हो जाता है। सार्थवाह के हाथ से बिल्छुड़कर और दिशा भूल जाने से ईर्ष्यासमतिसे इधर-उधर घूमते हुए धर्म में संलग्न उन मुनिराज को पुरुरवा भील ने

दूर से देखा और उन्हें मृग समझकर बाण द्वारा मारने के लिए उद्यत हुआ। तभी पुण्योदय से उसकी स्त्री ने शीघ्र ही यह कहकर उसे मारने से रोका कि— अरे, ये तो संसार का अनुग्रह करने वाले वनदेव विचर रहे हैं। हैं नाथ! तुम्हें महापाप कर्म का कारणभूत यह निश्चय नहीं करना चाहिए। अपनी स्त्री के ये वचन सुनने से और काल-लब्धि के योग से प्रसन्नचित्त होकर वह उन मुनिराज के पास गया और अति हर्ष के साथ मस्तक से उन्हें नमस्कार किया।

मुनिराज ने उसे धर्मोपदेश दिया। मुनिराज के इन वचनों से उस भिल्लराज ने मद्य-मांसादिका भक्षण और जीव-घात आदि का त्याग कर और परम श्रद्धा के साथ श्रावक के बारह ही व्रतों को धर्म-प्राप्ति के लिए शीघ्र ग्रहण कर लिया।

तत्पश्चात् वह पुण्यात्मा भिल्लराज मुनिराज को उत्तम मागे दिखला कर और उन्हें बार-बार नमस्कार करके हर्षित होता हुआ अपने स्थान को चला गया। उसने अपने जीवन-पर्यन्त उस सब व्रत समुदाय को उत्तम प्रकार से पालन किया और अन्त में समाधि के साथ मरण कर ज्ञत पालन से उत्पन्न हुए पुण्य के उदय से अनेक सुखों के भंडार ऐसे सौधर्म नामक महाकल्प में एक सागरोपम की आयु का धारक महर्द्धिकदेव उत्पन्न हुआ।

(छ) एश्ववि जंबूदीव विदेहइं पंगणि वरिसिय विविहइं मेहइं ।

पुक्खलवइ - विसयम्मि विसालए गारि - दिण्ण - मंगल - रावालए ।
सीया - जलवाहिणि - उत्तरयले अगिणिय - गोहण - मंडिय - महियले ।
विउल पुंडरिक्किणि पुरि निवसइ जहिं मुणिगणु भव्वयणहं हरिसइ ।
सत्थवाहु तहिं वसइ वणीसरु धम्म - सामि नामेण महुर - सरु ।
तहो सत्थेण तेण सहं चलियउ मंदगामि तवलच्छी - चलियउ ।
हिययकमले - विणिहित्त जिणेसरु । गामे सायरसेणु मुणिसरु ।
एक्कहिं दिणि चोरेहिं विलुटिए । तम्मि सत्थि लवडोवल - कुट्टिए ।
सूरहिं जुभेवि पाण - विमुक्कइं कायरं-णरइं पलाइवि थक्कइं
एत्थंतरे वण-मज्जे मुणिदे । तव-पहाव-उवसमिय फणेदं
दिस - विहाय - मूढेण णिहालिउ सबरु कालि - सवरी - भुव - लालिउ ।
सूवर - हरिण - वियारिय - सूरउ रूव-रहिउं नामेण पुरुरउ ।
पुण्वज्जिय - पावेण असुद्धउ सो कुरुवि मुणि वयणाहिं बुद्धउ
भत्ति करेविणु सहं सम्मत्तं लइयइं सावय - वयइं पयत्ते ।
कोउवसंतएण चुव संगे णिण्णासिय दुव्वार - निरंगे ।

घत्ता—सहं मुणिणा जाएवि करु उच्चाइवि तेण मग्गि मुणि लाइउ ।

जिण—गुणचित्तंतउ मइणिब्भंतउ गउ उवसम सिरि राइउ ।

सावयवयइँ विहाणं पालिवि जीवइँ अप्प - समाणइँ लालिवि ।
बहुकालेँ सो मरेवि पुरुरउ पढम सग्गे सुरु जाउ स्रुरउ ।
वे - रयणायराउ अणिमाइय - गुण - गणइँ महंतउ ।

—वड्ढमाणच० सन्धि २।कड ११

(ज) अथ जम्बूद्वीपमालक्ष्ये द्वीपानां मध्यवर्तिनि । द्वीपे विदेहे पूर्वस्मिन् सीतासरिदुदक्ते ॥१४॥
विषये पुष्कलावत्यां नगरी पुण्डरीकिणी । मधुकास्ये वने तस्या नाम्ना व्याधाधिपोऽभवत् ॥१५॥
पुरुरवाः प्रियास्यासीत् कालिकाख्यानुरागिणी । अनुरूपं विधत्ते हि वेधाः संगममङ्गिनाम् ॥१६॥
कदाचित् कानने तस्मिन् दिग्विभागविमोहनात् । मुनि सागरसेनाख्यं पर्यटन्तमितस्ततः ॥ १७॥
विलोक्य तं मृगं मत्वा हन्तुकामः स्वकान्तया । वनदेवाश्चरन्तीमे मावधीरिति वारितः ॥१८॥
तदैव स प्रसन्नात्मा समुपेत्य पुरुरवाः । प्रणम्य तद्वचः श्रुत्वा सुशांतः श्रद्धयाहितः ॥१९॥
मध्वादित्रितयत्यागलक्षणं व्रतमासदत् । जीवितावसितौ सम्यक्पालयित्वाद्राट् व्रतम् ।
सागरोपमदिव्यायुः सौधर्मेऽनिमेषोऽभवत् ॥२०॥

—उत्तपु० पर्व ७४/श्लो १४से १६, २१ पूर्वार्ध २२,

सब द्वीपों के मध्य में रहने वाले इस जम्बू द्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में सीतानदी के उत्तर किनारे पर पुष्कलावती नाम का देश है। उसकी पुण्डरीकिणी नगरी में एक मधु नाम का वन है। उसमें पुरुरवा नाम का एक भीलों का राजा रहता था। उसकी कालिका नाम की अनुराग करने वाली स्त्री थी सो ठीक ही है क्योंकि विधाता प्राणियों के अनुकूल ही समागम करता है।

किसी एक दिन दिग्भ्रम हो जाने के कारण सागरसेन नाम के मुनिराज उस वन में इधर-उधर भ्रमण कर रहे थे। उन्हें देख पुरुरवा भील मृग समझकर उन्हें मारने के लिये उद्यत हुआ परन्तु उसको स्त्री ने यह कहकर मना कर दिया कि 'ये वन के देवता घूम रहे हैं, इन्हें मत मारो। वह पुरुरवा भील उसी समय प्रसन्नचित्त होकर उन मुनिराज के पास गया और श्रद्धा के साथ नमस्कार कर तथा उनके वचन सुनकर शांत हो गया।

वस्तुतः वह भील भी सागरसेन मुनिराज को पाकर शान्त हुआ था। उसने मुनिराज से मधु और तीन प्रकार के त्याग का व्रत ग्रहण किया और जीवन-पर्यन्त उसका बड़े आदर से अच्छी तरह पालन किया। आयु समाप्त होने पर वह सौधर्म स्वर्ग में एक सागर को उत्तम आयु का धारक देव हुआ।

इस जम्बूद्वीप स्थित विदेह क्षेत्र के प्रांगण में विविध प्रकार के मेघों की वर्षा होती ही रहती है। वहीं पर पुष्कलावती नाम का एक विशाल देश है जहाँ महिलाएँ मंगलगान गाती रहती है। उस देश में जलवाहिनी सीतानदी के उत्तरतट पर अगणित गोधनों से मण्डित महीतलपर विशाल पुण्डरीकिणी नामकी नगरी बसी है, जहाँ के मुनिगण भव्यजनों को हूषित करते रहते हैं। उस नगरी में धर्म का रक्षक 'मधुस्वर' इस नाम से प्रसिद्ध एक ऋषि श्रेष्ठ सार्धवाह निवास करता था।

उस सार्धवाह के साथ मंदगामी तपोलक्ष्मी से युक्त तथा हृदय कमल में जिनेश्वर को धारण किये हुए सागरसेन नामक मुनिश्वर चले। एक दिन वह सार्धवाह चोरों के द्वारा लुट लिया गया तथा उसके साथी लकड़ी पत्थरों से कूटे गए। जो शूरवीर थे, उन्होंने तो जुभते दूये प्राण छोड़ दिये और जो कायर व्यक्ति थे, वे भाग खड़े दूये। इसी बीच में वन के मध्य में मुनीन्द्र (सागरसेन) के तप के प्रभाव से एक पत्नीन्द्र ने स्थिति को शांत किया। दिशा के विघात से विमूढ़ (दिग्भ्रम हो जाने के कारण) सुन्दर भुजावाले उन मुनीन्द्र ने एक शबर को काली नामक अपनी शबरी के साथ देखा। शूकर और हिरणों के विदारण में शूर तथा अत्यन्त क्रूर उस शबर का नाम पुरुरवा था। पूर्वोपाजित पापों के कारण कलुषित मन वाला वह क्रूर पुरुरवा भी मुनि वचनों से प्रबुद्ध हो गया। उस शबर ने मुनीन्द्र की भक्ति करके उनके पास प्रमाद रहित एवं सम्यक्त्व सहित होकर श्रावकव्रतों को ले लिया तथा क्रोध को उपशम कर, परिग्रह छोड़कर दुर्निवार काम-वासना को नष्ट कर दिया।

वृत्ता—मुनि के साथ जाकर, कर ऊंचाकर, उस शबर ने उन्हें मार्ग में लगा दिया (पथ-निर्देश कर दिया)। इस प्रकार जिन गुणों का चिन्तन करता हुआ वह पुरुरवा अपनी मति को निर्भ्रांत कर उपशमश्री से सुशोभित हुआ।
विधि—विधान पूर्वक श्रावक-व्रतों का दीर्घकाल तक पालन कर तथा जीवों का अपने समान ही लालन करता हुआ वह पुरुरवा नामक शबर मरा और प्रथम स्वर्ग में दो सागर की आयु से सुशोभित तथा अणिमादिक ऋद्धि-समूह से महान् सुरौरव नामक देव हुआ।

१०२ भगवान् महावीर का जीव-सौधर्मकल्प देव में

(क) अपरविदेहे ग्रामस्य चिन्तको × × × राजदारुनिमित्तं तस्य वनगमनं सुसाधून् भिक्षानिमित्तं सार्धाद्भ्रष्टान् तत्र दृष्टवान्, ततोऽनुकम्पया-परमभवत्या दानं अन्नपानस्य, + + +, प्रापणं पथि, तदनन्तरं गुरोः कथनं, ततः सम्यक्त्वप्राप्तिः, तत्प्रभावान्मृत्वाऽसौ सौधर्मदेवलोके उत्पन्नः पत्योपमायुः सुरो महद्विक इति।

— आव० मूलभाष्य । गा १-२।टीका

(ख) अस्यैव जंबूद्वीपस्य ऋग्विदेहभूषणे । विजयेऽस्ति महावप्रे जयन्ती नामतःपुरी ॥३॥

+ + +

स्वामीभक्तो नयसाराभिधानो ग्रामचिन्तकः ॥५॥ उत्तरार्ध

+ + +

ग्रामायुक्तोऽपि हि भुक्त्वा गत्वा नत्वाऽवदन्मुनीन् ॥२०॥ पूर्वार्ध

अथाभ्यस्यन् सदा धर्मं सप्ततत्त्वानि चिन्तयन् । सम्यक्त्वं पालयन् कालमनैषीत् स महामनाः ॥२३॥

विहिताराधनः सोऽन्ते स्मृतपञ्चनमस्कृतिः । मृत्वा बभूव सौधर्मे सूरः पत्योपमस्थितिः ॥२४॥

त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग १

अपर विदेह क्षेत्र में भगवान् महावीर का ग्रामचिन्तक जीव सुसाधुओं को परम भक्ति से अन्नपान देने से तथा

से निकलने का सही पथ दिखाने से सम्पत्त्व को प्राप्त कर उसके प्रभाव से आयुष क्षय होने पर सौधर्म स्वर्ग रूप में उत्पन्न हुआ। वहाँ एक पत्योपम की आयु थी।

(ग) हुड जीव दयावरु सवरु णिकखरु लगउ जिणवर धम्मइ।

मुड कालं जंतं गिलिउ कयंतं उप्पणउ सोहम्मइ ॥३॥

—वीरजि० संधि १/कड ३

वह निरक्षर शबर जीवदया में तत्पर हो गया और जिनधर्म में लग गया। काल व्यतीत होने पर वह यम द्वारा मला जाकर मरी और सौधर्म स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ।

(घ) आजन्मान्तं प्रपालयोच्चैः सर्वं व्रतकदम्बकम्। अन्ते समाधिना मृत्वा व्रतजातशुभोदयात् ॥३७॥

सौधर्माख्ये महाकल्पेऽनेकशार्माकरेऽभवत्। महर्द्धिकोऽमरो भिह्ल एकसागरजीवितः ॥३८॥

—वीरच० अधि २

पुरुखा भिह्ल ने अपने जीवन-पर्यन्त उस सब व्रत समुदाय को उत्तम प्रकार से पालन किया और अन्त में समाधि साथ मरण कर व्रत-पालन से उत्पन्न हुये पुण्योदय से अनेक सुखों के भण्डार ऐसे सौधर्म नामक महाकल्प में एक पगरोपम की आयु का धारक महर्द्धिक देव उत्पन्न हुआ।

(च) शिलासंपुटगर्भे स तंत्राप्य नवयौवनम्। मुहूर्तेन विलोक्याशु विमानादिश्रियं पराम् ॥३६॥

समस्तं प्राग्भवं ज्ञात्वा व्रतादिजनितं फलम्। तत्क्षणाप्रावधिज्ञानाद्धर्मेऽधात्स्वमतिं दृष्टाम् ॥४०॥

ततश्चैत्र्यालयं गत्वा मुदा धर्मादिसिद्धये। चक्रेऽसौ परमां पूजां प्रतिमानां जिनेशिनाम् ॥४१॥

सार्धं स्वपरिवारेण चाष्टभेदैर्महार्चनैः। जलादिफलपर्यन्तं गीतं नृत्यस्तवादिभिः ॥४२॥

पुनः प्रपूज्य तीर्थशमूर्तीश्चैत्र्यद्रुमे स्थिताः। मेरुनन्दीश्वरादौ च गत्वाहृष्टः स्ववाहनम् ॥४३॥

जिनेन्द्रकेवलज्ञानिणेशादिमहात्मनाम्। महामहं विधायोच्चैर्भक्त्या मूर्ध्ना ननाम सः ॥४४॥

तेभ्यः श्रुत्वा द्विधा धर्मं विश्वतत्त्वादिगर्भितम्। उपाज्य बहुधा पुण्यं सोऽगमत्स्वालयं ततः ॥४५॥

इत्यसौ विविधं पुण्यं कुर्वाणः शुभचेष्टया। क्रीडा कुर्वन् स्वदेवीभिः सौधमेह्वनादिषु ॥४६॥

शृण्वन् मणोहरं गीतं क्वचिदपश्यश्च नर्तनम्। शृङ्गारं रूपसौन्दर्यं विलासं दिव्ययोषिताम् ॥४७॥

इत्यादिपरमान् भोगान् भुञ्जानः प्राक्शुभार्जितान्। सप्रहस्तस्तनूत्सेधः सप्रधान्वतिगाङ्गभाक् ॥४८॥

त्रिज्ञानाष्टर्द्धिभूषाढ्यो नेत्रस्पन्दादिदूरगः। दिव्यदेहधरस्तत्र तिष्ठेच्छर्माब्धिमध्यगः ॥४९॥

— वीरवर्धच० अधि २। श्लो ४६ से ३६

उपपादशय्या के शिलासम्पुट गर्भ में अन्तर्मुहूर्त के भीतर ही नवयौवन अवस्था को प्राप्त कर और तत्क्षण प्राप्त भवे अवधि ज्ञान से पूर्वभव में कृत व्रतादिका फल जानकर और स्वर्ग-विमानादिकी उच्छ्रित लक्ष्मी को देखकर उसने धर्म में अपनी मति को और भी दृढ़ किया।

तदनन्तर धर्म आदि की सिद्धि के लिये हर्षित होकर उसने अपने परिवार के साथ चैत्र्यालय में जाकर जिनेन्द्र देवों की प्रतिमाओं की जल को आदि लेकर फल-पर्यन्त भेदरूपा उत्तम द्रव्यों से गीत, नृत्य, स्तवन आदि के साथ

महापूजा को । पुनः चैत्यद्रुमों में स्थित तीर्थंकरों की मूर्तियोंका पूजन करके वह अपने वाहनपर आछट होकर मेरुपर्वत और नन्दीश्वर आदि में गया और वहाँ की प्रतिमाओं का पूजन करके तथा विदेह आदि क्षेत्रों में, स्थित जिनेन्द्र देव केवलज्ञानी और गणधरादि महात्माओं का उच्च भक्ति के साथ महापूजन करके उसने उन सबको नमस्कार किया । तथा उनसे समस्त तत्त्व आदि में गर्भित मुनि और श्रावकों के धर्म को सुन कर और बहुत-सा पुण्य उपार्जन करके वह अपने देवालय को चला गया ।

इस प्रकार वह अनेक प्रकार से पुण्य को उपार्जन करता हुआ और अपनी शुभ चेष्टा से अपनी देवियों के साथ देव भवनों में तथा मेरुगिरि के वनों आदि में क्रीड़ा करता हुआ, उनके मनोहर गीत सुनता हुआ और दिव्य नारियों के नृत्य-शृंगार, रूम-सोन्दर्य और विलास को देखता हुआ तथा पुण्योपाजित नाना प्रकार के परम भोगों को भोगता हुआ वह स्वर्गीय सुख भोगने लगा । उसका शरीर सात हाथ उन्नत था, सष्ठ धातुओं से रहित और नेत्रा-स्पन्दन आदि से रहित था । वह तीन ज्ञान का धारक और अणिभादि आठ ऋद्धियों से विभूषित था । दिव्य-देह का धारक था । इस प्रकार वह सुखसागर में निमग्न रहता हुआ अपना काल बिताने लगा ।

(छ) सावय-वयइँ विहाणं पालिवि जीवइँ अपा-समाणइँ लालिवि ।

बहुकालं सो मरेवि पुरुरउ पढम-सग्गे सुरु जाउ सुरुउ
वे-रयणायशउ सोहंतउ अणिमाइय-गुण-गणहि महंतउ ।

—बड्ढमाणच० संधि २/कड ११

विधि—विधान पूर्वक श्रावक व्रतों का दीर्घकाल तक पालन कर तथा जीवों का अपने समान ही लालन करता हुआ वह पुरुरवा नामक शबर मरा और प्रथम स्वर्ग में दो सागरोपम की आयु से सुशोभित था ! अणिमादिक ऋद्धि-समूह से महान् सुरोरव नामक देव हुआ ।

(ज) जीवितावसितौ सम्यकपालयित्वादराट् व्रतम् । सागरोपमदिव्यायुः सौधर्मोऽनिमेषोऽभवत् ।

—उत्तपु० पर्व ७४ श्लो २२

जीवन-पर्यन्त मधु आदि तीन प्रकार के त्याग के व्रतों का सम्यग पालन किया । आयु समाप्त होने पर वह सौधर्म स्वर्ग में एक सागरोपम की उत्तम आयु को धारण करने वाला देव हुआ ।

०३ भगवान् महावीर का जीव-मरीचिकुमार भव में

(क) चइऊण देवलोगा इह चैव य भारहंमि वासंमि । इक्खागकुले जातो उसभसुयसुतो मरीइत्ति ॥१४५॥

मलयटीका—ततो देवलोकान् स्वायुः क्षये च्युत्वा भारतवर्षे । इक्ष्वाकुकुले जातः—उत्पन्नऋषभसुतसुतो ॥

मरीचिः ऋषभपौत्र इत्यर्थः

कुलगरवंसे तीए भरहस्त सुओ मरीइत्ति ॥ १४६ ॥

—आव० निगा १४५/१४६ का उत्तरार्ध

सौधर्म देवलोक से चक्कर भगवान महावीर का जीव भगवान ऋषभ के पुत्र भरत के पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम मरीचिकुमार था । इक्ष्वाकु कुल में जन्म हुआ । अतीत में कुलकर वंश था ।

(ख) इतश्चात्रैव भरते विनीतेत्यस्ति पूर्वरा । पुरा युगादिनाथस्य कृते सुरवरैः कृता ॥२५॥

तत्र श्रीऋषभस्वामिसूनुर्नवनिधोऽश्वरः । चतुर्दशरत्नपतिर्भरतश्चक्रवर्त्यभूत् ॥२६॥

ग्रामचिन्तकजीवः स च्युत्वाऽभूत्तस्य नन्दनः । मरीचीन् विकिरंस्तेन मरीचिरिति विश्रुतः ॥२७॥
त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(ग) अस्थि इहेव जंबुद्वीवे दीवे इक्खागभूर्मी तस्थणाभी कुलगरो । तस्स य मरुदेवीए भारियाए समुष्णणो उसहसामी तिस्थयरो । तस्सय उष्णणदिव्वणाणस्स पुत्तस्स भरहचक्कवट्टिणो सुओ मिरिई समुष्णणवेरगो पव्वइओ जहुत्तविहारी विहरइ ।

—चउत्पन० पृ० ६७

विनीता नगरी में ऋषभदेव भगवान् का पुत्र भरत चक्रवर्ती जो नवनिधि और चतुर्दश रत्न का स्वामी चक्रवर्ती था । ग्रामचिन्तक-नयसार का जीव पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । उसका नाम मरीचि प्रसिद्ध हुआ ।

(घ) तेषु सुदिव्व भोय भुंजेप्पिणु । एक्कु समुहोवमु जीवेप्पिणु ॥

एथु विउलि भारह—वरिसंतरि । कोसल विसइ सुसास-णिरंतरि । णंदण-वण वरही-रव-रम्महि ।

+ + +

होतउ रिसहणाहु चिरु-णारवइ । पविमल णाण-धारि सुह-संकह । पढम णरिंदु पढम-तिर्यंकरु ॥

+ + +

तहु पहिलारहु सुउ भरहे सरु । जो छक्खंड-धरणि-परमेसरु ॥

+ + +

—वीरजि० संधि १/कड ४

सौधर्म स्वर्ग में दिव्यभोगों को भोगकर तथा एक सागरोपम काल जीवित रहकर वह शबर स्वर्ग से च्युत हुआ । उस समय इस विशाल भारतवर्ष में कोशल देश धन धान्य से सम्पन्न था । उसकी राजधानी अयोध्या नगरी के नन्दनवन मयूरों की ध्वनि से रमणीक थी । ऐसी उस अयोध्या नगरी के राजा ऋषभनाथ थे, जिनके वरणों में देवेन्द्र भी नमस्कार करते थे । उन्होंने दीर्घकाल तक राज्य किया । वे विशुद्ध ज्ञान के धारक शुभशंकर (पुण्य और सुखकर्ता) प्रथम तीर्थ कर और प्रथम नरेंद्र हुए । उनके प्रथम पुत्र भरतेश्वर थे—जो षट्खण्ड पृथ्वी के सम्राट हुए ।

(च) मागहु वर-तणु जेण पहासु वि । जित्तउ सुरु वेयड्ढ-णिवासु वि ॥

विज्जाहर-वइ भय कंपाविय । णमि-विणमीस वि सेव कराविय ॥

घत्ता—जो सिसु-हरिणच्छिइ सेविउ लच्छिइ । गंगइ सिंधुइ सिंचिउ ।

णव-कमल-दलक्खहि उववण-जक्खहि णाणा कुसुमहि अंचिउ ॥

—वीरजि० संधि १/कडवक ४

उन्होंने वेताढ्य गिरि पर निवास करने वाले सुन्दर देहधारी मागध-प्रभास नामक देव को भी जीत लिया । उन्होंने विद्याधरों के स्वामी नमि और विनमि नामक राजाओं को भय से कंपायमान कराकर उनसे अपनी सेवा करायी । बालमृगनयनी लक्ष्मी भी उनकी सेवा करती थी । गंगा और सिंधु, नदी-देवियाँ, उनका अभिषेक करती थीं तथा नये कमल-दलों के सट्टक नेत्रोंवाले उपवन निवासी यक्ष भी नाना प्रकार के पुष्पों से उनकी पूजा करते थे ।

(छ) ता कंकेली-दल-कोमल-कर । वीणा-वंस-हंस-कोइल-सर ॥
 तासु देवि उत्तुंग-पयोहर णाम अणंतमइ त्तिमणोहर ॥
 सो सुर-सुंदरि-चालिय-चामरु । ताहि गच्छि जायउ सबरामरु ॥
 सुउ णामें मरीइ विक्खायउ ॥ बहु-लक्खण-समलंकिय-कायउ ॥
 देव-देउ अच्चन्त-विवेइउ । णीलंजस-मरणे उव्वेइउ ॥
 चरण-कमल जुय-णमियाहंडलु । दिक्खंकिउ मेळ्ळिवि महिमंडलु ॥
 हरि-कुह-कुल-कच्छाइ णरिदिहिं । समउ णमंसिउ इंद-पडिदिहिं ॥
 भाणालीणु पियामहु जइयहुं । णत्तउ जइ पावइयउ तइयहुं ॥
 दुच्चर-रिसह-महातवलमगउ । भग्ग णराहिव एहु वि भग्गउ ॥
 सरवरसलिलु पिएव्वइ लगउ । भुक्खइ भज्जइ लज्जइ णगउ ॥
 वक्कलु परिहइ तरु-हल भक्खइ । मिच्छाइट्ठि असच्चु णिरिक्खइ ।

घन्ता—बहुदुरिय-महल्लें मिच्छा-सल्लें विविह-देह-संधारइ ।
 भरहेसर-णंदणु संसय-हय-मणु चिरु हिंडिवि संसारइ ॥५॥

—वीरजि० संधि १/कडवक ५

भरत की रानी अनंतमती अत्यन्त सुंदर थी । उसके हाथ कंकली पुष्पों के दलों के समान कोमल तथा उसका स्वर वीणा, हंस, बाँसुरी व कोकिल के समान मधुर था । उसी तुंग-पयोधरी देवी के गर्भ में वह शबर का जीव आकर उत्पन्न हुआ, जिसके ऊपर देवलोक की सुन्दरियों चमर ढोरती थीं । उनका वह पुत्र मरीचि नाम से विख्यात हुआ । उसका शरीर अनेक शुभ लक्षणों से अलंकृत था । जब उसके पितामह देवों के देव व अत्यंत ज्ञानवान् नीलांजसा नर्तकों के मरण से विरक्त होकर पृथ्वी-मंडल का राज्य त्यागकर दीक्षित मुनि हो गये और इन्द्र भी उनके चरण-कमलों को प्रणाम करने लगे, तब इन्द्र और प्रतोन्द्र एवं हरिवंश व कुक्षवंश के कच्छादि राजाओं सहित उनके इस पोते मरीचि ने भी अपने पितामहको ध्यान-लीन अवस्था में नमन किया और वह उसी समय प्रव्रजित हो गया । किन्तु शीघ्र ही उन भगवाम् ऋषमदेव के दुश्चर महातप को असह्य पाकर जब अनेक अन्य दीक्षित राजा तप से भ्रष्ट हुए, तब वह भी भ्रष्ट हो गया ! वह बलकल धारण करने लगा, वृक्षों के फल खाने लगा और मिथ्यादृष्टि होकर असत्य बातों पर दृष्टि देने लगा । इस प्रकार नाना महान् पापों से युक्त मिथ्यात्व रूपी शल्य के कारण उसने अनेक जन्मों में अनेक प्रकार के शरीर धारण किये । और वह भरतेश्वर पुत्र होकर भी मन में संशय के आवात से चिरकाल तक संसार में परिभ्रमण करता रहा ।

(ज) आद्ये समवसरणे ऋषभस्वामिनः प्रभोः । पितृभ्रात्रादिभिः सार्धं मरीचिः क्षत्रियो ययौ ॥२८॥
महिमानं प्रभोः प्रेक्ष्य क्रियमाणं स नाकिभिः । धर्मं चाकर्ण्य सम्यक्त्वलब्धधीर्ब्रतमाददे ॥२९॥
सम्यग्ज्ञातयतिधर्मः स्वशरीरेऽपि निःस्पृहः । त्रिगुप्तः पंचसमितिर्निष्कषायो महाव्रती ॥३०॥
स्थविराणां पुरोऽङ्गानि पठन्नेकादशापि हि । ऋषभस्वामिना सार्धं मरीचिर्व्यहरच्चिरम् ॥३१॥
— त्रिशलाका० पर्व १० सर्ग १।

एक समय श्री ऋषभदेव के प्रथम समवसरण में पिता तथा भाइयों के साथ में मरीचि भी गया । वहाँ देवकृत प्रभु की महिमा देखकर और धर्म को सुनकर सम्यक्त्व को प्राप्त हुआ । फलस्वरूप उसने तत्काल चारित्रग्रहण किया । सम्यग् प्रकार यतिधर्म को जानकर स्वयं के शरीर में भी निःस्पृह होकर त्रिगुप्ति और पंच समिति को धारण कर और कषाय को छोड़ते हुए महाव्रती मरीचि मुनि स्थविर साधुओं के पास एकादश अंग का अभ्यास किया । अनुक्रम से भगवान् ऋषभदेव के साथ विहार करने लगा ।

(झ) अथेह भारते क्षेत्रे देशोऽस्ति कोशलाभिघः । आर्यखण्डस्य मध्यस्थ आर्याणां मुक्तिकारणः ॥५०॥
इत्यादिवर्णनोपेतस्यास्य देशस्य मध्यगा । विनीतास्ति पुरी रम्या विनीतजनसंभृता ॥५१॥
योजनानां नव व्यासायामा द्वादशयोजनैः । प्रीतिकरा सुरादीनां तरां किं वर्ण्यते हि सा ॥५२॥
बभूवास्याः पतिः श्रीमान् प्रथमश्चक्रवर्तिनाम् । आदिष्टृष्टिविधातुस्तुग्धेऽठो हि भरताभिघः ६४॥

+ + + +

तस्य पुण्यवतो देवी पुण्यादासीस्सुखाकरा । पुण्याढ्या धारिणीसंज्ञा दिव्यलक्षणलक्षिता ॥६८॥
तयोः स स्वर्गश्च्युत्वा पुरुरवाचरोऽभरः । सूनूर्मरीचिनामाभूद् रूपादिगुणमंडितः ॥६९॥

+ + + +

सक्रमाद् वृद्धिमासाद्य स्वयोग्यान्नादिभूषणैः । पठित्वानेकशास्त्राणि प्राप्य स्वयोग्यसंपदः ॥७०॥
सार्धं पिनामहेनैव स्वस्य पूर्वशुभार्जितान् । अन्वभूद् विविधान् भोगान् वनक्रीडादिभिः सह ॥७१॥
कदाचिद् वृषभः स्वामी देवीनर्तनदर्शनात् । विश्वभोगाङ्गराज्यादौ लब्ध्वा संवेगमूर्जितम् ॥७२॥
आरूढ्य शिबिकां गत्वा वनं शक्रादिभिः समम् । जग्राह संयमं त्यक्त्वा द्विधा संगान् स्वमुक्तये ॥७३॥
तदा कच्छादिभूपालैः स्वामिभक्तिपरायणैः चतुःसहस्रसंख्यानैः केवलं स्वामिभक्तये ॥७४॥
समं मरीचिरप्याशु द्रव्यसंयममाददे । नग्नवेषं विधायाङ्गे स्वामिवन्मुग्धधीस्ततः ॥७५॥

— वीरच० अधि २

इस भरतक्षेत्र के आर्यखण्ड के मध्य में कोशल नाम का एक देश है, जो आर्यपुरुषों की मुक्ति का कारण है । उस कोशल देश के मध्य में विनीता नाम की एक रमणीक पुरी है, जो विनीतजनों से परिपूर्ण है । वह पुरी नौ योजन चौड़ी है और बारह योजन लम्बी है । अधिक वया वर्णन करें, वह नगरी देवादिकों को भी अत्यन्त आनन्द करने वाली है । उस विनीता नगरी का अधिपति श्रीमान् भरत नरेश हुआ, जो चक्रवर्तियों में प्रथम था और आदि सृष्टि-विधाता वृषभदेव-ऋषभदेव का ज्येष्ठ पुत्र था ।

उस पुण्यात्मा भरत के पुण्योदय से सुख की खानि, पुष्य-विभूषित और दिव्य लक्षणों वाली धारिणी नाम की रानी थी। उन दोनों के वह पुरुरवा भील का जीव देव स्वर्ग से चयकर रूपादि गुणों से मंडित मरीचि नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ।

वह क्रम से अपने योग्य अन्न-पानादि से और भूषणों से वृद्धि को प्राप्त होकर, अनेक शास्त्रों को पढ़कर और अपने योग्य सम्पदा को प्राप्त करके पूर्वोपाजित पुण्यकर्म के उदय से अपने पितामह के साथ ही वनक्रीड़ा आदि के द्वारा नाना प्रकार के भोगों को भोगता रहा। किसी समय नीलांजना देवी को नृत्य देखने से बृषभदेव स्वामी ने समस्त भोगों में, देह में और राज्य आदि में उत्कृष्ट वैराग्य को प्राप्त होकर और पालकी पर बैठकर इन्द्रादि के साथ वन में जाकर और अन्तरंग-बहिरंग दोनों प्रकार के परिग्रह को अपनी मुक्ति के लिए छोड़कर संयम को ग्रहण कर लिया।

उस समय केवल स्वामि-भक्ति के लिए स्वामिभक्त परायण कच्छ आदि चार हजार राजाओं के साथ मरीचि ने भी शीघ्र द्रव्य-संयम को ग्रहण कर लिया और नग्नवेष धारण करके वह मुग्ध बुद्धि शरीर में वृषभ स्वामी के समान हो गया। किन्तु अन्तरंग में इस दीक्षा का कुछ भी रहस्य नहीं जानता था।

- (ब) मरिईवि सामिपासे विहरइ तवसंजमसमगो ।
सामाइअमाईअं इक्कारसमा उ जाव अंगाओ ।
उज्जुत्तो भत्तिगओ अहिज्जिओ सो गुरुसगासे ॥

—आव० मूल भाष्य गा ३६। उत्तरार्ध, ३७

मलय टीका—×××मरीचिरपि स्वामिपार्श्वे विहरति तपःसंयमसमग्रः, स च समायिकादिकं एकादशमंगं
यावत् उद्युक्तः क्रियायां भक्तिगतो भगवति श्रुते वा अधीतवान् स गुरुसकाशा इत्युपन्यस्त गाथार्थः
ऋणभनाथ भगवान् के पास मरीचि दीक्षित होकर तप और संयम से विहरण करने लगा।

- (ट) मिरिईवि सामाइयादि एक्कारस अंगागि अहिज्जितो ।

—आव० निगा ३४।मलय टीका

दीक्षित होकर मिरिची ने सामायिकादि एकारस अंग का अध्ययन किया।

सामाइअमाईअं इक्कारसमा उ जाव अंगाओ ।

—आव मूल भाष्य गा ३७पूर्वार्ध

- (ठ) (मिरिई) अणया अचिन्तसत्तित्तणओ कम्मपरिणईए, अवस्सभावित्तणओ तस्स भावस्स,
जाणन्तस्स वि उम्मग्गदेसणापरिणामफलं तस्सुम्मग्गदेसणापरिणामो संबुत्तो । पयट्टावियंच
तेण कुलिंभां भागवयदरिसणं । उवसंत्तेय सीसतेण साहूणं समप्पेइ । 'गिलाणपडिजागरन्ति एणं
पब्बावेमिन्ति चिन्तयन्तस्स उवट्ठिओ कविलाहिराणो रायपुत्तो । साहिओ य अत्थि धम्मो,
साहुदंसणेवि अत्थि त्ति । तओ एएण दुब्भासिएण बद्धं दुहविवागं कम्मं । पब्बाविओ य

कविलो । चिद्द्वै तस्संतिए । सरइ संसारो । मिरयी वि चउरासीपुण्वलक्खे आउयमणु-
वाल्लिउण, चइउण अणसणविहिणा तस्स य दुब्भासियट्ठाणस्स अपडिक्कंतो, मरिउण बम्भलोए
कप्पे दससागरोवमाइ (वम) द्विइओ देवो समुप्पणो

— चउप्पन्न० पू० ६७

- इ) सोऽपरेषु प्रीष्मश्रुतावृष्णांशुकरदारुणे । प्रतिमार्गं पान्थपादनखंपचरजश्चये ॥३२॥
स्वेद्रात्रीभूतसर्वाङ्गमललिप्रांशुकद्वयः । तृष्णातीर्षचिन्तयदिति-चारित्रावारणोदयान् ॥३३॥
न श्रामण्यगुणान्मेरुसमभारान् दुरुद्वहान् । निर्गुणोऽहं भवाकांक्षी वोढुं प्रभुरतः परम् ॥३४॥
किं व्यजामि व्रतं लोके तत्प्रागे लड्यते खलु । लब्धो वाऽयं मयोपायो व्रतं येन क्लमो न च ॥३५॥
श्रमणा भगवन्तोऽमी त्रिदंडविरताः सदा । अस्तुदण्डैर्निर्जितस्य त्रिदंडी मम लांछनम् ॥३६॥
केशलोचादमी मुण्डाः क्षुरमुण्डःशिखी त्वहम् । महाव्रतधराश्चामी स्यामणुव्रतभृत्त्वहम् ॥३७॥
निष्किञ्चना मुनयोऽमी भूयान्मे मुद्रिकादितु । अमीविमोहामोहेनच्छन्नस्य छत्रमस्तु मे ॥३८॥
उपानद्रहिताश्चामी सश्चरन्ति महर्षयः । पादत्राणनिमित्तं मे भवतामप्युपानहौ ॥३९॥
सुगन्धयोऽमी शीलेन दुर्गन्धः शीलतस्त्वहम् । सौगन्ध्यहेतोर्भवतु श्रीखण्डतिलकादि मे ॥४०॥
अमी शुक्लजरुस्त्रा निष्कषाया महर्षयः । भवन्तु मे तु वासांसि काषायाणि कषायिणः ॥४१॥
व्यजन्त्यमी जलारम्भं बहुजीवोपममर्दकम् । स्तानं पानं च पयसा मितेन भवताच्च मे ॥४२॥
एवं विकल्प्य स्वधिया लिंगनिर्वाहहेतवे । पारित्राज्यं प्रत्यपादि मरीचिः क्लेशकातरः ॥४३॥

— त्रिशलाका पर्ष १० । सर्ग १

- ढ) अणया य भरहपुत्तो मिरयी दिवसयरकरनियरताविओ मड्भणहदेसयाले मलजल्ला-
विलसरीरो अहिणवलयपरियात्रिउत्तिमंगो पदिदिणं जायणापरीसहपराजिओ बायालीस-
दोसरहियभिक्खासोहिमचयन्तो गिम्हुम्हवालुयकिलामियचलणकमलो भागवयं कुलिगं
परिकप्पिउण अहासुहं विहरिउमाढत्तो ॥

— चउप्पन्न० पुठ ४६

- ण) अह अन्नया कयाइ गिम्हे उण्हेण परिगयसरोते ।
अण्हाणण चइओ इमं कुलिगं विचितेइ ॥ ३५० ॥

मलयटीका—कदाचिद्—एकस्मिन् काले प्रीष्मे उष्णेन परिगतशरीरः अस्नानेनेति—अस्नानपरीषहेण
त्याजितः संयमात् एतत्कुलिङ्गं—वक्ष्यमाणं विचिन्तयतीति ।

मेरुगिरिसमभारे न हुवि समस्थो मुहुत्तमवि वोढुं ।
सामन्नए गुणे गुणरहिओ संसारमणुकंखी ॥ ३५१ ॥

मलयटीका—मेरुगिरिसमो भारो येषां ते तथाविधास्तान् व समर्थो मुहुर्त्तमपि वोढुं, कान् ?—नै
श्रमणानामेते श्रमणाः, के ते ?—गुणाः—विशिष्टक्षान्त्यादयस्तान्, कुतो ? यतो धृत्यादिगुणरहितोऽहं

संसारानुकांक्षीति गाथार्थं ॥ ततश्च किं मम युज्यते ? गृहस्थत्वं तावदनुचितं, श्रमणगुणानुपालन-
मप्यशक्यम् ।

एवमणुचितयंतस्स तस्स निअगा मई समुप्पन्ना ।

लद्धो मए उवाओ जाया मे सासयां बुद्धी ॥ ३५२ ॥

मलय टीका—‘एवं’ मुक्तेन प्रकारेणानुचिन्तयतस्तस्य निजा मतिः समुत्पन्ना न परोपदेशेन, स ह्येवं
चिन्तयामास—लब्धो मया वर्तमानकालोचितः खलूपायो, जाता मम शाश्वता बुद्धिः, ‘शाश्वते’
र्याकालिकी, प्रायो निरवयजीविकाहेतुत्वादिति गाथार्थः । यदुक्तमिदं कुलिङ्गं अचिन्तयत
तत्प्रदर्शनायाह—

समणातिदंडविरया भगवंतो निहुअसंकुइअअंगा ।

अजिइदिअदंडस्स उ होउ तिदंडं महंविधं ॥ ३५३ ॥

मलय टीका—गाथागमनिका-श्रमणा मनोवाक्कायलक्षणत्रिदंडविरताः ऐश्वर्यादिभगयोगाद्भगवन्तः
निभृतानि-अन्तःकरणान्यशुभस्यापारपरित्यागात् संकुचितानि—अशुभकायव्यापारपरित्यागा-
दङ्गानि येषां ते तथोच्यन्ते, अहं तु नैवंविधो, यतः ‘अजितेन्द्रिये’ र्यादि न जितानि इन्द्रियाणि-
चक्षुरादीनि दंडाश्च—मनोवाक्कायलक्षणा येन स तथोच्यते, तस्याजितेन्द्रियदंडस्य तु त्रिदण्डं मम
चिन्हं अविस्मरणार्थमिति गाथार्थः । तथा—

लोइंदिय मुंडा संजया उ अहयं खुरेण ससिहो अ ।

थूलगपाणिवहाओ वेरमणं मे सया होउ ॥ ३५४ ॥

मलय टीका—गाथागमनिका—मुण्डो हि द्विधा भवति—द्रव्यतो भावतश्च तत्रैते श्रमणा द्रव्यभाव-
मुण्डाः, कथं लोचेनेन्द्रियैश्च मुण्डाः संयतास्तु, अहं पुनर्नेन्द्रियमुण्डः यतः अतोऽलं द्रव्यमुण्डतया,
तस्मादहं क्षुरेण मुण्डः सशिखश्च भवामि, तथा सर्वप्राणिवर्धाविरताः श्रमणा वर्तन्ते, अहं तु नैवंविधो
यतः अतः स्थूलप्राणातिपाताद्विरमणं मे सदा भवत्विति गाथार्थः

निक्किचणा य समणा अक्किचणा मङ्ग किचणं होउ ।

सोलमुगंधा समणा अहयं सीलेण दुग्ंधा ॥ ३५५ ॥

मलय टीका—गाथागमनिका—निर्गतं किञ्चन-हिरण्यादि येष्यस्ते निक्किञ्चनाश्च श्रमणाः, तथाऽवि-
द्यमानं किञ्चन—अल्पमपि येषां तेषां अकिञ्चना जिनकल्पिकादयः, अहं तु नैवंविधो यतोऽतो
मार्गाविस्मृत्यर्थं मम किञ्चनं भवतु, पवित्रिकादि, तथा शीलेन शोभनो गंधो येषां ते तथाविधाः
श्रमणाः अहं तु शीलेन दुर्गन्धः अतो गंधचंदनप्रहणं मे युक्तमिति गाथार्थः ।

वधगयमोहा समणा मोहच्छन्नस्स छत्तयं होउ ।

अणुवाणहा य समणा मज्झंतु उवाणहे हुन्तु ॥ ३५६ ॥

मलय टीका—गाथागमनिका—व्यपगतो मोहो येषां ते व्यपगतमोहाः श्रमणाः, अहं तु नेत्थं यतः अतो मोहाच्छादितस्य छत्रकं भवतु, अनुपानत्कांश्च श्रमणाः मम चोपानहौ भवत इति गाथार्थः ॥

सुकवरा य समणा निरंबरा मज्झं धाउरत्ताइं ।

हुंतु इमे वत्थाइं अरिहो मि कसायकलुसमई ॥ ३५७ ॥

मलय टीका—गाथागमनिका—शुक्लान्यम्बराणि येषां ते शुद्धाम्बराः, श्रमणाः तथा निर्गतमम्बरं येषां ते निरम्बराः—जिनकल्पिकादयः, 'मज्झं' ति मम च, एते श्रमणा इत्यनेन तत्कालोत्पन्नतापश्रमणव्युदासः, धातुरक्तानि भवन्तु मम वस्त्राणि किमिति ?, अहोऽस्मि योग्योऽस्मि तेषामेव, कषायैः कलुषा मतिर्यस्य सोऽहं कषायकलुषमतिरिति गाथार्थः ॥

वज्जंतस्सवज्जभीरु बहुजीवसमाउलं जलारम्भं ।

होउ मम परिमिणं जलेण ण्हाणं च पिअणं च ॥ ३५८ ॥

मलय टीका—गाथागमनिका—वज्जंयन्त्यवद्यभीरवो बहुजीवसमाकुलं जलारम्भं, तत्रैव वनशतेरवस्थानात्, अवयं—पापं, अहं तु नेत्थं—यतः अतो भवतु मे परिमितेन जलेन स्नानं च पानं चेति गाथार्थः ।

एवं सो रुइयमई निअगमइविगण्णिअं इमं लिगं ।

तद्धिअहेउसुजुत्तं पारिव्वज्जं तओ कासो ॥ ३५९ ॥

मलय टीका—स्थूलमृषावादादिनिवृत्तः, एवमसौ रुचिता मतिर्यस्य असौ रुचितमतिः, अतो निजमरया विकल्पितं निजमतिविकल्पितम्, इदं लिङ्गं विशिष्टं, तस्य हितास्तद्धिताः तद्धिताश्च हेतवश्चेति समासः तैः सुष्ठु युक्तं श्लिष्टमित्यर्थः परिव्राजानामिदं पारिव्राजं प्रवर्त्तयति, शास्त्रकारवचनात् वर्त्तमाननिर्देशोऽप्यविरुद्ध एव, पाठान्तरं वा 'पारिव्वज्जं ततो कासित्ति' पारिव्राजं ततः कृतपानिति गाथार्थः ।

—आव० निगा ३५० से ३५९

इस प्रकार बहुत काल पर्यन्त विहार करते हुए अन्यदा ग्रीष्मऋतु का आगमन हुआ । उस समय अति दाहण सूयं की किरणें पड़ने से तप्त पृथ्वी की रज प्रतिभागं में चरण के नलों को रांधने लगी । उस समय जिनके सब अंग स्वेद से भ्राद्रित हो गये । और पहने हुए दो वस्त्र मल से लित हो गये । तथा वे मरोचि मुनि तृषा से पीड़ित हो गये । फलस्वरूप चारित्र्यावशणोय कर्मोदय से इस प्रकार चिंतन करने लगे । मेह पर्वत की तरह जिसका वहन नहीं हो सकता—उस साधुपन का वहन करने में मैं समर्थ नहीं हूँ । क्योंकि मैं गुण-विहीन हूँ और भवकी आकांक्षा वाला हूँ । पंगु होने से व्रत का त्याग भी कैसे हो सकता है । उस साधुपन का त्याग करने से लोक में

लज्जा को प्राप्त होऊँगा परन्तु एक उपाय है जिससे व्रत भी कुछ अंश में रह जाता है और घेसा श्रम भी उठाना नहीं पड़ता है ।

ये श्रमण भगवंत त्रिदण्ड अर्थात् मनोदण्ड, वाक्दण्ड, और कायदण्ड से विरक्त हैं और मैं त्रिदण्ड का विजेता हूँ अतः मेरा तीन दण्ड का लोछन हो । ये साधु केश के लोच से मुण्डित है और मैं तो शस्त्र से केशों को मुण्डने वाला व शिखाधारी होऊँ । ये साधु महाव्रतधारी है और मैं अणुव्रतधारी बनूँ । ये मुनि निष्किंचन है और मैं मुद्रिकादि परिग्रहधारी होऊँ । ये मुनि मोहरहित हैं परन्तु मैं मोह से आच्छादित होने से छत्र वाला होऊँ । ये महर्षि उपानद् रहित हैं परन्तु मैं पादकी रक्षा के लिए उपानद् को ग्रहण करूँगा । ये साधु शील के द्वारा सुगन्धित है परन्तु मैं शील से सुगन्धित नहीं हूँ । अतः सुगन्धी के लिये मेरे श्रोत्रण्ड चन्दन का तिलक होना चाहिए । ये महर्षि कषाय रहित होने के कारण और शुक्ल और जीर्ण वस्त्रधारी है । इसके बनिबस्त कषाय वाले ऐसा हमारा कषाय (रंगे हुए) वस्त्र है । ये मुनिगण तो घने जोंबों को विराधना वाले सचित जल का आरम्भ छोड़ा है । इसके बनिबस्त हमारे मित जल से स्नान-पान हो ।

इस प्रकार स्वयं की बुद्धि से विचार करके कष्ट से कायर ऐसा मरोचि लिंग का निर्वाह करने के लिए त्रिदण्डी सन्यास को ग्रहण किया ।

(त) ह्यक्त्वा देहमत्वादीन् भूत्वा मेहसमोऽचलः । हन्तुं कर्मारिसंतानं कर्मारतिनिन्दनम् ॥ ७६ ॥
 दधे योगं परं मुक्त्रयै षण्मासावधिमात्तवान् । प्रउभ्रितमुजादण्डो ध्यानपूर्वं जगद्गुरुः ॥ ७७ ॥
 ततस्ते क्षुत्विपासादीन् सर्वान् घोरपरीषदान् । तेन सार्धं चिरं सोढ्वा पश्चात्सोढुं किञ्चाक्षमाः ॥ ७८ ॥
 ततःकलेशभराक्रान्ता दीनास्था धृतिदूगाः । जज्ञन्तुस्थिमन्थोनयं सुष्ठु दोनतया गिरा ॥ ७९ ॥
 अहो एष जगद्भर्ता वज्रकायः स्थिराशयः । न ज्ञायते कियत्कालमेवं स्थास्थिति विश्वराट् ॥ ८० ॥
 अस्माकं प्राणसंदेहो वर्ततेऽस्मत्समानकैः । यतोऽनेन समंस्वर्धा कृत्वा मर्तव्यमेव किन् ॥ ८१ ॥
 इश्युक्त्वा लिङ्गिनः सर्वे ते नत्वा तत्क्रमाम्बुजौ । भरतेशभयाद् गन्तुमशक्ताः स्वालयं ततः ॥ ८२ ॥
 तत्रैव कानने पापास्वेच्छया फलभक्षगम् । कर्तुं पातुं जलं दीनां स्वयं प्रारेभिरे शठाः ॥ ८३ ॥

—वीरवर्धच० अधि-२

भगवान् वृषभदेव ने देह से ममता आदि को छोड़कर और मेह के समान अचल होकर कर्मशत्रुओं को सन्तान का नाश करने के लिये कर्मधेरी का घातक छह मास की अवधि वाला प्रतिमा योग मुक्ति-प्राप्ति के लिये धारण कर लिया और आत्म-सामर्थ्यवान् वे जगद्गुरु अपने भुजादण्डों को लम्बा करके ध्यान में अवस्थित हो गये ।

भगवान् वृषभदेव के साथ जो चार हजार राजा लोग दोक्षित हुये थे, वे कुछ दिन तक तो भगवान् के समान ही कार्योत्सर्ग में खड़े रहे और भूख-प्यास आदि सभी घोर परीषहों को सहन करते रहे । किन्तु आगे दोष-काल तक भगवान् के साथ उन्हें सहने में असमर्थ हो गये ।

वे सब तप के क्लेशभार से आक्रांत हो गये, उनके मुख दोनता से परिपूर्ण हो गये, उनका धैर्य चला गया, तब वे अत्यन्त दीन-बाणी से परस्पर में इस प्रकार वार्तालाप करने लगे—‘अहो । यह जगद्-भर्ता वज्रकाय और स्थिर चित्त वाला है, हम नहीं जानते हैं कि यह विश्व का स्वामी कितने समय तक इसी प्रकार से खड़ा रहेगा ?

अब तो हमारे प्राणों के रहने में सन्देह है ? अपने समान लोगों से इस प्रभु के साथ स्पर्धा करके क्या मरना है ?' इस प्रकार कहकर वे सब वेषधारो साधु-भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करके वहाँ से चले । किन्तु भरतेश के भय से अपने घर जाने में असमर्थ होकर वहाँ वन में ही पाप से स्वेच्छाचारी होकर वे दीन शठ फलों का भक्षण करने लगे । और नदो आदि का जल पीना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया ।

(थ) मरीचिरपि तैः सार्धं पीडितोऽतिपरीषदैः । तत्समानक्रियां कर्तुं प्रवृत्तोऽधविपाकतः ॥ ८४ ॥
तग्निन्धकर्मऋतुस्तान् विलोक्य वनदेवता । इत्याह रे शठा यूयं शृणुतास्मद्वचः शुभम् ॥ ८५ ॥
वेषणानेन ये मूढाः कर्मदं कुर्वतेऽशुभम् । निन्द्यं सत्त्वक्षयं कर्तुं श्वभ्रावधौ ते पतन्त्यघात् ॥ ८६ ॥
गृहिल्लिङ्गकृतं पापमर्हल्लिङ्गेन मुच्यते । अर्हल्लिङ्गकृतं पापं वज्रलेपोऽत्र जायते ॥ ८७ ॥
अतोऽत्र दं जगत्पूज्यं वेषं मुक्त्वा जिनेशनाम् । गृह्णीध्वमपरं नो चेद्दुः करिष्यामि निग्रहम् ॥ ८८ ॥
इति तद्ववसा भीता मुक्त्वा वेषं बुधार्चितम् । जटादिधारणैर्नानावेषं ते जगृहुस्तदा ॥ ८९ ॥
मरीचिरपि तोत्रात्तमिथ्यात्वोदयतः स्वयम् । परिव्राजकदीक्षां स हत्वा वेष निजं व्यधात् ॥ ९० ॥
तच्छास्त्ररचनेऽप्राशु दीर्घसंसारिणः स्वयम् । शक्तिरासीद्दहो यस्य यद्भावि तत्किमन्यथा ॥ ९१ ॥

— वीरवधच० अधि २

पाप के उदय से अति घोर परोषों के द्वारा पीड़ित हुआ मरोचि भी उन लोगों के साथ उनके समान ही क्रियाएँ करने के लिये प्रवृत्त हो गया । इन अष्ट साधुओं को निन्द्य-कर्म करते हुए देख कर वनदेवता ने कहा— 'अरे मूर्खों, तुम लोग हमारे शुभ वचन सुनो ।'

'इन नरनवेष को धारण कर जो मूढ़जन ऐसा निन्द्य अशुभ और जीववातक कार्य करते हैं, वे उस पाप फल से घोर नरक के सागर में पड़ते हैं । अरे वेषधारियों, गृहस्थ-वेष में किया हुआ पाप तो जिनलिंग के धारण करने से छूट जाता है किन्तु इस जिनलिंग में किया गया पाप वज्ररूप हो जाता है । (उसका छूटना बहुत कठिन है) अतः जितेश्वर देव के इस जगत्पूज्य वेष को छोड़कर तुम लोग कोई अन्य वेष धारण करो । अन्यथा मैं तुम लोगों का निग्रह करूँगा ।' इस प्रकार वनदेवता के वचन से भयभीत होकर विद्वत्पूज्य जिनवेष को छोड़कर सब उन लोगों ने जटा आदि को धारण करके नाना प्रकार के वेष ग्रहण कर लिये ।

मरोचि ने भी तोत्र मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिनवेष को छोड़कर स्वयं ही परिव्राजक दीक्षा को धारण कर लिया । दीर्घ सत्तारी इस मरोचि के उस परिव्राजक दीक्षा के अनुरूप शास्त्र की रचना करने में शीघ्र ही शक्ति प्रगट हो गयी । अहो ! जिस का जेसा भवितव्य होता है, वह क्या अन्यथा हो सकता है ।

(द) तादृश्वेषं च तं दृष्ट्वाऽपृच्छद्धर्मं जनोऽखिलः । साधुधर्मं समाचलयौ सोऽपि तेषां जिनोदितम् ॥ ४४ ॥
किं त्वं स्वयं नाचरसीत्य युक्तः पुनर्जनैः । मेहमारं न तं वोढुमीशोऽस्मीति शशंस सः ॥ ४५ ॥
धर्माख्यानप्रतिबुद्धान् स तु भग्यानुपस्थितान् । शिष्यान् समनयामास स्वामिने नाभिसूतवे ॥ ४६ ॥
श्रयाचारो विजहार मरोचिः स्वामिना सह । — त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

मरोचि के इस प्रकार के नवीन वेष को देखकर सब लोग उसे धर्म पूछने लगे । फलस्वरूप मरोचि जिनेस्वर द्वारा कथित धर्म कहने लगा । पुनः लोग उसे पूछने लगे कि तुम उस साधु धर्म का आचरण क्यों नहीं करते हो ? प्रत्युत्तर में मरोचि कहने लगा कि उस मेरुभार जैसे साधु धर्म को वहन करने के लिये मैं समर्थ नहीं हूँ । स्वयं के धर्म के व्याख्यान से प्रतिबोध को प्राप्त जो भव्य होता उसे ऋषभनाथ भगवान् के पास जाने के लिए प्रेरित करता अर्थात् शिष्यरूप में उन्हे समर्पित कर देता । ऐसा आचार वाला मरोचि भगवान् के साथ विहार करता रहता ।

× × × भगवता च सह विजहार. तं च साधुमध्ये विजातीयं दृष्ट्वा कौतुकालोकः पृष्टवान्,
तथा चाह—

(घ) अहं तं पागडह्वं दृष्टुं पुच्छेइ बहुजणो धम्मं । कहइ जईणं तो सो विआलणे तस्य परिकहणा ॥३८८॥
मलय टीका—अथ तं प्रकृष्टं विजातीयं प्रवृत्त्वा पृच्छति बहुजणो धम्मं, कथयति यत्तानां सम्बन्धिभूतं क्षान्त्यादिलक्षणं ततोऽसाविति, लोका भणन्ति—यद्ययं श्रेष्ठो भवता किं नाङ्गीकृत इति विचारणे, तस्य परिः—समन्तात् कथना परिकथना-श्रमगाः त्रिदंडविरता इत्यादि लक्षणाः, पृच्छतीति त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनाथत्वादेवं निर्देशः. पाठान्तरं वा 'अहं तं पागडह्वं दृष्टुं पुच्छिंषु बहुजणो धम्मं । कहती सुजतीणं सो विआलणे तस्स परिकहणा । प्रवर्त्तत इति गाथार्थः ।

धम्मकहाअखित्ते उवट्टिए देइ भगवओ सीसे । गामनगरागराई विहरइ सो सामिणा सद्धि ॥३६०॥

मलय टीका—धर्मकथाश्रितान् उपस्थितान् ददाति भगवतः शिष्यान्, ग्रामनगरादीन् विहरति स स्वामिना सार्द्धं, भावार्थः सुगमः ॥ इत्थं निर्देशप्रयोजनं पूर्ववद्, ग्रन्थकारवचनत्वाद्वा अदोष इति गाथार्थः । अन्यदा भगवान् विहरमाणो अष्टापदमनुप्राप्तवान्, तत्र च समवसृतः, भरतोऽपि भ्रातृप्रव्रज्याकर्णनात् सञ्जातमनस्तापोऽभृतिं चक्रे, कदाचिद्भोगादीन् दीयमानान् पुनरपि गृह्णन्तीत्यालोच्य भगवत्समीपं चागम्य निमन्त्रयंश्च तान् भोगैर्निराकृतश्चिन्तयामास एतेषामेवेदानीं परित्यक्तसङ्गानां आहारदानेऽपि तावद्धर्मानुष्ठानं करोमीति पंचभिः शकटाशतैर्विचित्रमाहारमानाद्युपनिमन्त्र्याधाकर्माहृतं च न कलयते यतीनामिति प्रतिषिद्धेऽकृतकारितेनान्येन निमन्त्रितवान्, राजपिण्डोऽयकलयनोयइति प्रतिषिद्धः सर्वप्रकारैरहं भगवता परित्यक्त इति सुतरामुन्माथितो बभूव, तमुन्माथितं विज्ञाय देवराट्त्च्छ्रोकोपतास्तये भगवन्तुमवप्रइं पप्रच्छ—कतिविधः अवग्रह इति ।

—आव० निगा ३८८, ३६०

पुच्छंताण कहेई उवट्टिए देइ साहुणो सीसे ।

जेळन्नेऽपडियरणं कविला । इत्थंपि इहयंपि ॥

—आव निगा ४३७

मलय टीका—गमनिका—पृच्छतां कथयति उपस्थितान् ददाति साधुम्यः शिष्यान्, ग्लानत्वे-
उपतिजागरणं, कपिल ! अत्रापि इहापि । भावार्थः—स हि प्राग्वर्णितस्वरूपो मरोचिर्भगवति निवृत्तो

साधुभिः सह विहरन् पृच्छतां लोकानां कथयति धम्मं जिनप्रणीतमेव, धर्माक्षिप्रांश्च प्राणिनः उप-
स्थितान् ददाति साधुभ्यः शिष्यानिति,

‘तित्थगरो को इहं भरहे’ त्ति, तइ व्याचिख्यारूपाऽऽह—

अह भणइ नरवरिंदो ताय ! इमीसित्तिआइ परिसाए ।

अन्नोऽवि कोऽवि होही भरहे वासम्मि तित्थयरो ? ॥ ४४ ॥ (मूल भाष्य)

मलयटीका—अत्रान्तरे अथ भणति नरवरेन्द्रः—तात् ! अस्याः एतावत्याः परिषदः अन्योऽपि
कश्चिद् भविष्यति तीर्थकरः अस्मिन् भारते वर्षे, भावार्थस्तुसुगम एवेति गाथार्थः ॥

तत्थ मरीई नामा आइपरिष्वायगो उसभनत्ता । सज्झायज्झाणजुओ एगंते भायइ महप्पा ॥ ४२२ ॥

मलयटीका तत्र भगवतः प्रत्यासन्ने भूभागे मरीचिनामा आदौ परिव्राजकः आदिपरिव्राजकः
प्रवर्त्तकत्वात्, ऋषभनमा पौत्रक इत्यर्थः, स्वाध्याय एव ध्यानं तेन युक्तः एकंते ध्यायति महात्मेति ।

तं दाएइ जिणिदो एवं नरिंदेण पुच्छिओ संतो । धम्मवरचक्कवट्ठी अपच्छिमो वीरनामुत्ति ॥ ४२३ ॥

टीका—गमनिका—भरतपृष्ठो भगवान् ‘तं’ मरीचिं दर्शयति जिनंद्रः एवं नरेन्द्रेण पृष्ठः सन् धम्मवर-
चक्रवर्त्तीअपश्चिमो वीरनामा भविष्यतीति ।

तथा—आइगरू दसाराणं तिविट्ठु नामेण पोअणाहिवई ।

पियमित्तचक्कवट्ठी मूआइ विदेहवासम्मि ॥ ४२४ ॥

टीका—गमनिका—आदिकरो दसाराणं (दशाराणां) त्रिपृष्ठनामा पोतना नाम नगरी तस्या अधि-
पतिर्भविष्यतीति । क्रिया, तथा प्रियमित्रनामाचक्रवर्त्ती मूकायां नगर्यां विदेहवासम्मि’ त्ति महा-
विदेहे भविष्यतीति ।

तं वयणं सोऊण राया अंचितणरूहसरीरो । अभिवंदिऊण पिअरं मरीइमभिवंदओ जाइ ॥ ४२५ ॥

टीका—गमनिका—तद्वचनं तीर्थकरवदनविनिर्गतं श्रुत्वा राजा अञ्चितानि तनुरूहाणि शरीरे यस्य
स तथाविधः अभिवन्द्य पितरं तीर्थकरं मरीचिं अभिवन्दको याति, पाठान्तरं वा ‘मिरीइ’ अभिवंदिडं
जाइ’ त्ति मरीचिं याति किमर्थम् ?—‘अभिवंदिडं’, अभिवन्दनायेत्यर्थः, यातीति वर्त्तमानकाल-
निर्देशस्त्रिकालगोचरसूत्रप्रदर्शनार्थ इति गाथार्थः ।

सो विणएण उवगओ काऊण पयाहिणं च तिवखुत्तो ।

वंदइ अभित्थुणंतो इमाहिं महुराहिं वग्गूहिं ॥ ४२६ ॥

टीका—स भरतः विनयेन करणभूतेन मरीचिसकाशमुपगतः सन् कृत्वा प्रदक्षिणां च ‘तिवखुत्तो’
त्ति त्रिकृत्वः तिस्रो वारा इत्यर्थः, वन्दते, अभिष्टुतवान्, एताभिर्मधुराभिर्वल्गुभिर्वाग्भरति
गाथार्थः ।

लाभा हु ते सुलद्धा जंसि तुमं धम्मचक्कवट्ठीणं ।

होहिसि दसचउदसमो अपच्छिमो वीरनामुत्ति ॥ ४२७ ॥

टीका—'लाभा' अभ्युदयप्राप्तिविशेषः, हुकारो निपातः स चैवकारार्थः तस्य च व्यवहितः सम्बन्धः 'ते' तव सुलब्धा एव, यस्मान् त्वं धर्मचक्रवर्तिनां भविष्यसि दशचतुर्दशः, चतुर्विंशरतिम इत्यर्थः अपश्चिमो वीरनामेति गाथार्थः ॥ तथा आङ्गरो दसाराणं (४२४) गाथा पूर्ववत् नेया । एकान्त सम्यग्दर्शनानुरञ्चितहृदयो भावितीर्थकरभवत्या च तमभिवन्दनायोद्यतो भरत एवाह—
नाविअ ते पारिवज्जं वंदामि अहं इमं च ते जम्मं ।

जं होहिसि तिथ्यरो अपच्छिमो तेण वंदामि ॥ ४२८ ॥

टीका—गमनिका— नापि च पारिव्राजामिदं परिव्राज्यं वंदामि अहं, इदं च ते जन्म, किन्तु यद् भविष्यसि तीर्थकरः, अपश्चिमस्तेन वंदामीति गाथाथः ।

एवं ण्हं थोऊणं काऊण पदाहिणं च तिक्खुत्तो ।

आपुच्छिऊण पियरं विणीअणगरिं अह पविट्ठो ॥ ४२६ ॥

टीका—गमनिका—एवं स्तुत्वा, ण्हमिति निपातः पूरणार्थो वक्तोते कृत्वा प्रदक्षिणां च त्रिकृत्वः, आपुच्छय पितरं श्रुषभदेवं विनीतनगरीम्—अयोध्यायामथ—अनन्तरं प्रविष्टो भरत इति गाथार्थः ॥ मरीचि का जातिमद्—

तव्वयणं सोऊणं तिवइं अण्फोडिऊण तिक्खुत्तो ।

अध्महिअजायहरिसो तत्थ मरीई इमं भणइ ॥ ४३० ॥

टीका—गमनिका—तस्य भरतस्य वचनं तद्वचनं श्रुत्वा, तत्र मरीचिः इदं भणतीति योगः, कथ-
मिश्यत आह—त्रिपदीं दत्त्वा रङ्गमध्यगतमल्लवत्, तथा आस्फोट्य त्रिकृत्वः, तिस्रो वारा इत्यर्थः;
किंविशिष्टः संस्ततः आह—अभ्यधिको जातो हर्षो यस्येति समासः, तत्र स्थाने मरीचिरिदं—
वक्ष्यमाणं भणति, वर्त्तमाननिर्देशप्रयोजनं प्राग्बुद्धिंति गाथार्थः ।

जइ वासुदेव पढमो मूआइ विदेह चक्कवट्ठित्तं । चरिमो तिक्खयराणं होउ अलं इत्तिअं मज्झ ॥ ४३१ ॥

टीका—गमनिका—यदि वासुदेवः प्रथमोऽहं, मूकायां विदेहे चक्रवर्तित्वं प्राप्स्यामि तथा चरमः—
पश्चिमः तीर्थकराणां भविष्यामि, एवं तर्हि भवतु एतावन्मम, एतावतैव कृतार्थ इत्यर्थः, अलं
पर्याप्तमन्येनेवि पाठान्तरं वा 'अहो मए एत्तियलद्धं' ति गाथार्थः ।

अहयं च दसाराणं पिया य मे चक्कवट्ठिवंसस्स ।

अज्जो तिक्खयराणं अहो कुलं उत्तमं मज्झ ॥ ४३२ ॥

टीका—गमनिका—अहमेव, च शब्दस्यैवकारार्थत्वात्, किं?—दसाराणं, प्रथमो भविष्यामिति
वाक्यशेषः, पिता च 'मे' मम चक्रवर्तिवंशस्य प्रथम इति क्रियाध्याहारः, तथा 'आर्यकः' पितामहः
स तीर्थकराणां प्रथमः, यत एवमत अहो-विस्मये कुलमुत्तमं ममेति गाथार्थः ॥

—आव० निगा ४२१ से ४३२

नीच गोत्रकर्मकाउपार्जन—

(न) स्वामी च समवासाशीद्विनीतायां पुनः पुरिं ॥ ४७ ॥

तत्र प्रभुर्नमस्कृत्य पृष्टो भरतचक्रिणा । भाविणोर्हृच्चक्रिविष्णुप्रतिविष्णुबलाञ्जगौ ॥ ४८ ॥
 पुनः पप्रच्छ भरतः किं कश्चिदिह पर्षदि । भाव्यत्र भरतक्षेत्रे नाथ ! त्वमिव तीर्थकृत् ॥ ४९ ॥
 मरीचिं दर्शयन्नाख्यत् स्वामी सूनुरयं तव । पश्चिमस्तोर्थकृद्दीरो नाम्ना भावीह भारते ॥ ५० ॥
 भाव्याद्योऽत्र त्रिपृष्ठाख्यः शाङ्गभृत्पोतने पुरे । मूकापूर्यां विदेहेषु प्रियमित्रश्च चक्रभृत् ॥ ५१ ॥
 तच्छ्रुत्वा नाथमापृच्छ्य मरीचिं भरतो ययौ । त्रिश्च प्रदक्षिणीकृत्य वन्दिस्त्वैवमवोचत् ॥ ५२ ॥
 स्वामिनोक्तं चरमस्त्वं भाव्यर्हन्नह भारते । आदिश्च वासुदेवस्त्वं त्रिपृष्ठः पोतनेश्वरः ॥ ५३ ॥
 चक्री विदेहमूकार्यां प्रियमित्रोऽभिधानतः । पारिव्राज्यं न ते वन्द्यं भाव्यर्हन्निति वन्द्यसे ॥ ५४ ॥
 तमित्युक्त्वा चक्रवर्तीं प्रणम्य स्वामिनं पुनः । वनीतारमा प्रविवेश विनीतां मुदितः पुरीम् ॥ ५५ ॥
 तदाकर्ण्य मरीचिस्त्रिरास्फोट्य त्रिपदीं मुदा । इत्युवाचोच्चक्रैर्विष्णुभविष्यामि यदादिमः ॥ ५६ ॥
 मूकानगर्यां मे चक्रवर्तित्वं च भविष्यति । भाव्यर्हं चरमश्चार्हं न पर्याप्तमपरेण मे ॥ ५७ ॥
 आद्योऽहं वासुदेवानां पिता मे चक्रवर्तिनाम् । पितामहस्तोर्थकृतामहो मे कुलमुत्तमम् ॥ ५८ ॥
 एवं जातिमदं कुर्वन् भुजावास्फोटयन्मुहुः । नीचगोत्रात्रिधं कर्म मरीचिः समुपार्जयत् ॥ ५९ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

भावी तीर्थकर-वर्धमानः—

प) अन्यदा भगवान् विहरमाणो अष्टापदमनुप्राप्तवान्, तत्र च समवसुतः, भरतोऽपि भ्रातृप्रब्रज्या-
 कर्णनात् सञ्जातमनस्तापोऽधृति चक्रे, कदाचिद् भोगादीन् दीयमानान् पुनरपि गृहणन्ती-
 त्यालोच्य भगवत्समीपं चागम्य × × × 'पुच्छति भरतो भगवन्तमष्टापदसमसुतमेवं पृष्टवान्-
 यादृग्भूता यूयमेवंविधाः तीर्थकृतः कियन्तः खल्विह भविष्यन्तीत्यादि × × ×

—आव० निगा ३६०, ३६६/टीका—

पुणरवि अ समोसरणे पुच्छीअ जिणं तु चक्रिणो भरहे ।

अण्पुटो अ दसारे तित्थयरो को इहं भरहे ? ॥ ३६७ ॥

मलय टीका— × × × । भगवानपि तान् कथितवान्, तथा अपृष्टश्च दशारान्, तथा
 तीर्थकरः क इह भरतेऽस्यां परषदीति पृष्टवान्, भगवानपि मरीचिं कथितवानिति ।

(फ) अण्णया य भरहचक्कवट्टिणा अवसेसतित्थगर चक्कवट्टिण्हकहणावसाणम्मि पुच्छियं—किं भयवं ।
 अत्थि कोइ इमीसे परिसाए तहाविहो जो तित्थयरत्तं पाविहि ? त्ति । भगवया भणियं
 —अत्थि तुह चव पुत्तो मिरिई, सोय अद्धचक्कवट्टिणं पढमो पोयणाहिर्वई तिविट्ठूणामेणं, पुणो
 विदेहे चक्कवट्टी, पुणो वि कालेण बंधिऊण तित्थयरणां अपच्छिमो वद्धमाणाहिहाणो तित्थयरो
 भविस्सइ ।

चउपपन० पु० ४६

तओ तमायण्णिऊण भरहचक्रवट्टी उवणीयणाणाविहाहारो साहुणो णिमंतेइ ××× तओ असमंज-
सपरिहरणत्थं कागणिरयणेण धिज्जाइयाणमुपवत्ति काऊण विणिओइयाहारो अणुण्णाययभरहच्छेत्त-
साहुपयारो मिरीई (इ)—वंदणत्थं गओ । वंदिओ य गुरुकहिअवट्टणपुव्वं मिरीई । मिरीचिणा वि
'तिथ्यरो अपच्छिमो भविस्सामि,त्ति जाणिऊण कयमुत्तुणत्तणं, गहिओ माणत्थंभेण, तप्पच्चयं च
बद्धं णीयागोयं । भगवओ समीवे समइविरइयाळंगो य विहरिउमाढत्तो । उवसामेइ बहुविहेहि
पयारेहि पाणिणो ।

उवसन्ते य पव्वज्जमुवट्टिए जयणाहस्स सीमत्तणेण उवणेति ।

चउपन्न० पृ० ४६

एक समय भगवान् ऋषभदेव पुनः विनीता नगरी के समीप पधारे । वहाँ भरत चक्रवर्ती भगवान् के पास आकर भावी अखिहंतादि से संबंधित प्रश्न पूछे । प्रत्युत्तर में भगवान् ने भविष्यत् में होने वाले अखिहंत, चक्रवर्ती, वासुदेव, और बलदेव बताये । तत्पश्चात् भरत चक्रवर्ती ने पुनः प्रश्न किया—हे नाथ । आपकी इस सभा में इस भरत क्षेत्र में वर्तमान चौबीसों में तीर्थंकर होने वाला क्या कोई व्यक्ति है !—प्रत्युत्तर भगवान् ने मरीचि को भावी तीर्थंकर बताकर बोले—यह तुम्हारा पुत्र मरीचि इस भरत क्षेत्र में वीर नामक अंतिम तीर्थंकर होगा तथा पोतनपुर में त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव और महाविदेह क्षेत्र में मूकानपुरी में प्रियमित्र नाम का चक्रवर्ती होगा ।

यह बात सुनकर भगवान् की आज्ञा लेकर भरत मरीचि के पास आये और तीन प्रदक्षिणा देकर उसे वन्दन किया । बाद में कहा कि—भगवान् ऋषभदेव के कथनानुसार तुम इस भरत क्षेत्र में चरम तीर्थंकरत्व को प्राप्त होओगे । पोतनपुर में त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव और महाविदेह क्षेत्र में मुकानगरी में प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होओगे । तुम सन्यासी हो—इस कारण तुम्हें मैं वन्दन नहीं करता हूँ परन्तु भावी तीर्थंकर हो इस कारण मैं तुम्हें वन्दन करता हूँ ।

इस प्रकार कहकर विनयवान् भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव को पुनः वन्दन हर्षित होकर विनीता नगरी आये ।

इधर मरीचि—भरत चक्रवर्ती के पास सारी हकीकत जानकर हर्ष से तीन बार त्रिपदी का नाचने लगा और उच्च स्वर से कहने लगा कि—पोतनपुर में मैं प्रथम वासुदेव होऊँगा, मूकानगरी में चक्रवर्ती होऊँगा और तत्पश्चात् चरम तीर्थंकरत्व को प्राप्त होऊँगा । मुझे दूसरों की क्या अपेक्षा है । मैं वासुदेवों के प्रथम वासुदेव, मेरे पिता चक्रवर्तियों में प्रथम चक्रवर्ती और मेरे पिता के पिता तीर्थंकरों में प्रथम तीर्थंकर है अहो । हमारा कुल कैसा उत्तम है । इस प्रकार बारम्बार भुजासोट कर जातिभेद करते हुए मरीचि ने नीच गो कर्म का उपार्जन किया ।

मरीचि का शिष्यत्व ग्रहण

(ब) ऋषमस्वामिनिर्वाणादूर्ध्वं साधुं स साधुभिः ।

विहरन् पबोध्य भव्यान् प्राहिणोत् साधुसन्निधौ ॥ ६० ॥

व्याधिभिश्चान्यदा ग्रस्तोऽसंयमीति स साधुभिः ।

अपालयमानो ग्लानः सन्मनस्येवं व्यचिन्तयत् ॥ ६१ ॥

अहो अमी साधवो धिङ्निर्दाक्षिण्याः कृपोऽङ्गिताः ।

स्वार्थमात्रोद्यता लोकव्यवहारपराङ्मुखाः ॥ ६२ ॥

यन्मां परिचितं स्निग्धमध्येकगुरुदीक्षितम् । विनीतमपि नेक्षन्ते दुरेऽस्तु मम पालनम् ॥ ६३ ॥

यद्वादुश्चिन्तितं मेऽदो यदमी स्वतनोरपि । परिचर्यां न कुर्वन्ति भ्रष्टस्य तु कथंमम ॥ ६४ ॥

अनेनं व्याधिना मुक्तस्तत् स्वस्य प्रतिचारकम् ।

कश्चिच्छिष्यं करिष्यामि स्वलिङ्गनामुनैव हि ॥ ६५ ॥

इवंध्यायन् विधिवशान्मरीचिरभवत् पटुः । अन्यदा मिलितश्चास्य कपिलः कुलपुत्रकः ॥ ६६ ॥

धर्मार्थी ज्ञापितस्तेन कपिलो धर्ममार्हतम् । किं स्वयं न करोषीति सोऽप्युच्छि कपिलेन च ॥ ६७ ॥

मरीचिवदधर्मं नैनं कर्तुं महं क्षमः । कपिलोऽप्यब्रवीत् किं त्वन्मार्गं धर्मो न विद्यते ॥ ६८ ॥

जिनधर्मालसं ज्ञात्वा शिष्यमिच्छन् स तं जगौ ।

मार्गं जैनेऽपि धर्मोऽस्ति मम मार्गोऽपि विद्यते ॥ ६९ ॥

तच्छिष्यः कपिलोऽथाभून्मिथ्याधर्मोपदेशनात् । मरीचिरप्यब्धिकोटिकोटीसंसारमार्जयत् ॥ ७० ॥

मरीचिस्तदनालोच्य विहितानशनो मृतः । ब्रह्मलोके दशोदन्वत्प्रमितायुः सुरोऽभवत् ॥ ७१ ॥

—त्रिशलाका०पर्व १०/सर्ग १

गेलन्नेऽपडियरणं कविला ! इत्थंपि इद्दयंपि ॥ ४३७ ॥

--आव० निगा ४३७

मलय टीका—अन्यदा स ग्लानः संवृत्ताः साधवोऽप्यसंयतत्वान्न प्रतिजाग्रति, स चिन्तयति-निष्ठा-
तार्थाः खल्वेते, नासंयतस्य कुर्वन्ति, नापि ममैतान् कारयितुं युज्यते, तस्मात्कंचन प्रतिजागरक
दीक्षयामीति अपगत रोगस्य च कपिलो नाम राजपुत्रो धर्मशुश्रूषया तदन्तिकभागतइति, कथिते
साधुधर्मं स आह—यद्यं मार्गं किमिति भवतैतदङ्गीकृतं ? मरीचिराह—पापोऽहं 'लोए इंदिये'
त्यादि विभाषा पूर्ववत् कपिलोऽपि कर्मोदयात् साधुधर्मानभिमुखः खल्वाह—तथापि किं
भवदर्शने नास्त्येव धर्म इति ? मरीचिरपि प्रचुरकर्मां खल्वयं न तीर्थकरोक्तं प्रतिपद्यते, वरं मे
सहायः संवृत्ताइति सञ्चिद्वाराह—कपिला एत्थं'पे' त्ति अपि शब्दस्यैवकारार्थत्वान्निरूपचरितः
खल्वत्रैव-साधुमार्गं, 'इद्दयंपि' त्ति स्वल्पस्वत्रापि विद्यतइति गाथार्थः ।

स ह्येवमाकर्ण्य तरलकाशा एव प्रव्रजितः; मरीचिनाऽप्येनेन दुर्वचनेन संसारोऽभिनिर्वर्तितः

श्री कृष्णभदेव स्वामी के परिनिर्वाण के पश्चात् भो साधुओं के साथ बिहार करता हुआ मरीचि भयजनो
प्रतिबोधित कर साधुओं के पास भेजा करता था । एक समय मरीचि व्याधि ग्रस्त हुआ । उस समय—“यह
मरीचि नहीं है—ऐसा धारकर अन्य साधुगण उसकी आदवासन नहीं की । फलस्वरूप ग्लानिको प्राप्त होकर मरीचि ने

मन में विचार किया—‘अहो ! ये साधु जो दाक्षिण्य बिना, निर्दय, स्वार्थ में उद्यमधंत और लोकव्यवहार से विमुख है—उन्हें धिक्कार है—इसके बनिस्बत में जो उनसे परिचित स्नेहवाला और एक ही गुरु द्वारा दीक्षित तथा विनीत हूँ । उसका पालन करना तो दूर रहा परन्तु वे उनके सामने भी नहीं देखते हैं परन्तु मुझे उचित है कि इनसे अवलोक्य व्यवहार नहीं करना चाहिए—क्योंकि ये साधु स्वयं के शरीर की भी परिचर्या नहीं करते हैं फिर हमारे जैसे भ्रष्ट की परिचर्या कैसे कर सकते हैं ।

मेशा ऐसा विचार है कि यदि मैं इस व्याधि से मुक्त होऊँगा तो बाद में हमारी सेवा करने योग्य एक शिष्य करूँगा । वह भी ऐसा ही लिंग को धारण करे ।

इस प्रकार चिंतवन करते हुए मरीचि देवयोग से स्वस्थ हुआ ।

एक समय उसे कपिल नामक किसी कुल पुत्र से भेंट हुई । वह धर्माधीन था फलस्वरूप मरीचि ने कपिल को आर्हत्धर्म को कहा । उस समय कपिल ने यह प्रश्न किया कि आप स्वयं क्यों नहीं धर्म का आचरण करते हो । मरीचि ने कहा कि मैं उस धर्म को पालन करने में असमर्थ हूँ । तत्पश्चात् कपिल ने कहा—तब क्या तुम्हारे मार्ग में धर्म नहीं है । इस प्रश्न से उसे जिनधर्म में आलसी जानकर शिष्य की इच्छा करता हुआ मरीचि बोला—‘जेन मार्ग में भी धर्म है और हमारे मार्ग में भी धर्म है । बाद में कपिल—मरीचिका शिष्य बन गया । उस समय मिथ्याधर्म के उपदेश से मरीचि ने एक कोटा-कोटी सागरोपम प्रमाण ससार को उपाजैन किया । पापकर्म की किंचित् भी आलोचना किये बिना अन्त में अनशन युक्त मृत्यु प्राप्त कर मरीचि ब्रह्मदेवलोक में दशसागरोपम का आयुष्य वाला देव हुआ ।

मिथ्यामत की प्ररूपणा—शिष्यत्व के लोभ से

(भ) अण्णया य भवियव्वाए तारिसभावयास गेलण्णावसरे कविलमुणिणा पुच्छिओ-भयवं ! कहिं पुण णिरूवाओ मोकखमग्गो ? तओ सहसक्कारेण जहट्टियमेव णिवेइयं-भयवओ समीवे । पुणोवि कविलमुणिणा भणियं—भयवं । इहपुण किणस्थि चेव मोकखो ? तमायण्णिऊण गेलन्नपडियरणकंखुणा समुइण्णकम्मणा पणट्टिविण्णं अणालोइयाऽऽगामियदुइपरंपरेणं भणियं दीहयरसंसारकारणं मिरीइणा-कविला ! एत्थं पि मोकखमग्गो अत्थि त्ति । तओ एण्ण दुब्भासिएणं अण्णा संसारसागरे पवाहिओ त्ति ।

—चउप्पन० पृ० ४६

(म) दुब्भासिएण इक्केण मरीई दुक्खसागरं पत्तो ।

भमिओ कोडाकोडिं सागरसरिनामधिज्जाणं ॥ ४३८ ॥

तं मूलं संसारो नीआगुत्तं च कासि तिवइम्मि ।

अपडिक्कंतो वंभे कविलो अंतद्विओ कहए ॥ ४३९ ॥

—आव० निगा ४३८-४३९

मलय टीका—प्रथमगाथागमनिका—दुर्भाषितेन एकेन उक्तलक्षणेन मरीचिर्दुःखसागरं प्राप्तः, भ्रान्तः कोटा शीटीनां, केषामित्याह—‘सागरसरिनामधेज्जाणं’ति सागरसदृशनामधेयानां, सागरोपणामिति गाथार्थः ।

द्वितीय गाथागमनिका—‘तन्मूलं दुर्भाषितमूलं संसारः सञ्जातः, तथा स एव नीचौर्गोत्रं च ‘कृतवान्’ निष्पादितवान् त्रिपद्यां—प्राग्वर्णितस्वरूपायामिति, ‘अपडिक्कंतो बंभे’ति स मरीचिश्चतुरशीतिपूर्वशत-सहस्राणि सर्वायुष्कमनुपाल्य तस्मात् दुर्भाषिताद् गर्वाच्चाप्रतिक्रांतः-अनिवृत्तः ब्रह्मलोके दशसागरोपम-स्थितिर्देवः सञ्जात इति ।

(य) अथासौ त्रिजगत्स्वामी ह्येकाकी सिंहवन्महीम् । विहृत्याब्दसहस्रान्तं मौनेन प्राक्तने वने ॥ ६२ ॥
हत्वा घातिरिपून् शुक्लध्यानखड्गेन तीर्थराट् । केवलज्ञानसाम्राज्यं स्वीचकार जगद्धितम् । ६३ ॥
तत्क्षणं यक्षराडस्य दिव्यमास्थानमण्डलम् । स्फुरद्गनसुवर्णाद्यैश्चक्रे विश्वाङ्गिपूरितम् ॥ ६४ ॥
इन्द्राद्याः परया भूत्या सकलत्राः स वाहनाः । चक्रिरेऽष्टविधां पूजां भक्त्या दिव्यार्चनैर्विभोः ॥ ६५ ॥
कच्छाद्याः प्राक्तनास्तेऽस्मादाकर्ण्य बंधभोक्षयोः । स्वरूपं परमार्थेन निर्गन्था बहवोऽभवन् ॥ ६६ ॥
मरीचिस्त्रिजगद्भर्तुः श्रुत्वापि सत्पथं परम् । मुक्तेर्न स्वमतं दुर्धीश्चात्प्रजद् भवकारणम् ॥ ६७ ॥
यथैष तीर्थनाथोऽत्रात्मना संग्गादिवर्जनात् । त्रिजगज्जनसंक्षोभकारि सामर्थ्यमाप्तवान् ॥ ६८ ॥
मदुपज्ञ तथा लोके व्यवस्थाप्य मतान्तरम् ॥ तन्निमित्तेरुसामर्थ्याज्जगत्त्रयगुरोरहम् ॥ ६९ ॥
प्रतीक्षां प्राप्तुमिच्छामि तन्मेऽवश्यं भविष्यति । इति मानोदयाद्दुष्टो न व्यर्त्सीत्स्वदुर्मतात् ॥ १०० ॥
त्रिदंडसंयुतं वेषं तमेवादाय पापधीः । कायकलेशपरो मूर्खः कमण्डलुकराङ्कितः ॥ १०१ ॥
प्रातः शीतजलस्नानात्कन्दमूलादिभक्षणात् । बाह्योपधिपरित्यागात् कुर्वन् विख्यातिमात्मन ॥ १०२ ॥
कपिलादिस्वशिष्याणां स्वकल्पितमतान्तरम् । इन्द्रजालनिभं निन्द्यं यथार्थं प्रतिपादयन् ॥ १०३ ॥
मुदा भ्रान्त्वा चिरं भूभौ मिथ्यामार्गाग्रणीः खलः । कालेन मरणं प्राप तनूजो भरतेशिनः ॥ १०४ ॥
अज्ञानतपसाथासौ ब्रह्मकल्पेऽमरोऽजनि । दशसागरजीवि स्वयोग्यसंपत्सुखान्वितः ॥ १०५ ॥
अहो इहक् तपःकर्तायं यद्याप सुरालयम् । अतो ये सुतपः कुर्यस्तेषां किंकथ्यते फलम् ॥ १०६ ॥

—वीरच० अधि २

अनान्तर वे त्रिजगत्स्वामी ऋषभदेव (छः मास के योग पूर्ण होने के पश्चात्) एक हजार वर्ष तक मौन से सिंह के समान पृथ्वी पर विहार करके जिसमें दीक्षा ली थी, उसी पूर्ववन में आये और वहां पर उन्होंने शुक्ल ध्यान रूप खड्ग से घातिकर्म रूप शत्रुओं का घात करके जगत् का हितकारक केवल ज्ञान रूप साम्राज्य प्राप्त किया और तोर्षराट् बन गये । उसी समय यक्षराज ने स्फुराययान रत्न-सुवर्णादि से उनके दिव्य आस्थानमंडल (समवसरण सभा) को रचना की; जिसमें सर्वप्राणी यथास्थान बैठ सकें । इन्द्रादिक भी उत्कृष्ट विभूति, अपनी देवांगनाओं और बाहनों के साथ आये और दिव्य पूजन-सामग्री से उन्होंने प्रभु की भक्ति के साथ आठ प्रकार की पूजा की । भगवान् के मुख से बन्ध और मोक्षका स्वरूप सुनकर उन पुरातन कच्छादिक ऋषट् साधुओं में बहुत से साधु पुनः

परमार्थ रूप से निर्ग्रन्थ बन गये। दुर्बुद्धि मरीचि त्रिजगत्प्रभु से मुक्ति का परम सम्मार्ग रूप उपदेश सुनकर के भी संसार के कारणभूत अपने छोटे मत को नहीं छोड़ा। प्रत्युत मन में सांचने लगा कि जैसे इन पूज्य तीर्थनाथ ऋषभदेव ने परिग्रहादि को त्यागने से तीन जगत् के जीवों को क्षोभित करने वाली सामर्थ्य प्राप्त की है, उसी प्रकार मैं भी अपने द्वारा प्रकृत इस अन्य मत का लोक में व्यवस्थित करके उसके निमित्त से महान् सामर्थ्यवाला होकर त्रिजगत् का गुरु हो सकता हूँ। मैं इस अवसर को पाने के लिए प्रतीक्षा करता हूँ। वह सामर्थ्य मुझे अवश्य प्राप्त होगी।

इस प्रकार के मान कषाय के उदय से वह दुष्ट अपने छोटे मत से विरुद्ध नहीं हुआ। वह पाप बुद्धि मूर्ख उसी तीन दण्ड युक्त वेषको धारण कर और हाथ में कमण्डलु लेकर कायक्वेश सहने में तप रहने लगा। वह प्रातःकाल शीतल जल से स्नान करके कंदमूलादि फलों को खा करके और बाहरी परिग्रह के त्याग से अपनी प्रख्याति करने लगा, तथा कपिल आदि अपने शिष्यों को इन्द्रजाल के समान अपने कल्पित निन्द्य मतान्तर को यथायथ प्रतिपादन करता हुआ मिथ्यामार्ग के प्रवर्तन का अग्रणी बनकर चिरकाल तक भारतभूमि में परिभ्रमण करता रहा। अंत में भरतेश वह पुत्र मरीचि यथाकाल मरण को प्राप्त होकर अज्ञान तपके प्रभाव से ब्रह्मकल्प में दस सागरोपम की आयु का धारक और अपने पुण्य के योग्य सुख-संपत्ति से युक्त देव हुआ।

अहो, इस प्रकार के कुतप को करने वाला व्यक्ति यदि स्वर्गलोक को प्राप्त हुआ, तो जो लोग सुतप को करेंगे, उनके तप का क्या फल कसा जाये? अर्थात् वे तो और भी अधिक उत्तम फल को प्राप्त करेंगे।

मरीचि के शिष्य कपिल द्वारा सांख्यदर्शनका प्रवर्तन

× × × कविलो अंतद्विओ कहए ॥

—आव० निगा ४३६ उत्तरार्ध

(र) मलय टीका—कपिलोऽपि ग्रंथार्थपरिज्ञानशून्य एव तद्दर्शितिक्रियारतो विजहार, आसुरिनामा च शिष्योऽनेन प्रव्राजित इति, तस्य स्वमाचारपात्रं दिदेश एवमन्यानपि शिष्यान् स गृहीत्वा शिष्यप्रवचनानुरागतस्वररो मृत्वा ब्रह्मलोक एवोत्पन्नः, स ह्युरूपत्तिसमनन्तरमेवावधि प्रयुक्तवान् किं मया हुतं वेष्टं वा दानं वा दत्तं येनैषां दिव्या देवर्द्धिः प्राप्तेति, एवं पूर्वमव विज्ञाय चिन्तयामास—मम शिष्यो न किञ्चिद्वेत्ति, तत्तस्योपदिशामि तत्त्वमिति, तस्मै आकाशस्थपंचवर्णमंडलकस्थः तत्त्वंजगाद्, आह च—कपिलो अंतद्विओ कहए' कपिलः अन्तर्हितः कथितवान्, किं?' अव्यक्ताद् व्यक्तं प्रभवति, ततः षष्टितन्त्रं, तथा चाहुस्तन्मतानुसारिणः—'प्रकृतेर्महांस्ततोऽद्भ्यस्तरस्माद् गणश्च षोडशकः । तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंच भूतानी ॥ १ ॥

(ल) कविलो वि ग्रन्थस्थविष्णाणरहिओ केवलं तिक्रियारिणाणुष्टाणपरायणो विहरति । अण्णया तेण आसुरी णाम पव्वावओ । तस्य य सो कविओ आचारमेत्तं उहिसिऊण अण्णे य बहवे सीसा पव्वावेऊण य, सदरिसिणाणुगयचित्तो मरिऊण बम्भलोगं चैव गओ । तेण य उप्पत्तिसमणंतरमेव उवउत्तो

ओही, उवलद्धो पुञ्जम्भवुत्तन्तो । चितियं च णेण जहा—मञ्ज् सीसो विस्मिद्विण्णाणरहिओ, ता एयस्स उवइसामि तत्तं । ति चित्तिउण ओइण्णो मत्तलोए । आगासत्थपंचमंडलकोवविट्ठो तत्तं उद्दिसिउमाढत्तो, तंजहा—अव्वत्ताओ तिगुणपरिणामप्पहाणाओ वत्तं पहवइ त्ति । तओ तस्सुवएसेणं सट्ठित्तं संजायंति ।

—चउपन्न० पृ० ६७

(व) शिष्यान् विधायासूर्यादीन् स्वाचारानुपदिश्य च विपद्य च ब्रह्मलोके कपिलोऽप्यमरोऽभवत् ॥ ७२ ॥
स प्राग्जन्मावधेर्ज्ञात्वा मोहादभ्येत्य भूतले । स्वयं कृतं सांख्यमतमासूर्यादीनबोधयत् ॥ ७३ ॥
तदाम्नायाद्ब्र सांख्यं प्रावर्तते च दर्शनम् । सुखसाध्ये ह्यनुष्ठाने प्रायो लोकः प्रवर्तते ॥ ७४ ॥
—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(श) कपिलो मरीचिसकाशे निष्क्रान्तः ।

—आव० निगा ३६६ । मलय टीका

मरीचिका शिष्य कपिल भी आसूर्य आदि को स्वयं का शिष्य किया । उन्हें स्वयं के आचार वाला उपदेश दिया । कालान्तर में मृत्यु को प्राप्त होकर कपिल ब्रह्मदेवलोक में देव हुआ । वहाँ अवधि ज्ञान से स्वयं के पूर्व जन्म को जानकर उस पृथ्वी पर आया और उसने आसूर्य आदि को स्वयं का सांख्य मत बताया । उसकी आम्नाय से इस पृथ्वी पर सांख्य दर्शन का प्रवर्तन हुआ ।

क्योंकि अधिकतर लोग सुखसाध्य अनुष्ठान में ही प्रवर्तन करते हैं ।

०४ भगवान महावीर का जीव ब्रह्मकल्प देव में—

(क) मलयटीका—+++‘अपडिक्कंतो बंभे’ त्ति स मरीचिश्चतुरशीतिपूर्वशतसहस्राणि सर्वायुष्कमनुपाल्य तस्मात् दुर्भाषिताद् गर्वाच्चाप्रतिक्रान्तः - अनिवृत्तः ब्रह्मलोके दशसो गरोपमस्थितिर्देवः संजातः इति ॥

इक्खागोसु मरीई चउरासीई अ बंभलोअम्मि । + + + ।

मलयटीका—गमनिका—इक्ष्वाकुषु मरीचिरासीत्, चतुरशीतिं च पूर्वशतसहस्राण्यायुष्कं पालयित्वा ‘बंभलोयमि’ ब्रह्मलोके कल्पे देवः संवृत्तः + + + ।

—आव० निगा ४३६/४४०

भगवान महावीर का जीव मरीचिकुमार भव का आयुष् क्षय करके दुर्भाषित वचन (परिव्राजक मत का प्रतिपादन) करने से तथा (भावी तीर्थंकर होने के) गर्व से अनिवृत्त रहकर । (एक काल में स्वध्याय एवं ध्यान युक्त होकर) ब्रह्मलोक में दश सागरोपम स्थिति के देव रूप में उत्पन्न हुआ ।

(ख) जिन धर्मात्सं ज्ञात्वा शिष्यमिच्छन् स तंजगौ । मार्गे जैनेऽपि धर्मोऽस्ति मममार्गेऽपि विद्यते ॥
तच्छिष्यः कपिलोऽथाभून्मिथ्याधर्मोपदेशनात् । मरीचिरप्यन्धिकोटिकोटीसंसारमार्जयत् ॥
मरीचिस्तदनालोच्य विहितानशनो मृतः । ब्रह्मलोके दशोन्वत्प्रमितायुः सुरोऽभवत् ।
—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग १। श्लो ६६ से ७१

(ग) मिरीयी वि चउरासीपुण्ड्रकखे आउयमणुवालिकुण, चइऊण अणसणविहिणा तस्स य दुब्भासिय-
ट्टाणस्स अपडिक्कंतो, मरिऊण बम्भलोए कप्पे दससागरोवमाइं (वम) द्विइआ देवो समुप्पण्णो ।
—चउपपन्न० पृ० ६७

जिनधर्म में आलस जानकर शिष्य की इच्छा करता हुआ मरीचि कपिल को बोला— जैन मार्ग में भी धर्म है और हमारे मार्ग में भी धर्म है । फलस्वरूप कपिल उनका शिष्य हुआ । उस समय मिथ्याधर्म के उपदेश से मरीचि ने कोटाकोटी सागरोपम प्रमाण संसार-उपाजन किया । उस पापकर्म की किंचित् भी आलोचना किये बिना अनशनकर मृत्यु को प्राप्तकर मरीचि ब्रह्म देवलोक में दस सागरोपम की आयुवाला देव हुआ ।

(घ) मुदा भ्रान्त्वा चिरं भूभौ मिथ्यामार्गाग्रणीः खलः । कालेन मरणं प्राप तनूजो भरतेशानः ॥ १०४ ॥
अज्ञानतपसाथासौ ब्रह्मकल्पेऽमरोऽजनि । दससागरजीवि स्वयोग्यसंपत्सुखान्वितः ॥ १०५ ॥
—वीरच० अधि २

मिथ्या मार्ग के प्रवर्तन का अग्रणी बनकर चिरकाल तक भारतभूमि में दुर्बुद्धि मरीचि परिभ्रमण करता रहा । अंत में भरतेश का वह पुत्र मरीचि यथाकाल मरण को प्राप्त होकर अज्ञानतप के प्रभाव से ब्रह्मकल्प में दस सागरोपम की आयु का धारक और अपने पुण्य के योग्य सुखसम्पत्ति से युक्त देव हुआ ।

(च) पंचवीस तच्चइ उवएसिवि कुमय-मग्गे जडयणु विणिएसिवि ।
परिवायय - तउ चिरु विरएविणु सोमिच्छत्ते पाण-मुए विणु ।
पंचम-कप्पि सुहासिव हूवउ कहो उवमिज्जइ अणुवम-रूवउ ।
दह रयणायर-परिमिय-जीविउ सहजाहरण-किरण-परिदीविउ ॥
जीवियंति सोणिहउ कयंते

—बड्हमाणच० संधि २ । पृ० ३

कुमत मार्ग में जड़जनों को विनिविशित कर उन्हें पचीस-तत्त्वों का उपदेश किया और चिरकाल तक परिनाजक-तप करके उस मरीचि ने मिथ्यात्वपूर्वक प्राण छोड़े और पांचवें कल्प में सुधाशी देव हुआ । वह रूप-सौंदर्य में अनुपम था । वहां उसकी जीवित आयु दस सागर प्रमाण थी । वह सहज सुन्दर आचरणों से प्रदीप्त था ।

(छ) कपिलादिस्वशिष्याणां यथार्थं प्रतिपादयन् । सूनूर्भरतराजस्य धरिऽयां चिरमभ्रमत् ॥ ६६ ॥
स जीवितान्ते संभूय ब्रह्मकल्पेऽमृताशनः दशाब्ध्युपमदेवायुरनुभूय सुखं ततः ॥ ६७ ॥
—उत्तपु० पर्व ७४

इस प्रकार कपिल आदि अपने शिष्यों के लिए अपने कल्पित तत्त्व का उपदेश देता हुआ सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि चिरकाल तक इस पृथ्वी पर भ्रमण करता रहा । आयु के अन्त में मरकर वह ब्रह्मस्वर्गी में दस सागर की आयुवाला देव हुआ ।

*०५ भगवान महावीर का जीव

कौशिक परिव्राजक भव में अथवा जटिल ब्राह्मण भव में—

*१ कौशिक परिव्राजक भव में (श्वे०)

(क) ततः (ब्रह्मदेवलोकस्य) आयुष्यकक्षायान् च्युत्वा 'कोसियकोल्लाएसु' त्ति कोल्लाकसनिवेशे कौशिको नाम ब्राह्मणो बभूव, 'असीतिमाउं च संसार' त्ति स च तत्राशीतिपूर्वशतसहस्राण्यायुष्कमनुपाल्य × × × । कोसिअ कुल्लागम्मी असीइमाउं च संसारो ॥

—आव० निगा० ४४०/मलय टीका

(ख) च्युत्वा मरीचिजीवोऽपि कोल्लाके सन्निवेशे ।

कौशिकाख्यः पूर्वलक्षाशीत्यायुर्ब्राह्मणोऽभवत् ॥ ७५ ॥

स सदा विषयासक्तो द्रव्योपार्जनतत्परः । हिंसादिषु च निःशूकः कालं भूयांसमत्यगात् ॥ ७६ ॥

—त्रिशलाका० पर्व० १०।स० १

(ग) मीरीयीवि देवलोगाओ चविऊण कोल्लागसन्निवेशे कोसिओ णाम बम्भणत्तणेणसमुप्पण्णे । तत्थय-असीति पुव्वलक्खे आउयमणुवालिऊण, अन्तेय परिव्वायगतणेणं विहरिऊण, कालं च काऊण मओ ।

—चउप्पन्न० पृ० ६७

भगवान महावीर का जीव ब्रह्म देवलोक से चवन करके कोल्लाकसन्निवेश में कौशिक ब्राह्मण रूप में उत्पन्न हुआ तथा उसकी आयुष् अस्सी लाख पूर्व की थी ।

*२ जटिल ब्राह्मणभव में—(दिग्०)

(क) अथेह भारते पूर्यां साकेतायां द्विजोवसेत् । कपिलाख्यः प्रिया तस्य कालीनाम्ना बभूव हि ॥ १०७ ॥ तयोः स निर्जरः स्वर्गादित्यांभूज्जटिलाभिधः । सुतो दुर्मतसंलीनो वेदस्मृत्यादिशास्त्रवित् ॥ १०८ ॥ पूर्वसंस्कारयोगेन परिव्राजक एव सः । भूत्वा मूढजनैर्वन्द्यः स्वकुमार्गं प्रकाशयन् ॥ १०९ ॥

वीरच० अधि २

इस भारतवर्ष में साकेतापुरी के भीतर कपिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था । उसकी काली नाम की स्त्री थी । उन दोनों के वह देव स्वर्ग से चयकर जटिल नाम का पुत्र हुआ । वह कुमत् में संलीन रहता था और वेद, स्मृति आदि शास्त्रों का विद्वान् था । पूर्व संस्कार के योग से वह पुनः परिव्राजक होकर कुमार्ग का प्रकाशन करता हुआ मूढजनों से वंदनीय हुआ ।

(ख) तिविह-भुवण भवणंगे कथंते ।

कोसलपुरि कविलहो भूदेवहो परिणिवसंतहो चवल - सहावहो ।
जणसेण - कंता - अणुरत्तहो जण्णोइय - परिभूसिय - गत्तहो ।
तहो तणुसहु सत्थत्थ - वियक्खणु हुउ बहणु सन्वंग-सलक्खणु ।
जडिलु भण्ड जलणुव दिप्पंतउ मिच्छादिट्ठिहे सहुँ जंपंतउ ।

—वड्डमाणच० संधि २

तीन लोकों में एक अद्वितीय भवन के समान कोशला नाम की नगरी थी, जहाँ चपल स्वभावी कपिल भूदेव नामक ब्राह्मण निवास करता था। उसकी यज्ञादिक से परिभूषित गात्रवाली एवं अनुरागिणी यज्ञसेना नाम की कान्ता थी। उनके यहाँ शास्त्रों एवं उनके अर्थों में विलक्षण विद्वान् तथा सर्वांगीण शारीरिक लक्षणों से युक्त जटिल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ, जो अग्नि शिखा के समान दीप्त था। तथा जो मिथ्यादृष्टियों के साथ ही वातालाप करता था।

(ग) प्रच्युत्यागत्य साकेते कपिलब्राह्मणप्रभोः काल्याश्च तनयो जज्ञे जटिलो नाम वेदवित् ॥ ६८ ॥
परिव्राजकमार्गस्थस्तन्मार्गं संप्रकाशयन् । पूर्ववत्सुचिरं × × × ॥ ६९ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

ब्रह्मस्वर्ग से च्युत हुआ और अयोध्या नगरी में कपिल नामक ब्राह्मण की काली नाम की स्त्री से वेदों को जानने वाला जटिल नाम का पुत्र हुआ। परिव्राजक के मत में स्थित होकर उसने पहले की तरह चिरकाल तक उसीके मार्ग का उपदेश दिया।

०५ क चतुर्गति संसारभ्रमण

(क) × × × संसारो ॥

मलयटीका—‘संसार’ त्ति तिर्यग्गरनारकामरभवानुभूतिलक्षणे संसारे पर्यटित इति गाथार्थः ॥

—आव० निगा ४४० का अंश

(ख) सोऽन्ते त्रिदंडी भूत्वा च मृत्वा भ्रान्त्वा बहून् भवान् ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १/श्लो ७७/पूर्वार्ध

कोल्हाक सन्निवेश में कौशिक ब्राह्मण भव के पश्चात् भगवान् महावीर के जीव ने चतुर्गति रूप संसार का भ्रमण किया।

०६ ईशान स्वर्ग देव अथवा सौधर्म स्वर्ग देव भव में

(क) आवश्यक नियुक्ति में इस भवका वर्णन नहीं है। चतुर्गति रूप संसार का भ्रमण करते किस देव भवको प्राप्त किया—इसका उल्लेख नहीं है।

(ख) त्रिशलाका पुरुष चरित्र में भी इस भव का वर्णन नहीं है। चतुर्गतिरूप संसार का भ्रमण करते किस देवभव को प्राप्त किया—इसका उल्लेख नहीं है।

१ सौधर्म स्वर्ग का देव भव में—(श्वे)

(ग) कोसिओणाम बम्भणत्तणेण × × × मरिऊण अजहण्णुक्कोसट्टिइओ सोहम्मे कप्पे समुप्पण्णो ॥

—चउप्पन्न पृ० ६७

कोशिक परिव्राजक मरकर सौधर्म कल्प में अजघन्य-अनुत्कृष्ट स्थिति वाला देव हुआ।

२ सौधर्म स्वर्ग का देव भव में (दिग्०)

(क) पूर्ववत्सुचिरं लोके मृत्वा स्वस्यायुषः क्षये । तत्कष्टादमरो जज्ञे कल्पे सौधर्मनामनि ॥ ११० ॥

द्विसागरोपमायुष्कः स्वल्पार्धिसुखसंयुतः । अहो न निःफलं जातु कुधियां कुतपो भुवि ॥ १११ ॥

—वीरवर्ध०—अधि २

(ख) परिव्राजकमार्गस्थस्तन्मार्गं संप्रकाशयन् । पूर्ववत्सुचिरं मृत्वा सौधर्मेऽभूत्सुरः पुनः ॥ ६६ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(ग) भयव-दिवख गेहेविणु कालेँ परिपालेविणु मुउ असरालेँ ।

घत्ता—हुउ सुरु सोहम्मइँ मणिमय-हम्मइँ वे-सायर-जीविय-घरु ।

अमियज्जुइँ समण्णिउ सुर-यण-मण्णिउ सुन्दरु उण्णय-कुन्धरु ॥

—वड्ढमाणच० संधि २

अन्त समय में जटिल ने भगवती दीक्षा ग्रहण कर उसका पालन कर कष्ट पूर्वक मरा।

पूर्वभव के समान इसभव में भी वह चिरकाल तक अपने मत का प्रचार करता और उसे पालन करता हुआ आयु के क्षय हो जाने पर मरकर उस अज्ञान तप के कष्ट-सहन के प्रभाव से पुनः सौधर्म नामक कल्प में देव उत्पन्न हुआ। वहाँ वह दो सागरोपम की आयुका धारक और अल्प ऋद्धि से संयुक्त हुआ। अही। कुबुद्धियों का कुत्प भी संसार में कभी निष्फल नहीं होता।

०७ पुष्यमित्रपरिव्राजक अथवा पुष्यमित्र ब्राह्मण भव में

(क) मलय टीका—संसारे क्रियन्तभषि कालमटित्वा स्थूणायां नगर्यां जात इति, अमुमेवार्थं 'थूणारे

थ्यादिना प्रतिपादयति—

थूणाईँ पूसमित्तो आउं बावत्तरिं च सोहम्मे ।

मलय टीका—स्थूणायां नगर्यां पुष्पमित्रो नाम ब्राह्मणः सऽजातः 'आड'बावत्तरि च सोहम्मे' त्ति तस्यायुष्कं द्विसप्रतिपूर्वशतसहस्राण्यासीत्—परिवाजकदर्शने च प्रत्रज्यां गृहीत्वा तांपालयित्वा कियन्तमपि कालं स्थित्वा + + + ।

--आव० निगा ४४१

(ख) सोऽन्ते त्रिदंडी भूत्वा च मृत्वा, भ्रान्त्वा बहून् भवान् ।

स्थाणूख्ये सन्निवेशोऽभूत् पुष्पमित्राभिधोद्विजः ॥ ७७ ॥

भूत्वा त्रिदण्डिकः पूर्वलक्षद्वयासप्ततिप्रमम् । अतीत्यायुः स सौधर्मे सुरोऽभून्मध्यमस्थितिः ॥७८॥

—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग १

भगवान् महाबोर का जीव कौशिक ब्राह्मण का भवायुक्षय करके, संसार पर्यटन कर स्थूणा नगरी में पुष्पमित्र नामक ब्राह्मण रूप में उत्पन्न हुआ । परिव्राजक दीक्षा ग्रहण की । सर्वायु बावत्तर लाख पूर्व का भोग किया ।

(ग) अथैवात्र पुरे रम्ये स्थूणागारसमाह्वये । भारद्वाजद्विजोऽभ्यासीत्पुष्पदन्ता च वल्लभा ॥ ११२ ॥

तयोः स कल्पतश्च्युत्वा पुष्पमित्राह्वयोऽभवत् । तनूजो दुर्मतोत्पन्नकुशास्त्राभ्यासतत्परः ॥ ११३ ॥

पुनर्मिथ्याघपाकेन मिथ्यामतविमोहितः । स्वीकृत्य प्राक्तनं वेषं प्रकृत्यादिप्ररूपितान् ॥११४ ॥

—वीरच० अधि २

(घ) सूणागार गामि मण-मोहणि कुसुमिय—फलिय विविह-वण-सोहणे ।

आसि विष्णु पुहुविण विकखायउ णिय - कुल - भूसणु भारहायउ ॥

पुष्फमित्त तहो कंत मणोहर कंचण-कलस-सरिच्छ-पओहर ॥

विमलोहय पक्खहिँ पविराइय हंसिणीव हरिसेणप्पाइय ।

आवेप्पिणु तियसावासहो सुरु ताहँ पुत्तु जायउ भा-भासुरु ।

पूसमित्तुणामे मण-मोहणु मा णिणि-यण-मण वित्ति-णिरोहणु ।

परिवायमहँ निलउ पावेप्पिणु सग्ग-सुक्खु णिय-मणि भावेप्पिणु ।

वालुविद्विखउ बालायरणे गमइ कालु भव-भय-दुह यरणे ।

तउ चिरु कालु करेइ मरेविणु पंचवीस तच्चइँ भावेविणु ॥

—वड्ढमाणच० संधि २

(च) द्विसमुद्रोपमं कालं तत्र भुक्त्वोचितं सुखम् । प्रान्ते ततः समागत्य भरतेऽस्मिन्पुरोत्तमे ॥७०॥

स्थूणागाराभिधानेऽभूद्भारद्वाजद्विजस्य सः । तनूजः पुष्पदत्ताया पुष्यमित्राह्वयः पुनः ॥७१॥

स्वीकृत्य प्राक्तनं वेषं प्रकृत्यादिप्ररूपितम् । पंचविंशतिदुस्तत्त्वं मूढानां मतिमानयत् ॥ ७२ ॥

उत्तपु० पर्व ७४

दो सागर तक सौधर्म स्वर्ग के सुख भोगकर आयु के अंत में वह वहाँ से च्युत हुआ और इसी भरतक्षेत्र के स्थूणागार नामक श्रेष्ठ नगर में भारद्वाज नामक ब्राह्मण की पुष्पदत्ता स्त्री से पुष्यमित्र नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ।

उसने वही पहला परिव्राजक का वेष धारण कर प्रकृति आदि के द्वारा निरूपित पचीस मिथ्या तत्त्व मूलं मनुष्यों की बुद्धि में प्राप्त कराये अर्थात् मूलं मनुष्यों को पचीस तत्त्वों का उपदेश दिया ।

७ क संसार भ्रमण

× × × परिव्राजकदर्शने च प्रव्रज्यां गृहीत्वा तां पालयित्वा कियन्तमपि कालं स्थित्वा × × × ।

—आव० निगा ४४१।मलयटीका

परिव्राजक भवमें प्रव्रज्या ग्रहणकर—पालन कर संसार में कितनेककाल भ्रमण किया था—

७८ सौधर्म कल्प देव अथवा ईशान कल्पदेव भव में

क) × × ×

च सोहस्मे ।

मलयटीका— × × × पुष्पमित्रो × × × कियन्तमपि कालं स्थित्वा सौधर्मं कल्पेऽजघन्योत्कृष्ट-स्थितिः समुत्पन्न इति ।

— आव० निगा ४४१ का अंश

भगवान् महावीर का जीव पुष्पमित्र ब्राह्मणभव की आयु क्षय करके सौधर्म कल्पदेव लोक में मध्यम स्थिति के आयुष्क देव रूप में समुत्पन्न हुआ ।

(ख) भूत्वा त्रिदण्डिकः पूर्वलक्षद्वासप्रतिप्रमम् । अतीत्यायुः स सौधर्मं सुरोऽभून्मध्यमस्थितिः ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १ । श्लो० ७८ ।

(ग) पठचविंशतिदुस्तत्त्वान् दुर्धियामभिमानयन् । बद्ध्वा मंदकषायेण देवायुः सोऽभवद् व्यसुः ॥११५॥

तेन सौधर्मकल्पेऽभूदेकसागरजीवितः । स देवः स्वतपोयोग्यसुखलक्ष्म्यादिमंडितः ॥११६॥

—वीरच० अधि २

(घ) निष्कषायतया बद्ध्वा देवायुरभवत्सुरः । सौधर्मकल्पे तत्सौख्यमेकवाधुर्पमायुषा ॥ ७३ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

पुष्पमित्र प्रकृति आदि पूर्व प्ररूपित पचीस कुतत्त्वों को कुबुद्धिजनों के लिए स्वीकार करता हुआ मन्द कषाय के योग से देवायु को बाँध कर मरा और सौधर्म कल्प में एक सागरोपम की आयु का धारक एवं अपने तप के योग्य सुख और लक्ष्मी आदि से मंडित देव उत्पन्न हुआ ।

(च) तउचिरु कालु करेइ मरेविणु पंचवीस तच्चइ भावेविणु ।

सुरु ईसाणे-सग्गि संजायउ कुसुम-माल—समलंक्रिय—कायउ ।

वे—सायर-संखाउसु सुहयणु, अच्छर-यण-कय—णट्ट—णिहिय—मणु ।

—वड्ढमाणच० संधि २

पुष्पमित्र चिर काल तक तप करता रहा। फिर मर कर २५ तत्त्वों की भावना भाकर ईशान स्वर्ग में पुष्पमाला से अलंकृत देहधारी देव हुआ। वहाँ उसकी आयु दो सागर प्रमाण थी। वहाँ वह अक्षराओं द्वारा रचाये गये सुहावने नृत्यों में मन लगाने लगा।

०८ क संसार भ्रमण

छस्सुवि पारिव्वज्जं भमिओ तत्तो अ संसारे ।

—आव० निगा ४४३ उत्तरार्ध

मलयटीका—एवं षट्स्वपि वारासु परिव्राजकत्वमधिकृत्य दिवमवाप्तवान् 'भमिओ तत्तो य संसारे'

× × × ।

छओं परिव्राजक भवों के बाद देवलोक में उत्पन्न होकर भगवान महावीर के जीव ने संसार भ्रमण किया था। इस गाथा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुष्पमित्र ब्राह्मण के भव के बाद सौधर्म देवलोक से च्यवन करके भगवान के जीव ने 'संसार-भ्रमण' किया।

०९ अग्निद्योत परिव्राजक अथवा अग्निसह (अग्निशिख) ब्राह्मण भव में

(क) चेइअ अग्गिज्जोओ चोवट्ठी चेव ईसाणे ॥

—आव० निगा ४४१ उत्तरार्ध

मलयटीका—'चेइअ अग्गिज्जोतो चोवट्ठीसाणकप्पंमि' (चेव ईसाणै) त्ति सौधर्माच्च्युतः चैत्यसन्निवेशे अग्निद्योतो ब्राह्मणः सञ्जातः । तत्र चतुःषष्टिपूर्वशतसहस्राण्यायुष्कमासीत् । परिव्राट् सञ्जातो ।

(ख) च्युत्वा चैर्ये सन्निवेशेऽग्न्युद्योतः स द्विजोऽभवत् । पूर्वलक्षचतुः षट्यायुष्कः प्राग्वस्त्रिदण्ड्यभूत् ॥७६॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

(ग) तओ य चइऊण चेइए सण्णिवेसे अग्गिज्जोओ णाम बंभणो समुप्पणो । तत्थ य चउसट्ठि पुव्वलक्खे आउयमणुवालिऊण अन्ते परिव्वायओ होऊण मओ ।

—चउप्पन्न० पृ० ६७

भगवान महावीर का जीव सौधर्म देवलोक से चक्क के चैत्य सन्निवेश में अग्निद्योत ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ चौसठ लाख पूर्व की आयु थी।

(घ) अथेह भारते क्षेत्रे श्वेतिकाख्ये पुरे शुभे ब्राह्मणोऽस्यग्निभूताख्यो ब्राह्मणी (तस्य) गौतमी ॥ ११७ ॥

स्वर्गाच्च्युत्वा तयोरासीत्सोऽमरः कर्मपाकतः । पुत्रोऽग्निमहनामा निजैकान्तमतशास्त्रवित् ॥११८॥

पुनः प्राक्कर्मणा भूत्वा परिव्राजकदीक्षितः । कालं स पूर्ववन्नीत्वा स्वायुषोऽन्ते मृतिं व्यगात् ॥११९॥

—वीरच० अधि २

इसी भरत क्षेत्र में इवेतिका नाम के उत्तम नगर में अग्निभूति नाम का ब्राह्मण रहता था। उसकी ब्राह्मणी का नाम गौतमी था। स्वर्ग से चयकर वह देव उन दोनों के अग्निसह नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह पूर्वकृत मिथ्यात्व कर्म के उदय से अपने ही पूर्व प्रचारित एकांत मत के शास्त्रों का ज्ञाता हुआ और पुनः पुरातन कर्म से परिव्राजक दीक्षा से दीक्षित होकर और पूर्व के समान काल व्यतीत कर आयु समाप्त किया।

(ष) भुक्त्वा ततः समागत्य भरते सूतिकाह्वये। पुरेऽग्निभूतेगौतम्यामभूदग्निसहः सुतः ॥ ७४ ॥
परिव्राजकदीक्षाया नीत्वा कालं स पूर्ववत् × × ×।

—उत्तपु० पर्व ७४

(छ) घत्ता—कण - निवडिय - खयरिहे सोइय गयरिहे अग्निभूइ दिउहुन्तउ ।
गोत्तम - पिय - जुत्तउ पत्त - पहुत्तउ छक्कम्मइ माणंतउ ॥ ३४ ॥
एयहँ दोहिमि सुहु भुंजंतहँ सज्जणाइँ विणएँ रंजतहँ ।
आउक्खइँ सुर-वासु मुएप्पिणु सुर-सुन्दरिहिँ समाणु रमेप्पिणु ।
पूसमित्तु - चरु भयउ धणंधउ गिय-गुण-जियराणंदिय बंधउ ।
भणिउ अगिसिहु सोसइँ - जणणेँ दुउज्जण - भणिय - वयण - परिहणणेँ ।
पुणु परिवायय - तउ विरएविणु चिरु - कालेँ पंचत्तु लहेविणु ।

—वड्डमाणच० संधि २

वह (मरीचि का जीव) ईशान देव स्वर्ग से कण के समान पतित हुआ। इवेता नामकी नगरी में अग्निभूति नाम का द्विज रहता था, जो अपनी गौतमी नाम की प्रिया से युक्त षट्कर्मों को मानता हुआ प्रभुता को प्राप्त था।

(जब) ये दोनों (अग्निभूति और गौतमी) सुख - भोग कर रहे थे तथा अपने विनय गुण से सज्जनों का मनोरंजन कर रहे थे तभी उन के यहाँ आयु के क्षय होने पर स्वर्गावास छोड़ कर सुर-सुन्दरियों के साथ रमण करने वाला वह (पुष्यमित्र का जीव) ईशान देव स्वर्ग से चयकर अपने गुण समूह द्वारा बन्धुगणों को आनन्दित करने वाले पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ। अपने पिता (अग्निभूति) के द्वारा वह 'अग्निशिख' इस नाम से पुकारा जाता था। 'अग्निशिख' दुर्जनों को कहे गये वचनों का खण्डन करने वाला था। पुनः वह विरकाल तक परिव्राजक तप कर पंचत्व को प्राप्त हुआ।

•१० ईशान कल्प देव—या सानत्कुमार देव भव में—

(क) × × ×

चेव ईसाणे ॥

—आव० निगा ४४१ का शेषांश

मलय टीका—× × × अग्निद्योतो ब्राह्मणः सज्जातः, तत्र चतुःषष्टिपूर्वशतसहस्राण्यायुष्कमासीत्,
परिव्राट् संजातो, मृत्वा चेशाने देवोऽजघन्योत्कृष्टस्थितिः संवृत इति गाथार्थः।

(ख) मृत्वैशाने मध्यमायुः सोऽभूहेव स्ततश्च्युतः ॥ ८० ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

+++ अग्निञ्जोओ णाम बंभणो +++ । मरिऊण य ईसाणे कपेऽजहणमुक्कोसट्टिई देवो समुप्पणो ।

—चउप्पन्न० पृ० ६७

भगवान महावीर का जीव अग्निद्योत ब्राह्मण के भव में परिव्राजक दीक्षा ग्रहण करके तथा सर्वायु चौसठ लाख पूर्व का जीकर आयुक्षेप में मर कर ईशान देवलोक में अजघन्य—अनुत्कृष्ट आयु वाले देव रूप में उत्पन्न हुआ ।

(ग) पुनः प्राक्कर्मणा भूत्वा परिव्राजकदीक्षितः । कालं स पूर्ववन्नीत्वा स्वायुषोऽस्ते मृतिं व्यगात् ॥११६॥

तदज्ञानतपक्लेशाद् बभूवासौ सुरौ दिवि । सनत्कुमारसंज्ञे सप्ताब्ध्यायुष्कः सुखान्वितः ॥ १२० ॥

—वीरवर्धमान० अधि २

(घ) चिरु काले पंचत्तु लहेविणु । सणकुमार - सगं जायउसुरु ।

विष्फुरंत - भूसण - भा - भासुरु । सत्त - जलहिं पमियाउ महामइ ।

गयणंगणे मग - महिय - सुरय गइ ।

—वड्ढमाणच० संधि २

(च) परिव्राजकदीक्षायां नीत्वा कालं सपूर्ववत् । सनत्कुमारकल्पेऽल्पं देवभूर्यं प्रपन्नवान् ॥ ७५ ॥

सप्ताब्ध्युपमितायुष्को भुक्त्वा तत्रामरं सुखम् ॥

—उत्तपु० ७४

वहाँ भी परिव्राजक की दीक्षा लेकर पहले के समान ही अपनी आयु बितायी और आयु के अंत में मरकर देव पद को प्राप्त हुआ ।

•१० क संसार भ्रमण

ईशान देवलोक के बाद भगवान महावीर के जीव ने संसार-भ्रमण किया था ।

—(आव० निगा० ४४३ उत्तरार्ध)

•११ अग्निभूति पारिव्राजक या अग्निमित्र ब्राह्मण

(क) मंदिरे अग्निभूई छप्पन्नाउ' सणकुमारम्मि ।

—आव० निगा ४४२ पूर्वार्ध

मलयटीका—गमनिका—ईशानाच्च्युतो 'मंदिर' इति मंदिरसन्निवेशे अग्निभूतिनामा ब्राह्मणो बभूव, तत्र षट्पञ्चाशत् पूर्वशतसहस्राणि जीवितमासीत् परिव्राजकश्च बभूव ।

मृत्यैशाने मध्यमायुः सोऽभूह्वस्ततश्च्युतः । मन्दिरे सन्निवेशेऽभूद्ग्नभूतिरिति द्विजः ॥ ८० ॥

षट्पंचाशत्पूर्वलक्षायुष्कः सोऽपि त्रिदंड्यभूत् ॥ × × ×

— त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

कथो य चङ्गण मन्दिरे नगरे अग्निभूर्ईणाम वंभणो संवुत्तो । तस्थ य छपंचासे पुव्वलक्खे
आउयमणुपालिऊण अंते परिवायगतणेणं ।

—चउपपन्न० पृ० ६७

भगवान् महावीर के जीव ने ईशान देवलोक से चक्कर मंदिर सन्निवेश में अग्निभूति नामक ब्राह्मण के रूप में
किया । परिव्राजक दीक्षा ली तथा छप्पन्न लाख पूर्व की आयु का भोग किया ।

अथास्मिन् भारते रस्ये मन्दिराख्येपुरे वरे । विप्रो गौतमनामास्य कौशिकीं ब्राह्मणी प्रिया ॥ १२१ ॥
तयोर्देवो दिवश्च्युत्वा सोऽग्निमित्राभिधोऽजनिः । तनुद्भवो महामिध्यादृष्टिर्दुःश्रुतिपारगः ॥ १२२ ॥

—वीरच० अधि० २

आयुषोऽन्ते ततश्च्युत्वा विषयेऽस्मिन् पुरेऽभवत् ॥ ७६ ॥

मन्दिराख्येऽग्निमित्राख्यो गौतमस्य तनुद्भवः ।

कौशिक्यां दुःश्रुतेः पारं गत्वागत्य पुरातनीम् ॥ ७७ ॥

—उत्तापु० पर्व ७४

इह णिवसइ सुन्दरु मंदिरपुरु कामिणि - यण - पय - सद्दिय - णेउरु ।

मंदरग - धय - पंति - पिहिय - रवि तहिं बलि - विहिणा संपीणिय ह्वि ।

गोत्तमु णामे दियवरु हुवउ परियाणिय - णिय - समय - सरुवउ ।

तहो कोसिय कामिणि - जण - मोहण तणु लायण - वण - संखोइण ॥

वत्ता—एयहँ सुउ हूवउ णं रइ - दूवउ दियवर - सत्थ - रसिल्लउ ।

जणणे सो भासिउ जणह पयासिउ अग्गिमित्तु - तेइल्लउ ॥ ३५ ॥

गिह - वासणि - रह - भाउ णिवारिवि णारायण - सासण - मए - धारेवि ।

मणु पसरंतु जिणेवि तउ लेविणु चूलासहिउ तिदंहु धारेविणु ।

परिवायय - रुवेण भमेविणु भूरिकाल मिच्छत्ति रमेविणु ॥

—वड्डमाणच० संधि २ । कड १६

इस संसार में मन्दिरपुर नाम का एक सुन्दर नगर है । जहाँ कामिनीजनों के पैरों के नूपुर शब्दायमान
हैं, जहाँ मन्दिर के अग्रभाग में लगी हुई ध्वज-पंक्तियाँ रवि को ढंक देती थी । वहाँ बलि-विधान से होम किया
था । वहाँ गौतम नामक एक द्विज श्रेष्ठ हुआ—जो अपने मत के स्वरूप का जानकार था । शरीर के लावण्य
द्वारा से जगत् को मोह लेने वाली उसकी कौशिकी नाम की कामिनी थी ।

उन दोनों के वहाँ वह (सनत्कुमार देव चयकर) अग्निमित्र नाम के पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ । वह ऐसी प्रतीत होता था मानो रति का दूत ही हो । वह द्विज श्रेष्ठ शास्त्रों का रसिक था । उसके पिता (गौतम) ने उसका कहा कि—हे अग्निमित्र, लोक में अपना तेज प्रकाशित करो ।

वह अग्निमित्र घर में निवास करते हुए भी रति-भावना का निवारण कर नारायण-शासन के मत को धारण कर मन (की वृत्तियों) के प्रसार को जीत कर, तप ग्रहण कर, चूला (शिखा-जटा) सहित त्रिदंड (त्रिशूल) धारण कर, परित्राजक रूप में भ्रमण कर दीर्घकाल तक मिथ्यात्व में रमा ।

११ क संसारभ्रमण

ईशान देवलोक के बाद भगवान महावीर के जीव ने संसार-भ्रमण किया था ।

—(देखो० भाव० निगा० ४४३ उत्तरार्ध)

१२ सनत्कुमार देव—या माहेद्रकल्प देव भव में

(क) + + + अग्निभूर्हे + + + सणकुमारमि ।

—भाव० निगा ४४२ पूर्वार्ध

मलयटीका — × × × मृत्वा 'सणकुमारमि'त्ति सनत्कुमारे कल्पे विमध्यस्थितिर्देवः समुत्पन्न इति ।

(ख) षट्पंचाशत्पूर्वलक्षायुष्कः सोऽपि त्रिदंड्यभूत् । मृत्वा सनत्कुमारे च मध्यमायुः सुरोऽभवत् ॥ ८१ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग

(ग) अग्निभूर्हे गाम बंभणो × × × मरिऊण सणकुमारे मज्झिमठिईओ देवो समुत्पण्णो ।

—चउत्पन० पृ०

भगवान महावीर के जीव ने अग्निभूति ब्राह्मण का भव क्षय करके सनत्कुमार देवलोक में विमध्य स्थिति के रूप में समुत्पन्न हुआ ।

(घ) पुनः पूर्वभवाभ्यासान्तीत्वा दीक्षां पुरातनीम् । विधाय वपुष क्लेशं मृतः स स्वायुषःक्षये ॥ १२३ ॥
तेनाज्ञतपसा जज्ञे कल्पे माहेन्द्रसंज्ञके । गीर्वाणः स्वतपोजातायुः श्रीदेव्यादिमण्डितः ॥ १२४ ॥

—वीरच० अधि २

(च) परिव्रायय-रूवेण भमेविणु भूरिकाल मिच्छत्ति रमेविणु ।

मरि माहिंद-सग्गि संजायउ सत्त-जलहि-सभाउ सुछायउ

तहि णिरु सुहुं देवीहिं रमेविणु चविउ सुवुण्णक्खउ पावेविणु ।

—वड्ढमाणच० संधि २ । कड १६

(छ) दीक्षां माहेन्द्रमभ्येत्य ततश्च्युत्वा पुरातने ।

—उत्तपु० पर्व ७४/श्लो ७८/पूर्वार्ध

अग्निमित्र पुनः पूर्वभव के अभ्यास से पूर्व भववाली परिव्राजक दीक्षा को लेकर और शारीरिक क्लेशों को दूर अपनी आयु के क्षय होने पर मरा और उस अज्ञान तप से माहेन्द्र नाम के स्वर्ग में अपने तपानुसार आयु, और देवी आदि से मंडित देव उत्पन्न हुआ ।

क संसार भ्रमण

ईशान देवलोक के बाद भगवान महावीर के जीव ने संसार-भ्रमण किया था ।

[देखो० आव० निगा ४४३ । उत्तरार्ध]

भारद्वाज परिव्राजक भव में

सेअवि भारद्वाओ चोआलीसं च माहिन्दे ।

—आव० निगा ४४२ उत्तरार्ध

मलयटीका—××× सनत्कुमाराच्छ्युतः श्वेताम्ब्यां नगर्यां भारद्वाजो नाम ब्राह्मण उत्पन्न इति । तत्र च चतुश्चत्वारिंशत्पूर्वशतसहस्राणि जीवितमासीत्, परिव्राजकश्चाभवत् ××× ।

च्युत्वा च श्वेतवीपुर्यां भारद्वाजोऽभवद्द्विजः । चतुश्चत्वारिंशत्पूर्वलक्षायुः स त्रिदंड्यभूत् ॥ ८२ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

पुणो सर्णकुमाराओ चविऊण सेयवियाए नयरीए भारद्वाओ णाम बम्भणो समुपपण्णो ।

तत्थ य चोयालीसं पुव्वलक्खे आउयमणुवालिऊण अंते य परिवायगतणमणुवालिऊण पंचत्तमुवगओ ।

—चउपपन० पृ० ६७

भगवान महावीर का जीव सनत्कुमार देवलोक से चक्कर श्वेताम्ब्या नगरी में भारद्वाज नामक ब्राह्मण के रूप में लिया । परिव्राजक दीक्षा ग्रहण की और चौवालिष लाख पूर्व की आयु पूर्ण करके माहेन्द्र देवलोक में आया ।

अथेह प्राक्तने रम्ये पुरे मन्दिरनामके । सालंकायनविप्रोऽस्ति मन्दिरा तस्य बल्लभा ॥ १२५ ॥

तयोर्द्विजचरो देवश्च्युत्वा माहेन्द्रत स तुक् । भारद्वाजाह्वयो जातः कुशास्त्राभ्यासतत्परः ॥ १२६ ॥

—वीरच० अधि २

सरियवंतपुरे पर-मण-हारणु कुसुमपत्त-कुस-पत्ती-धारणु ।

निय-मणि निज्झाइय णारायणु । आसि विपचरु सालंकायणु ।

मंदिर-णाम पियाहुय एयहो । गुण-मंदिरु मुणियायमभेयहो ।

एयहं सगहो एवि तणुरुह संभूवउ मुह-जिय-अंभोरुहु ।

जणणं भासिउ भारद्वायउ सुरसरि जल-पक्खालिय-कायउ

घत्ता—पुणरवि विक्खायउ हुउ परिवायउ ××× ।

—बड्ढमाणच० संधि २।कड १६

(छ) दीक्षां माहेन्द्रमभ्येत्य ततश्च युत्वा पुरातने । मन्दिराख्यपुरे शालङ्कायनस्य सुतोऽभवत् ॥
मन्दिरायां जगत्ख्यातो भारद्वाजसमाह्वयः । त्रिदंडमंडितां दीक्षाभक्षूणां च समाचरन् ॥ ७६ ॥
—उत्तपु० सर्ग ७४

माहेन्द्र स्वर्ग से व्युत् होकर उसी मंदिर नामक नगर में शालङ्कायनब्राह्मणी की मन्दिरा नाम की स्त्री भारद्वाज नाम का जगत्प्रसिद्ध पुत्र हुआ और वहाँ उसने त्रिदण्ड से सुशोभित अखंड दीक्षा का आचरण किया ।

१३ क संसार भ्रमण

× × × परिव्राजकश्चाभवत् × × × ।

—आव० निगा ४४२ । मलय टीका

भारद्वाज ब्राह्मण के बाद भगवान् महावीर के जीव ने संसार भ्रमण किया ।

.१४ माहेन्द्र कल्प देव भव में

(क) × × × भारद्वाओ × × ×

च माहिन्द्रे ॥

—आव० निगा ४४२ उत्तरार्ध ।

मलयटीका—× × × भारद्वाजो × × × मृत्वा च माहेन्द्रे कल्पेऽजघनयोत्कृष्टस्थितिर्देवो बभूवेति
गाथार्थः ।

(ख) चतुश्चत्वारिंशत्पूर्वलक्षायुः सत्रिदंड्यभूत् ॥ ८२ ॥ मृत्वा माहेन्द्रकल्पेऽभूत् स सुरो मध्यमस्थितिः
—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १ ।

(ग) भारद्वाओ + + + मरिऊण माहिन्दे कल्पे मज्जिमट्टिईओ देवो समुत्पण्णो ।

चउत्पन्न० पृ० ६७

भगवान् महावीर का जीव भारद्वाज भव की आयु पूर्ण करके माहेन्द्र देवलोक में मध्यस्थिति वाले देव के रूप में उत्पन्न हुआ ।

(घ) तत्कुञ्जानजसंवेगाद्दीक्षां त्रिदंडपण्डिताम् । गृहीत्वा तपसा बद्ध्वा देवायुः स मूर्तिययौ ॥ १२७ ॥
तत्फलेन बभूवासौ दिवि माहेन्द्रनामनि । धृत्वा सप्ताब्धिमानायुः स्वतपोऽर्जितशर्मभाक् ॥ १२८ ॥
—वीरच० अधि २

(च) त्रिदंडमंडितां दीक्षाभक्षूणां च समाचरन् ॥ ७६ ॥ सप्ताब्ध्युपमितायुः सन् कल्पे माहेन्द्रनामनि ।
—उत्तपु० पर्व ७४

(छ) घत्ता—पुणरवि विक्खायउ हुउ परिवायउ चिरु तउ करेवि मरेविणु ।

माहिंदि मणोहरि मणिमय - सुरहरे हुवउ अमरु जाए विणु ॥

—वड्ढमाणच० संधि-२ कड १६

भारद्वाज सदा कुशास्त्र के अभ्यास में तत्पर रहता था । पुनः उस कुज्ञान से उत्पन्न संवेग से उसने तीन वडों से मडित त्रिदंडी दीक्षा ग्रहण कर और तप से देवायु को बाँधकर मरा और उसके फल से माहेन्द्र नामक के स्वर्ग में सात सागरोपम आयुका धारक और अपने तप से उपाजित पुण्य के अनुसार सुख को भोगने वाला देव रूप में उत्पन्न हुआ ।

.१४क-संसार भ्रमण (श्वे०)

(क) संसरिय थावरो + + +

—आव० निगा० ४४३ का अंश

मलयटीका—भारद्वाजो + + + मृत्वा च माहेन्द्रे कल्पेऽजघन्योत्कृष्टस्थितिर्देव बभूवेति (निगा ४४२ माहेन्द्राच्च्युतः संसृत्य कियन्तमपि कालं संसारे + + ।

(ख) मृत्वा माहेन्द्रकल्पेऽभूत् स सुरो मध्यमस्थितिः ॥ च्युत्वा भ्रान्त्वा भवं राजगृहेऽभूत्थावरोद्विजः ॥८३॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(ग) तओ विचुओ पुणो संसारमाहिंडिऊण × × × ।

—चउपन्न० पृ० ६७

भगवान् महावीर का जीव माहेन्द्र देवलोक से चक्कर कियत्काल संसार-भ्रमण किया ।

.१४ क-त्रस-स्थावर योनि के असंख्यात भव (दिग्०)

(क) ततः प्रच्युत्य दुर्भागप्रकटीकृतजेनसः । महापापविपाकेन निन्ध्याः सर्वा अधोगतीः ॥ १२६ ॥

प्रविश्यासंख्यवर्षाणि चिरं भ्रान्त्वा सुखातिगः । दुःकमेशृंखलावद्धस्त्रस स्थावरयोनिषु ॥ १३० ॥

सर्वदुःखनिधानेषु नानादुःखातिपीडितः । वचोऽतिगं महादुःखं मिथ्यास्वफलतोऽन्वभूत् ॥ १३१ ॥

इति कुपथविपाकाच्छर्म विन्द्वाभमाप्य जलनिधिसमदुःखं चान्वभूत् सत्रिदंडी + + +

—वीरच० अधि २ श्लो १२६ से १३१, १३६ पूर्वार्ध

(ख) इह पलाव विरयंतु पदुक्कउ मरणावत्थहि पाणहि मुक्कउ ।

तत्थहो ओवरेवि पावासउ मिच्छत्ताणल-जाल हुवासउ ।

थावरजोणि-मज्जे णिवसेविणु सोचिरु भूरि-दुक्खु विसहेविणु ।

दुक्खेँ कहव तसत्तु लहेविणु विविह-जीव संघाउ वहेविणु ।

पावेप्पिणु मणु वत्तणु वल्लहु जूअसविला संजोएँ दुल्लहु ।

जीउ पयंड पुराइय-कम्मं किं किं णकरइ मुहुअगम्मं ।

—वड्ढमाणच० संधि २ । कड २२

(ग) भूत्वा ततोऽवतीर्यात्र दुर्भागप्रकटीकृतेः ॥ ८० ॥ फलेनाधोगतीः सर्वाः प्रविश्य गुस्तुःखभाक् ॥

त्रसस्थावरवर्गेषु संख्यातीतसमाश्चरम् ॥ ८१ ॥ परिभ्रम्य परिश्रान्तस्तदन्ते मगधाह्वये ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

माहेन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर कुमार्ग के प्रकट करने के फलस्वरूप समस्त अवोगतियों में जन्म लेकर उसने भारी दुःख भोगे । इस प्रकार त्रस-स्थावर योनियों में असंख्यात वर्ष तक परिभ्रमण करता हुआ बहुतही श्रान्त हो गया । खेद-विघ्न हो गया ।

१५ स्थावर परिव्राजक भव में

(क) संसरिय थावरो रायगिहे चउतीस बंभलोगम्मि ।

—आव० निगा ४४३ पूर्वार्ध

मलयटीका—गमनिका—माहेन्द्राच्च्युतः संसृत्य कियन्तमपि कालं संसारे स्थावरो नाम ब्राह्मणो राजगृहे समुत्पन्न इति, तत्र च चतुस्त्रिंशत्पूर्वशतसहस्राण्यायुष्कं, परिव्राजक आसीत्, मृत्वा ब्रह्मलोकेऽजघनयोःकृष्टस्थितिर्देवः सञ्जातः + + +।

(ख) मृत्वा माहेन्द्रकल्पेऽभूत् स सुरो मध्यमस्थितिः । च्युत्वा भ्रान्त्वा भवं राजगृहेऽभूत्स्थावरो द्विजः ॥८३॥

चतुस्त्रिंशत्पूर्वलक्षायुष्कः सोऽपित्रिदंड्यभूत् + + +

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(ग) तओ विचुओ पुणो संसारमाहिंडिऊण रायगिहे णगरे थावरो नाम बंभणो समुप्पणो ।

तस्थ य चोत्तोसं पुण्वलक्खे आउयमणुवाल्लिऊण पज्जन्ते परिव्वायगतणेण मरिऊण बंभलोए ।

मज्झिमवड्ढिओ देवो समुप्पणो

चउत्पन्न० पृ० ६७

भगवान महावीर के जीव ने माहेन्द्र देवलोक से च्युत होकर—कुछ काल संसार में भ्रमण करके—राजगृह नगरी में स्थावर नाम ब्राह्मण के रूप में जन्म लिया तथा परिव्राजक दीक्षा स्वीकार की और चौतीसलाख पूर्व की आयु सम्पूर्ण करके ब्रह्मलोक में समुत्पन्न हुआ ।

(घ) अथेह मागवे देशे पुरे राजगृहाभिधे । ब्राह्मणः शाण्डिलिर्नाम्ना तस्य पाराशरी प्रिया ॥ २ ॥

भवभ्रमणतः श्रान्तः सोऽतिदुःखी ततस्तयोः । स्थावराख्यः सुतो जातो वेदवेदाङ्गपारगः ॥ ३ ॥

—वीरच० अधि ३

(च) परिभ्रम्य परिश्रान्तस्तदन्ते मागधाह्वये । देशे राजगृहे जातः सुतोऽस्मिन्वेदवेदिनः ॥ ८२ ॥

शाण्डिल्याख्यस्य मुख्यस्य पारशर्या स्वसंज्ञया । स्थावरो वेदवेदाङ्गपारगः पापभाजनम् ॥ ८३ ॥

मतिः श्रुतं तपः शान्तिः समाधिस्तत्त्ववोक्षणम् । सर्वं सम्यक्त्वशून्यस्य मरीचेरिव निष्फलम् ॥ ८४ ॥

परिव्राजकदीक्षायामासक्तिं पुनरादधत् ।

—उत्तपु० पर्व ७४

(छ) भरइखेत्ते खेयरहँ पियंकरे मगह-विसइ रायहरे सुहंकरे

हुवउ विप्प चरु संडिल्लायणु जण्ण विहाणाइय गुणभायणु

तहोसंजाय कंत पारासरि ण पच्चक्ख समागय सुरसरि

तहो संभूड पुत्तु पयणिय-दिहि थावरुणामें जुइ-णिज्जिय-सिहि ।

—वड्ढमाणच० संधि २ । कड २२

विद्याधरों के लिये प्रियंकर, भरतक्षेत्र स्थित मगधदेश के सुखकारी राजगृह नगर में शाण्डिल्यायन नाम का एक विप्र रहता था, जो यज्ञ-विधानादि गुणों का भाजन था । उसकी पारासरी नाम की कान्ता थी । वह ऐसी प्रतीत होती थी—मानो साक्षात् आयी हुई गगनदी ही हो । उन दोनों के धैर्य को प्रकट करने वाला, अपनी द्युति से शिखी को निर्जित करने वाला स्थावर नाम का (वह माहेन्द्रदेव) पुत्र उत्पन्न हुआ ।

१६ ब्रह्मलोक कल्प देव अथवा माहेन्द्र कल्प देव भव में

(क) + + + थावरो + + + बंभलोगम्मि ।

—आव० निगा० ४४३ पूर्वार्ध

(ख) मलयटीका—+ + + स्थावरो + + + मृत्वा ब्रह्मलोकेऽजघन्योत्कृष्टस्थितिर्देवः सञ्जातः ।

(ग) चतुस्त्रिंशत्पूर्वेलक्षायुष्कः सोऽपित्रिदंड्यभूत् । विपद्य च ब्रह्मलोके मध्यमायुः सूर्योऽभवत् ॥ ८४ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(घ) थावरो णाम बंभणो + + + मरिऊण बंभलोए मज्झिमडिईओ देवो समुप्पणो ।

—चउप्पन्न० पु० ६७

भगवान महावीर का जीव स्थावर ब्राह्मण भव की आयुष पूर्ण करके ब्रह्मदेवलोक में मध्यम स्थिति के देवरूप में समुत्पन्न हुआ ।

च) तत्रापि प्राक् स्वमिध्यात्वसंस्कारेण मुदाददे । परिव्राजकदीक्षां स कायक्लेशपरायणः ॥ ४ ॥

तेनाङ्गक्लेशपाकेन मृत्वासीदमरो दिवि । माहेन्द्रे सप्तवार्यायुः सोऽल्पश्रीसुखभोगभाक् ॥ ५ ॥

—वीरच० संधि ३

(छ) परिव्राजकदीक्षायामासक्तिं पुनरादधत् । सप्ताब्ध्युपमितायुष्को माहेन्द्रे समभून्मरुत् ॥ ८५ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

वहाँ पर भी अपने पूर्व मिध्यात्व के संस्कार से स्थावर ने सहर्ष परिव्राजक दीक्षा ग्रहण कर ली और काय-क्लेश में पारायण होकर नाना प्रकार के छोटे तप करने लगा । उस कायक्लेश के परिपाक से आयु के अन्त में मरकर वह माहेन्द्र स्वर्ग में सात सागरोपय आयु का धारक और अल्प लक्ष्मी के सुख का भोगने वाला देव हुआ ।

(ज) भयव-भण्डिउ रुडचिरु विरएविणु । बम्हलोइ सो पत्तु मरेविणु ।

दह-सायर-संखा-पमियाउसु अइ-मणहरु णं अहिणउ पाउसु ॥

सह-भव दिव्वाहरण पसाहिउ सुर-सीमंतिणि नियरा राहिउ ।

—वड्ढमाणच० संधि २ । कड २२

भागवत के कथनानुसार चिरकाल तप करके वह स्थावर पुनः मरा और ब्रह्मलोक - स्वर्ग को प्राप्त हुआ । वहाँ वह दस सागर प्रमाण आयु वाला तथा अभिनव-पावस के समान अत्यन्त मनोहर देव हुआ । जन्म के साथ में ही वहाँ होने वाले दिव्य आचरणों से प्रसाधित तथा सुर-सीमन्तनियों (देवांगनाओं) द्वारा आराधित हुआ ।

१६ क संसार भ्रमण

(क) छस्सुचि पारिवज्जं भमिओ तत्तो अ संसारे ॥

—आव० निगा० ४४३ उत्तरार्धे

मलयटीका—+ + + एवं षट्स्वपि वारासु परित्राजकत्वमधिकृत्य दिवमवाप्तवान्, 'भमिओ तत्तो य संसारे' ततः ब्रह्मलोकाच्च्युत्वा भ्रांतः संसारे प्रभूतं कालमिति गाथार्थः ।

(ख) ब्रह्मलोकार्परिच्युत्य स बभ्राम बहून् भवान् । भवो ह्यनन्ती भवति स्वकर्मपरिणामतः ॥ ८५ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(ग) तओ वि चविऊण चउगइसंसारकन्तारं परिभमिओ ।

—चउपन्न० पृ० ६८

भगवान् महावीर के जीव ने छः बार परित्राजक दीक्षा ग्रहण करके देवलोक प्राप्त किया तथा तत्पश्चात् ब्रह्मलोक से च्युत होकर प्रभूतकाल तक संसार भ्रमण किया ।

१७ विश्वभूति क्षत्रिय के भव में

(क) रायगिह विस्संनंदो विसाहभूर्हअ तस्स जुवराया । जुवरणो विस्सभूर्ह विसाहंनंदी अ इअरस्स ॥
रायगिह विस्सभूर्ह विसाहभूर्हसुअ खत्तिप कोडी । वाससहस्सं दिक्खा संभूअजइस्स पासम्मि ॥

—आव० निगा ४४४।४४५

मलयटीका—अक्षरार्थस्त्वभिधियते—राजगृहे नगरे विश्वनन्दिनाम राजा अभूत्, विशाखभूतिश्च तस्य युवराजः तस्य धारिणीदेव्या विश्वभूतिनाम पुत्र आसीत्, विशाखनन्दिश्चेतरस्य, राज्ञ इत्यर्थः, तत्रैतमधिकृतो मरोचिजीवः 'रायगिह विस्सभूर्ह' राजगृहे नगरे विश्वभूतिनाम विशाखभूतिमुतः क्षत्रियोऽभवत्, तत्र च वर्षकोटी आयुष्कमासीत्, तस्मिंश्च भवे वर्षसहस्रं दीक्षा—प्रव्रज्या कृता, सम्भूतयतेः पार्श्वे ॥ तत्रैव—

गुत्तासिओ महुराए सनिआणो मासिण भत्तेण । महसुक्के उववन्नो तओ चुओ पोअणपुरम्मि ॥

— आव० निगा० ४४६

मलयटीका—पारणकप्रविष्टो गोत्रासितो मथुरायां निदानं चकार मृत्वा च सनिदानोऽनालो-
चित्ताप्रतिक्रान्तः, अंते मासिकेन भक्तेन महाशुक्ले कल्पे उपपन्न उत्कृष्टस्थितिर्देव इति ।

भगवान महावीर का जीव ब्रह्मलोक से च्युत होकर संसार-भ्रमण करके राजगृही नगरी में विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति नाम का क्षत्रिय हुआ। उस भव में उनकी एक कोटि वर्ष की आयु थी। उसमें एक हजार वर्ष की भ्रमण पर्यायका पालन किया और यह प्रव्रज्यां उन्होंने सम्भूतयति के पास ग्रहण की थी। एकदा पारण हेतु मथुरा नगरी में 'गोत्रासित' में प्रविष्ट होकर निदान किया। तथा वहाँ से सनिदान—अनालोचित—अप्रतिक्रान्त मासक्षमण के अंत में मर कर महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न हुए।

कथानकादवसेयः, तच्चेदम्—

(ख) रायगिहे नगरे विस्सनंदी राया तस्स भाया विसाहभूति, सो य जुवराया, तस्स जुवण्णो धारिणीए देवीए विस्सभूत्ती नाम पुत्तो जातो रणोऽवि पुत्तो विसाहनंदिति।

तस्स विस्सभूत्तस्स वासकोडी आउं, तत्थ पुप्फकरंडकं नाम उज्जाणं, तत्थ सो विस्सभूत्ती अंतउर-वरगतो सच्छंदसुहं पवियरइ, ततो जा सा विसाहनंदिस्स माया तीसे दासचेडीओ पुप्फकरंडए उज्जाणे पत्ताणि पुष्पाणिय आ (वि) णेंति, पेच्छंति य विस्सभूत्ति कीडंतं, तासि अमरिसो जाओ, ताहे साहंति जहा एवंकुमारो ललइ, किं अम्ह रज्जेण वा बलेणवा ?, जइ विसाहनंदी न भुंजइ एवंविहे भोए, अम्ह नामं चेव, रज्जं पुण जुवरन्तो पुत्तस्स जस्सेरिसं ललियं, सा तासि अंतिए सोउं देवी ईसाए कोवघरं पविट्ठा, जइ ताव रायाणए जीवंतए एसा अवत्था ? जाहे रायामतो भविस्सइ ताहे इत्थअम्हे को गणेहिति ? राया गमेइ, सा पसायं न गिण्हइ, किं मे रज्जेणं तुमे वत्ति ? पच्छातेण अमच्चस्स सिट्ठं, ताहे अमच्चोऽवि तंगमेति, तहवि न ठाइ, ताहे सो अमच्चो भणइ रायं मा देवीए वयणातिक्कमो कीरउ, मा मारेहिति, अप्पाणं राया भणति—को उवाओ होज्जा ? ण य अम्हं वंसे अन्नमि अतिगते उज्जाणे अण्णो अतीति, तत्थ वसंतमासं ठिओ मासग्गेतु अच्छइ, अमच्चो भणइ—उवाओकज्जउ जहाअमुगो पच्चंतराया ओव्वट्ठो, अणज्जंता पुरिसा कूडलेहे उवणंतु, एवमेतेण कयकेण ते कूडलेहा रन्ना उवठविया, ताहे राया जत्तं गिण्हइ, तं विस्सभूत्तिणा सुयं, ताहे भणति मए जीवमाणे तुव्भेकिं निग्गच्छह ? ताहे सो गओ, ताहे चेव इमो अइयओ, सो गओ तंपच्चंतं जाव न किंचि पेच्छइ उडुमरंतं, ताहे आहिंढित्ता जाहे नत्थि कोइ अतिक्कइ ताहे पुणरवि पुप्फकरंडयं उज्जाणमागओ, तत्थ दारवाला दंडगहिअग्गहत्था भणंति-मा अईह सामी। किं निमित्तं, एत्थ विसाहनंदी कुमारो रमइ, ततो एवं सोऊणं कुविओ विस्सभूत्ति तेण नायं—कयकेण अहं निग्गच्छाविओत्ति, तत्थ कविट्ठलता अणेगफलभरसमोसया, सा मुट्ठिपहारेण आहया, ताहे तेहिं कविट्ठ हिं भूमो अच्छुया, ते भणाति-एवं अहं तुज्जं सीसाणि पाडित्तो जइ अहं महल्लपिउगो गोरवं न करंतो, अइं ये छम्मेण नीणिओ तम्हा अलाहि भोगेहिं, तओ निग्गओ, भोगा अवमाणमूलत्ति अज्जसंभूयाणं अंतिए पव्वइओ, तं पव्वइयं सोउंताहे राया संतेउरपरियणो जुवराया य निग्गओ, ते तं खमावेंति, णेव तेसि सो पसत्ति गेण्हइ ततो बहूहिं छट्ठमादिएहिं अप्पाणं भावेमाणो विहरति, एवं सो विहरमाणो महुरनगरिं गओ।

इओ य विसाहनन्दी कुमारो तत्थ महुराए पिउच्छाए रत्तो अग्गमहिसीए धूया लद्धेल्लिया, तत्थ

गतो, तत्थसे रायमग्गे आवासो दिन्वो । सो य विस्सभूती अणगारो मासखमणपारणगे हिंडंतो तं पएसमागतो जत्थ ठाणे विसाहनन्दीकुमारो अच्छइ, ताहे तस्स पुरिसेहिं कुमारो भण्णइ—सामि । तुब्भे एयं न याणह ? सोभणति-न याणामि, तेहिं भण्णइ - एस सो विस्सभूतीकुमारो, ततो तस्स तं दट्ठूण रोसो जाओ, इत्थंतरे सूइयाद गावीए पणोल्लिओ पडिओ, ताहे तेहिं उक्कुट्टिकलयलो कओ, इमंचण्णेहिं भणियं-तं बलं तुज्झ कन्निट्टपाडणं च कहिं गयं ? ताहे तेणतत्तो पलोइयं, दिट्ठो यऽणेण सो पावो, ताहे अमरिसेणं तंगारि अग्गसिगेहिं गहाय उड्डुम्वहइ सुडुव्वलस्साविसिघस्स किं सियालेहिं बलं लंघिज्जइ ? ताहेचेव नियत्तो, इमो दुरण्णा अज्जवि मम रोसं वहइ ताहे सो नियाणं करेइजइ इमस्स तवनियमबंभ-चेरस्स फलमत्थि तो आगमेस्साणं अपरिमियबल्लो भवामि, तत्थ सो अणालोइयपडिक्कंतोमहासुक्के उववण्णो, तत्थुक्कोसट्ठितीयो देवो जातो ।

—आव० निगा ४४४-४४५ पर कथानक

- (ग) इतश्चभूद्राजगृहे विश्वनन्दी महीपतिः । परन्यां प्रियंगौ विशाखनन्दी तस्याभवत्सुतः ॥ ८६ ॥
 विशाखभूतियुवराड् राज्ञस्तस्यानुजोऽभवत् । युवराजस्य तस्याभूद्धारिणी नामतः प्रिया ॥ ८७ ॥
 मरीचिजीव प्राग्जन्मोपार्जितैः शुभकर्मभिः । विशाखभूतेर्धारिण्यां विश्वभूतिः सुतोऽभवत् ॥ ८८ ॥
 उद्यौवनो विश्वभूतिर्वने पुष्पकरण्डके । रेमे सान्तःपुरो देवकुमारइव नन्दने ॥ ८९ ॥
 विशाखनन्दी क्रीडेच्छू राट्पुत्रोऽस्थान्तु तद्वहिः । पुष्पाद्यर्थगता दास्यो ददृशुस्तौ तथास्थितौ ॥ ९० ॥
 ताभ्योज्ञात्वा प्रियंगुस्तत् कौपौकः कुपिता ययौ । तदीप्सितार्थं राजापि यात्राभेरीमवाहयत् ॥ ९१ ॥
 उद्वृत्ताः पुरुषसिंहः सामन्तस्तज्जयाय तत् । यास्यामीति सभामध्ये मायया चावदन्तुपः ॥ ९२ ॥
 तच्च श्रुत्वा विश्वभूतिश्च जुरेत्य वनान्ततः । भक्त्या निवार्यं राजानं प्रयाणमकरोत् स्वयम् ॥ ९३ ॥
 गतश्च पुरुषसिंहं दृष्ट्वाऽज्ञावर्तिनं पुनः । ववले तत्रच ययौ वने पुष्पकरण्डके ॥ ९४ ॥
 विशाखनन्दी मध्येस्तीत्युक्तो द्वाःस्थेन तत्र सः । अचिन्तयन्माययाऽहं कृष्टः पुष्पकरण्डकात् ॥ ९५ ॥
 क्रुद्धः कपित्थं मुष्टयाहंस्तफलैः पतितैर्भुवम् । छादितां दर्शयन् सोऽथ जगाद द्वारपालकम् ॥ ९६ ॥
 पातयामि शिरांस्येव सर्वेषां भवतां पुनः । ज्यायसि ज्यायसी ताते न चेद्भक्तिर्भवेन्मम ॥ ९७ ॥
 भोगैरीदृग्वञ्चनाद्यैर्ममालमिति स ब्रुवन् । संभूतमुनिपादान्ते गत्वा व्रतमुपाददे ॥ ९८ ॥
 तं च प्रव्रजितं श्रुत्वा राजा सावरजोऽप्यगात् । नत्वा च क्षमयित्वा च राज्यायार्थयते स्म च ॥ ९९ ॥
 विश्वभूतिमनिच्छन्तं ज्ञात्वा भूपोऽगमद् गृहम् । ततो व्यहारीषीदन्यत्र स पुनर्गुह्या सह ॥ १०० ॥
 स गर्वतुङ्गयैकाकिविहारेण तपःकृशः । विहरन्नेकदागच्छन्नगरीं मथुराभिधाम् ॥ १०१ ॥
 तदाविशाखनन्द्यागादुद्बोद्धुं तन्नृपात्मजाम् । विश्वभूतिश्च मासान्ते पारणामयाविशत्पुरीम् ॥ १०२ ॥
 विशाखनन्दिनः सोऽथ शिविराभ्यर्णमागतः । विश्वभूतिः कुमारोऽसावित्यदर्शयत् पुरुषैः ॥ १०३ ॥
 विशाखनन्दी तं सद्यः प्रेक्ष्य द्विषमिवाकुपत् । गवैक्या विश्वभूतिः पर्यस्तश्च तदाऽपतत् ॥ १०४ ॥
 कपित्थपातनं स्थाम क्व ते चेत्यहसच्च सः । धृत्वा गां शृङ्गयोर्विश्वभूतिश्चाभ्रममत्क्रुधा ॥ १०५ ॥
 भूयिष्ठवीर्यो भूयांस मृत्यवेऽस्य भवान्तरे । अनेन तपसोऽप्रेण निदानमिति सोऽकरोत् ॥ १०६ ॥

संपूर्य कोटिवर्षायुरनालोच्य च तन्मृतः । विश्वभूतिर्महाशुक्रे प्रकृष्टायुः सुरोऽभवत् ॥ १०७ ॥
—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग १

××× भमिऊण य अणंतरभवे तहाविहं किं पि कम्मं काऊण रायगिहेणगरे विस्सणंदी राया ।
तस्स भाया विसाहभूर्ई जुवराओ त्ति । तस्स य जुवरायस्स धारिणीए महादेवीए पुत्तो
विस्सभूती णामेणजाओ । ×××

+ + + इओ य राइणो पुत्तो विसाहणंदी उज्जाणवाहिरगओ तप्पवेससमूसुओ चिट्ठइ + + +
विस्सभूतीवि अणगारो तम्मि च्चव णगरे विहरंतो समागओ । पविट्ठो मासस्स पारणए

वस्खाणिमिच्चं णगरं । दिट्ठो य विइरमाणो विस्सणंदिपुरिसेहिं, पच्चभिण्णाओ । दट्ठूण य तेसिं
सुप्पणो मच्छरो । वियम्भियमण्णाणतिमिंरं । अण्णाणंधयारमोहियमईए मुक्का अहिणवपसूया गावी ।
ए समुहागओ णोल्लिओ, पडिओ य । कओ हलबोलो विस्सणंदिपुरिसेहिं । भणियं च णेहिं-कहिं गयं
तुज्ज कविट्ठपाडणवलं ? ति । पच्चभिण्णाया य जहा एए विस्सणं दिसंतिया पुरिसा । तयणन्तरमेव
गहुणो पणट्ठो विवेओ परिगलिओ उवसमो, पज्जलिओ कोहग्गी । धाविऊणय गहिया गावी
गाहेहिं, भमाडिया सोसोवरिं, तणपूलिय व्व पक्खित्ता धरणीए । भणियंच णेण—“रे रे का
रेसाहमा ! कोलहुयसमसीसिया होऊण मं उवहसइ ? किं लुहापरिगयदुच्चलसरीरस्सवि
वगाहिवइणो मुहकुहरे अंगुलि पक्खिविउं कोइ समत्थो ? त्ति । किंच—

किं कीरइ मय तुम्हारिसेहिं गोमाउ-साणसरिसेहिं । गइकल्लोलसमेहिं पयडियमुहमेत्तासारेहिं ॥२६॥

एवं च सुइरं चित्ति (? भणि) ऊण गरुयाहिमाणवसणेण कोणपच्छाइयविवेणेण कओ णियाणाणुबंधो,
जहा—जइ इमस्स दुक्करस्स तव-चरणस्स अणुचिण्णस्स होज्ज फलंतओ अहं अतुलबल-परक्कमो एसकालं
उज्ज त्ति । एवं बंधिऊण णियाणं, इमस्स ठाणस्स अपडिक्कंतो विहरिउं किं पि कालं कालमासे कालं
ऊण महासुक्के देवलोए उक्कोसट्ठिईओ देवो समुप्पण्णो ।

—चउप्पन्न० पृ० ६८, ६६

राजगृह नगरी में विश्वनंदी नामक राजा था । उसकी प्रियंगु नामकी पत्नी से विशाखनंदी नामक एक पुत्र
। उस राजा के विशाखभूति नामक एक छोटा भाई था—जो युवराज था । उस युवराज के धारिणी नामक
की ।

मरीचिका जीव पूर्वोपाजित शुभकर्म से विशाखभूति युवराज की धारिणी नामकी स्त्री से विश्वभूति नामक
से जन्म लिया । विश्वभूति अनुक्रम से यौवन-वय को प्राप्त हुआ ।

एक समय नंदनवन में देवकुमार की तरह वह विश्वभूति अंतःपुर सहित पुष्पकरंडक नामक उद्यान में क्रीड़ा करने
गया । वह क्रीड़ा कर रहा था—इतने में राजा का पुत्र विशाखनंदी क्रीड़ा करने की इच्छा से वहां आया ।
विश्वभूति अस्वस्थ होने के कारण वह बाहर रहा । उस समय पुष्प लेने के लिये उसकी माता की दासियां

आयी। उन्होंने विश्वभूति और विशाखभूति को क्रमशः अन्दर और बाहर देखा। दासियों के पास से उक्त बात सुन कर प्रियंगु राणी कोप को प्राप्त होकर गुस्से में आकर घर में जाकर बैठ गयी।

राजा ने राणी की इच्छापूर्ति के लिए यात्रा की भेरी बजाई और कपट से सभा में कहा—अपना पुरुषसिंह सामंत उद्धत हो गया है अतः उसकी विजय के लिए मैं जाऊंगा। यह खबर सुनकर सरल स्वभावो विश्वभूति वन में से राज्य सभा में आया और भक्ति के वश राजा को जाने का निषेधकर स्वयं लश्कर के साथ प्रस्थान किया। वह पुरुषसिंह सामंत के पास गया। वहाँ उसे आज्ञावत देखकर स्वयं वापस आया। मार्ग में पुष्पकरडक वन के निकट आया। वहाँ द्वारपाल ने सूचित किया—“अन्दर विशाखनंदी कुमार है—यह सुनकर चितन करने लगा—“मुझे कपटपूर्वक पुष्पकरडक वन में से निकाला। तत्पश्चात् उसने क्रोधित होकर मुष्टि से एक कोठे के वृक्ष पर प्रहार किया—जिससे उसके सर्वफल टूटकर पृथ्वी पर पड़ने से सारी पृथ्वी आच्छादित हो गयी। यह बताकर विश्वभूति द्वारपाल को बोला—यदि बड़े पिता श्री पर हमारी भक्ति न होती तो मैं इस कोठे के फल की तरह तुम्हारे सबों के मस्तिष्क भूमि पर गिरा देता परन्तु उनकी भक्ति के कारण मैं ऐसा नहीं कर सकता। परन्तु इस वचना युक्त भोग मुझे जरूरत नहीं है। ऐसा बोलता हुआ वह संभूतिमुनि के पास गया और चाबित्र ग्रहण किया। वह दीक्षित हो गया है—ऐसा जानकर विश्वनंदी राजा अनुज बन्धु सहित वहाँ आया। और उसे नमस्कार कर क्षमतामना कर राज्य लेने के लिए प्रार्थना की। परन्तु विश्वभूति को राज्य-लिप्सा से रहित जानकर राजा स्वयं के घर आया और विश्वभूति मुनि गुरु के साथ अन्यत्र बिहार किया—

तपस्या से अतिक्रश हुआ और गुरु की आज्ञा से एकाकी बिहार करता हुआ विश्वभूति मुनि अन्यदा मथुरापुरी आया। उस समय वहाँ राजा की पुत्री के साथ विवाह करने के लिए विशाखनंदी राजपुत्र भी मथुरा में आया हुआ था। विश्वभूति मुनि माखक्षमण का पारण के लिए नगरी में गोचरी के लिए गये। जहाँ विशाखनन्दो की छावणी थी वहाँ नजदीक आये तथा उनके मनुष्यों को कहा—यह विश्वभूति कुमार जाता है। ऐसा कहकर विशाखनदी को बताया। शत्रु को तरह उन्हें देखते ही विशाखनदी कुपित हुआ। उस काल में विश्वभूति मुनि किसी गाय के साथ में अबड़ाने से पृथ्वी पर पड़ गये। यह देखकर—“कोठे के फलों को उपाड़ने के समय जो बल था वह कहाँ गया—ऐसा कहकर विशाखनदी हंसा। विशाखनंदो की यह बात सुनकर विश्वभूति क्रोधित होकर गाय के सींगों को पकड़ कर आकाश में भ्रमित किया। तत्पश्चात् ऐसा निदान किया—इस उग्र तपस्या के प्रभाव से मैं भवांतर में घना पराक्रम वाला होकर इस विशाखनंदी की मृत्यु के लिए होऊँ। अस्तु कोटिवर्ष की आमृष्यपूर्ण कर पूर्व प्रायश्चित्त किये बिना मृत्यु प्राप्त कर वह विश्वभूति महाशुक्र देवलोक में उत्कृष्ट आयु वाला देव हुआ।”

(च) अथास्मिन् मागधे देशे पुरे राजगृहाह्वये । विश्वभूतिर्महीपोऽभूज्जनी नाम्नास्य वल्लभा ॥ ६ ॥
तयोः स्वर्गात्स आगत्य विश्वनंदी सुतोऽजनि । विख्यातपौरुषो दक्षः पुण्यलक्षणभूषितः ॥ ७ ॥
विश्वभूतिमहोभर्तुः सस्नेहोऽस्थानुजो महान् । विशाखभूतिनामास्य लक्ष्मणाख्या प्रियाभवत् ॥ ८ ॥
तयोः पुत्रः कुधीर्जातो विशाखनंदसंज्ञकः । ते सर्व पूर्वपुण्येन तिष्ठन्ति शर्मणा मुदा ॥ ९ ॥
विचिन्त्येति समाहूय तस्मै दत्त्वाशु तद्वनम् । त्यक्त्वा राज्यश्रियं सोऽगारसंभूतगुरुसंनिधिम् ॥ १० ॥

मूर्धनां नखा यतीन्द्रां ह्यो हित्वा सर्वपरिग्रहान् । सर्वत्रापसुसंवेगो विश्वनन्दी तपोऽप्रहीत् ॥ ४० ॥

+

+

+

विश्वनन्दी भ्रमन्तानादेशप्राप्तमवनादिकान् । तपातिकृशीभूतः पक्षमासादिनावलः ॥ ४६ ॥

क्वचिस्त्वतनुसंस्थित्यै स्वीर्यापथात्तलोचनः । शुष्कौष्ठवदनाङ्गोऽसौ प्राविशन्मथुरां पुरीम् ॥ ४७ ॥

तदा दुर्व्यसनाग्निनद्याद् भ्रष्टराज्यो महीपतेः । कस्यचिद्दूतभावेनागत्य तां स पुरीं शठः ॥ ४८ ॥

विशाखनन्द एवाधीर्वश्यासौ धामसंस्थितः । सद्यः प्रसूतगोशृङ्गवातात्तं दुर्बलं मुनिम् ॥ ४९ ॥

प्रस्वलन्तं समीक्ष्याति क्षीणदेहपराक्रमम् । इत्यवादीत् प्रहासेन दुर्वचः स्वरूप घातकम् ॥ ५० ॥

+

+

+

इति तद्दुर्वचः श्रुत्वा क्रोधमानोदयाद्यति । भूत्वा कोपेन रक्ताक्ष इत्यन्तर्गतमाह सः ॥ ५३ ॥

रे दुष्ट मत्तपोमाहास्याप्रहासफलं महत् । प्राप्यसि त्वं न संदेहः कटुकं मूलनाशकृत् ॥ ५४ ॥

ईदृशं स तदुच्छ्रित्यै निदानं बुधनिन्दितम् । कृत्वा स्वतपसा प्रान्ते संन्यासेनाभवद्व्यसुः ॥ ५५ ॥

—वीरच० अधि ३

(छ) सुरपुर पडिच्छंदु णर णिहंदु णयरु रायगिहु-भव तेत्थु

वड्डमाणच० संधि ३/कड १

णिवसइ असेस-णयरहं पहाणु वर-वत्थु - रयण - धारण - णिहाणु ।

+

+

+

घत्ता—तहिं भुंजइ रज्जु, चित्ति य कज्जु वइरि - हरिण - गण - वाहु ।

णामेण पसिद्धु लच्छि - समिद्ध विस्सभूइ णरणाहु ॥ ४१ ॥

—वड्डमाणच० संधि ३ । कड २

तहो अत्थि सहोयरु जण-मणिट्ठु, विणयाराहिय - गुरुयणु - कणिट्ठु,

दीणाणाहइ पविइण्ण - भूइ णामेण पसिद्धु विसाहभूइ ।

जेट्ठहो जइणी णामेण भज्ज भाविय - पिय - पय-पंकय-सलज्ज ।

णं णिवइहे णव - जोव्वणहो लच्छि णिम्मलयर - णीलुप्पल दलच्छि ।

णावइ तइलोयहो तणिय कंति एक्कट्ठिय जण-विंभउ जणंति ।

अवरहो लक्खण णामेण भज्ज णाणाविह-वर-लक्खण मणोज्ज ।

घत्ता—पढमहो सुउ जाउ अइसुच्छाउ तियसावासु मुएवि ।

तणु-बल-सिरि रूवउ बहु-गुण भूवउसहुं सोहग्गु लहेवि ॥ ४२ ॥

—वड्डमाणच० संधि ३/कड ३

सो विस्सणंदि-जणणं पउत्तु परियाणिवि णणा - गुण - णिउत्तु ।

लहु भाइहे जाउ विसाहणंदि णंदणु णिय-कुल-कमलाहिणंदि ॥

—वड्डमाणच० संधि ३/कड ४

बल - वीर - लच्छि गय - संजुओ वि सुर - करिवर - कर - दीहर-भुवोवि ।
जुवराउण णिय - पित्ति रत्ति यहो आण लंघेविणु विरइय अप्प-ठाण ।

- वड्डमाणच० संधि ३/कड ५

घन्ता—मगहे सरजुत्तु देह-विउत्तु सोलहि जलहि समाउ ।

महसुक्कि सतेउ जायउ देउ सो सुंदरयर-काउ ॥ ८६ ॥

वड्डमाणच० संधि ३ । कड १७

(ज) ततोऽवतीर्य देशेऽस्मिन् मगधाख्ये पुरोत्तमे । जातो राजागृहे विश्वभूतिनाममहीपतेः ॥ ८६ ॥
जैन्याश्च तनयो विश्वनन्दी विख्यातपौरुषः । विश्वभूतिमहीभतुं रनुजातो महोदयः ॥ ८७ ॥
विशाखभूतिरेतस्य लक्ष्मणायामभूद् विधीः । पुत्रो विशाखनन्दाख्यस्ते सर्वे सुखमास्थिताः ॥ ८८ ॥
अथाऽन्यदा कुमारोऽसौ विश्वनन्दी मनोहरे । निजोद्याने समं स्वाभिर्देवोभिः क्रीडयास्थितः ॥ ९२ ॥
विशाखनन्दस्तं दृष्ट्वा तदुद्यानं मनोहरम् स्वीकृतुं मतिमादाय गत्वा स्वपितृसंनिधिम् ॥ ९३ ॥
मह्यं मनोहरोद्यानं दीयतां भवतान्यथा । कुर्यां देशपरित्यागमहमित्यभ्यधादसौ ॥ ९४ ॥
सरसु सस्वपि भोगेषु विरुद्धविषयप्रियः । भवेद्भाविभवे भूयो भविष्यद्दुःखभारधृत् ॥ ९५ ॥
श्रुत्वा तद्वचनं चित्तेनिधाय स्नेहनिर्भरः । कियत्तत्तं ददामीति संतोष्य तनुजंनिजम् ॥ ९६ ॥
विश्वनन्दिनमाहूय राज्यभारस्त्वयाधुना । गुह्यतामहमाक्रम्य प्रत्यन्तप्रतिभूभृतः ॥ ९७ ॥
कृत्वा तज्जनितक्षोभप्रशान्तिं गणितैर्दिनैः । प्रत्येष्यामीति सोऽवोचच्छ्रुत्वा तत्प्रत्युवाच तम् ॥ ९८ ॥
पूज्यपाद स्वयात्रैव निश्चिन्तमुपविश्यताम् । गत्वाहमेव तं प्रैषं करोमीतिसुत्तोत्तमः ॥ ९९ ॥
राज्यमस्यैव मे स्नेहाद् भ्रात्राऽदायित्यतर्कयन् । वनार्थमतिसंधित्सुरभूतां धिग्दुराशयम् ॥ १०० ॥
ततः स्वानुमते तस्मिन् स्वावलेन समं रिपून् । निर्जंतुं विहितोद्योगं गते विक्रमशालिनि ॥ १०१ ॥
वनं विशाखनन्दाय स्नेहादन्यायकाङ्क्षिणे । विशाखभूतिरुल्लङ्घ्य क्रमं गतमतिर्ददौ ॥ १०२ ॥
विश्वनन्दो तदाकर्ण्य सद्यः क्रोधाग्निदोषितः । पश्य मामतिसंधाय प्रत्यन्तनृपतीन् प्रति ॥ १०३ ॥
प्रहित्यमद्गहनं दत्तं पितृव्येनात्मसूनवे । देहीति वचनान्नाहं किं ददामि कियद्वनम् ॥ १०४ ॥
विद्वारयस्य दुश्चेष्टा मम सौजन्यभञ्जनम् । इतिमत्त्वा निवृत्तायसौ हन्तुं स्ववनहारिणम् ॥ १०५ ॥
प्रारब्धवान् भयाद्गत्वा स कपित्थमहीरूहम् । कृत्वावृत्तिं स्थितः स्फोर्तं कुमारोऽपि महीरूहम् ॥ ११६ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

इसी मगधदेश में और इसी राजगृह नगर में विश्वभूति नाम का राजा राज्य करता था । उसकी जेनी नाम की बल्लभा रानी थी । उन दोनों के वह देवस्वर्ग से आकर विश्वनन्दी नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ । वह प्रसिद्ध पुरुषार्थ वाला, दक्ष एवम् पवित्र लक्षणों से भूषित था ।

विश्वभूति महीपति के अतिप्यारा विशाखभूति नाम का छोटा भाई था । उसकी लक्ष्मणा नाम की प्रिया थी । उन दोनों के कुबुद्धि वाला विशाखनन्द नाम का एक पुत्र हुआ ।

कामभोग समस्त दुःखों के निधानभूत है—ऐसा विचार कर और अपने चचेरे भाई विशाखनन्द को बुलाकर वह उद्यान उसे ही देकर और सब राजलक्ष्मी छोड़कर वह विश्वनन्दी शीघ्र ही संभूतगुरु के समीप गया और मुनिराज के चरणों को मस्तक से नमस्कार कर तथा सर्व परिग्रह को छोड़कर एवं देह, भोग, संसार आदि सभी में वैराग्य को प्राप्त होकर विश्वनन्दी ने तप को ग्रहण कर लिया ।

विश्वनन्दी मुनि पक्ष-मास आदि तपों के करने से अतिक्रम शरीर एवं निर्बल होकर नानादेश, ग्राम, वनादिक में विहार करते ओठ, मुख और शरीर के सूख जाने पर भी ईर्ष्यापथ पर दृष्टि रखे हुए अपने शरीर की स्थिति के लिए मथुरापुरी में प्रविष्ट हुए । उस समय निम्ब दुर्घ्यंसनों के सेवन से राज्यभ्रष्ट हुआ और किसी अन्य राजा का दूत बनकर मथुरापुरी में आकर किसी वेश्या के भवन के अग्रयाग पर बैठा हुआ वह कुबुद्धि विशाखनन्द सद्यः प्रसूता गाय के सींग के आघात से अतिक्रमदेह और क्षीणपराक्रम दुर्बल उन विश्वनन्दी मुनि को गिरता हुआ देखकर हास्यपूर्वक अपना घात करने वाले दुर्वचन इस प्रकार बोला । + + + ।

इस प्रकार के उसके दुर्वचन सुनकर, क्रोध और मान कषाय के उदय से यह मुनि कोप से रक्तनेत्र होकर मन में बोला—अरे दुष्ट, मेरे तप के माहात्म्य से तू इस प्रहास्य का स्वमूलनाशक महान् कटक फल पायेगा, इसमें कोई सदेह नहीं है । इस प्रकार ज्ञानियों द्वारा निन्दित निदान उसके विनाश के लिए वह मुनि करके अपने तप से अंत में संन्यास के साथ मरा वह महाशुक्र देवलोक में उत्पन्न हुआ—जिसकी स्थिति सोलह सागर थी ।

बल, धीर्य, लक्ष्मी और नयनीति से युक्त तथा श्रेष्ठ ऐरावत हाथी की सूँड़ के समान दीर्घभुजाओं वाले उस युवराज विश्वनन्दि ने अपनी चाचा की आज्ञा का उल्लंघन कर अपना स्थान (अलग) बनवाया ।

किसी दिन विश्वनन्दी कुमार अपने मनोहर नामक उद्यान में अपनी स्त्रियों के साथ क्रीड़ाकर रहा था । उसे देख, विशाखनन्द उस मनोहर नामक उद्यान को अपने अधीन करने की इच्छा से पिता के पास जाकर कहने लगा कि मनोहर नाम का उद्यान मेरे लिए दिया जाये अन्यथा मैं देश परित्याग कर दूँगा—आपका राज्य छोड़कर अन्यत्र चला जाऊँगा ।

पुत्र के वचन को सुनकर तथा हृदय में धारणकर स्नेह से भरे हुए पिता ने कहा कि वह वन जितनी-सी वस्तु है, मैं तुझे अभी देता हूँ । इस प्रकार अपने पुत्र को संतुष्ट कर उसने विश्वनन्दी को बुलाया और (छल कपट से) कहा कि “इस समय राज्य का भार तुम ग्रहण करो, मैं समीपवर्ती विरुद्ध राजाओं पर आक्रमण कर उनके द्वारा किये गये क्षोभ को शान्त कर कुछ ही दिनों में वापस आ जाऊँगा । राजा के वचन सुनकर श्रेष्ठ पुत्र विश्वनन्दी ने उत्तर दिया कि ‘हे पूज्यपाद ! आप यहीं निश्चित होकर रहिए, मैं ही जाकर उन राजाओं को दास बनाये लाता हूँ ।’

आचार्य कहते हैं कि देखो ! राजा ने यह विचार नहीं किया कि राज्य तो इसी का है, भाई ने स्नेहवश मुझे दिया है । केवल धन के लिए ही वह उस श्रेष्ठ पुत्र ठगाने के लिए उद्यत हो गया सो ऐसे दुष्ट अभिप्राय को धिक्कार दें ।

तदन्तर पराक्रम से सुशोभित विश्वनन्दी जब काका की अनुमति ले, शत्रुओं को जीतने के लिए अपनी सेना के साथ उद्यत करता हुआ चला गया तब बुद्धिहीन विसाखभूति ने क्रम का उल्लंघन कर वह वन अन्याय की इच्छा रखने वाले विशाखनन्द को दे दिया ।

विश्वनन्दी को इस घटना का तत्काल ही पता चल गया । वह क्रोधाग्नि से प्रज्वलित हो कहने लगा कि देखो काका ने तो मुझे धोखा देकर शत्रु राजाओं के प्रति भेज दिया और मेरा वन अपने पुत्र के लिए दे दिया । क्या 'देखो' इतना कहने से ही मैं नहीं दे देता ? वन है कितनी चीज ? इसकी दुर्घटना मेरी सज्जनता का भंग कर रही है । ऐसा विचार कर वह लोट पड़ा और अपना वन हरण करने वाले को मारने के लिए उद्यत हो गया । इसके भय से विशाखनन्द वहाँ से भागा और एक पत्थर के खम्भा के पीछे छिप गया परन्तु बलवान् विश्वनन्दी ने अपनी हथेलियों के प्रहार से उस पत्थर के खम्भे को शीघ्र ही तोड़ डाला । विशाखनन्द वहाँ से भी भागा । यद्यपि वह कुमार का अपकार करने वाला था परन्तु उसे इस तरह भागता हुआ देखकर कुमार को सौहार्द्र और करुणा दोनों ने प्रेरणा दी जिससे प्रेरित होकर कुमार ने उसे कहा कि डरो मत । यही नहीं, उसे बुलाकर वह वन भी उसे दे दिया तथा स्वयं ससार को दुःखमय स्थिति का विचार कर संभूत नामक गुरु के समीप दीक्षा धारण करली सो ठीक ही है क्योंकि नीच जनों के द्वारा किया हुआ अपकार भी सज्जनों का उपकार करने वाला ही होता है ॥

उस विशाखभूति को भी बड़ा पश्चात्ताप हुआ । 'यह मैंने बड़ा पाप किया है—'ऐसा विचार कर उसने प्रायश्चित्त स्वरूप संयम धारण कर लिया ।

१८ महाशुक्र कल्प देव भव में

(क) $\times \times +$ महसुकके उववन्नो $\times \times \times$ ।

—आव० निगा ४४६ उत्तरार्ध

मलयटीका— $\times \times \times$ मृत्वा च सनिदानोऽनालोचिताप्रतिक्रान्तः अंते मासिकेन भक्तेन महाशुक्रे कल्पे उपपन्न उत्कृष्टस्थितिर्देव इति ।

भगवान महावीर का जीव विश्वभूति क्षत्रिय भव से सनिदान मर कर महाशुक्र कल्प देवलोड में उत्कृष्ट स्थिति के देव के रूप में उत्पन्न हुआ ?

(ख) भूमिष्ठवीर्यो भूयासं मृत्यवेऽस्य भवान्तरे । अनेन तपसोप्रेण निदानमिति सोऽकरोत् ॥ १०६ ॥
संपूर्य कोटिवर्षायुरनालोच्य च तन्मृतः । विश्वभूतिर्महाशुक्रे प्रकृष्टायुः सुरोऽभवत् ॥ १०७ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

(ग) विस्सभूती वि अणगारो + + + कालमासे कालं काऊण महासुकके देवलोए उक्कोसट्टिईओ देवो समुप्पण्णो ।

—चउप्पन्न० पृ० ६६

ईदृशं स तदुच्छ्रित्यै निदानं बुधनिन्दितम् । कुत्वा स्वतपसा प्रान्ते संन्यासेनाभवद्व्यसुः ॥ ११५ ॥
ततस्तपः फलेनासौ तत्रैवाभूत्सुरो दिवि । यत्रास्ति सुखसंलीनो विसाखभूतिसन्मुनिः ॥ ११६ ॥

— वीरच० अधि ३

स निदानोऽभवत् प्रान्ते कृतसंन्यासनक्रियः । स्वयं विशाखभूतिश्च महाशुक्रमुपाश्रितो ॥ ११८ ॥
तत्र षोडशवाराशिमानमेयायुषौ चिरम् । × × × ॥ ११९ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

षत्ता—मगहे सरजुत्तु देह-विउत्तु सोलहि जलहि समाउ ।

महसुविक सतेउ जायउ देउ सो सुन्दरयर-काउ ॥ ११६ ॥

तथवि विसाहणं दी पहुउ, सुउ जिणवर-तउ विरइ विसरउ

—वड्डमाणच० संधि ३/कड १७, १८

इस प्रकार ज्ञानियों द्वारा निन्दित निदान विसाखनन्द के विनाश के लिए वह मुनि करके अपने तप के अन्त
यास के साथ मरा और उस तप के फल से उसी स्वर्ग में (महाशुक्र) देव उत्पन्न हुआ, जहाँ पर विसाखभूति
निराज का जीव सुख में मग्न देव था । वहाँ पर उन उत्तम दोनों देवों की आयु सोलह सागर प्रमाण थी ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में

त्रिपृष्ठ वासुदेव का समय-काल—

पंचदशहन्ते वदन्ति केसवा पंच आणुपृष्ठीए । सिज्जंस तिविट्ठाई धम्म पुरिससीहपेरंता ॥
—आव० निगा ४१६

मलय टीका—× + + 'आनुपूर्व्या' परिपाट्या, 'सेज्जंस तिविट्ठाई धम्म पुरिससीहपेरंता'
श्रेयांसादीन् त्रिपृष्ठादयः धर्मपर्यन्तान् पुरुषसिंहपर्यन्ता इति ।

प्रथम पांच वासुदेव—अनुक्रम से श्रेयांसनाथ यावत् धर्मनाथ तीर्थंकर के काल में हुए अर्थात् प्रथम त्रिपृष्ठ
—श्रेयांसनाथ तीर्थंकर के काल में हुए यावत् पांचवें वासुदेव-पुरुषसिंह-धर्मनाथ तीर्थंकर के काल में हुए ।

तिविट्ठू णं वासुदेवे यउरासीइं वाससचसहस्साइं सव्वाउयं पालइत्ता अप्पइत्ताणे नरए नेरइयत्ताए
ण्णे ।

—सम० सम ८४/५/पृ० ८६६

टीका—'तिविट्ठु' त्ति प्रथमवासुदेवः श्रेयांसजिनकालभावीति अप्रतिष्ठानो नरकः—सप्तमपृथिव्या
नानां मध्यम इति ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ के समय-काल में हुए । आयुष्यपूर्ण कर सातवें नरक के
प्रतिष्ठान नरकावास में समुत्पन्न हुए ।

.२ +++प्रथम दो चक्रवर्ती के बाद—त्रिपृष्ठ वासुदेव

चक्रिदुगं हरिपणगं +++

—आव० निगा ४२१

मलयटीका—प्रथममुक्तलक्षणकाले चक्रवर्त्तिद्वयं भविष्यत्यभवद्धा, ततस्त्रिपृष्ठादिहरिपंचकं ।

प्रथम दो चक्रवर्ती भरतचक्रवर्ती व सागर चक्रवर्ती के बाद त्रिपृष्ठादि पंच वासुदेव हुए ।

अर्थात् तीसरे चक्रवर्ती पांचवें वासुदेव के बाद हुए ।

.३ त्रिपृष्ठ वासुदेव के माता-पिता का नाम—

(क) जंबुद्वीवेणं दीवे भरहे वासे इसीसे ओसपिणीए नवबलदेव-वासुदेव पियरो होत्था, तंजहा—
पयावई य बंभे, रोहे सोमे सिवेतिय । महसिहे अगिसिहे, दसरहे नवमेय वसुदेवे ॥
जंबुद्वीवेणं दीवे भरहे वासे इसीसे ओसपिणीए णव वासुदेवमायरो होत्था, तंजहा—
मियावई उमाचेव, पुहवी सीया य अम्मया । लच्छिमई सेसवई, केई देवई इय ॥

—सम० सू० २३८, २३९

चूंकि इस अवसर्पिणी काल के भरतक्षेत्र में त्रिपृष्ठ वासुदेव-प्रथम वासुदेव थे । उनके पिता का नाम प्रजापति तथा माता का नाम मृगावती था ।

.४ त्रिपृष्ठ वासुदेव का निदान-पूर्वभव का—

(क) एएसि नवण्हं वासुदेवाणं पुव्वभविया नव धम्मायरिया होत्था, तंजहा—संभूय सुभदे सुदंस्से
य सेयंसेकह गगदत्ते य । सागरसमुहनामे, दुमसेणे य णवमए ।

एए धम्मायरिया किन्तीपुरिसाण वासुदेवाणं । पुव्वभवे आसिण्हं, जत्थ नियाणाइं कासी य

एएसि नवण्हं वासुदेवाणं पुव्वभवे नव नियाणभूमिओ होत्था, तंजहा - महुरा य × ×

हत्थिणपुर च ।

एएसि णं नवण्हं वासुदेवाणं नवनियाणकारणा होत्था, तंजहा—गावी जुवे जाव माउया इय ।

—सम० सू० २४३-२४४

त्रिपृष्ठ वासुदेव के पूर्वभव के आचार्य का नाम संभूति था । पुरुषों में प्रधान कीर्तिवाले वासुदेव के पूर्व
भव में संभूति धर्माचार्य के पास चरित्र ग्रहणकर निदान किया ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव—पूर्वभव में गाय के कारण से निदान किया ।

(क) एएसिणं णवण्हं बलदेववासुदेवाणं पुव्वभविया नव-नव नामभेज्जा होत्था, तंजहा—

“विस्सभूई पव्वइए’ धणदत्त समुहदत्त सेवाले । पियमित्त ललियमित्ते पुणव्वसु गंगदत्तोय ॥ १

एयाइं नामाइं पुव्वभवे आसि वासुदेवाणं ।

—सम० सू० २४२

बू कि त्रिपृष्ठ—प्रथम वासुदेव थे । उनके पूर्व भव का नाम—विश्वभूति था ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के प्रतिशत्रु

एएसि नवण्हं वासुदेवाणं नव पडिसत्तू होत्था, तंजहा—अस्सगीवेजावजरासंघे ।

एए खलु पडिसत्तू जाव सचक्केहि ।

—सम० सू० २४६

त्रिपृष्ठ वासुदेव का प्रतिशत्रु—अश्वघ्रीव था । अर्थात् अश्वघ्रीव प्रथम-प्रतिवासुदेव था ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता का पुत्री से विवाह

तथ य भुंजिऊण जहिच्छिए भोए, चइऊण देवलोगाओ पोयणपुराहिहाणे, णयरे पयावइस्स मिगावईए भारियाए पुत्तत्तेणं समुप्पणो । तस्स य राइणो रिवुपडिसत्तूणामं पसिद्धं । ता धूयाए पडिलगो, तओ 'पयाए णियधूयाए चेव पइ' ति लोएणं पयावइत्ति णामं कयं । तस्स राइणो विस्सभूर्हे अणगारो महासुक्काओ चविऊण पुत्तो समुप्पणो । दिट्ठा य जणणीए सत्त णामा । णेमिच्छिएण साहियं-पढमो वासुदेवो भविस्सइ ति । जाओ य सोभणे दिवसे । संबड्ढिओ णमणुपत्तो ।

—चउप्पण० पृ० ६६

ताहे महासुक्काओ चइऊण तीए मियावतीए कुच्छिंसि उवणणो, सत्त सुविणादिट्ठा, सुमिणपाढगेहि वासुदेवो आइट्ठो, कालेण जातो, तिण्णि य से पिट्ठिकरंडका तेण से तिबिट्ठू नामं कयं, मायाए मक्खिओ उण्हतेल्लेणंति, जोओणगमणुपत्तो ।

—आव० निगा ४४५ । मलय टीका में उद्धृत

ततो चइऊण पोयणपुरे नगरे पुत्तो पयावइस्स मिगावईए देवीए कुच्छिंसि उवणणो, तस्स कहं पयती नामं ? तस्स पुंवि रिउपडिसत्तूत्तिनामं होत्था, तस्स य भहाए देवीए अयलेनामं कुमारे होत्था, य अयलस्स भगिणी मियावती नाम दारिया अतीव रूववती, सा य उम्मुक्कवालभावा सव्वालं-विभूसिया पिउपायवंदिया गया, तेण सा उच्छंणे निवेसिया सोतीसे रूवे जोव्वणे य अंगकासे य उच्छओ, तंविस्सज्जेत्ता पउरजग वयं वाहरइ, ताहे भणइ-जं एत्थ रयणं उप्पज्जइ तं कस्स ? ते भणंति—अं, एवं तिमिवारा साहिते सा चेडी उवट्ठि (डवि) या, ताहे लज्जिया निग्गया, तेसिं सव्वेसिं कूव णाणं गंधवेण विवाहेण सयमेव वियाहिया, उप्पाइया-उणेणं भारिया सा, भहा पुत्तेण अयलेण समं तस्सणापहे माहिस्सिंरिं पुंरिं निवेसेइ, महंतीए इसरीएत्ति माहेस्सरी, अयले मायं ठवेऊण पिउमूल-गओ; ताहे लोएण पयावती नामं कयं पया अणेण पडिवण्णा पयावतित्ति, वेदेऽप्युक्तम्—“प्रजापतिः स्वां हितरमकामयत ॥”

—आव० निगा ४४५/मलय टीका में उद्धृत

(घ) अस्थि इहेव जंबुहीवे दीवे भारहे वासे पोयणपुरं णामं णयरं । तस्थ य राया पसाहियासेसदिसा बलओ पयावई णामेणं परिवसइ । तस्स य महादेवी सव्वंगसुंदरी सिगावई णामं, अविय + + + एवंच राइणो विसयसुहमणुहवन्तस्स अइक्कंतो कोइ काले ।

अणया य मिरिइजीवो संसारमाहिंडिऊण अणंतरमवे महासुक्काओ चुओ इमोए गवमिणिसमुप्पणो । दिट्ठा य तीए रयणीए सत्त महासुमिणा । साहिया दइयस्स । तेण वि समासासिया पुत्ताजम्भेणं । तओ पुण्णेसुण वसुमासेसु अट्टमेसु राइंदिएसु सुहंसुहेणं दारयं पसूया । कयंवद्वावणयं मुक्काणि सव्वबंधणाणि । तस्स य पट्टीए वंसतियं दट्ठ - माया-पितीहिं तिविट्ठु त्ति णामं कयं । तस्स य जेट्टभाउओ अयलो णाम बलदेवो त्ति । सोय तिविट्ठु वज्जरिसहणारायसंधयणो महाबलपरक्कमो सव्वमेवलोयं अभिभवन्तो वड्डिउमाढत्तो । उम्मुक्कवालभावोय विक्रमेक्करसिओ सुहडावले वहिउमाढत्तो । × × ×

—चउप्पणं० पृ० ६५,

(च) इतश्चात्रैव भरते नगरे पोतनाभिधे । अभूद्रिपुप्रतिशत्रुर्नाम राजामहाभुजः ॥ १०८ ॥
तस्य भद्रेति पत्न्यासीत्तस्यां सूनुरजायत । चतुर्भिः सूचितः स्वप्नैर्बलभद्रोऽचलाभिधः ॥ १०९ ॥
मृगावतीति नाम्नाऽभूत् पुत्री च मृगलोचना । सोद्यौवना रूपवती प्रणन्तुं पितरंययौ ॥ ११० ॥
जातानुरागस्तां प्रेक्ष्य निजोत्संगे न्यधत्त सः । तस्पाणिग्रहणोपायं विचिन्त्य व्यसृजच्च ताम् ॥ १११ ॥
पौरवृद्धानथाह्वय प्रपच्छेदं महीपतिः । यदत्र जायते रत्नं तत्कस्य ब्रूत निर्णयम् ॥ ११२ ॥
तवेति ते समाचख्युस्त्रिरूपादाय तद्वचः । मृगावतीं परिणेतुं तत्र चानाययन्नृपः ॥ ११३ ॥
जग्मुस्ते लज्जिताः सर्वे पार्थिवोऽपि मृगावतीम् । गान्धर्वेण विवाहेन स्वयमेव ह्युपायत ॥ ११४ ॥
लज्जाक्रोधाकुला भद्रादेवो मुक्त्वा महीपतिम् । सहाचलेन निर्गत्य प्रययौ दक्षिणापथे ॥ ११५ ॥
पुरीं माहेश्वरीं तत्र विरचय्याचलो नवाम् । मातरं तत्र संस्थाप्य जगाम पितुरन्तिके ॥ ११६ ॥
तरिपतापि स्वप्रजायाः पतिस्वेनाखिलैर्जनैः । प्रजापतिरिति प्रोचे बलीयः कर्म नाम हि ॥ ११७ ॥
—त्रिशलाका० पर्व १० सर्ग १

इस भरतक्षेत्र में पोतनपुर नामक नगर में रिपुप्रति शत्रु नामक एक पराक्रमी राजा था । उसकी स्त्री का नाम भद्रा था । उसने रात्रि में चार स्वप्न देखे — फलस्वरूप बलभद्र (अचल कुमार) नामक एक पुत्र उत्पन्न हुआ । ओ मृगावती नामक मृगलोचना पुत्री हुई ।

एक समय यौवनवती और रूपवती मृगावती बाला पिता को प्रणाम करने गयी । उस समय राजा रिपुप्रति शत्रु ने अपनी पुत्री को उत्संग में बैठाया । तत्पश्चात् उसके साथ 'पाणिग्रहण' करने का उपाय सोचा और ज वापस भेज दिया ।

एक दिन रिपुप्रतिशत्रु राजा नगर के वृद्धजनों को बुलाकर पूछा—अपने स्थान में जो रत्न उत्पन्न होता है वह किसका कहा जाता है । इसी का निर्णयकर बताओ । उन्होंने कहा—'वह रत्न आपका कहा जाता है ।

इस प्रकार तीन बार बात को टकराकर पका किया ।

मृगावती के साथ विवाह करने के लिए राजा ने राज्य सभा में उसे बुलाया । यह देखकर नगर के लोग लज्जित हुए । राजा ने गांधर्व विधि से मृगावती के साथ स्वयंमेव विवाह किया ।

यह देखकर लज्जा और क्रोध से आकुल होकर भद्रादेवी राजा को छोड़कर—अचलकुमार को साथ लेकर नगर के बाहर निकली तथा दक्षिण की ओर प्रस्थान किया । अचलकुमार ने वहाँ माहेश्वरी नामक नवीन नगरी को बसाया । उसमें स्वयं की माता को रखकर स्वयं पिता के पास आया । उसका पिता (शिषुप्रतिशत्रु) स्वयं ही पत्नीरूप प्रजा का पति हुआ । इससे सर्वलोक उसे प्रजापति नाम से पुकारने लगे—“अहो ! कर्म की गति बड़ी बलवाम् है ?”

७ त्रिपृष्ठ वासुदेव का अवतरण

(क) महासुक्रे उववन्नौ तओ चुओ पोअणपुरम्मि । पुत्तो पयावइस्सा मिगावई [देवी : कुच्छिसंभवोभयवं ॥
नामेण तिविट्ठुत्ति आई आसी दसाराणं ॥

—आव० निगा ४४६ उत्तरार्ध/४४७

मलयटीका—ततो महाशुक्रात् च्युतः, पोत्तनपुरे नगरे पुत्रः प्रजापतेः राज्ञः मृगावतीदेवीकुक्षिसम्भूतो, नाम्नाः त्रिपृष्ठः, आदिः—प्रथम आसीत् दसाराणां ॥ तत्र वासुदेवत्वं च चतुरशीति वर्षशतसहस्राणि पालयित्वा अधः सप्तमनरकपृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिर्नारकः संञ्जात इति ।

भगवान् महावीर का जीव महाशुक्र कल्प से च्युत होकर पोत्तनपुर नगर में प्रजापति राजा की मृगावती रानी के पुत्र रूप में जन्म लिया और त्रिपृष्ठ नामक प्रथम वासुदेव हुए और चौरासी लाख वर्ष का आयुष पाल कर सप्तम नरक के नारकी के रूप में उत्पन्न हुए ।

(ख) विश्वभूतिश्च्युतः शुक्रान्मृगावत्या अथोदरे । सप्तस्वप्नसमाख्यातविष्णुभावः समागमत् ॥ ११८ ॥
तया च काले सुषुप्ते सुनुः प्रथमशाङ्गभृत् । त्रिकरंडकपृष्ठत्वात् त्रिपृष्ठ इति संज्ञितः ॥ ११९ ॥
अशीतिधनुस्तुंगो रममाणोऽचलेन सः । अधीतसकलकळ क्रमेण प्राप यौवनम् ॥ १२० ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

गर्भ के आगमन के समय मृगावती ने सात स्वप्न देखे ।

पृष्ठ भाग में तीन पांसली थी अतः उसका नाम त्रिपृष्ठ रखा । शरीरावगाहना अस्ती धनुष की थी ।

(ग) अथास्मिन्नादिमे द्वीपे सुरभ्यविषये शुभे । पोदनाख्ये पुरे भूपः प्रजापतिरभूच्छुभात् ॥ ६१ ॥
देवी जयावती तस्य तयोश्च्युत्वा दिवोऽजनि । विशाखभूतिराजाचरोऽमरो विजयाख्यतुक् ॥ ६२ ॥
विश्वनन्दिचरोदेवः स्वर्गादेत्याभवत्पुतः । तस्य राज्ञो मृगावत्यां त्रिपृष्ठाख्यो महाबली ॥ ६३ ॥

चन्द्रेन्द्रनीलवर्णाङ्गौ दीप्तिकांतिकलाङ्कितौ । न्यायमार्गरतौ दक्षौ सप्रतापौ श्रुतान्वितौ ॥ ६४ ॥
 खभूचरसुराधीशैः सेव्यमानपदाम्बजौ महाविभवसंपन्नौ दिव्याभरणमंडितौ ॥ ६५ ॥
 क्रमात्सद्यो नं प्राप्य लक्ष्मीक्रोडागृहोपमौ । प्राङ्महापुण्यपाकेन संप्राप्तपरमोदयौ ॥ ६६ ॥
 दिव्य भोगोपभोगाढ्यौ दानादिगुणशालिनौ । इन्द्रादित्याविवर्भातस्तावाद्यौ रामकेशवौ ॥ ६७ ॥

— वीरवर्धच० अधि ३

(ब) तत्रषोडशबाराशिमानमेयायुषौ चिरम्, भोगान्भुक्त्वा ततश्च्युत्वा द्वीपेऽस्मिन्नेव भारते ॥ ११६ ॥
 सुरभ्यविषये रम्ये पोदनाख्यपुरे नृपः । प्रजापरिमहाराजोऽजनि देवी जयावती ॥ १२० ॥
 तस्यासीदनयोः सन्तुः पितृव्या विश्वनन्दिनः विजयाख्यस्तंतोऽश्वयैव विश्वनन्द्यप्यनन्तरम् ॥ १२१ ॥
 मृगावत्यामभूत् पुत्रस्त्रिपृष्ठो भाषिचक्रभृत् । त्रिखण्डाधिपतिव्यस्य स पूर्वगणनां गतः ॥ १२२ ॥
 उद्गमेनैव निर्भूतरिपुचक्रोऽयमक्रमात् । अर्कस्येव प्रतापोऽस्य व्याप्य विश्वमनुस्थितः ॥ १२३ ॥
 अनन्य गोचरा लक्ष्मीरसंख्येयसमाः स्वयम् । इममेव प्रतीक्ष्यास्त गाढौस्सुक्यार्धचक्रिणम् ॥ १२४ ॥
 लक्ष्मीलाङ्घनमेवास्य चक्रं विक्रमसाधितम् । मागधाद्यमरारक्ष्यं ससमुद्रं महीतलम् ॥ १२५ ॥
 सिंहशौर्योऽयमित्येषोऽशेषीकैरभिष्टुतः ॥ किं सिंह इवनिर्धीको नमितामरमस्तकः ॥ १२६ ॥
 जित्वा ज्योत्स्नां मितक्षेत्रीं वृद्धिहानिमतीं चिरम् । कीर्तिरस्या खिलं व्याप्य ज्ञातिर्वा वेधसः स्थिताः ॥ १२७ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(च) इत्यंतरि अइ-वित्थिन्न खेत्ति तरु-गिरि-सुह-पूरिय-भरह-खेत्ति ।

गिवसइ सुरणामेण देसु गोहण-भूसिय-काणण-पणसु ।

× + ×

तत्थस्थि विउल्लु पुरु पोयणक्खु । सुरपुरु व सुमोहिय-सुरयणक्खु ॥

× × ×

—वड्ढमाणच० संधि ३/कडर१

तहिं असिवर निरसिय-रिउ-क्खालु । नामेण पयावइ भूमिपालु ।

× × ×

नामेण जयावइ पढम भज्ज । तहु अवर मयावइ हुअसलज्ज ।

आयहँ दोहिमि सोहेइ केम । तिणयणु गंगा गौरीहिं जेम ।

+ + ×

अवयरिवि सद्वासहो सरुउ हुउ पढमु विजउ निवइहे तणूउ ।

सो जाउ जयावइ-हरिस-हेउ जो चिरु मगहाहिउ गुण-णिकेउ ।

घत्ता—जिह नियमु जमेण साहु-समेण उववणु कुसुमचरण ।

पाउसु कंदेण नहु चंदेण तिह सोहिउ कुलुतेण ।

—वड्ढमाणच० संधि ३/कड २२

गएहिं दिणेहिं कएहिं पियाहि थणंधउ जाउ मयावइ आहि ।
पुरा-जइणी-सुउ-जो पुण सग्गे । सुहासिव हूउ सुहोह-समग्गि ।

× + +

करेवि जिणेसर-पायहं पूज सुभत्तिए अट्टपयार मणोज्ज ।
किओ दहमें दियहें तहु नामु तिविट्ठु अणिट्ठुहरो कय-कामु ।
तओ कट्ठिणत्तु सरोरवलेण पवुड्ढि गओ गुणसारि कमेण ।
रमंतउ भूहर रक्खइ केम अणग्घ-मणी जलरासिहि जेम ।

घना—बालेगवि तेण विलयवरेण सयलवि कल निरवज्ज । तिरयण सुद्धिए थिर बुद्धिए परियाणिय
निव-विज्ज ॥ ६२ ॥

—वड्डमाणच० संधि ३/कड २३

महाशुक्र स्वर्ग में चिरकाल तक वहाँ के सुख भोगकर दोनों ही (विशाखभूति-विश्वनंदी का जीव) वहाँ से
च्युत हुए । उनमें से विश्वनंदी के काका विशाखभूति का जीव सुरम्य देश के पोतनपुर नगर में प्रजापति महाराज की
जयावती रानी से विजय नाम का पुत्र हुआ और उसके बाद ही विश्वनन्दी का जीव इन्हीं प्रजापति महाराज की
दूसरी रानी मृगावती के त्रिपुष्ठ नाम का पुत्र हुआ । यह होनहार अर्धं चक्रवर्ती था ।

उत्पन्न होते ही एक साथ समस्त शत्रुओं को नष्ट करने वाला इसका प्रताप, सूर्य के प्रताप के समान समस्त
संसार में व्याप्त होकर भर गया था । अर्धं चक्रवर्तियों में गाढ उत्सुकता रखने वाली तथा जो दूसरी जगह नहीं
रह सके ऐसी लक्ष्मी अर्धख्यात वर्ष से स्वयं इस त्रिपुष्ठ की प्रतीक्षा कर रही थी । पराक्रम के द्वारा सिद्ध किया
हुआ उसका चक्र रत्न क्या था-मानो लक्ष्मी का ही चिन्ह था और मागध आदि जिसकी रक्षा करते है ऐसा समुद्र पयंभत
का समस्त महीतल उसके अधीन था । यह त्रिपुष्ठ 'सिंह के समान शूरवीर है । इस प्रकार जो लोग उसकी
स्तुति करते थे—वे मेरी समझ से बुद्धिहीन ही थे क्योंकि देवों के भी मस्तक को नम्रीभूत करने वाला वह त्रिपुष्ठ
क्या सिंह के समान निबुद्धि भी था ? उसकी कांति ने परिमित क्षेत्र में रहने वाली हानि-बुद्धि सहित चन्द्रमा को
चांदनी भी जीतली थी तथा वह ब्रह्मा की जाति के समान समस्त संसार में व्याप्त होकर चिरकाल के लिए
स्थित हो गयी थी ।

८ त्रिपुष्ठ वासुदेव के प्रतिशत्रु-अश्वघ्रीव प्रतिवासुदेव

(क) तिविट्ठो य दुविट्ठो य सयंसु पुरिसुत्तमे पुरिससीहे । तह पुरिसपुंडरीए दत्तो नारायणे कण्हे ॥४० ॥

—आव० मूल भाष्य गा ४०/पुष्ठ २३७

६ नव वासुदेवों में त्रिपुष्ठ प्रथम वासुदेव था

(क) वासुदेवशत्रुप्रतिपादनायाह—

आसग्गीवे तारय मेरय मह्ठकेढवे निसुंभे य । बलि पल्हाए तह रावणे य नवमे जरासिघ ॥ ४२ ॥

एए खलु पडिसत्तू किन्तीपुरिसाण वासुदेवाणं । सव्वेऽवि चक्केजोही सव्वेऽवि हया सचक्केहिं ॥४३॥

—आव० मूलभाष्य । गा ४२, ४३

मलयटीका—गमनिका—एते खलु प्रतिशत्रवः, एत एव खलु शब्दस्यावधारणार्थत्वात्, नान्ये, कीर्त्तिपुरुषाण —वासुदेवानां, सर्वेच चक्रयोधिनः, सर्वेच हताः स्वचक्रैरिति, यतस्तान्येव चक्राणि वासुदेवव्यापत्ताये क्षिप्तानि तैः पुण्योदयाद्वासुदेवं प्रणम्य तानेव व्यापादयन्तीति ।

वासुदेव के प्रतिज्ञात्रु भी नव होते है—प्रथम प्रतिज्ञात्रु-प्रतिवासुदेव—अश्वघ्रीव था । प्रथम प्रतिवासुदेव वासुदेव को मारने के लिए स्वहस्त से चक्र चलाते है । चक्र चक्रवासुदेवों को प्रणाम करता है । उसी चक्र को वासुदेव स्वहस्त से ग्रहण करते हैं तथा स्वहस्तचक्र से वासुदेव के द्वारा प्रतिवासुदेव मारे जाते है ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव के द्वारा—प्रतिज्ञात्रु-प्रतिवासुदेव अश्वघ्रीव मारा गया ।

.१० त्रिपृष्ठ वासुदेव द्वारा केशरी सिंह का मारा जाना—

(क) विशाखनन्दिजीवोऽथ भवं भ्रान्त्वा मृगाधिपः जातस्तु'गगिरौ शंखपुरदेशमुपाद्रवत् ॥ १२१ ॥
 तदानीताश्वघ्रीवेण भूभुजा प्रविविष्णुना । मम मृत्युःकुतः इति पृष्ठो नैमित्तिकोऽवदत् ॥ १२२ ॥
 हन्ता स ते चण्डवेगं यो दूतं धर्षयिष्यति । मारयिष्यति यस्तु'गगिरिसिंहं च हेल्या ॥ १२३ ॥
 अश्वघ्रीवस्ततः शंखपुरे शालीनवापयत् । तद्रक्षार्थं चादिदेश वारिकेण महीपतीन् ॥ १२४ ॥
 सोऽश्रौषीच्च महावीर्यो पुत्रौ राज्ञः प्रजापतेः । तस्मै द्रुतं चण्डवेगं प्रेषीत् चार्थेन केनचित् ॥ १२५ ॥
 प्रजापतेः कारयतः संगीतं निजपर्षदि । अकस्मात्प्रविशच्चण्डवेगः स्वामिबलोन्मदः ॥ १२६ ॥
 आगमाध्ययनस्येवाकालविधुस्समुद्गमः । स विघ्नभूतो गीतस्याभ्युत्तस्थे तेनभूभुजा ॥ १२७ ॥
 मन्त्रिणश्च कुमाराभ्यां पृष्ठा आख्यन् पुमानयम् । प्रधानभूतोऽश्वघ्रीवमहाराजस्य दोषमतः ॥ १२८ ॥
 यदा ब्रजस्ययं दूतो ज्ञापनीयस्तदा हिनौ । इति स्वकीयानचलत्रिपृष्ठावूचतुर्नरान् ॥ १२९ ॥
 स प्रजापतिनान्येद्युर्विस्त्रोऽभ्यर्च्य गौरवात् । ययौ कुमारयोराशु ज्ञापितश्च निजैर्नरः ॥ १३० ॥
 गत्वा कुमारौ मार्गार्थं तमकुट्टयतां भटैः । पलायांचक्रिरे सद्यस्तस्सहायास्तु काकवत् ॥ १३१ ॥
 तत्रजापतिना ज्ञात्वा भीतेनानायितो गृहे । सत्कृत्य चाधिकं चण्डवेग एवमभाष्यत् ॥ १३२ ॥
 कुमारयोर्दुर्विनयं मा स्माख्यः स्वामिनः खलु । अज्ञानजाद् दुर्विनयान्न कुप्यन्ति महाशयाः ॥ १३३ ॥
 आमेत्युक्त्वा ययौ दूत स्नर्योस्नात्त्वप्रतो गतात् । विदाच्चकाराश्वघ्रीवस्तद्धर्षणमशेषतः ॥ १३४ ॥
 तद्विदं च हयघ्रीवं ज्ञात्वा दूतो यथातथम् । स्वधर्षणं तदाचख्यावलीकाख्यानकातरः ॥ १३५ ॥
 अश्वघ्रीवेण शिष्ट्वाऽन्यः प्रहितो ना प्रजापतिम् । गत्वावोचद्रक्ष सिंहाच्छालीनाज्ञा प्रभोरियम् ॥ १३६ ॥
 प्रजापतिः सुतावूचे युवाभ्यां कोपितः प्रभुः । प्रददौ यद्वारेऽपि शासनं सिंहरक्षणे ॥ १३७ ॥
 इत्युक्त्वा प्रस्थितं भूपं कुमारौ प्रतिषिध्य तौ । प्रजग्मतुः शंखपुरं सिंहयुद्धसकौतुकौ ॥ १३८ ॥

अन्येऽरक्षन्नुपाः सिंहं कथंकारं कियच्चिरम् । इति पृष्ठस्त्रिपृष्ठेन शशंसुः शालिगोपकाः ॥ १३२ ॥
चतुरंगचमूत्रप्रं कृत्वाऽरक्षन् क्षमाभुजः । आशालिप्रहणमहो वर्षवारक्रमागताः ॥ १४० ॥
ऊचे त्रिपृष्ठस्तानेवं स्थास्यतीयच्चिरंहि कः । तदर्शयत मे सिंहं यथैकाकी निहन्मितम् ॥ १४१ ॥
ततस्तेऽदर्शयन् सिंहं तुंगाचलगुहागतम् । जग्मतुश्च रथारूढौ तां गुहां रामशार्ङ्गिणौ ॥ १४२ ॥
चक्रुः कलकलं चौच्चैतद्गुहापार्श्वयोज्जना । तं श्रुत्वा निर्ययौ जृम्भादीर्णवक्रः स केसरी ॥ १४३ ॥
रथिकोऽहमसौ पत्तिरित्याजिर्न समाऽऽवयोः । इति त्रिपृष्ठः फलकासिधरोऽवातरद्रथात् ॥ १४४ ॥
दंष्ट्राकरजशस्त्रोऽयं फलकासिधरस्त्वहम् । नैतदभ्युचितमिति चर्मासी व्यमुचद्धरिः ॥ १४५ ॥
तस्प्रेक्ष्य केसरी जातजातिस्मृतिरचिन्तयत् । एकं धाष्टर्यमहो एको यदागान्मद्गुहामसौ ॥ १४६ ॥
अन्यद्रथादुत्तरणं तृतीयं शस्त्रमोचनम् । दुर्मदं तन्निहन्म्येष मदान्धमिव सिन्धुरम् ॥ १४७ ॥
विचिन्त्यैवं क्षणं व्यात्ताननः पंचाननाग्रणीः । दत्त्वा फालामुत्पपातोपत्रिपृष्ठं पपात च ॥ १४८ ॥
एकेन पाणिनोर्ध्वोऽष्टमपरेणाधरं पुनः । धृत्वा त्रिष्ठंस्तं सिंहं जीर्णवस्त्रमिवावृणात् ॥ १४९ ॥
पुष्पाभरणवस्त्राणि ववृषुर्देवता हरौ । लोकाश्च विस्मयस्मेराः साधु साध्विति तुष्टुवुः ॥ १५० ॥
अहो कथमनेनाहं कुमारेणाद्य मारितः । इत्यमर्पात् स्फुरंस्तस्थौ द्विधाभूतोऽपि केसरी ॥ १५१ ॥
गणभृद्गौतमजीवोऽन्यार्हज्जीवस्य शार्ङ्गिणः । तदानीं सारथिः सिंहं तं स्फुरन्तमदोऽवदत् ॥ १५२ ॥
नृष्वेषसिंहः पशुषु त्वं तु तन्मारितोऽमुना । मुधाऽपमानं किंघरसे न हीनेन हतोऽसि यत् ॥ १५३ ॥
सुधयेव तथा वाचा प्रीतो मृत्वा स केसरी । चतुर्थ्यां नरकावन्यां नारकः समजायतः ॥ १५४ ॥
तच्चर्मादाय कुमारौ चलितौ स्वपुरं प्रति । प्राम्यानित्यूचतुर्वाजिप्रीवस्यैतद्वि कथ्यताम् ॥ १५५ ॥
शालीन् खाद यथेष्टं त्वं विश्वस्तस्तिष्ठ संप्रति । असौ हृदयशल्यं ते केसरी यन्निपातिनः ॥ १५६ ॥
इत्युक्त्वा पोतनपुरे तौ कुमारवपुपेतुः । प्रामीणास्तेऽपि गत्वाऽऽह्वयन् ह्यप्रीवस्य तत्तथा ॥ १५७ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

(ख) हस्थेण उवरिल्लो उट्ठो एगेण हेट्ठिल्लो गहिओ, तओ तेण जुन्नपडगोविव दुहा काऊण मुक्को, ताहे लोणेण कलयलो कओ, अहासन्निहियाए देवयाए आभरणवस्थकुसुमवरिसं वरिसियं, ताहे सीहो तेण अमरिसेण फुरफुरंतो अच्छइ. एवं नाम अहं कुमारेण जुद्धेण मारिओत्ति, तं च किरकालं भगवओ गोयमसामी रइसारही आसि, तेण भण्णति—मा तुमं अमरिसं वहाहि, एस नरसीहो तुमं मियाधिराओ, ता जति सीहो सीहेण मारिओ को एत्थ अवमाणो ?, ताणि सो वयणाणि मधुमिव पिबति, सो मरित्ता नरए उववण्णो, सो कुमारो तं चम्मं गहाय नगरस्सपहाविओ, ते य गामेल्लए भणइ—गच्छहभो !

आव० निगा ४४५/मलय टीका में उद्धृत

(ग) इओ य महामंडलिओ आसग्गीवोराया, सो निमित्तिं पुच्छइ—कतो मम भयंति ? तेण भणियं— जो चंडमेहदूयं आधरिसेहित्ति, अवरंतैय महाबलवगं सीहं मारेहित्ति, ततो ते भयंति, तेण सुयं, जहा पयवतिपुत्ता महाबलवगा, ताहे तत्थ दूयं पेसेइ, तत्थ य अंतपुरे पेच्छणयं वट्टइ, तत्थ य दूओ पविट्ठो, राया उट्ठिओ पेच्छणयं भग्गं, कुमारा पेच्छणणेण अविखत्ता भणंति—

को एस ? तैहिं भणियं—जहा आसग्गीवरणो दूओ, ते भणंति—जाहे स वच्चेज्जा ताहे कहेज्जह, सो राइणा पूएऊण विसज्जिओ, पधाविओ अप्पणोविसयस्स, कहियं कुमारानं, तेहिं गंतूण अद्धपहे हओ, तस्स जे सहाया ते सञ्जेवि दसोदिंसि पलाया, रण्णा, सूर्यं—जहा आहरिसिओ दूओ, संभंतेणं नियत्तिओ, ताहेरण्णा विउणत्तिउणं दाऊण मा हु रण्णो साहिज्जसु जं कुमारेहिं कयं, तेण भणियं—न साहेमि, ताहे जे ते पुरओ गया तेहिं सिट्ठं जहा आधरिसिओ दूओ, ताहे सो राया कुविओ, तेण दूएण नायं—जहा रन्नो पुञ्चं कहिएल्लयं, जहावत्तं सिट्ठं, ततो अस्सग्गीवेण अन्नो दूओ पेसिओ वच्च पयावइं गंतूण भणाहिं—मम सालिं रक्खाहि कसिज्जमाणं, गओ दूओ, रन्ना कुमारा उवलद्धा—किह अकाले मच्चू खवलिओ ? तेण अम्ह अवारएवेव जत्ता आणत्ता, राजा पहाविओ, ते भणंति—अम्हे वच्चामो, ते हंअंता मड्ढाए गता, गंतूणं खेत्तए भणंति—किह अन्ने रायाणो रक्खियाइया ? ते भणंति—आसहत्थिरहपुरिसपागारं काऊणं, केच्चिरं ?, जाव करिसणं पविट्ठं, तिवट्ठू भणति—को एच्चिरमच्छइ ? मम तं पएसं दरिसेह, तेहिं कहियं—एयाए गुहाए ताहे कुमारो रहेण तं गुहं पविट्ठो, लोणेण दोहिहि पासोहिं कलयलो कओ, सीहोग्गिय असंभंतो निग्गओ, कुमारो चित्तेइ-एसपादेहिं अहरघेण विसरिसं जुद्धं, असिखेडगहत्थो रहाओ उइन्नो, ताहेपुणोग्गिचित्तेइ-एस दाढाणखायुधो अहमसिखेडगेण, एवमवि असमंजसं तंपिडेणेण असिखेडगं छड्डियं, सीहस्स अमरिसो जाओ—एगंता ता रहेण गुहमतिगतो एगागो, वितियं भूमिं ओइणो, ततियं आयुधाणि विमुक्काणि, अज्जणं विणिवाएमिच्चि महया, अवतालि-एणं वयणे उक्कंदं काऊण संपत्तो, ताहे कुमारेण एणेण × × × ।

—आव० निगा ४४५-मलय टीका में उद्धृत

विशाखनन्दी का जीव अनेक भवों में परिभ्रमण कर तुंगगिरि में केशरी सिंह हुआ । वह शंखपुर के प्रदेश में उपद्रव करने लगा ।

उस समय अश्वघ्रीव नामक प्रतिवासुदेव एक निमित्तज्ञ को कि पूछा—“मेरी मृत्यु किसके द्वारा होगी । प्रत्युत्तर में निमित्तज्ञ ने कहा—जो तुम्हारे चंडवेग नामक दूत पर गुस्सा करेगा और तुंगगिरि पर स्थित केशरी सिंह को एक लीला मात्र में हनन करेगा वह आपको मारने वाला होगा ।

इसके बाद अश्वघ्रीव राजा शंखपुर में शाली के क्षेत्रों को तैयार करवाया और उसकी रक्षार्थ स्वयं के अधीनस्थ राजाओं को क्रमशः रहने की आज्ञा की ।

एक समय किसी से सुना कि प्रजापति राजा के दो पुत्र बड़े पराक्रमी है । इस कारण किसी प्रकार के स्वयं के लिए उसके पास उन्होंने स्वयं के चंडवेग दूत को भेजा ।

राजा प्रजापति स्वयं की सभा में बैठकर संगीत कराता था । वहाँ स्वयं के स्वामी के बल से उन्मत्त हुआ चंडवेग दूत अकस्मात् आकर पहुँचा । जिस प्रकार आगमन का अध्ययन करते हुए—अकाल में बिजली होती है और विघ्न उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार वह संगीत में विघ्नभूत हुआ और तत्काल राजा खड़ा हुआ ।

दोनों कुमारों ने मन्त्री से पूछा—यह कौन है ? प्रत्युत्तर में मन्त्री ने कहा—यह दूत महापराक्रमी अश्वग्रीव राजा का प्रधान रूप है। तत्पश्चात् अचल और त्रिपुष्ठ स्वयं के पुरुषों को आज्ञा की—जब यह दूत यहां से चला जाय तब मुझे सूचित करना।

प्रजापति राजा कुछ दिन दूत को अपने पास रखा—बाद में उसे सत्कार—सम्मान देकर बिदा किया। दूत ने वहां से प्रस्थान किया। इसकी सूचना कुमार के व्यक्तियों ने आकर दोनों कुमारों को दी। कुमारों ने उस दूत को अर्धमार्ग में आडा किया और स्वयं के सुभटों के पास से उष्टे सम्भग् प्रकार मारमरायी। उस समय उसकी सहायता करने वाले सुमट साथ में थे परन्तु वे सब काक पक्षी की तरह भाग गये।

यह खबर प्रजापति राजा को मालूम हुई फलस्वरूप उस चण्डवेग दूत को वापस स्वयं के पास बुलाया और अधिक सत्कार कर कहा—“हे चण्डवेग। ये मेरे कुमार का अविनय अपने स्वामी अश्वग्रीव को मत कहना—वयोंकि अज्ञान से हुए दुर्विनय से महाशय पुरुष कोप नहीं करते हैं।

प्रत्युत्तर में दूत ने कहा ‘बहुत अच्छा। (आमेति)—ऐसा कहकर दूत चला परन्तु उसके साथ जो सुभट थे—उन्होंने आगे जाकर अश्वग्रीव राजा को यह सब वृत्तांत सूचित किया।

‘अश्वग्रीव यह बातों जानी है। ऐसा समझ में आने से असत्य बोलने से भय को प्राप्त चण्डवेग भी स्वयं के ऊपर जो उपद्रव हुआ था उसकी वार्ता यथार्थ रूप से कही।

तत्पश्चात् अश्वग्रीव राजा दूसरे मनुष्यों को समझा कर प्रजापति राजा के पास भेजकर संदेश भेजा—तुम तुंगगिरि जाकर सिंह से शाली की रक्षा करो—यह अश्वग्रीव राजा की आज्ञा है। दूसरे मनुष्यों से यह वृत्तांत सुनकर प्रजापति राजा ने स्वयं के कुमारों को कहा—तुमने अपने स्वामी अश्वग्रीव को कूपित किया है इस कारण उसने वारी बिनाभी सिंह से शालीक्षेत्र की रक्षा करने की मुझे आज्ञा दी है।

इस प्रकार कहकर प्रजापति राजा वहां जाने के लिए तैयारी की परन्तु दोनों कुमार उन्हें निवारण कर सिंह के युद्ध में कौतुकी होकर स्वयं शंखपुत्र की ओर प्रस्थान किया। वहां पहुँचकर बाद में त्रिपुष्ठ ने शालीक्षेत्र के रक्षक गोपलोगों को पूछा कि—अन्य राजा गण जब यहाँ आते हैं तब वे इस सिंह से किस प्रकार रक्षा करते हैं। और उस वक्त वे कहाँ रहते हैं। प्रत्युत्तर में गोपलोगों ने कहा—दूसरे-दूसरे राजा प्रत्येक वर्ष वारी-वारी से आते हैं। वे जहाँ तक रहते हैं वहाँ तक शाली की रक्षा के लिए चतुरंग सेना को शाली क्षेत्र पर किलाकर रक्षा करते हैं।

त्रिपुष्ठ वासुदेव ने कहा—“इतनी देर तक यहाँ कौन रहेगा अतः मुझे भाप सिंह बताइये—जिसको मैं एकेला ही उसे मार दूंगा।

तत्पश्चात् उन्होंने तुंगगिरि की गुफा में सिंह को बताया। राम और वासुदेव अश्वरथ में बैठकर उस गुफा के पास आये। गुफा के पास लोगों ने कोलाहल किया। फलस्वरूप गुफा से मुँह को फाड़ता हुआ केशरी सिंह बाह्य निकला। उसे देखकर कहा—यह सिंह पैदल बिहारी है और मैं रथी हूँ अतः हम दोनों का युद्ध एक समान नहीं कहा जा सकता। ऐसा धारकर त्रिपुष्ठ हाथ में डाल-तलवार लेकर रथ से नीचे उतर गया।

इसके बाद फिर विचार किया—इस सिंह को दाढ़ और नख मात्र ही शस्त्र रूप है और हमारे पास ढाल-तलवार है—इस कारण यह भी उचित नहीं है। ऐसा धारण कर त्रिपृष्ठ ने ढाल-तलवार को भी छोड़ दिया।

यह देखकर उस केशरी सिंह को जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस कारण उसने चिंतन किया—पथम तो यह पुरुष अकेला हमारी गुफा के पास आया—यह उसकी धृष्टता है, दूसरा रथ से नीचे उतरा यह भी उसकी धृष्टता है और तीसरा इसने शस्त्र को छोड़ दिया है यह और भी कीउस की धृष्टता है। अतः मुझे उचित है कि मदांघ हाथी की तरह अतिदुर्मर-ऐसे त्रिपृष्ठ को मार देना चाहिए।

ऐसा विचारकर मुख को निकालकर वह सिंह फाल भरकर त्रिपृष्ठ के ऊपर कुद पड़ा। त्रिपृष्ठ ने एक हाथ ऊपर का और दूसरा हाथ नीचे का होठ पकड़कर जीर्णवस्त्र की तरह उस सिंह को फाड़ दिया—मार दिया।

तत्काल देवों ने वासुदेव पर पुष्प, आभरण और वस्त्रों की वृष्टि की। लोग विस्मय को प्राप्त हुए। 'साधु-साधु' ऐसे शब्दों का उच्चारण करते हुए स्तुति करने लगे।

उस समय अहो ! यह नाना बालककुमार मुझे आज कैसे मारा—ऐसे असमर्थ से वह सिंह—दो भाग होने पर भी धूजने लगा।

उस समय चरम तीर्थंकर का जीव वासुदेव का सारथि गौतम गणधर का जीव था। उसने स्फुरणमान होते हुए सिंह को कहा—“अरे सिंह। जैसे तुम पशुओं में सिंह हो वैसे ही यह त्रिपृष्ठ मनुष्यों में सिंह है। उसने तुम्हें मारा है—कारण तुम वृथा अपमान क्यों मानते हो ? क्योंकि किसी दीन पुरुष ने तुम्हें नहीं मारा है।

इस प्रकार अमृत जैसी सारथी की वाणी को सुनकर प्रसन्न होकर वह सिंह मृत्यु को प्राप्त हुआ। और चतुर्थ नरक में नारकी रूप में उत्पन्न हुआ। उसका चर्म लेकर दोनों कुमार स्वर्ग के नगर की ओर चले और पहले गांव के लोगों को कहा—तुम यह खबर अश्वग्रीव को दो और कहो कि—अब तुम इच्छानुसार शाली खाना और विश्वास धरकर रहना। क्योंकि तुम्हारे हृदय में शल्प रूप है—जो केशरी सिंह था उसे मार दिया। इस प्रकार कहकर दोनों कुमार पोतनपुर गये और पहले गांव के लोगों ने यह सब वृत्तांत अश्वग्रीव को सूचित किया।

११ त्रिपृष्ठ वासुदेव द्वारा अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव का मारा जाना—

(क) ह्यग्रीवोऽपि साशंको जिवांसुर्माययापि तौ । अनुशिष्यादिशद् दूतं प्रजापतिनृपं प्रति ॥ १५८
गत्वा स दूतस्तं स्माहोपस्वामि प्रेषयात्मजौ । राज्यं यदनयोः स्वामी प्रदास्यति पृथक् पृथक् ॥ १५९
प्रजापतिर्वभाषेऽहं यास्यामि स्वामिनं स्वयम् । कृतं मम कुमाराभ्यां तत्र सुन्दर ! ॥ १६०
दूतो भूयोऽवदत्पुत्रौ न चेत्त्वं प्रेषयिष्यसि । तत्सज्जीभव युद्धाय मा वादीः कथितं न यत् ॥ १६१
इत्युक्तवन्तं तं दूतं तौ कुमारवर्षणौ । धर्षयित्वा निजपुरान्निरवासयतां क्षणात् ॥ १६२
दूतो गत्वा तदाचख्यौ ह्यग्रीवाय धर्षणम् । ह्यग्रीवोऽपि कोपेन हुताशन इवाञ्ज्वलत् ॥ १६३
ह्यग्रीवः ससैन्योऽपि त्रिपृष्ठश्चाचलोऽपि । युयुत्सवः समभ्येयू रथावर्तमहागिरौ ॥ १६४

मिथो युयुधिरे सैन्याः पक्षयोरुभयोरपि । संवर्तिका इवाम्भोदा आस्फलन्तः परस्परम् ॥ १६५ ॥
 क्षीणक्षीणेषु सैन्येषु सैन्ययुद्धं निषिध्य तौ । अश्वग्रीवस्त्रिपृष्ठश्चायुध्येतां रथिनौ स्वयम् ॥ १६६ ॥
 मोघीकृतास्त्रोऽश्वत्रीवोऽरित्रीवोच्छेदलम्पटम् । त्रिपृष्ठायामुचचक्रं हाहाकारिजनेक्षितम् ॥ १६७ ॥
 त्रिपृष्ठोरःस्थले चक्रं तुम्बेन निपपात तत् । शरभो रभसोद्भ्रान्त इव पर्वतसानुनि ॥ १६८ ॥
 वीरप्रष्ठस्त्रिपृष्ठोऽथ तेन चक्रेण लीलया । चकर्त ह्यकंठस्य कंठमंभोजनालवत् ॥ १६९ ॥
 —त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

(ख) तस्स घोडयग्गीवस्स कहेह, जहा अच्छसु वीसस्थो, तेहि गंतूण सिद्धं रुद्धो, दूयं विसज्जेइ-एए पुत्तं तुमं मम ओलगाए पट्टवेहि, तुमं महल्लो, जाहे पेच्छामि सक्कारेमि रज्जाणि य देमि, तेणभणियं—अच्छंतु कुमारा, सयं चेव णं ओलगामित्ति, ताहे सो भणति-किं न पेसेसि ? पेसेहि आउ जुज्झसज्जो निगच्छेति, सो दूओतेहि आधरिसित्ता धाडिओ, ताहे सो आसग्गीवोसव्वबलेणउवट्ठिओ, इयरेऽवि देसंते ठिया, सुवहुं कालं जुज्झऊण ह्यगयरहनरादिकखयं च पिच्छिऊण कुमारेण दूओ पेसिओ, जहाहं च तुमंच दोन्निवि जुद्धं संपल्लगामो, किं च बहुएणअकारिजणेण मारिण ? एवं होऊत्ति, विइयदिवसे रहेहि संपल्लगा, जाहे आउहाणि खीणाणि ताहे चक्कं मुंयइ, तं तिविट्ठुस्स तुंबणउरे पडियं, तेणेव सीसं छिन्नं । ×××तिविट्ठू चुलसीति वाससयसहस्साइं सव्वाउवं पालइत्ता कालमासे कालं काऊण सत्तमाए पुढवीए अप्पत्तिट्ठाणे नए तेत्तीसं सागरोवमट्ठितीओ नेरइओ उववन्तो ।

—आव० निगा ४४५/मलयटीका में उद्धृत

(ग) ××× । तओ जुज्झऊण सव्वाउहेहि ओहा भिज्जन्तेण आसग्गीवेण गहियं चक्करयणं करयलेणं । भभाडिऊणं च संपेसियं तिविट्ठुणो । तं च देवयाणुहावेण भवियव्वयाणिओएण य पर्याहिणीं काऊण ठियं दाहिणकरयले तिविट्ठुणो । तेणावि अमरिसवसाबूरियहिणं पेसियं आसग्गीवस्स । तेणावि चक्केणं तालफलं व पाडियं सीसं पडिवासुदेवस्स त्ति । उच्छलिओ जयजयारवो । तुट्ठेहिय तियसा-ऽसुरेहिं मुक्कं—कुसुमवरिसं । साहुक्कारिओ सयलजणेणं । भणियंच सुरसमूहेहिं-एस पढमो वासुदेवो समुप्पणो ।

—चउपण० पृ० १०२

अश्वग्रीव राजा अब त्रिपृष्ठ की शंका को प्राप्त होने लगा । फलस्वरूप कपटपूषंक उन दोनों भाइयों को मारने की इच्छा से उसने एक दूत को समझाकर प्रजापति राजा के पास भेजा । वह दूत वहां जाकर बोला—हे राजन् ! तुम्हारे दोनों पुत्रों को अश्वग्रीव राजा के पास भेजो । हमारा स्वामी दोनों को अलग-अलग राज्य देगा ।

प्रत्युत्तर में प्रजापति राजा ने कहा—हे सुन्दर दूत ! हमारे कुमारों की क्या जरूरत है—मैं स्वयं ही स्वामी के पास भाऊंगा ।

दूत ने फिर कहा—यदि तुम कुमारों को नहीं भेजते हो तो युद्ध करने की तैयारी करो ।

बाद में कहा—नहीं है—ऐसा मत कहना । इस प्रकार कहते हुए दूत पर कुमार क्रोधित होकर घसीट कर उसे तत्काल नगर के बाहर निकाला ।

दूत आकर उन सब वार्ता को अश्वग्रीव राजा को कही । फलस्वरूप अश्वग्रीव क्रोध में अग्नि की तरह प्रज्वलित हुआ ।

हयग्रीव राजा और त्रिपुष्ट और अचल युद्ध की इच्छा से स्वयं-स्वयं के सैन्य को लेकर रथावत् गिरि के पास आये । संवत् मेघ की तरह परस्पर अथड़ाते हुए दोनों के पक्ष के सैनिक परस्पर युद्ध करने लगे । जब सैनिकगण का क्षय होने लगा तब अश्वग्रीव और त्रिपुष्ट दोनों ने सैन्यों के युद्ध रोक कर स्वयं ही रथी होकर युद्ध करने लगे । अश्वग्रीव के सर्व अस्त्र-शस्त्र निष्फल होने से उसने शत्रु की ग्रीवा को छेदने में संपट ऐसा चक्र त्रिपुष्ट के ऊपर छोड़ा । उस समय लोगों ने हाहाकार किया । वह चक्र जैसे अष्टापद पशु पर्वत के शिखर पर पड़ता है—वैसे ही तुंग भाग से त्रिपुष्ट के उरस्थल पर पड़ा ।

बाद में वीर श्रेष्ठ त्रिपुष्ट उस चक्र को हाथ में लेकर उससे कमलनाड की तरह लीलामात्र में अश्वग्रीव के कंठ को छेद डाला ।

चौरासो लाख वर्षा का सर्वायु का पालन कर त्रिपुष्ट वासुदेव सातवीं नारकी के अप्रतिष्ठान नरकावास में समुत्पन्न हुआ ।

(घ) अथेह विजयार्धोत्तरश्रेण्यामलकापुरे । मयूरग्रीवराजाभूद् राज्ञी नीलाब्जनास्य च ॥ ६८ ॥
 तयोर्विशाखनन्दः स चिरं भ्रान्त्वा भवार्णवे । स्वर्गादेस्य सुतो जातः क्वचिपुण्यविपाकतः ॥ ६९ ॥
 अश्वग्रीवाभिधो धीमांस्त्रिखण्डश्रीविमण्डितः । अर्धचक्री सुरैः सेव्यः प्रतापी भोगतस्परः ॥ ७० ॥
 + + +
 तयोः संपद्विवाहादिवार्ताश्रवणवहितः । चरास्याच्च ज्वलिताशु सोश्वग्रीवो नराधिपः ॥ ६७ ॥
 बहुभिः खगपैः सैन्येनावृतः सङ्गराय च । रथावर्ताचलं प्राप चक्ररत्नाद्यलंकृतः ॥ ६८ ॥
 तदागमनमाकर्ण्य चतुरंगबलान्वितः । प्रागेवागत्य तत्रास्थास्त्रिपुष्टः सह बंधुना ॥ ६९ ॥
 ततोऽद्भूततरणे तत्र निर्जितो भाविचक्रिणा । मायेतरादिसंप्रामैहयग्रीवोऽतिविक्रमात् ॥ १०० ॥
 चक्ररत्नं क्रुधादायासन्नमृत्युर्व्यघोदयात् । परीस्य प्रेषयामास त्रिपुष्टं प्रति निष्ठुरम् ॥ १०१ ॥
 तत्तं प्रदक्षिणीकृत्य तस्थौ तदक्षिणे भुजे । तस्य पुण्यविपाकेन त्रिखंडश्रीवशीकरम् ॥ १०२ ॥
 त्रिपुष्टो द्रुतमादाय चक्रं शत्रुभयंकरम् । उद्दिश्य स्वरिपुं कोपादक्षिपन्निष्ठुराशयः ॥ १०३ ॥
 अश्वग्रीवाऽपि तेनाप्य मूर्त्ति रौद्राशयोऽशुभात् । बह्वारम्भधनाद्यैः प्राग्बद्धश्वभ्रायुरेव च ॥ १०४ ॥
 कृत्नदुःखाकरीभूतं शमेदूर घृणास्पदम् । महापापोदयेनागारसप्तमं नरकं कुधीः ॥ १०५ ॥
 वीरवर्धमानच० संधि३/

(च) उद्वक्त्र्णयां खगाधीशो मयूरग्रीवनामभाक् । नीलब्जना प्रिया तस्याभूतयोरलकापुरे । १२८ ॥
 विशाखनन्दः संसारे चिरं भ्रान्त्वातिदुःखितः । अश्वग्रीवाभिधः सूनुरजनिष्ठापचारवान् ॥ १२९ ॥
 ते सर्वऽपि पुरोपात्तपुण्यपाकविशेषतः । अभीष्टकामभोगोपभोगैस्तृप्ताः स्थिताः सुखम् ॥ १३० ॥
 + + +

चरोपनीततद्वातां ज्वलनज्वलिताशयः । विद्यात्रितयसंपन्नैर्विद्याधरधराधिपैः ॥ १५६ ॥
 अध्वन्यैरभ्यमित्रिणीरायुधीयैर्भटैर्वृतः रथावर्ताचलं प्रापदश्वग्रीवो युयुत्सया ॥ १५७ ॥
 तदागमनमाकर्ण्य चतुरंगबलान्वितः । प्रागेवागत्य तत्रास्थास्त्रिपृष्ठो रिपुनिष्ठुरः ॥ १५८ ॥
 क्रुध्वा तौ युद्धसंनद्धावुद्धतौ रुद्धभास्करो । स्वयं स्वधन्वभिः सार्धं शरसंघातवर्षणैः ॥ १५९ ॥
 अश्वै रथैर्गजेन्द्रश्च पदातिपरिवारितैः । यथोक्तविहितव्यूहैरयुध्येतां महाबलौ ॥ १६० ॥
 गजः कण्ठीरवेणेव वज्रणेव महाचलः । भास्करेणान्धकारोवात्रिपृष्ठेन पराजितः ॥ १६१ ॥
 स विलक्षो ह्यग्रीवो मायायुद्धेऽपि निर्जितः । चक्रं संप्रेषयामास त्रिपृष्ठमभिनिष्ठुरम् ॥ १६२ ॥
 तत्तं प्रदक्षिणोक्त्य मङ्क्षु तदक्षिणे भुजे । तस्थौ सोऽपि तदादाय रिपुं प्रत्यक्षिपत् क्रुधा ॥ १६३ ॥
 खण्डद्वयं ह्यग्रीवग्रीवां सद्यो व्यधाददः । त्रिखंडाधिपतित्वेन त्रिपृष्ठं चार्धचक्रिणम् ॥ १६४ ॥

—उत्तपु० पर्व ५४

+

+

+

(छ) घत्ता—करे कलेवि चक्कु विजयाणुवेण णेमिचंद कुंदुज्जलु ।

इयभणि तहो सिसचक्के सुडिउउच्छलंत-सोणियजलु ।

—वड्डमाणच० संधि ५/कड २३

इस भरत क्षेत्र के विजयार्थ पर्वत को उत्तर श्रेणी में अलकापुर नाम के नगर में मयूरग्रीव (मोरवंठ) नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानी निलांजना (कनकमाला) थी। वह विशाखनन्द चिरकाल तक संसार सागर में परिभ्रमण कर पुण्य के विपाक से स्वर्ग में गया। और फिर वहाँ से चयकर उक्त राजा-रानी के अश्वग्रीव नाम का बुद्धिमान्, त्रिखंड की लक्ष्मी से मंडित, देवों से सेव्य प्रतापी, भोग में तत्पर, अर्धचक्री (प्रतिनारायण) पुत्र उत्पन्न हुआ।

त्रिपृष्ठ वासुदेव का विवाह विजयार्थ पर्वत की उत्तर श्रेणी में रथनूपुरचक्रवाल नाम की नगरी के ज्वलनजटी की पुत्री स्वयंप्रभा के साथ हुआ—बात के श्रवण रूप अग्नि से प्रज्वलित हुआ। वह नरपति अश्वग्रीव शीघ्र ही विद्याधरों से और सेना से संयुक्त होकर तथा चक्ररत्न आदि से अलंकृत होकर युद्ध के लिए रथनूपुर के पर्वत पर आया। उसका आगमन सुनकर चतुरंगिणी सेना से युक्त हो अपने भाई विजय के साथ त्रिपृष्ठ पहले से ही वहाँ पर आकर ठहर गया।

तत्पश्चात् अद्भूत युद्ध में भावी चक्रवर्ती त्रिपृष्ठ ने विद्योपनत मायावी एवं अन्य शस्त्रास्त्रों के द्वारा अति पराक्रम से अश्वग्रीव को जीत लिया। तब आसनमृत्यु उस अश्वग्रीव ने पापोदय से क्रोधित होकर चक्ररत्न को निष्ठुरता पूर्वक त्रिपृष्ठ ऊपर चलाया। वह चक्ररत्न त्रिपृष्ठ को प्रदक्षिणा देकर पुण्योदय से उसकी दाहिनी भुजा पर आकर विराजमान हो गया। तब त्रिपृष्ठ ने तीनखण्ड की लक्ष्मी को वश में करने वाले और शत्रुओं के लिए भयंकर उस चक्र को शीघ्र लेकर निष्ठुर हृदय होके क्रोध से अपने शत्रु को लक्ष्य करके फेंका। रौद्रपरिणामी कुबुद्धि अश्वग्रीव भी उस चक्र के द्वारा मरण को प्राप्त होकर तथा बहुत आरम्भ-परिश्रमादि के द्वारा पूर्व में नरकायु के

बांधने के महाअशुभ पापोदय से समस्त दुःखों की खानिभूत, सुख से दूर, घृणास्पद सातवें नरक को प्राप्त हुआ ।
त्रिपृष्ठ का अधिपति होने से त्रिपृष्ठ को अर्धचक्रवर्ती का पद मिला ।

१२ त्रिपृष्ठ वासुदेव का राज्याभिषेक

(क) अचलश्च त्रिपृष्ठश्च प्रथमौ हलिशाङ्गिणौ । इत्यावोपि सुरैर्व्योम्नि पुष्पवृष्टिपुरस्सरम् ॥ १७० ॥
तयोः सर्वेऽपि राजानः सद्योपि प्रणतिं ययुः । ताभ्यां चासाधि भरतक्षेत्रयान्यार्धमोजसा ॥ १७१ ॥
शिलां कोटिशिलां दोष्णोत्पात्र्य मूर्त्न्यातपत्रवत् । प्रथमः पुंडरीकाक्षो धारयामास लीलया ॥ १७२ ॥
विक्रमाक्रांतभूचक्रः स पोतनपुरं ययौ । अभिषिक्तश्चार्धचक्रिपदे देवैर्नृपैरपि ॥ १७३ ॥
यद्यद्गन्तं दूरतोऽपि त्रिपृष्ठं तत्तदाश्रयत् । रत्नीभूतां गायनेषु तमेयुः कैऽपि सुस्वराः ॥ १७४ ॥
—त्रिशलाका० पर्व० १०/सर्ग १

(ख) ×××देवेहिं च घुष्टं जहेस तिविष्टु पढमो वासुदेवोउपन्नोति, ता सव्वे रायाणो पणिवायमुवगया,
ओवतियं अद्धभरहं, कोडियसिला दंडवाहाहिं धारिया, एवं रहावत्तापव्वयसमीवे जद्धमासि, एवं
परिहायमाणे बले कण्हेण किरजणुमाणि जाव किहवि पाविया ।

—आव० निगा ४४५/मलयटीका से उद्धृत

त्रिपृष्ठ ने अश्वघ्रीव को चक्ररत्न के द्वारा मार गिराया—तब “यह अचल और त्रिपृष्ठ प्रथम बलभद्र और वासुदेव है—ऐसी देवों ने पुष्पवृष्टि द्वारा आघोषना की । तत्काल सर्व राजागण आकर उन्हें प्रणाम किये । बाद में दोनों वीरों ने स्वयं के पराक्रम से दक्षिण भरताद्ध को साध लिया । बाद में प्रथम वासुदेव स्वयं की भुजा से कोटि शिला का उपाड़न कर छत्र की तरह लीला मात्र में मस्तक तक ऊँची की । बाद में सर्व भूचक्र को पराक्रम से दबाकर वह पोतनपुर गया । वहाँ देवों और राजाओं ने उसका अर्धचक्रोपन का आशुषक किया । जो जो रत्नवस्तु उनसे दूर थी—वे सर्व त्रिपृष्ठ के पास आकर उनके आश्रित हुई । उनमें वे गायकों में से रत्नरूप कितनेक मधुर स्वर वाले गायक भी त्रिपृष्ठ के पास आये ।

१३ त्रिपृष्ठ भव में कर्मों का गाठबन्धन

(क) × × × रत्नीभूता गायनेषु तमेयुः कैऽपि सुस्वराः ॥ १७४ ॥
एकदा तेषु गायस्सु शय्यापालं हरिर्निशि । ऊचे मयि शयानेऽमी विस्रष्टव्यास्त्वया खलु ॥ १७५ ॥
आमेत्सूचे तत्पपाल आगान्निद्रा च शाङ्गिणः । तद्गीतलुब्धो व्यस्राक्षीद्गायनान् सोऽपि तान्निहि ॥ १७६ ॥
तेषु गायस्सु चौत्तथ्यौ विष्णुरुचे च ताल्पिकम् । त्वया विस्रष्टाः किं नामी सोऽप्युचे गीतलोभतः ॥ १७७ ॥
तच्छ्रुत्वा कूपितो विष्णुः प्रभाते तस्य कर्णयोः । अक्षेपयस्त्रपु तप्तं शय्यापालो मृतश्च सः ॥ १७८ ॥
त्रिपृष्ठः कर्मणा तेन वेद्यं कर्मन्यकाचयत् । प्रभुत्वादन्त्यदप्युग्रं कर्माऽवध्नाद् दुरायति ॥ १७९ ॥

—त्रिशलाका० पर्व० १०/सर्ग १

एक समय गायक गान कर रहे थे और वासुदेव शयन कर रहा था। उस समय उसने स्वयं के शय्यापाल को आज्ञा दी कि ये जो गायक गाना गा रहे हैं जब मुझे निद्रा आ जाय तब उन्हें वारण कर देना। प्रत्युत्तर में शय्यापाल ने कहा—बहुत ठीक है—ऐसा कहा।

बाद में त्रिपृष्ठ निद्रित हो गया परन्तु गायकों के मधुरगान में लुब्ध हुआ शय्यापाल ने गायकों को विदा नहीं किया। ऐसा करने से प्रातःकाल हो गया। फलस्वरूप वासुदेव की निद्रा भंग हुई—उठा। उसने गायकों का गान देखकर शय्यापाल को कहा—इन गायकों को तुमने विदा क्यों नहीं किया। प्रत्युत्तर में वह बोला—स्वामी ! गायन के लोभ से विदा नहीं किया।

शय्यापाल का यह उत्तर सुनकर त्रिपृष्ठ कुपित हुआ। इस कारण प्रातःकाल उसके कान में तपा हुआ शीशा डाला फलस्वरूप शय्यापाल तुरन्त मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस क्रुःय से त्रिपृष्ठ ने असाता वेदनीय कर्म का निकाचित बंधन किया। इसके सिवाय उस भव में भगवान महावीर के जीव ने अन्यान्य भी घनीभूत महा बुरे परिणाम वाले उग्र कर्म भी बंधन किया।

२० सप्तम नरक के नारकी के भव में

(क) तत्र वासुदेवस्त्वं च चतुरशीति—(प्रंथाप्र० ६६००) वर्षशतसहस्राणि पालयित्वा अधः सप्तमनरक-पृथिव्यामप्रतिष्ठाने नरके त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमस्थितिर्नारकः संजात इति, अमुमेवार्थं प्रतिपादयन्नाह—

चुलसीइमप्पइड्डे × × × ।
—आव० निगा ४४८ का अंश

मलय टीका—चतुरशीतिवर्षशतसहस्राणि वासुदेवभवे खलवायुष्कमासीत्, तमनुभूय अप्रतिष्ठाने नरके समुत्पन्नः × × × ।

भगवान महावीर का जीव चौरासी लाख वर्ष का त्रिपृष्ठ वासुदेव का भव क्षय करके सप्तम नरक में समुत्पन्न हुए।

(ख) तच्छ्रुत्वा कुपितो विष्णुः प्रभाते तस्य कर्णयोः । अक्षेपयस्त्रपु तप्तं शैय्यापालोमृतश्च सः ॥ १७८ ॥
त्रिपृष्ठः कर्मणा तेन वेद्यं कर्मन्यकाचयत् । प्रमुत्वादन्यदप्युग्रं कर्माश्वनाद् दुरायति ॥ १७९ ॥
अहिंसादिष्वविरतो महारंभपरिग्रहः । चतुरशीत्यब्दलक्षीं प्राजापस्योऽत्यवाहयत् ॥ १८० ॥
मृत्वाच सप्रमावन्यामुदपद्यत नारकः । तद्वियोगात्प्रजितोऽचलो मृत्वा शिवंययौ ॥ १८१ ॥

—त्रिशलाका० पर्व० १०/सर्ग १

(ग) अइकसायुक्कडयाए य तेण बद्धं अपइड्डाणे णरए आउयंति । पालिउण चुलसीतिवरिससयसहस्साइं सन्वाउयं कालमासे कालं काऊण उववण्णो अहे सत्तमाए अपइड्डाणे णरए तेत्तीससागरोवमाऽऽऊ णारगोत्ति ।

—चउप्पण्ण० पृ० १०३

त्रिपृष्ठ वासुदेव ने शय्यापाल के कान में तपा हुआ शीशा डाला—फलस्वरूप शय्यापाल मरण को प्राप्त हुआ । इस कृत्य से अर्थात् अतिकषायोदय से त्रिपृष्ठ वासुदेव ने असात्ता वेदनीय कर्म का निःकाचित बंध किया । इसके अतिरिक्त उस भव में अन्य महा उग्र कर्म किये । हिंसादिक में अविरत रूप में, महा-भारंभ, महापरिग्रह में तत्पर त्रिपृष्ठ वासुदेव—चौरासी लाख वर्ष का आयुष्य समाप्तकर—मरण को प्राप्त होकर सप्तम नरक में नारकी रूप में समुत्पन्न हुआ ।

(घ) एको य सत्तमाए, पंच य छट्ठीए पंचमी एको । एको य चउत्थीए, कण्होपुण तच्चपुढवीए ॥

—सम० सू० २४७

त्रिपृष्ठ वासुदेव अपने आयुष्य को पूर्ण कर सप्तम नरक में नारकी रूप में उत्पन्न हुआ । कहा है—

प्रथम वासुदेव (त्रिपृष्ठ वासुदेव) सप्तम नरक में, दूसरे से छठे तक वासुदेव छठी नरक में, सातवां वासुदेव पांचवीं नरक में, आठवां वासुदेव (लक्ष्मण) चतुर्थ नरक में तथा नववां कृष्ण वासुदेव तीसरी नरक में समुत्पन्न हुए ।

(च) मृश्युपर्यन्तमेवातिगृह्या वृत्तांशदूरगः । धर्मदानार्चनादीनां नाममात्रं विहाय च ॥ ११२ ॥
ततः श्वभ्रायुरेवासौ बह्वारम्भपरिग्रहैः । अतीवविषयासक्त्या बध्वा दुर्ध्यानलेखयया ॥ ११३ ॥
रौद्रध्यानेन मुक्त्वासून् पापमारेण पापधीः । धर्मादृते पपातान्ते सप्तमे नरकार्णवे ॥ ११४ ॥

—वीरच० अधि ३

(छ) राज्यलक्ष्मी चिरं मुक्त्वाप्यतृप्या भोगकांडक्षया । मृत्वागात्सप्तमीं पृथ्वीं बह्वारम्भपरिग्रहः ॥ १६७ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(ज) भुंजिऊण चक्रवइ - लच्छिया महि तिखंड जुत्ता समिच्छिया ।

णिय-णियाण-वसु-कन्हु सुत्तओ । मरेवि रुह-भाणेण पत्तओ ।

घत्ता—दुत्तरहुक्खोहे सत्तम णरइ सपाड ।

तक्खणे मेत्तेण तेतीसंबुहि - आड ॥

—वड्डमाणच० संधि ६/कड ६

तीनों खंडवाली पृथ्वी से युक्त चक्रवर्ती—पदरूपी लक्ष्मी का समिच्छित भोग करके सोते-सोते ही अपने निदान के वश से रौद्रध्यानपूर्वक मरकर पापी त्रिपृष्ठ—तत्काल ही दुस्तर दुःखों के गृह-स्वरूप तैत्तीस-सागर की आयुवाले सातवें नरक में जा पहुंचा ।

२१ सिंह के भव में

(क) ×××अप्पइहेसीहो ×××

—आव० निगा ४४८ का अंश

मलय टीका—(अप्रतिष्ठात् नरकात्) तस्मात् अपि उद्धृत्य सिंहो बभूव XXX ।

(ख) त्रिपुष्टजीवो नरकाद्दुधृत्याऽजनि केसरी ।

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १। श्लो० १८२ पूर्वार्ध

(ग) अथैषनारकः श्वभ्रान्निर्गत्य स्वायुषः क्षये । वनिर्सिंहगिरौ सिंहो बभूवाशुभपाकतः ॥ २ ॥

—वीरच० अधि ४

वह त्रिपुष्ट नारायण का नारकी जीव आयु के क्षय होने पर वहाँ से निकलकर वनिर्सिंह नामक पर्वत पर पापोदय से सिंह हुआ ।

(घ) एत्थंतरे णरइ विचिन्तु दुहु अणुहुंजे विणु अलहंतु सुहु ।

कह-कहव विणिग्गउ कय हरिसे सरि-सर-सिहरिहिं भारह वरिसे ।

सोचक्कपाणि पिगल—णयणु । भंगुर-दाढा-भासुर - वयणु ।

सीहयरिहिं भीसणु सीहु हुओ । णं वइवसुसइ अवयरिउ दुओ ।

—वड्डमाणच० संधि ६ कड ११

इसी मध्य में त्रिपुष्टनारायण ने नरक में विचित्र दुःखों को भोगा, वहाँ पर लेश मात्र भी सुखानुभव न कर सका । जिस किसी प्रकार वह चक्रपाणि नदी और तालाबों से हर्षित भारतवर्ष में एक पर्वत शिखर पर पिगल-नेत्र, भयानक दाढ़ों एवं तमतमाये वदनवाला तथा सिंहों में भी भयानक सिंह योनि में उत्पन्न हुआ ।

(च) परस्परकृतं दुःखमनुभूय चिरायुषा । स्वधात्रीकृतदुःखं च तस्मान्निर्गत्य दुस्तरात् ॥ १६८ ॥

द्वीपेऽस्मिन् भारते गङ्गानदीतटसमीपगे । वने सिंहगिरौ सिंहो भुन्वाऽसौ बृंहिताहसा ॥ १६९ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

पर वहाँ परस्पर किये हुए दुःख को तथा पृथिवी संबंधी दुःख को चिरकाल तक भोगता रहा । अन्त में उस दुस्तर नरक से निकल कर वह तीव्र पाप के कारण इस जंबूद्वीप के भरतक्षेत्र में गंगानदी के तट के समीप-वर्ती वन में सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ ।

२२ चतुर्थ नरक अथवा प्रथम नरक के नारकी के भव में

(क) XXXसीहो नरएसु ×

×

×

।

—आव० निगा ४४८ का अंश

मलय टीका—XXXसीहो बभूव, मृत्वा च पुनरपि नरक एवोत्पन्न इति ।

(ख) केसर्यपि विपन्नः संश्चतुर्थं नरकं ययौ / १८२

—त्रिशलाका० पर्व० १०/सर्ग १

भगवान महावीर का जीव सिंह भव क्षय करके चतुर्थ नरक में नारकी रूप उत्पन्न हुए ।

(ग) तत्राप्येन उपाज्योर्चर्चहिंसादिक्रूरकर्मभिः । तस्योदयेन सप्रापनिन्द्यां रत्नप्रभावनिम् ॥ ३ ॥

—वीरच० अधि० ४

घ) रत्नप्रभां प्रविश्यैव प्रज्वलद्ब्रह्मिमाप्तवान् । दुःखमेकाब्धिमेयायुस्ततश्च्युत्वा पुनश्च सः ॥ १७० ॥

उत्तपु० पर्व ७४

(च) अविरय - दुरियासउ पुणुवि हरि । गउ पढमणरइ करि पाउ मरि ॥

—वड्डमाणच० संधि ६/कड ११

निरन्तर दुरिताशय वह हरि—त्रिपृष्ठ का जीव (सिंह) पापकारी कार्य करके पुनः प्रथम नरक में जा पहुँचा ।

२२ क कतिपय तिर्यग्-मनुष्य भव में

(क) × × × नरपसु तिरिअमणुएस्सु—

—आव० निगा ४४८ का अंश

मलय टीका—× × × 'तिरियमणुएस्सु'त्ति पुनः कतिचिद्भवग्रहणानि तिर्यङ्मनुष्येषूपपद्य××× ।

(ख) सोऽथ तिर्यङ्मनुष्यादिभवान् बभ्राम भूरिशः ।

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १/श्लो० १८३/पूर्वार्ध

भगवान महावीर का जीव सिंह भव से मरकर नरक (प्रथम) में उत्पन्न हुए और वहाँ से आकर कतिपय भव तिर्यञ्च और मनुष्य के किए ।

नोट :—दिगम्बर ग्रन्थों में इन तिर्यञ्च—मनुष्य भवों का इस प्रकार वर्णन है ।

•२३ सिंह के भव में

•२४ सौधर्म स्वर्ग देव के भव में

•२५ कनकोज्ज्वल राजा के भव में

•२६ लांतक स्वर्ग देव के भव में

•२७ हरिषेण राजा के भव में

२३. सिंह के भव में

(क) अनुभूय महादुःखमेकाब्ध्यन्तं ततोहि सः । च्युत्वा दुःकर्मबद्धात्मा द्वीपेऽस्मिन्नादिमे शुभे ॥ ४ ॥

भारते सिद्धकूटस्य प्राग्भागे हिमवद्गिरेः । सानावभून्मृगाधीशस्तीक्ष्णदंष्ट्रो मृगान्तकः ॥ ५ ॥

—वीरच० अधि ४

(ख) इय नरय-दुक्खाइँ सहिऊण तुहुँजाउ । खर-नहर-निदलिय करिकुंभ मयराउ ॥

—वड्डमाणच० संधि ६/कड १३

(ग) द्वीपेऽस्मिन् सिन्धुकुटस्य प्राग्भागे हिमवद्गिरेः । सानावभून्मृगाधीशो ज्वलत्केसरभासुरः ॥ ७६ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

प्रथम नरक से च्युत होकर इसी जम्बू द्वीप में सिन्धु कूट की पूर्व दिशा में हिमवत् पर्वत के शिखर पर शैवीयमान बालों से सुशोभित सिंह हुआ ।

२४ सौधर्म स्वर्ग का देव

(क) कदाचित्तं मृगैकस्य भक्षयन्तं ददर्शखे । गच्छन् भव्यहितोद्युक्तो यमी नाम्नाजितं जयः ॥ ६ ॥
 चारणद्विपरिप्राप्तो ह्यनेकगुणसागरः । सहामितगुणाख्येन मुनिना व्योमगामिना ॥ ७ ॥
 स्मृत्वा तीर्थकरोक्तं सोऽवतीर्यनभसोमहीम् । उपविश्य शिलापीठे कृपया चारणाग्रणीः ॥ ८ ॥
 मृगाधिपं समासाद्य तद्धितायेत्युवाच वै । भो भो भव्य मृगाधीश शृणु पथ्यं मयोदितम् ॥ ९ ॥

+ + +

अतो दुर्गतिनाशाय त्यक्त्वा क्रौर्यं त्वमञ्जसा । गृहाणानशनं सारं व्रतपूर्वं शुभार्णवम् ॥ १२ ॥

+ + +

इतोऽस्मिन् भारते क्षेत्रे दशमे भाविजन्मनि । तीर्थकृदन्तिमो नूनं भविष्यसि जगद्धितः ॥ ३५ ॥

जंबूद्वीपस्थपूर्वाख्यविदेहे श्रीधराह्वयः । तीर्थकृतेति संष्टः केनचित्सदसिस्थितः ॥ ३६ ॥

भगवन्नादिमे द्वीपे भरतेयो भविष्यति । चरमस्तीर्थकृत्तस्य जीवः क्वाद्यप्रवर्तते ॥ ३७ ॥

इति तत्प्रश्नतोऽवादीज्जिनेन्द्रः स्वगणान् प्रति । त्रिकालगोचरां सर्वां स्वदीयां सुकथामिमाम् ॥ ३८ ॥

जिनेशश्रीमुखादेतच्छ्रुत्वा दिव्यं कथानकम् । भूतं भावि मया कृत्स्नं ते हिताय निरूपितम् ॥ ३९ ॥

+ + —वीरच० अधि ४

(ख) तीक्ष्णद्रष्ट्राकरालाननः कदाचिद्विभीषणः । कंचिन्मृगमवष्टभ्य भक्षयन् स समीक्षितः ॥ १७२ ॥
 अत्रोऽमितगुणेनामा गच्छतातिकृपालुना । अजितंजयानामाप्रचारणेन मुनीशिना ॥ १७३ ॥
 स मुनिस्तोर्थनाथोक्तमनुस्मृत्यानुकम्पया । अवतीर्य नभोमार्गात् समासाद्य मृगाधिपम् ॥ १७४ ॥
 शिलातले निविश्योच्चर्धर्म्यां वाचमुदाहरत् ।

+ + ×

अहो प्रवृद्धमञ्जानं तत्ते तस्य प्रभावतः । पापिस्तत्त्वे न जानासीर्याकर्ण्य तदुदीरितम् ॥ १९४ ॥

सद्यो जातिस्मृतिं गत्वा घोरसंसारदुःखजात् । भयाच्चलितसर्वाङ्गो गलद्वाष्पजलोऽभवत् ॥ १९५ ॥

+ + +

इतोऽस्मिन् दशमे भावी भवेऽन्यस्तोर्थकृद्भवान् । सर्वमश्रावि तीर्थेशान्मयेदं श्रोधराह्वयात् ॥ २०४ ॥

× × ×

विधाय हृदि योगीन्द्रयुगलं भक्तिभराहितः । मुहुः प्रदक्षिणीकृत्य प्रप्रणम्य मृगाधिपः ॥ २०७ ॥

तत्त्वश्रद्धानमासाद्य सद्यः कालादिलब्धितः । प्रणिधाय मनःश्रावकव्रतानि समाददे ॥ २०८ ॥

× × ×

एवं व्रतेन संन्यस्य समाहितमतिर्व्यसुः । सद्यः सौधर्मकल्पेऽसौ सिंहकेतुः सुरोऽजनि ॥ २१६ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(ग) यावज्जीवं प्रपालयोच्चैरिन्थं व्रतकदम्बकम् । संन्याससहितं प्रान्ते त्यक्त्वा प्राणान् समाधिना ।

व्रतादिजफलेनाभूत्कल्पे सौधर्मनामनि । सिंहोमहर्दिकः सिंहकेतुनामामरो महान् ॥ ५६ ॥

—वीरच० अधि ४

(घ) भो गय - भय तुहुं एयहो भवहो हो होसि भरहे पाउवभवहो ।

दहमइ भरि जिणवरु सुरमहिउ । कमलायरेण मुणिणा कहिउ ॥

×

×

×

तुह वोहणत्थु तहो वयणु सुणि अम्हेत्थ समागय एउ मुणि ।

मुणिवर मणु णिप्पहु हुइ जइवि । भवत्थे होइ सप्पिहु तइवि ।

वयविरु अणुसासेवि तच्च पहु । हरि-तणु फसेवि स-यरेण लहु ।

घत्ता—समणिच्छिय वाणि गण - मुणिवर गयणेण

अवलोविज्जंत हरिणा थिर - णयणेण ।

—वड्डमाणच० संधि ६/कड १७

सुह-धम्म-फलेण मइंदु गउ सोहम्मसग्गे करिपाव खउ ।

अमरहरे मणोरमे देउ हुउ णामेण हरिद्धउ पवल - भुउ ।

घत्ता—सत्त - रयणि - देहु णिरुवम - ख - णिवासु ।

सम्मत्त हो सुद्धि पयणइँ सोखु न कासु

—वड्डमाणच० संधि ६/कड १८

किसी समय भयों के हित में तत्पर, अनेक गुणों के सागर, चारण ऋद्धि के धारक अमितगुण नामक आकाश-गामी मुनि के साथ आकाश में जाते हुए अजितजय नाम के मुनिराज ने उसे एक मृग को लाते हुए देखा । तीर्थङ्कर देवभाषित वचन का स्मरण कर वे चारणऋद्धि धारियों में अग्रणी मुनिराज दया से प्रेरित होकर पृथ्वी पर उसके हितार्थ इस प्रकार बोले—भो भो ! भव्य मुनिराज, मेरे हितकारी वचन सुन । × × × ।

अतः तू शीघ्र ही दुर्गति के नाश के लिए क्रूरता को छोड़कर व्रतपूर्वक पुण्य के सागरस्वरूप अनशन को ग्रहण कर ।

अब इससे आगे दसवें भव में तुम इस भारतवर्ष में जगत का हित करने वाले अंतिम तीर्थङ्कर नियम से होओगे ।

जम्बूद्वीपस्थ पूर्व विदेह नामक क्षेत्र में (कमलाकर मुनि) श्रीधर नामक तीर्थंकर समयसरण में विराजमान है । उनसे किसी ने पूछा—हे भगवन् । इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में जो अंतिम तीर्थंकर होगा—वह आज कहाँ पर है । इस प्रकार के प्रश्न करने पर जिनेन्द्र देव ने अपने गणों के प्रति तुम्हारी यह त्रिकाल विषयक कथा कही ।

जिनेन्द्र देव के श्री मुख से सुनकर मैंने तेरे हित के लिए भूत और भावी सर्व दिव्य कथानक तुम्हें कहा है ।

यावज्जीवन इस प्रकार उत्कृष्ट रीति से सभी व्रत समूह का संन्यास सहित पालन कर ओर अंत में समाधि के साथ प्राणों का त्याग कर वह सिंह व्रतादि पालन करने से उत्पन्न हुए पुण्य के फल से सौधर्म नामक कल्प में सिंह केतु (हरिश्चन्द्र) नाम का महाश्रद्धि वाला महान् देव हुआ ।

२५ कनकोज्ज्वल राजा—कनकप्रभ राजा

(क) अथ प्राग्घातकोखण्डे विदेहे पूर्वसंज्ञके । देशोऽस्ति मंगलावत्याख्येयमाङ्गल्यकारकः ॥ ७२ ॥
तन्मध्ये विजयार्धाद्रिर्गव्युत्थेकशतोन्नतः । भाति कूटजिनागारवनश्रेणिपुरादिषु ॥ ७३ ॥
तस्याद्रोहतरश्रेण्यां नगरं कनकप्रभम् । राजते कनकप्राकारप्रतोलीजिनालयैः ॥ ७४ ॥
पतिः कनकपुङ्खाख्यस्तस्यासीत् खेचराधिपः । प्रिया कनकमालाख्यास्याभवत् कनकोज्ज्वला ॥ ७५ ॥
तयोश्च्युत्वा स सौधर्मात् सिंहकेतुसुरः शुभात् । कनकोज्ज्वलनामाभूत् सुनुः कनककान्तिमान् ॥ ७६ ॥

×

×

×

ततोऽस्मै यौवने तातो विवाहविधिना मुदा । कन्यां कनकवत्याख्यां ददौ गृहिवृषात्पथे ॥ ८१ ॥
अन्येद्युर्भार्यया सार्धं कुमारः क्रोडितुं ययौ । महामेरुं जिनार्चादीन् वन्दितुं च शुभाय सः ॥ ८२ ॥
तत्र वीक्ष्यावधिज्ञानवीक्षणं मुनिपुङ्गवम् । नभोगाम्याद्यनेकर्द्धिभूषितं त्रिः परीत्य सः ॥ ८३ ॥
प्रणम्य शिरसाप्राक्षीद्धर्मार्थीति तदाप्रये । भगवन्मेऽनघं धर्मं ब्रूहि येनाप्तते शिवम् ॥ ८४ ॥
आकर्ण्य तद्वचो योगी जगावित्थं तदीप्सितम् । दक्ष त्वमेकचित्तेन शृणु धर्मं दिशाम्यहम् ॥ ८५ ॥

×

×

×

विचिन्त्येति हृदा धीमांस्यक्त्वा बाह्याभ्यन्तरोपधीन् । पिशाचीमिव तां कान्तां चाराध्य यतिसत्क्रमौ
॥ १०३ ॥

मनोवाक्कायसंशुद्धया प्रव्रज्यां त्रिजगन्नुताम् । जग्राह मुक्तये सारां स्वमुक्तिसुखमातरम् ॥ १०४ ॥

×

×

×

तपोव्रतर्जिता येन स्वर्गे लान्तवनामनि । महर्द्धिकोऽमरो जातोऽनेककल्याणभूतिमाक् ॥ ११३ ॥

—वीरवर्धमानच० अधि ४

(ख) ततो द्विसागरायुष्को निर्विष्टामरसौख्यकः । निष्क्रम्य धातकीखंडपूर्वमंदरपूर्वगे ॥ २२० ॥
विदेहे मंगलावत्यां विषये खेचराचले । परार्ध्यमुत्तरश्रेण्यां नगरं कनकप्रभम् ॥ २२१ ॥
पतिः कनकपुङ्खाख्यस्तस्य विद्याधराधिपः । प्रिया कनकमालाभूत्तयोस्तुषकनकोज्ज्वलः ॥ २२२ ॥
सार्धं कनकवत्यासौ मन्दरं क्रोडितुं गतः । समीक्ष्य प्रियमित्राख्यमवधिज्ञानवीक्षणम् ॥ २२३ ॥
भक्त्या प्रदक्षिणीकृत्य कृती कृतनमस्कृतिः । ब्रूहि धर्मस्य सद्भावं पूज्येति परिपृष्टवान् ॥ २२४ ॥

×

×

×

इत्यब्रवोदसौ सोऽपि निधाय हृदि तद्वचः । तृषितो वा जलं तस्मात् पीतधर्मरसायनः ॥ २२८ ॥
भोगनिर्वेगयोगेन दूरीकृतपरिग्रहः । चिरं संयम्य संन्यस्य कल्पेऽभूत् सप्तमेऽमरः ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(ग) पुष्वाभरगिरि-पुन्व विहाइए विडल-विदेहंतरि विक्खायए ।

वच्छा-विसड मणोहरु णिवसइ । जहिं मुणि गणु भवियण-मणु हरिसइ ॥

सीया - सरि - तड - माय - विलगड घर - सिहरावलि - णहयल - लगड ।

पंचवीस जोयण - उत्तुंगड कीलमाण - गय - णयरहिं चंगड ॥

×

×

×

तओ उत्तरसेणिए सुर - मणहरु णिवसइ पुरु कणयरु तिभिरहरु ।

जिहिं णिवडंतु खयरि - मुह - पंकए सासाणिल - वसेण - णिपंकए ।

—वड्डमाणच० संधि ७ । कड १ ।

तहिं विज्जाहरवइ कणयप्पहु जेण जिणिवि अरियणु किड णिप्पहु ।

+

+

+

तहो पिय पीवर - पीण - पओहर कणयमाल णामेण मणोहर ।

पविमल - सीलाहरण - विहूसिय लावणालंकरिय अदूसिय ॥

एहहँ सग्गु मुएवि हरिद्धउ सुड जायड णामें कणयद्धउ ॥

—वड्डमाणच० संधि ७ । कड २

तेण सजणणा एसं सुन्दरि भार-मइंद - महीहर - कंदरि ।

मणि गण जडियाहरण पसाहिय वर कण्णप्पह कण्ण विवाहिय

—वड्डमाणच० संधि ७ । कड ३

एक्कहिं दिणे देविणु णिव - सरि तहो भव भीएण नरिदेँ पुत्तहो ।

सुमइ - मुणीसर - पय पणवेप्पिणु लइय दिक्खकरणारि जिणेप्पिणु ॥

—वड्डमाणच० संधि ७/कड ४

एत्थंतरे एक्कहिं दिणिकंतए सहिउ खयर वइ-गड अइकंतए ।

कीलणत्थु णामेण सुदंसणे वर - णंदणे खयरालि - विहिय - सणि ।

तहिं असोय तरु - मूले निविद्धउ विमल - सिलायले साहु विसिद्धउ ।

सुव्वड णामें सुव्वय - वंतड दुप्पयारु तड तिव्वु तवंतड ॥

×

×

×

खयरहिउ तं देक्खि पहिद्धउ ।

—वड्डमाणच० संधि ७/कड ५

पुणु खयरेंदेँ पणविवि पुच्छिउ । सुव्वय - मुणिवरु हियय - समिच्छिउ ।

धम्म—मग्गु सो पुणि आहासइ ।

—वड्डमाणच० संधि ७/कड ६

इयं जंपेवि मुणिसरु जावहि विरमिउं खयरे देणवि तावहि ।
तं पड्विज्जिजवि परियाणिवि भउ । वहु-दुहु विथारणु तज्जे वि मउ
सहुं खयरेण सिरिए तह कंतए कणय-मया-ऽऽहरणहि दिप्पंतए ।

×

×

×

वत्ता—सोसिवि वउ दुवदस विहितउ, करि सो मरिसुरु हूवउ ।
कापिट्टए कप्पि विसिट्टए देवाणंदं सुरुवउ ॥ १४४ ॥

—बुद्धमाणच० संधि ७/कड ८

पूर्ववातकी खण्ड में पूर्व विदेह में मंगलावती नाम का मंगलकारक देश है, उसके मध्य में एक सौ कोश ऊँचा पर्वत है, वह कूट, जिनालय, वनश्रेणी और नगर आदि से शोभायमान है। उस पर्वत की उत्तर श्रेणी में अश्रम नामका एक नगर है, जो सुवर्णमय प्राकार, प्रतली और जिनालयों से शोभित है। उसका स्वामी कनक-कामला नामका एक विद्यानरेश था। उसकी सुवर्ण के समान उज्ज्वल देहकांति को धारण करने वाली कनकमाला की प्रिया थी। उन दोनों के वह सिंहकेतु देव सौधर्म स्वर्ग से च्युत होकर पुण्य से स्वर्ण कांति का धारक कनको-ज्ज्वल नामका पुत्र हुआ।

यौवन अवस्था में उसके पिता ने गृहस्थ धर्म की प्राप्ति के लिये हर्ष से विधिपूर्वक कनकवती नामकी कन्या का साथ उसका विवाह कर दिया।

किसी एक दिन वह अपनी भार्या के साथ क्रीड़ा करने और जिन प्रतिमाओं का पूजन-वन्दन करने के लिये पर्वत पर गया। वहाँ पर अवधिज्ञान रूप नेत्र के धारक, आकाशगामी आदि अनेक ऋद्धियों से भूषित उत्तम निराज को देखकर उसने तीन प्रदक्षिणाएँ देकर और मस्तक से नमस्कार करके धर्म प्राप्ति के लिए धर्म के इच्छुक होने धर्म का स्वरूप पूछा—हे भगवन् ! मुझे धर्म का स्वरूप कहिए, जिससे कि शिवपद की प्राप्ति होती है।

उसके वचन सुनकर योगीश्वर ने उसको अभीष्ट वचन इस प्रकार कहे....हे चतुर, मैं धर्म का स्वरूप कहता हूँ, एकाग्र चित्त से सुन।

मुनिराज से धर्म का तत्त्व सुनकर—ऐसा हृदय में विचारकर और अपनी कान्ता को पिशाची समझकर बुद्धिमान कनकोज्ज्वल विद्याधर ने बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रह को छोड़कर एवं साधु के श्रमों की आराधना कर मन, वचन, कार्य को शुद्धि पूर्वक तीन लोक से पूजनीय स्वर्ग और मुक्ति के सुखों की जननी श्री सारभूत जिन-दीक्षा को मुक्ति के लिए ग्रहण कर लिए। अंततः तपस्वरण और व्रत पालन से उपासित पुण्य के लिये वह लान्तव नामक स्वर्ग में अनेक कल्याण युक्त विभूति का धारक महर्द्धिक देव हुआ।

६ लान्तव स्वर्ग का देव

६) तपोव्रतार्जिता येन स्वर्गं लान्तवनामनि । महर्द्धिकोऽमरो जातोऽनेककल्याणभूतिभाक् ॥ ११३ ॥

×

×

×

त्रयोदशसमुद्रायुः पञ्चहस्तोच्छ्रितांगधृत् । त्रयोदशसहस्राब्दैः सुधाहारं हृदा भजन् ॥ ११६ ॥

×

×

×

सप्तधातुमलस्वेदातिगदिव्यशरीरभाक् । सम्यग्दृष्टिः शुभस्थानजिनपूजारतो महान् ॥ ११८ ॥

—वीरवर्धमानच० अधि ४

(ख) भोगनिर्वेगयोगेन दूरिकृतपरिग्रहः चिरं संयम्य संन्यस्य कल्पेऽभूत् सप्तमेऽमरः ॥ २२६ ॥

त्रयोदशाब्धिमानायुरात्मसात्कृततत्सुखः ।

—उत्तपु० पर्व ७४

(ग) सोसिवि वड दुवदस विहितउ, करि सो मरि सुरु हूवउ । कापिठए कप्पिविसिठए देवाणंद सुरुवउ

—वडूमाणच० संधि ७/कड ८

कनकोज्ज्वल (कनकध्वज) राजा उसी समय भोगों से विरक्त होकर समस्त परिग्रह का त्याग कर दिया था। चिरकाल तक संयम धारण कर अंत में संन्यास मरण किया—जिसके प्रभाव से वह सातवें स्वर्ग में (लान्त कापिठ) देव हुआ । वहाँ तेरह सागर की आयु थी । पाँच हस्त प्रमाण शरीर था । तेरह हजार वर्षों से हू द्वारा अमृत आहार को सेवन करता था । सप्तधातु, मल-मूत्र, प्रस्वेदादि से रहित दिव्य शरीर का धारक था, महा सम्यग्दृष्टि, शुभस्थान और जिनपूजन में निरत रहता था ।

२७ हरिषेण राजा

(क) अथ जम्बूमति द्वीपे विषये कोशलाह्वये । अयोध्या नगरी रम्या विद्यते सज्जनैर्भृता ॥ १२१ ॥
वज्रसेनो नृपस्तस्याः पतिरासीच्छुभोदयात् । शीलवत्याह्वया तस्य कान्ताभूच्छीलशालिनी ॥ १२२ ॥
सोऽमरो नातकश्च्युत्वा हरिषेणाभिधः सुतः । दिव्यलक्षणपूर्णाङ्गस्तयोः पुण्यादजायत ॥ १२३ ॥

—वीरच० अधि-४

दीक्षा—श्रुतसागरनामानं योगोन्द्रं श्रुतपारगम् । आसाद्य शिरसा नत्वा त्रिःपरीत्यजगन्नुतम् ॥ ११ ॥
वाह्यान्तः स्थाखिलान् संगंस्त्रि शुद्ध्या प्रविहाय सः । मुमुक्षुर्भुक्तये जैनीं दीक्षां भूपो मुदाददौ ॥ १२ ॥

— वीरच० अधि ५

(ख) सुखेनास्मात् समागत्य सुसमाहितचेतसा ॥ २३० ॥

द्वीपेऽस्मिन् कोशले देशे साकेतनगरेशिनः । वज्रसेनमहीपस्य शीलवत्यामजायत ॥ २३१ ॥

हरिषेणः कृताशेषहर्षो नैसर्गिकैर्गुणैः । वशीकृत्य श्रियं स्वस्य चिरं कुलवधूमिव ॥ २३२ ॥

मालां वा लुप्तसारां तां परित्यज्य ययौ शमम् । सुव्रतं सुश्रुतं श्रित्वा सद्गुरुं श्रुतसागरम् ॥ २३३ ॥

वर्धमानऋतः प्रान्ते महाशुक्रेऽजनिष्ठस

—उत्तपु० पर्व ७४

(ग) एत्थंतरे इह जंबूदीवए

×

×

×

अमरालय - दाहिण - दिसि - भायए × × ×
 भरह - वरिसि सरि - सरयर - सुन्दरे × × ×
 अइ - विस्थिणु अवंती णामेँ × × ×
 तहिँ उज्जेणिपुरी परि - णिवसइ जा देवाह मि माणइ हरसइ

—वड्डमाणच० संधि ७/कड ६

तहिँ वज्जसेणु णामेण णिओ हुवउ वज्जपाणि - सम भूरि सउ ।
 वज्जगु सवंधव सोक्खयरु सुन्दरु वज्जालंकरिय - करो ।

—वड्डमाणच० संधि ७/ कड १०

तहो संजाय सुसीला गेहिणि सीलालय न चंदहो रोहिणि ।
 हंसिणीव वेयक्ख - समुज्जवल कुडिलालय - जिय - अलिउल - कज्जल ।
 × × ×

मुत्तिवंत जे काल - वसं गय जग्गु मुएविणु सो सुरु जायउ ।
 एयहं तणउं तणउं विक्खायउ । अवलोइवि गुणसिरिसंजुत्तउ सइजणणं हरिसेणु पवुत्तउ ॥
 × × ×

एक्कहिँ दिणि णिवेण सहं पुत्तं अंतेउर - परियण - संजुत्तं ।
 सुयसायर - मुणि - पाय णवेविणु जिणणाहेरिउ धम्मु लएविणु ।
 घत्ता—णिवेएं जाय - विवेए तेण रज्जे धरि तणुरुहु ।
 पुणु दिक्खिउ उवलक्खिउ तहो समीवे जिणि मणुरुहु ॥

—वड्डमाणच० संधि ७/कड ११

सावय—वय - लेविणु मुणिणाहहो पणवेप्पिणु णिज्जिय-रइणाहहो ।
 सम्महंसण - रयण - विराइउ हरिसेणु वि णिय - णिलइ पराइउ ॥
 × × ×

महमइ - मंति उग परिवारिउ अरि ण जाउ सो उग्गु णिरारिउ ।
 × × ×

घत्ता—सुह कायउ जो वसु जायउ परिणओ वि ण उ कामहो ।
 जसु ण रमइं मणु परि विरमइ रमएविममे उद्दामहो ॥

—वड्डमाणच० संधि ७/कड १२

इय तहो राय - लच्छि भुंजंतहो णरणाहहो वुह - यण - रंजंतहो ।
 सुहयर - सावय - वित्ति - धरंतहो गय - वहु - वरिस हरिसु पजणंतहो ।
 एत्थंतरे विहरंतु समायउ पमय - वणंतरे मुक्क - पमायउ ।

सुप्परइद्ध णामेण मुणीसरु मोहरहिउ णिम्महिय रईसरु
तहो पय - पंकय जुवलु णवेविणु णरणाहँ उवसमु भावेविणु
लेवि दिक्ख उवलक्खवि सत्थई भव्वयणई वोहेइ पसत्थई

—वड्डुमाणच० संधि ७/कड १७

जम्बूद्वीप में सुमेरु पर्वत के दक्षिण दिशा भाग में—भारतवर्ष में अवंती नाम का देश है। उस अबन्ती देश उज्जयिनी नामकी एक पुरी है।

उसी उज्जयिनी नगरी में वज्रसेन नामक एक राजा (राज्य करता) था जो वज्रपाणि-इन्द्र के समान बने बिभूतियों वाला था। वह वज्रशरीरी अपने समस्त बन्धुओं को सुख देने वाला सुन्दर एवं वज्र-चिन्ह से अलंकृत हाथों वाला था।

उस राजा वज्रसेन की गृहिणी—पट्टशानी का नाम सुशीला था, जो शीलकी निधि के समान थी। वह ऐसी प्रतीत होती थी मानों चन्द्रमा की प्रिया रोहिणी ही हो। हंसिनी के समान उसके (मातृ-पितृ एवं ससुराल) दो ही पक्ष समुज्ज्वल थे।

काल के बशीभूत होकर वह लान्तवदेव स्वर्ग से च्यकर इन दोनों के यहाँ एक बिरह्यास पुत्र के रूप में उतरे हुवा। उसे गुणश्री से युक्त देख कर पिता ने स्वयं ही उसका नाम 'हरिषेण' घोषित किया।

एक दिन राजा (वज्रसेन अपने) पुत्र को अपने साथ में लेकर अंतःपुर के परिजनों सहित श्रुतसागर मुनि चरणों में प्रणाम कर तथा उनसे जिननाथ द्वारा कथित धर्म ग्रहण कर विवेकशील बनकर वह वैशाख से भर गया। उसने काम-भावना को जीतकर तथा पुत्र को राज्य सौंप कर उनके समीप दीक्षा ग्रहण कर ली।

काम को जीत लेने वाले मुनि नाथ से श्रावकों के व्रतों को लेकर (तथा उन्हें) प्रणाम कर सम्यग् दर्शन कर रत्न से विराजित वह हरिषेण भी अपने घर लौट आया।

वह महामति मंत्रियों और उग्र परिवार से निरंतर घिरा हुआ होने पर शत्रुओं पर वह कभी उग्र नहीं हुआ। सुन्दर काय वाले उस (राजा हरिषेण) ने पृथावस्था में विवाह किया था। तो भी वह उद्दाम-काय के बन्धुभूत न हुआ। उस उपशांत वृत्ति वाले का मन विषयों में नहीं रमता था। वह उनसे एक दम विरुद्ध रहता था।

इस प्रकार राज्यलक्ष्मी का सुखभोग करते हुए, बन्धुजनों का मनोरंजन करते हुए, सुखकारी श्रावकवृत्ति आचरण करते हुए उस नरनाथ हरिषेण के अनेक वर्ष व्यतीत हो गये।

इस बीच में अप्रमादी, मोहजाल से रहित एवं काम-विजिता सुप्रतिष्ठ नामक मुनिस्वर विहार करते-करते प्रमद वन में पधारे।

उन मुनिराज के पद-पंकज युगल को प्रणाम कर वह नरनाथ उपशम भाव भाकर, दीक्षा ग्रहण कर प्रशस्त शास्त्रों को उपलक्षित कर भव्यजनों को प्रतिबोधित करने लगा।

*२८ महाशुक्र स्वर्ग का देव

(क) ततो ह्यज्ञानचारित्रतपसां मुक्तिदायिनाम् । आराधनां विधायोच्चैः शोषयित्त्वानिर्जवपुः । १

तपोऽग्निना परित्यज्य प्राणान् सर्वसमाधिना । तत्फलेने महाशुक्रे सोऽभून्महर्द्धिकोऽमरः ॥ २४ ॥

—वीरच० अधि ५

(ख) तउ दुच्चरु चिरु चरिवि पयत्ते॑ मुणिणाहेण तेण विगयत्ते॑ ।
अंतयाले सल्लेहण भावेवि हिययं कमले जिणवर - गुण - थाइवि ।
मेत्थिलिवि पाणइ सोक्ख - णिहाणे॑ किउ महुसुक्कि गवणु सुविहाणे॑ ।
पीयंकरु णामे॑ सुरु जायउ तहिं देवंगण - माणिय - कायउ ।
सोलह - सायर - आउ - पमाणउं ।

—वड्डमाणच० संधि ७/कड १७

(ग) वर्धमानव्रतः प्रान्ते महाशुक्रेऽजनिष्ट सः । षोडशाम्भोधिमैयायुराविभूतसुखोदयः ॥ २३४ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

जिसके व्रत निरन्तर बढ़ रहे हैं—ऐसा हरिषेण आयु का अंत होने पर महाशुक्र स्वर्ग में देव उत्पन्न हुआ । वहाँ वह सोलह सागर की आयु प्रमाण उत्तम सुख भोगता रहा ।

•२६ प्रियमित्र— प्रियदत्त चक्रवर्ती के भव में

•१ जन्म

+ + + लब्ध्वा च मानुषं जन्म शुभं कर्मैकदाऽऽर्जयत् ॥ १८३ ॥
ततोऽपरविदेहेषु मूकायां पूरिभूपतेः । धनंजयस्य धारिण्याः पत्न्यां कुक्षाववातरत् ॥ १८४ ॥
चतुर्दशमहास्वप्नाख्यातचक्रधरद्विकः । काले तथा च सुषुप्ते सूनुः संपूर्णलक्षणः ॥ १८५ ॥
प्रियमित्र इति नाम पितरौ तस्य चक्रतुः । पित्रोर्मनोरथैः सार्धं क्रमेण ववृधेच सः ॥ १८६ ॥
अथ संसारनिर्विण्णो धनञ्जयमहीपतिः । प्रियमित्रं सुतं राज्ये निधायव्रतमाददे ॥ १८७ ॥
प्रियामिवभुवंपातुः प्रियमित्रस्य भूपतेः । चतुर्दशमहारत्नान्युदपद्यन्त च क्रमात् ॥ १८८ ॥
षट्खंडं विजयं जेतुं चक्रमार्गानुगोऽचलत् । गत्वाचपूर्वाभिमुखं मागधं तीर्थमासदत् ॥ १८९ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

तिर्यच और मनुष्यों के अनेक भव कर बाद में शुभ कर्म उपार्जन कर अपरविदेह में मूकानगरी में धनञ्जय— राजा की धारिणी नाम की रानी की कुक्षि में पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ । रानी ने चौदह स्वप्न देखे जिसमें चक्रवर्ति होने की सूचना थी ।—ऐसे संपूर्णलक्षण वाले उस पुत्र को धारिणी ने योग्य समय में जन्म दिया । माता-पिता ने पुत्र का नाम—प्रियमित्र रखा । माता-पिता के मनोरथ के साथ अनुक्रम से वृद्धि को प्राप्त हुआ ।

संसार से निर्बन्ध को प्राप्त धनञ्जय राजा ने प्रियमित्र को राज्य पर बैठा कर दीक्षा ग्रहण की ।

प्रिया की तरह भूमिका पालन करता हुआ प्रियमित्र राजा को अनुक्रम से चौदह महाव्रत उत्पन्न हुए ।

तत्पश्चात् चक्र के मार्ग के अनुसार छह खण्ड पर विजय करने के लिए चला ।
प्रथम पूर्वाभिमुख चलकर मागध तीर्थ आया ।

•२ प्रियमित्र चक्रवर्ती की छह-खंड पर विजय

(क) —मागध तीर्थ पर विजय

प्रियामिव भुवं पातुः प्रियमित्रस्य भूपतेः । चतुर्दश महारत्नान्युदपद्यन्त च क्रमात् ॥ १८८ ॥
षट्खंडं विजयं जेतुं चक्रमार्गानुगोऽचलत् । गत्वा च पूर्वाभिमुखं मागधं तीर्थमासदत् ॥ १८९ ॥
कृत्वाऽऽष्टमतपस्तत्र चतुरङ्गचमूवृतः । चतुर्थान्ते रथाहटः किञ्चिद्गत्वाऽग्रहीद्वनः ॥ १९० ॥
मागधतीर्थकुमारं समुद्दिश्य महाभुजः । कंकपत्रं स्वनामांकं गरुत्मन्तमिवाक्षिपत् ॥ १९१ ॥
योजनानि द्वादशेषुः संलघित्वा विहायसा । पुरो मागधदेवस्य पपातोत्पातवञ्चवत् ॥ १९२ ॥
बाणो मुमुर्षुणा केन क्षिप्र इत्यभिचिन्तयन् । मागधेशो रूपोत्थाय तं जग्राह शिलीमुखम् ॥ १९३ ॥
चक्रिनामाक्षरश्रेणीं वीक्ष्य शान्तीभवन् क्षणात् । उपायनान्युपादाय प्रियमित्रं स आययौः ॥ १९४ ॥
आज्ञाधस्तवास्मीति जल्पन् व्योमस्थितो नृपम् । पूजयामास विविधोपायनैः स उपायवित् ॥ १९५ ॥
तं सत्कृत्य विस्तृज्याथ वलित्वा पारणं व्यधात् । चक्री मागधदेवस्य चक्रेचाष्टाह्निकोत्सवम् ॥ १९६ ॥

त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

प्रिया की तरह भूमिका पालन करता हुआ प्रियमित्र राजा को अनुक्रमतः चतुर्दश महारत्न उत्पन्न हुए । बाद में चक्र के मार्गानुसार षट्खण्ड पर विजय करने के लिए चल पड़ा ।

सर्वप्रथम पूर्वाभिमुख चलकर मागध तीर्थ आया । वहाँ अष्टम तप कर चतुरंग सेना सहित पड़ाव किया । अष्टम तप के अंत में रथाहट होकर—थोड़ी दूर जाकर उसने वनुष्य हाथ में लिया । बाद में महाभुज मागध तीर्थ कुमार का उद्देश कर स्वयं के नाम से अंकित गरुड़ की तरह एक बाण उसके ऊपर फेंका । वह बाण बाहर आकाश में योजनपर्यन्त जाकर मागध देव के सामने उत्पात वञ्च की तरह पड़ा । उस समय “मरण की इच्छा रखने वाला यह बाण किसने फेंका है—ऐसा चिन्तन करता हुआ मागध देव क्रोध से उठकर उस बाण को हाथ में ग्रहण किया । फलस्वरूप उस बाण के ऊपर चक्रवर्ती के नाम की अक्षर की श्रेणी देखकर वह क्षणभर में शांत हो गया ।”

बाद में बहुत सारी भेंट लेकर वह प्रियमित्र चक्रवर्ती के पास आया और ‘मैं तुम्हारा आज्ञाधारी हूँ’ ऐसा बोलता हुआ आकाश में उभा रहा । उपाय जानने वाला उसने विविध प्रकार की भेंटों से चक्रवर्ती की पूजा की । बाद में चक्रवर्ती ने उसे सम्मानित कर बिदा किया और स्व’ प्रियमित्र चक्रवर्ती वापस आकर अष्टम भक्त का पारण किया ।

उसी प्रकार उसने मागध देव के निमित्त वहाँ अट्टाई उत्सव किया ।

(ख) वरदाम तीर्थ—आदि पर विजय

ततो जगाम याम्यायां कर्कस्थितइवार्यमा । वरदामानममरं नृपः प्राग्वदसाधयत् ॥ १६७ ॥
 गत्वा प्रतोच्यां प्रभासतीर्थेशमपि चक्रभृत् । विधिना साधयामास प्रति सिन्धुं जगाम च ॥ १६८ ॥
 कृताष्टमस्य प्रत्यक्षीभूय सिन्धुर्महीपतेः । रत्नभद्रासने दिव्ये प्रददौ भूषणानि च ॥ १६९ ॥
 तां विस्मृज्य स वैताह्यं चक्ररत्नानुगो ययौ । वैताह्याद्रिकुमारं चासाधयद्विहिताष्टमः ॥ २०० ॥
 गतस्याभितमिस्त्रं चाष्टमस्यस्य महीपतेः । कृतमालः स्त्रीरत्नार्हमन्यचाभरणं ददौ ॥ २०१ ॥
 उत्तीर्य चर्मणा सिन्धुं सेनानीश्चक्रिशासनात् । लीलया साधयामास सिन्धोः प्रथमनिष्कुटम् ॥ २०२ ॥
 भूयोऽप्यभ्येत्य सेनानीः प्रियमित्रस्य शासनात् । कृताष्टमो दंडवातात्तमिस्रामुदघाटयत् ॥ २०३ ॥
 चक्र्यारूढो गजरत्नं तत्कुंभे न्यस्य दक्षिणे । मणिरत्नं प्रकाशाय तमिस्रां प्राविशद् गुहाम् ॥ २०४ ॥
 काकिण्या मंडलान्यकर्मंडलाभानि पार्श्वयोः । लिखन् गुहायां द्योतायचक्री चक्रानुगो ययौ ॥ २०५ ॥
 पद्ययोन्मग्ननिमग्ने नद्यौ तीर्त्वा महीपतिः । स्वयमुद्धटितेनोदगद्वारेण निरयाद्गिरेः ॥ २०६ ॥
 आपातनाम्नः किरातानजैषीत्त्र चक्रभृत् । असाधयच्च सेनान्या द्वितीयं सिन्धुनिष्कुटम् ॥ २०७ ॥
 चक्रानुगो निवृत्त्याथ भूपो वैताह्यमभ्यगात् । वशीचक्रे द्वयोः श्रेण्योस्तत्र विद्याधरांश्च सः ॥ २०८ ॥
 साधयित्वा स सेनान्यां गांगं प्रथमनिष्कुटम् । स्वयमष्टमभक्तेन गंगादेवीमसाधयत् ॥ २०९ ॥
 खंडप्रपातया सेनान्युद्घाटितकपाटया । वैताह्याद्रेर्निर्जगाम ससैन्योऽपि महीपतिः ॥ २१० ॥
 अथाष्टमतपःस्थस्य प्रियमित्रस्य चक्रिणः । नवापि निधयोऽभूवन्नैसर्पाद्या वशंवदाः ॥ २११ ॥
 जितषट्खंडविजयश्चक्री मूकां पूरीं ययौ । चक्रीभृत्वाभिषेकोऽस्य चक्रे द्वादशवार्षिकः ॥ २१२ ॥
 अमरैर्नृवरैश्चापि महोरसवपुरःसरम् । नीत्या पालयतस्तस्य पृथिवीं पृथिवीपतेः ॥ २१४ ॥

—त्रिशालाका० पर्व १०/सर्ग १

तत्पश्चात् कर्मशाशी के सूर्य की तरह चक्रवर्ती दक्षिण दिशा की ओर चला । वहाँ वरदाम नामक देव को पूर्व (मागध देव की तरह) तरह साध लिया ।

वहाँ से पश्चिम की तरफ जाकर प्रभासपति को साधा ।

इसके बाद सिंधु नदी के समीप आया । वहाँ जिस मन से अष्टम तप किया—ऐसे चक्रवर्ती के पास सिंधु नदी प्रत्यक्ष होकर दो दिव्य रत्नमय भद्रासन और दिव्य आभूषण दिये । उस देवो को विदाई कर चक्र के मार्गानुसार चक्रवर्ती वैताह्यगिरि के पास आया । वहाँ अष्टम तप कर वैताह्यादि कुमार नामक देव को साधा ।

इसके बाद तमिस्रा गुफा के पास जाकर अष्टम तप किया । फलस्वरूप वहाँ स्थित कृतमाल देव स्त्रीरत्न के योग्य ऐसे दूसरे आभूषणों को दिये ।

बाद में सेनापति चक्रवर्ती की आज्ञा से चर्मरत्न के द्वारा सिंधुनदी को पारकर लीला मात्र में उसकी प्रथम निष्कुट साध लिया ।

वहाँ से वापस आकर चक्रवर्ती की आज्ञा से अष्टम तप कर दण्ड रत्न के घात से उसने तमिस्रा गुफा का द्वार खोला ।

इसके बाद प्रियमित्र चक्रवर्ती गजरत्न पर आरूढ़ होकर उसके दक्षिण कुम्भ-स्थल के ऊपर प्रकाश के लिए मणिरत्न को छोड़कर तमिस्रा गुफा में बैठा। वहाँ काकणी रत्न से गुफा की दोनों बाजू की तरफ प्रकाशाथं सूर्य-मण्डल-ऐसा मांडले करता हुआ चक्रवर्ती चक्र के अनुसार चला।

इसके बाद उन्मग्ना और निमग्ना नदी पर पाज (पाल) बंधायी। वह नाव से नदी पार कर स्वयं के मेल उधड़ी गया हुआ वह गुफा के उत्तर द्वार से चक्रवर्ती बाहर निकला। वहाँ चक्रवर्ती ने आपात जाति के किरात लोगों को जीत लिया और सेनापति के द्वारा गंगानदी की प्रथम निष्कूट संधाया। स्वयं अष्टम भक्त कर गंगादेवी को साधा।

इसके बाद गुफा के अधिष्टायकदेव को सेनापति के पास से सिंधु नदी का दूसरा निष्कूट संधाया। चक्रवर्ती के अनुसार वहाँ से वापस फिरकर वैताढ्यगिरि के पास आया।

वहाँ वैताढ्यगिरि के ऊपर की दोनों श्रेणी के विद्याधरों को वशीभूत किया।

बाद में खंडप्रपाता गुफा के अधिष्टायक देव को साधकर सेनापति के पास से गुफा के द्वार खोलकर चक्रवर्ती सैन्य सहित वैताढ्यगिरि के बाहर निकला।

तत्पश्चात् प्रियमित्र चक्रवर्ती ने अष्टम तप किया—जिससे नैसर्ग आदि नवनिधि उसके वशीभूत हुई।

इसके बाद सेनापति के पास से गंगा का दुसरा निष्कूट साधकर—छः खंड पर विजय प्राप्तकर प्रियमित्र चक्रवर्ती मूका नगरी आये।

वहाँ देवों और राजाओं ने एकत्रित होकर बारह वर्ष के महोत्सवपूर्वक उसका चक्रवर्तित्व का अभिषेक किया। तत्पश्चात् राजा ने नीतिपूर्वक पृथ्वी का पालन करने लगा।

.३— एक विवेचन

(क) अथ सद्भातकीखण्डे द्वीपे पूर्वाभिधानके । विदेहे पूर्वसंज्ञेऽस्ति विषयः पुष्कलावती ॥ ३५ ॥
प्रागुक्तवर्णना तत्र नगरी पुण्डरीकिणी । महती शाश्वता दिव्याचक्रिभोग्याहिविद्यते ॥ ३६ ॥
पतिस्तस्याः सुमित्राख्यो नरेशोऽभूत् सुपुण्यवान् । राज्ञीतस्याभवद्रम्या सुत्रताख्या व्रताङ्किता ॥ ३७ ॥
महाशुक्रास्स आगत्य देवोऽतिदिव्यलक्षणः । प्रियमित्राभिधो जातस्तयोः पुत्रोजगत्प्रियः ॥ ३८ ॥

×

×

×

यौवनं तु महामण्डलेश्वरश्रीसमन्वितम् । पितुः पदं समाप्यैष भुनक्ति सुखमुल्बणम् ॥ ४४ ॥

तदास्याद्भुतपुण्येन प्रादुरासन् स्वयं क्रमात् । चक्रादि सर्व रत्नानि निधयोनव चोजिताः ॥ ४५ ॥

×

×

×

अस्यासन् परपुण्येन खभूचरनृपात्मजा । षण्णवति—सहस्राणि रूपलावण्यखानयः ॥ ५० ॥

+

+

अथैकदा नरेशोऽसौ क्षेमंकरजिनेश्वरम् । वंदितुं परिवारेण विभूत्यात्मा ययौ मुदा ॥ ७४ ॥

×

×

×

तद्धिताय जिनाधीशोऽसौ दिव्यध्वजिनानघम् । गणान् प्रतीत्यनुप्रेक्षापूर्वकं धर्ममादिशत् ॥ ७६ ॥
इयन्ति मे दिनान्यत्र संयमेन विना वृथा । गतानि विषयासक्तस्थातः किंकाललंघनम् ॥ १०४ ॥
विचिन्त्येति पदं दत्त्वा सर्वमित्राख्यसूनवे । निधिरत्नादिभिः सार्धं श्रियंहत्वा तृणादिवत् ॥ १०५ ॥
मिथ्यात्वाद्युपधीन् सर्वानन्तरे च नराधिपः । जप्राहाश्वार्हतीं मुद्रां मुक्तये मुक्तिकारिणीम् ॥ १०६ ॥
दुर्लभां त्रिजगत्लोके देवतिर्यक्कुजन्मिनाम् । सहस्रभूमि पैः साकं संवेगादिगुणान्वितैः ॥ १०७ ॥

—वीरच० अधि ५

(ख) अस्तमभ्युद्यताको वा प्रान्तकालं समाप्तवान् । धातकीखंडपूर्वाशा विदेहे पूर्वमागमे ॥ २३५ ॥
विषये पुष्कलावत्यां धरेशः पुण्डरीकिणी । पतिः सुमित्रविख्यातिः सुव्रतास्य मनोरमा ॥ २३६ ॥
प्रियमित्रस्तयोरासीत्तनयो नयभूषणः । नाम्नेव नमिताशेषविद्विषश्चक्रवर्तिताम् ॥ २३७ ॥
संप्राप्य मुक्तभोगाङ्को भंगुरान्सर्वसंगमान् । क्षेमंकरजिनाधीशवक्त्राम्भोजविनिर्गतात् ॥ २३८ ॥
तत्त्वगर्भगम्भीरार्थवाक्यान्मत्वा विरक्तवान् । सर्वमित्राख्यसूनौ स्वं राज्यभारं निधाय सः ॥ २३९ ॥
भव्यभूपसहस्रेण सह संयममाददे । प्रतिष्ठानं यमास्तस्मिन्नवा पंस्तेष्टमातृभिः ॥ २४० ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

उत्तम धातकी खण्ड द्वीप के पूर्वभागवर्ती पूर्व विदेह में पुष्कलावती नाम का देश है । वहाँ पर पुण्डरीकिणी नगरी है जो विशाल शाश्वती, दिव्य और चक्रवर्ती द्वारा भोग्य है । उस नगरी का स्वामी सुमित्र नाम का अतिपुण्यवान् राजा था । उसकी व्रत भूषित सुव्रता नामकी सुन्दर रानी थी । उन दोनों के महाशुक्र विमान से आकर वह देव दिव्य लक्षण वाला, जगत्प्रिय, प्रियमित्र नाम का पुत्र हुआ ।

जौवन अवस्था में महामंडलेश्वर की राज्य लक्ष्मी से युक्त पिता के पद को पाकर वह उत्तम सुख को भोगने लगा तत्पश्चात् उसके अद्भुत पुण्य से स्वयं ही चक्रादि सभी चौदह रत्न और उत्कृष्ट नव निषियां क्रमशः प्रकट हुईं ।

इस प्रियमित्र चक्रवर्ती के परम पुण्य से विद्याधर और भूमि गोचरी राजाओं से उत्पन्न हुई, रूप और लावण्य की खानी ऐसी छियानघे हजार रानियाँ थी ।

इसके पश्चात् एक दिन वह चक्रवर्ती अपने परिवार के साथ बड़ी विभूति से हर्षित होता हुआ क्षेमंकर जिनेश्वर की वंदना करने के लिये गया । तब जिनेश्वर देव ने उसके हित के लिये दिव्य-ध्वनि द्वारा सर्व गणों को लक्ष्य करते हुए प्रतीति (श्रद्धा) और अनुप्रेक्षापूर्वक धर्म का उपदेश दिया ।

मेरे विषयासक्त से इतने दिन यहाँ पर संयम के बिना व्यर्थ चले गये हैं । अतः अब समय बिताने से क्या लाभ है ? ऐसा विचार कर और सर्वमित्र नाम के पुत्र के लिए राज्य पद देकर नौ निधि (पद्म, काल, महाकाल, सर्बरत्न पाण्डुक, नैसर्प, माणव, शंख और पिंगल) और चौदह रत्नों के साथ सारी राज्यलक्ष्मी को तृणादि के समान छोड़कर तथा मिथ्यात्व आदि रूपी आन्तरिक परिग्रहों को भी छोड़कर उस नरेश ने मुक्ति प्राप्ति के लिए मुक्तिकारिणी तीन लोक में देव, तिर्यञ्च एवं कुजन्म वाले नारकियों को दुर्लभ ऐसी आर्हती ऐसी जिनमुद्रा को सवेग-वेराग्य आदि गुणों से युक्त एक हजार राजाओं के साथ उस नराधिप प्रियमित्र चक्रवर्ती ने शीघ्र ग्रहण कर लिया ।

(ग) इय दीवई पुव्व - विदेहवरु सीया सरि तडि संचिय वि वरु ।

कच्छा णामे णिवसइ विसउ संपयणिय सयल्लिदिय विसउ ॥

तहिं खेमापुरि णिवसइ विसाल णाणा - मणि - णिम्मिय - तुंग साल ।

× × ×

तहिं हुवउ धणज्जउ धरणिणाहु णायर - जण - मणहरु कंचणाहु ।

× × ×

णं मणसिय-विजयहो वइजर्यति । जा कलहंसि व सोहइ वयंति ॥

णामेण पहावइ पुरिसिरीय । अवयस विग्गह विणसइ हिरीव ॥

रयणि विरामे सयणयले ताए । णिहावस मडलिय लोयणाई ॥

दिवखेवि सुह सुइणावलि भणेवि । पिययमहो पुरउ विभउ जणेवि ॥

+ + +

घत्ता—तह सुक्कामरु आउसु खविवि संजाउ पुत्तु सग्गहो चविवि ।

रूबाइ गुणेहिं अलंकरिउ णं मुत्तिवंतु जसु अवयरिउ ॥ १५४ ॥

—वड्डमाणव० संधि ८ । कड १

पियदत्तु भणिउ सो सज्जणेहिं रुंदाणं दाऊरिय - मणेहिं ।

+ + +

अण्णहिं दिणि तेण धणज्जण । ससिहर - सम - जस - धवलिय - जएण ।

पणवेपिणु खेमंकर-पयाई भवियण - पयणिय - सिव संपयाई ।

णिसुणेवि धम्मू एक्के मणेण वइराइल्ले पुणु तक्खणेण ।

घत्ता—णिय रज्जु समपेवि णिय - सुवहो अइरावइ - करि - कर - सम - भुवहो ।

तहो जिणहो मूलि दिक्खा गहिय वड्डंति विसय तण्हा महिय ॥ १५५ ॥

—वड्डमाणव० संधि ८/ कड २

णीसेस - णरिंदाहीस लच्छि दुल्लह पावेविणु पिय समच्छि ।

णरणाह णिहिल मणे किंकरत्तु । धारंत वइरि सव्वाहरत्तु ।

सच्चरणायड्डिय भत्ति तेम फुल्लिय सयदल दलि भसलु जेम ।

—वड्डमाणव० संधि ८ । कड ३

कइवय - दिवसहिं चक्केण तेण छक्खंड - वसुह वसुकिय सुहेण ।

+ + +

वत्तीस - सहास - णरेसरेई सोलह - सहास पवरामरेहिं

छन्नवइ - सहस - वर-कामिणीहिं मयणाणल - हुववह - सामिणीहिं ।

परियरिउ सहइ चक्कवइ तेम । देवी - गणेहिं सुर राउ जेम ॥

—वड्डमाणव० संधि ८ । कड ५

इय रञ्जु करते कय - सुहेण पुव्वहं तेयासी - लक्ख तेण ।
णीयइं जिण धम्मुकंठिएण विसयंभोणिहे परिसंठिएण ।
घत्ता—अण्णहिं दिणे परे लो लिय - रयणु दप्पणि देक्खंतें णिय वयणु ।
चक्कहरें कैसतरे लुल्लिउ सुइ मूलि णिहालिउ णव - पलिउ ॥ १६० ॥

—वड्डमाणच० संधि ८ । कड ७

तं देक्खेवि चितइ चक्कवट्ठि अरिखेत्त विमदण मइयवट्ठि ।
हउं जिम को परु मइवंतु एम वसु विहिउ विसय विमएहि तेम ।

—वड्डमाणच० संधि ८ । कड ८

वियाणेवि मुख-एपहं चक्कणाहो मुएऊण लच्छी महीकंचणाहो ।
णमेऊण खेमंकरं तिदधणाहं अकोहं अमोहं अलोहं अणाहं ।
घत्ता—अप्पेवि अरिं जयणिय - सुवहो महु हुवउ दियंवरु बहुसुवहो ।
सहुं सोलहं सहसहिं णरंवरहिं अवलोइज्जंतउ सुरवरहिं ॥ १६३ ॥

—वड्डमाणच० संधि ८ । कड १०

इस जम्बूदीप में श्रेष्ठ एक पूर्व विदेह नामक क्षेत्र है जहाँ सीता नदी के तट पर विशेष वरदानों से संचित तथा समस्त इन्द्रियों के विषय पदार्थों सहित कच्छा नाम का एक देश अवस्थित है ।

उसी कच्छा देश में नाना प्रकार के मणि-समूहों से निर्मित उत्तुङ्ग एवं विशाल परकोटों वाला क्षेमापुरी नामकी एक नगरी स्थित है ।

उसी नगरी में नागरिक जनों के मन को हरण करने वाला, कांचन की प्रभा वाला पृथ्वीनाथ धनंजय (नाम का राजा) हुआ ।

उस राजा की प्रेमानुराग प्रभावती नामकी एक भार्या थी । जो ऐसी प्रतीत होती, मानों कामविजय की वैजयंती—पताका ही हो, जो गमन करते समय कलह हसिनी की तरह सुशीलित होती थी, जो शोभा सौन्दर्य में प्रधान अपयश एव विग्रह से दूर रहने वाली तथा लज्जा की मूर्ति के समान थी । रात्रि के अंत में शय्यातल पर निद्रावश मुकुलित नेत्रों वाली उस प्रभावती ने एक शुभ स्वप्नावली देखी तथा उसे उसने अपने प्रियतम के सम्मुख आश्चर्य उत्पन्न करते हुए कह सुनाया ।

तभी वह महाशुक्र देव अपनी आयुष्य पूर्णकर तथा स्वर्ग से च्यकर उस रानी के यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ, जो रूपादि गुणों से अलंकृत था और ऐसा प्रतीत होता था मानों यश ही मूर्तिमान होकर अवतरा हो ॥ १ ॥

महानन्द से परिपूरित मनवाले सज्जनों ने उस बालक का नाम प्रियदत्त रखा ।

अन्य किसी एक दिन चन्द्रमा के समान यश से संसार को धवलित करने वाले उस राजा धनञ्जय ने भव्यजनों के लिए शिव संपदा प्रकट करने वाले मुनिराज क्षेमंकर के चरणों में प्रणाम कर उनसे एकाग्र मन होकर धर्म सुना जिस कारण उसे तत्काल ही वैराग्य हो गया ।

ऐरावत हाथी की सूंड के समान भुजाओं वाले अपने उस पुत्र प्रियदत्त को राज्य सौंपकर बढ़ती हुई विषय तृष्णा को मथन कर उस धनञ्जय ने उन मुनिराज के चरणों में दीक्षा ग्रहण कर ली ॥ २ ॥

समस्त नरेन्द्राधीशों की प्रिय, समर्थ एवं दुर्लभ लक्ष्मी को प्राप्त कर निखिल नरनाथों के मन में किकरत्व का भाव जगा दिया । किन्तु जो वैर धारण किये हुए थे उनका सर्वं स्वापहरण कर अपने सदाचरण से उन पर तत्काल ही वह उन्नी प्रकार छा गया, जिस प्रकार की भ्रमर विकसित शतदल कमल पर ॥ ३ ॥

कुछ ही दिनों में राजा प्रियदत्त ने उस चक्रवर्त्तन द्वारा बड़ी ही मरलता पूर्वक पृथ्वी के छहों खण्डों को अपने वश में कर लिया ।

बत्तीस सहस्र नरेन्द्रों, सोलह सहस्र देवेन्द्रों और मदनानल में भोंक देनेवाली श्रेष्ठ छयानबे सहस्र श्यामा कामिनियों से परिवृत्त वह चक्रवर्त्ती प्रियदत्त उसी प्रकार सुशोभित रहता था जिस प्रकार देवी समूह से सुरराज-इन्द्र ॥१॥

इस प्रकार सुख पूर्वक राज्य करते हुए तथा विषय सुख रूपी समुद्र में स्थित रहते हुये भी जिन धर्म में उत्कंठित उस चक्रवर्त्ती ने तेरासी लाख पूर्व व्यतीत कर दिये ।

अन्य किसी एक दिन देदीप्यमान रत्नों से सेवित उस चक्रवर्त्ती ने दर्पण में अपना मुख देखते हुए श्रुतिमूल (कान के पास) में केशों से छिपा हुआ एक नव पलित-श्वेत केश देखा ॥ ७ ॥

रात्रु समूह के विमर्दन से प्रवृत्त बुद्धिवाला वह चक्रवर्त्ती उस श्वेत केश को देख कर विचार करने लगा—“मुझे छोड़कर ऐसा कौन बुद्धिमान होगा, जो विषय-विषयों में इस प्रकार उलझा रहता हो ॥ ८ ॥

वह चक्रनाथ मोक्ष का पथ जान कर राज्यलक्ष्मी एवं धन-धान्यादि को छोड़कर अक्रोधी, निर्मोही, अलोभी एवं अकिञ्चन तीर्थनाथ क्षेमंकर को नमस्कार कर अपने अरिजय नामक बहुश्रुत पुत्र को पृथ्वी सौंपकर वह चक्रवर्त्ती सोलह सहस्र नरनर्यों के साथ सुरनर्यों के देखते-देखते ही दिगम्बर मुनि हो गया ॥ १० ॥

•२६•४ पोट्टिलभव (प्रियमित्र चक्रवर्ती) में—(श्वे० व दिग्० मान्यता)

(क) समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामण्णपरियागं पाउणित्ता सहस्सारे कप्पे सत्त्वट्ठविमाणे देवत्ताए उववण्णे ।

—सम० पइसम/सू ८६/पृ ६११ ६१२

मलय टीका—‘समणे’ र्यादि, यतो भगवान् पोट्टिलाभिधानराजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटिं प्रत्रज्यां पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति तृतीयः तत्र वर्षलक्षणं सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरिकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानायाः कुक्षावुत्पन्न इति पंचमस्ततस्त्र्यशीतितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थमहाराजस्य त्रिशलाभिधानभार्यायाः कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थंकरतया च जात इति षष्ठः । उक्तभवग्रहणं हि विनानान्यद्भवग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं यस्माच्च भवग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते तीर्थंकरभवग्रहणात्षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति ।

अमण भगवान् महावीर तीर्थंकर का भव ग्रहण करने के पूर्व छट्टे पोट्टिलभव (प्रियमित्र चक्रवर्ती) में एक करोड़ वर्ष अमण-पर्याय का पालनकर सहस्राय नामक देवलोक में सर्वायं नाम के विमान में देवरूप में उत्पन्न हुए ।

टीकार्थ—भगवान् महावीर स्वामी पूर्वं भव में पोट्टिल नाम के राजपुत्र थे— उस भव में एक करोड़ वर्ष प्रव्रज्या लन किया । (प्रथम भव)

२—वहाँ से देव हुए (दूसरा भव)

३—वहाँ से नन्दन नाम के राजपुत्र छत्राग्रनगरी में हुए—(तीसरा भव)

४—उस भव में लाख वर्ष तक सर्वदा मास क्षमण तप कर दशवें देवलोक में पुष्पोत्तर-वरविजयपुण्डरीक नाम गान में देव हुए (चतुर्थ भव)

५—वहाँ से ब्राह्मणकुण्डग्राम में ऋषभदत्त ब्राह्मण की पत्नी—देवानदा की कुक्षि से उत्पन्न हुए (पांचवां भव)

६—और वहाँ से तिरासवें दिन क्षत्रिय कुण्डग्राम नगर में सिद्धार्थ महाराजा की त्रिशला नामकी भार्या की कुक्षि से इन्द्र के वचन को पालन करने वाला हरिणैगमेषी नामक देव ने संहरण किया और तीर्थंकर रूप में उत्पन्न हुए (षष्ठ भव) अतः तीर्थंकर के भव ग्रहण करने से छट्ठा पोट्टिल का भव ग्रहण किया गया है ।

प्रियमित्तचक्रवट्टी मुया विदेहाइ चुलसीइ ॥

—आव० निगा ४४८ उत्तरार्ध

मलय टीका—अपरविदेहे मूकायां राजधान्यां धनञ्जयनृपतेर्धारणिदेव्याः प्रियमित्राभिधानश्चक्रवर्ती मन्त्रः, तत्र चतुरशीतिपूर्वसहस्राण्यायुष्कमासीदिति ।

पुत्तो धणंजयस्सा पुट्टिल परियाउ कोडि सव्वट्टे ।

—आव० निगा ४४९ पूर्वार्ध

मलय टीका—तत्रासौ प्रियमित्रः पुत्रो धनञ्जयस्य धारणिदेव्याश्च भूत्वा चक्रवर्तिभोगान् मुक्त्वा चित्तु सव्वजातसंवेगः सन् 'पोट्टिल' इति प्रौष्टिलाचार्यसमीपे प्रव्रजितः, 'परियाओ कोडि सव्वट्टे'ति आपर्यायो वर्षकोटिर्भूव × × × ।

भगवान् महावीर का जीव कतिपय तिर्यञ्च-मनुष्य भव करके अपर विदेह में मूका राजधानी के राजा धनञ्जय धारणि रानी की कुक्षि में उत्पन्न हुए । वहाँ प्रियमित्र नाम से चक्रवर्ती राजा हुए और भोग भोगे तथा कदा कदा उत्पन्न होने से प्रौष्टिलाचार्य के समीप दीक्षित हुए तथा एक कोटि वर्ष की भ्रमण-पर्याय का पालन किया । जो चौरासी लाख पूर्व का आयुष्य था ।

एकदा पोट्टिलाचार्य उद्याने समवासरत् । धर्मं तदन्तिके श्रुत्वा राज्ये न्यस्य स्वमात्मजम् ।

स प्रवव्राज तेपे च वर्षकोटीं तपः परम् । पूर्वलक्षचतुरशीत्यायुः संन्यासपूर्वकम् ।

मृत्वा शुक्रेस सर्वार्थविमाने त्रिदशोऽभवत् ॥ २१६ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १/श्लो० २१४ उत्तरार्ध २१५, २१६

एक समय मुकानगरी के उद्यान में पोट्टिल नामक आचार्य का पदार्पण हुआ । उनके पास से धर्म सुना फल पुत्र को राज्य पर बैठा कर उनसे दीक्षा ग्रहण की । और एक कोटि वर्ष तक उत्कृष्ट तप किया । सर्वायुष्य चौरासी लाख पूर्व का क्षयकर महाशुक्र देवलोक के सर्वार्थ नामक विमान में देव हुए ।

३० सहस्रार स्वर्ग का देव—अथवामहाशुक्र का देव

क) समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गणाओ छट्ठे पोट्टिलभवग्गहणे एगं वासकोडिं सामणे पाउणित्ता सहस्सारे कप्पे सब्बट्ठे विमाणे देवत्ताए उववण्णे ।

—सम०/पइसम/सू ८^६/पृ० ६११, ६१२

भ्रमण भगवान् महावीर का जीव—प्रोष्ठिलकेभव (प्रियमित्र चक्रवर्ती) में एक कोटि वर्ष का यज्ञ का पालन कर सहस्रार नामक देवलोक में सर्वार्थ नाम के विमान में देव रूप में उत्पन्न हुआ ।

(ख) मलयटीका - × × × मृत्वा (प्रियमित्र चक्रवर्ती) महाशुक्र कल्पे सर्वार्थविमाने सप्तदशस्थितिर्देवोऽभवत् ।

—आव० निगा ४४६ मलयटीका

भगवान् महावीर का जीव प्रियमित्र चक्रवर्ती के भव से मरकर महाशुक्र कल्प के सर्वार्थ विमान सागरोपम आयुष के देवरूप में उत्पन्न हुआ । (देखो क्रमांक २३)

(ग) पूर्वलक्ष्मचतुरशीत्यायुः संन्यासपूर्वकम् । मृत्वा शुक्रे स सर्वार्थविमाने त्रिदशोऽभवत् ॥ २१ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १

(घ) प्रियमित्रमुनीन्द्रोऽसौ तदर्जितशुभोदयात् । सहस्रारेऽभवदेवो महासूर्यप्रभाभिधः ॥ ११० ॥

—वीरच० अधि ५

(च) वे पढम-भाण मणि परिहरेवि तउ चरइ घोह उवसमु धरेवि ।

दूसह तवेण सोसिवि सरीह अवसाणकाले मणुकरवि धीरु ।

करि पाणचाउ सण्णासणेण पव्वज्जिय पाव सण्णासणेण ।

सहस्रार - कप्पे सहसत्ति जाउ सहजाहरणालंकरिय-काउ ।

दिवट्ठ - गुणामल - सिरि-समेउ गामेण सूरपहु सूरदेउ ।

—वड्डमाणच० संधि ८/कड ११

मनमें प्रथम दो - आर्त और रौद्र ध्यानों का त्याग कर तथा उपसमभावों को धारण कर वह चक्र करने लगा और दुस्सह तप से शरीर का शोषण कर अवसान के समय मन को धीर बनाकर पूर्वोपाहित विधिपूर्वक नाशकर, संन्यासमरण पूर्वक प्राण-त्याग करके वह सहसा ही सहस्रार स्वर्ग में सहज प्राप्त हो अलंकृत कामयुक्त तथा दिव्या अणिमा, महिमा आदि आठ गुणों को निर्मल श्री से समृद्ध सूर्यप्रभ नामक एक

(छ) प्रान्ते प्राप्य सहस्रारमभूत् सूर्यप्रभोऽमरः । सुखाष्टादशवाध्यायुर्धृद्धिर्भुक्तभोगकः ॥ १११ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

नन्दन राजा

द्वत्तमाए पणवीसाउं सयसहस्सा ॥

—आव० निगा ४४६ उत्तरार्ध

टीका—सर्वार्थसिद्धाच्युत्वा (महाशुक्र कल्पात्) छत्रायां नगर्यां जितशत्रुनृपतेर्भद्रादेव्या
नो नामकुमार उत्पन्न इति, पञ्चविंशतिवर्षशतसहस्राण्यायुष्कमासिदिति । तत्र च बाल एव
व्यवहार, चतुर्विंशतिवर्षशतसहस्राणि राज्यं कृत्वा ततः—

राज पुट्टिले सयसहस्स सव्वत्थ मासभत्तेणं ।

—आव० निगा ४५० पूर्वार्ध

टीका—राज्यं विहाय प्रत्रज्यां कृतवान् 'पोट्टेल' त्ति प्रोष्टिलाचार्यान्तिके, 'सयसहस्स' त्ति
व्रतसहस्रं यावदिति, कथं—सर्वत्र मासभक्तेने' ति अनवरतमासोपवासेनति, अस्मिन् भवे
तिभिः कारणैस्तीर्थकरनामगोत्रं कर्मनिकाचयित्वा मासिकयासँलेखनयाऽऽमानं क्षपयित्वा-
भक्तानि विहाय आलोचितप्रतिक्रान्ती मृत्वा + + + ।

च्युत्वेह भरते छत्रायां पुर्यां जितशत्रुतः । भद्रादेव्यां सोऽन्ननिष्ट नन्दनो नाम नन्दनः ॥ २१७ ॥

+ + +

अस्योद्यौवनं राज्ये जितशत्रुर्महीपतिः । संसारवासनिर्विण्णः परिव्रज्यामुपाददे ॥ २१८ ॥

पानां हृदयानन्दो नन्दनोऽपि वसुन्धराम् । यथाविधि शशासैनां पाकशासनशासनः ॥ २१९ ॥

विशत्यब्दलक्ष्मीं जन्मतोऽस्तीत्य नन्दनः । विरक्तः पोष्टिलाचार्यसमीपे व्रतमाददे ॥ २२० ॥

सोपवासैः सततैः श्रामण्यं सप्रकर्षयन् । व्यहार्षाद् गुरुणा सार्धं ग्रामाकरपुरादिषु ॥ २२१ ॥

आभ्यामपध्यानाभ्यां बंधनाभ्यां च वर्जितः । त्रिभिर्दुर्देगौरवैश्च शल्यैश्च रहितः सदा ॥ २२२ ॥

अणवतुष्कपायश्चतुःसंज्ञाविवर्जितः । चतुर्विकथारहितश्चतुर्धर्मपरायणः ॥ २२३ ॥

विष्वैरुपसर्गैरपरिस्खलितोद्यमः । व्रतेषु पंचसूद्युक्तो द्वेषो कामेषु पंचसु ॥ २२४ ॥

व्यवहारस्वाध्यायप्रसक्तः प्रतिवासरम् । विभ्राणः समितीः पंचजेता पंचेन्द्रियाणि च ॥ २२५ ॥

जीवनिकायत्राता समभोस्थानवर्जितः । विमुक्ताष्टमदस्थानः स नवब्रह्मगुप्तिकः ॥ २२६ ॥

व्यवहारविधं धर्मं सम्यगेकादशांगभृत् । तपो द्वादशधा कुर्वन् द्वादशप्रतिमारुचिः ॥ २२७ ॥

सहामपि सहिष्णुः परीषहपरंपराम् । निरीहो नन्दनमुनिर्वर्षलक्षं तपोऽकरोत् ॥ २२८ ॥

दूभक्त्यादिभिः स्थानैर्विशत्यापि महातपा । दुरर्जमज्जयामास तीर्थकृन्नामकर्म सः ॥ २२९ ॥

निष्कलंकं श्रामण्यं चरित्वा मूलतोऽपिहि । आयुःपर्यन्तसमये व्यधादाराधनामिति ॥ २३० ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

×

×

×

कर्मगर्हणां जन्तुक्षमणां भावनापि । चतुःशरणं च नमस्कारं चानशनं तथा ॥ २६६ ॥

आराधनां षोढा स कृत्वा नन्दनो मुनिः । धर्माचार्यान्क्षमयत् साधून् साध्वीश्च सर्वतः ॥ २६७ ॥

द्विं दिपांन्यनशनं पालयित्वा समाहितः । पंचविंशत्यब्दलक्षपूर्णायाः सोऽममो मृतः ॥ २६८ ॥

अथाधिप्राणतं पुष्पोत्तरनामनि विस्तृते । विमाने स उपपेदे शय्यायामुद्पद्यत ॥ २१७ ॥
—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

महाशुक देवलोक से च्यवन कर भगवान् महावीर का जीव भरतक्षेत्र में छत्रा नामकी नगरी में विराजमान राजा की भद्रा नामकी रानी से नन्दन नामक पुत्र हुए ॥ २१७ ॥ यौवनावस्था के प्राप्त होने पर—उसे राजा बैठा कर जित शत्रु राजा संसार से निर्वेद को प्राप्त होकर दीक्षा ग्रहण को । लोगों को आनन्द उत्पन्न करने के लिये नन्दन राजा समृद्धि से इन्द्र की तरह होकर यथा विधि पृथ्वी पर राज्य करने लगे ॥ २१८, २१९ ॥

चौबीस लाख वर्ष राज्य का भोग कर—विरक्त होकर वह नन्दन राजा पोट्टिलाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण निश्चिन्त मासोपवास करने से स्वर्ग के श्रामण्य की उत्कृष्ट स्थिति में पहुँचते हुए नन्दन मुनि गुरु के साथ में आकर, पुत्र आदि में विहार करने लगे ॥ २२०-२२१ ॥

दोनों प्रकार के अपध्यान (आत्-रौद्र) से और द्विविध बंधन (राग-द्वेष) से वर्जित थे । तीन प्रकार के दंड (मन, वचन, काय), तीन प्रकार के गौरव (ऋद्धि-रस सता) और तीन जाति के शल्य (माया-निदान-दर्शन) से रहित थे । चार कषायों को उन्होंने क्षीण किया, चार संज्ञा से वर्जित थे, चार प्रकार की विकार वर्जित थे, चतुर्विध धर्म में परायण थे और चार प्रकार के उपसर्गों से भी उनका उद्यम स्वलित था । पंचविध व्रत में सदा उद्यमी थे और पंचविध काय (पाँच इन्द्रियों के विषय) के प्रति सदा द्वेषी थे । प्रतिदिन पाँच प्रकार के स्वाध्याय में आसक्त थे । पाँच प्रकार की समिति को धारण करते थे और पाँच इन्द्रियों के विजेता थे । धनिकाय के रक्षक थे । सात प्रकार के भय के स्थान से वर्जित थे । आठ मद के स्थान से विमुक्त थे । नवविध चर्यं गुप्ति का पालन करते थे और दश प्रकार के यति-धर्म को धारण करते थे । सम्यग् प्रकार एकादशों अध्ययन करते थे । बारह प्रकार की यतिप्रतिमा को वहन करने से रुचि वाले थे । २२२ से २२७ ।

दुःसह ऐसी परीषह की परम्परा को वे सहन करते थे । उन्हें किसी भी प्रकार की स्पृहा नहीं थी । नन्दन मुनि ने एक लाख वर्ष तप किया । वे महातपस्वी मुनि-अर्हत् भक्ति आदि बीस स्थानकों की आराधना कर, दुःस्कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया । २२८ से २३०

इस प्रकार मूल से निष्कल क साधुत्व का आचरण कर आयुष्य के अंत में उन्होंने इस प्रकार आराधना की । दुष्कर्म की ग्रहणा, प्राणियों की क्षमणा, शुभभावना, चतुःशरण, नमस्कार स्मरण एवं अनशन—इस प्रकार की आराधना कर, स्वर्ग के धर्माचार्य, साधुओं, साध्वियों को क्षमता-क्षामना करने लगे । साठ दिन व्रत का पालन कर, पचीस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर, मृत्यु प्राप्त कर, प्राणत नाम के दशवें देवलोके पुष्पोत्तर नाम के विस्तार वाले विमान में उपपाद शय्या में उत्पन्न हुए ॥ २६६-२६९ ॥

(घ) एएसि चउवीसाए तिस्थगराणं चउवीसं पुठ्वभविआ णामधेज्जा होत्था, तंजहा—

पढमेत्थ वइरणामे विमले तह विमलवाहणे चैव । तत्तो य धम्मसीहे सुमित्त तह धम्ममित्तो य ।

×

×

+

अदीणसत्तु संखे सुदंसो नंदणे य बोद्धव्वे । ओसप्पिणीए एए तिस्थकराणं तु पुठ्वभवा ॥

—सम० पइसम सू २२३ ।

चौबीस तीर्थंकरों के चौबीस पूर्व भव के नाम इस प्रकार थे ।

श्रृषभ देव तीर्थंकर के पूर्व भव का नाम (मनुष्यगति की अपेक्षा) वज्रनाभ था तथा वर्धमान तीर्थंकर के का नाम नन्दन था । नन्दन-मांडलिक राजा थे ।

जंबूद्वीपे णं दीवे इमीसे ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थगरा पुव्वभवे एक्कारसंगिणो होत्था, तंजहा अजिए संभवे अभिणंदणे जाव पासे वद्धमाणे य । उसभे णं अरहा कोसलिए चोदसपुव्वी होत्था
—सम० सम० २३ । सू० ३ । पृ० ८६०

पढमस्स बारसंगं सेसाणिकारसंगसुयलाभो ।

—आव० निगा २५८/पूर्वार्ध

मलयटोका—प्रथमस्य-भगवत ऋषभस्वामिनः पूर्वभवेश्रुतलाभः परिपूर्णं द्वादशाङ्गम्, अवशेषाणाम् अजितस्वामिप्रभृतीनामेकादशाङ्गानि, यस्य च यावान् पूर्वभवे श्रुतलाभः तस्य तावान् तीर्थंकरजन्म-न्यपि अनुवर्तते ।

× × × सम्यगेकादशाङ्गभृत् × × × ।

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १ । श्लो २२७ पूर्वार्ध

अजितनाथबादत् वर्धमान तीर्थंकर ने (नन्दन राजा का भव) अपने पूर्व भव में एकादशांगों का अध्ययन किया । श्रृषभनाथ ने चतुर्दश पूर्व का अध्ययन किया ।

१ नन्दनराजा-नंदोवर्धन राजा— मांडलिक राजा थे ।

जंबूद्वीपे णं दीवे इमीसे ओसप्पिणीए तेवीसं तित्थगरा पुव्वभवे मंडलियरायाणो होत्था तंजहा— अजिए संभवे अभिणंदणे जाव पासे वद्धमाणे य । —सम० सम २३ । सू ४ । पृ० ८६०
वर्धमान पूर्वभव में (नन्दन राजा के भव में) मांडलिक राजा थे ।

२ नन्दराजा-नंदोवर्धन राजा के—तीर्थंकर प्रकृति का बंध

अथ जम्बवाह्वये द्वीपे क्षेत्रे भरतसंज्ञके । छात्राकारपुरं रम्यमस्ति धर्मसुखाकरम् ॥ १३४ ॥
तस्य स्वामी शुभादासीन्नन्दिवर्धन भूपतिः । राज्ञी वीरमती तस्य बभूव पुण्यशालिनी ॥ १३५ ॥
च्युत्वा सनिजरो नाकात्तयोः सूनुरजायत । नन्दनामा सुरुपाद्यैर्जगदानन्दकारकः ॥ १३६ ॥
ततोऽसौ यौवने लब्ध्वा राज्यं पितुः श्रिया सह । दिव्यान् भोगान् हि भुक्त्वा इतिधर्मं मुदाचरेत् ॥ १३६ ॥
—वीरच० अधि ५

अथैकदा सधर्मार्थं प्रोष्ठिलं योगिसत्तमम् । वन्दितुं मतिमान् भक्त्या ययौ भव्यगणावृतः ॥ २ ॥
तत्राभ्यर्च्यार्ष्टभिर्द्रव्यैर्दिभक्त्या मुनीश्वरम् । मूर्ध्ना नत्वा स धर्माय तस्पादान्तमुपाविशत् ॥ ३ ॥

×

×

×

इत्यादि चिन्तनादाप्य वैराग्यं द्विगुणं नृपः । तमेव योगिनं कृत्वा हत्वा द्विविधोपधीन् ॥ २८ ॥
अनंतजन्मसंतानघातकं मुनिसंयमम् । आददे परयाशुद्ध्या सिद्धये सिद्धिकारणम् ॥ २९ ॥
गुरुपदेशपोतेनाश्वेएकाशाङ्गवारिधेः । पारं जगाम नन्दोऽसौ निःप्रमादेन सद्धिया ॥ ३० ॥

त्रिशुद्ध्या भावयन्नित्यं षोडशोमाः सुभावनाः । तद्गुणार्पितचित्तोऽसौ तीर्थनाथविभूतिदाः ॥ ६१ ॥

×

×

×

अमूंस्तीर्थशसद्भूतिकरान् षोडशकारणान् । शुद्धैर्मनोवचःकायैर्भावयित्वा स प्रत्यहम् ॥ ६७ ॥
तस्फलेन बबन्धाशु तीर्थकृन्नामकर्म हि । अनन्तमहिमोपेतं त्रिजगत्क्षोभकारणम् ॥ ६८ ॥

—वीरच० अधि ६

(ख) मेघाद्विद्युद्विशेषो वा ततः स्वर्गाद्विनिर्गतः । छत्राकारपुरेऽत्रैव नन्दिवर्धनभूभुजः ॥ २४२ ॥
वीरवत्याश्च नन्दाख्यस्तनूजः सुजनोऽजनि । निष्ठाष्येष्टमनुष्ठानं स श्रेष्ठं प्रोष्ठिलं गुरुम् ॥ २४३ ॥
संप्राप्य धममाकण्यं निर्णीताप्तागमार्थकः । संयमं संप्रपद्याशु स्वीकृतैकादशाङ्गकः ॥ २४४ ॥
भावयित्वा भवध्वंसि तीर्थकृन्नामकारणम् । बद्ध्वा तीर्थकरं नाम सहोच्चैर्गौत्रकर्मणा ॥ २४५ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(ग) अट्टारह - सायर - परमियाड माणेविणु सुर - सुंदरि - पियाड ।
सो तुहुँ संजायड गंदणक्खु अवयरिड एत्थुणीरय - दलक्खु ।
—वड्डमाणच० संधि ८/कड ११

घत्ता—धम्महरहो णिय - पुत्तहो ससिरि गंदणु अप्पेविणु महिसगिरि ।
दिक्खिउ सहुँ दह-सय णरहिँ पणवेवि पोडिसु मुणि मणहरहिँ ।
—वड्डमाणच० संधि ८/कड १३

घत्ता—णाणा विहाण विहिणा करइ सहेँसण णाणा गुण धरइ ।
छावासइ विहिमणे संभरइ संकाइय - दोसइँ परिहरइ ।
—वड्डमाणच० संधि ८/कड १४

घत्ता—अहरेण तेण मूलहो मयइँ णिरसियइँ तटय हियहो भयइँ ।
गय - संगं समायरणेण तिहँजिण्णावणिरुह पवणेण जिहँ ।
—वड्डमाणच० संधि ८/कड १५

आराहइ सोलह कारणाइँ भवसायर - भवण - णिवारणाइँ ।
बंधइ तित्थयरहो गुत्तु णामु मुणिवरहो करइ भत्तिए पणामु ।
—वड्डमाणच० संधि ८/कड १६

इय सो तड दुक्करु चरह जाम ठिउ मास - मेत्तु तहो आउ ताम ।
तहिँ अवसरि सो समियंतरंगु थिरयरु मयरहरु व णित्तरंगु ।
विक्कइ सिसिहरे मणु जिण - पयेसु । विणिवेसि समप्पिय सिव - पएसु ।
—वड्डमाणच० संधि ८/कड १७

इसी जम्बू नामक द्वीप के भारत नामक क्षेत्र में छत्र के आकारवाला, धर्म और सुख का भंडार एक रमणीक मुन्न नाम का नगर है। पुण्योदय से उसका स्वामी नन्दीवर्धन नामका राजा था। उसकी पुण्यशालिनी वीरमती की रानी थी। उन दोनों के वह देव स्वर्ग से च्युत होकर नंद नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। वह अपने सुन्दर रूप के द्वारा जगत् को आनन्द करने वाला था।

उत्पश्चात् यौवनावस्था में लक्ष्मी के साथ पिता के राज्य को पाकर (और अपनी स्त्रियों के साथ) दिव्य भोगों से भोगता हुआ धर्म का आचरण करने लगा।

एक बार भयजनों से घिरा हुआ वह बुद्धिमान नंदराजा धर्म प्राप्ति के निमित्त से प्रोष्ठिल नामक योगीराज श्रद्धा के लिये भक्ति के साथ गया। वहाँ पर दिव्य अष्ट द्रव्यों से भक्तिपूर्वक मुनिश्वर की पूजा करके और शिव से नमस्कार करके धर्म श्रवण करने के लिये उनके चरणों के समीप बैठ गया।

सद् चितवन से दुगुने वैराग्य को प्राप्त होकर राजा ने उन्हीं योगीराज को गुरु बनाकर, दोनों प्रकार के परिश्रमों को छोड़कर अनंत संसार—संतान के नाशक सिद्धि का कारण ऐसा मुनियों का सकल संयम परम शुद्धि से ग्रहण कर लिया।

गुरु के उपदेश रूप जहाज से वह नन्द मुनि निःप्रमाद और उत्तम बुद्धि के द्वारा शीघ्र ही ग्यारह अङ्गरूप श्रुत-सागर के पार को प्राप्त हो गया।

वे मुनिराज तीर्थंकर की विभूति को देने वाली इन वक्षमाण सोलह उत्तम भावनाओं का तीर्थंकरों के गुणों में समर्पित चित होकर निरंतर मन, वचन, काय की शुद्धि से भावना भाने लगे।

इस प्रकार तीर्थंकर की सद्बिभूति को देनेवाली इन सोलह कारण भावनाओं की शुद्ध मन, वचन, काय से प्रतिदिन भावना करके उसके फलद्वारा तीर्थंकर नाम कर्म का शीघ्र बंध किया।

यह तीर्थंकर नाम कर्म अनन्त महिमा से संयुक्त है और तीन लोक में क्षोभ का कारण है।

इस प्रकार जब वह नन्दन दुश्चर तप कर रहा था। तभी उसकी आयु मात्र एक मास की क्षेप रह गयी। उसी अवसर पर उसने तरंग विहिन स्थिरतर समुद्र की तरह अपने अंतरंग का शमन किया तथा विध्यागिरि के शिखर पर जिन पदों में अपना मन विनिवेशित (संलग्न) कर शिवपद में समर्पित कर दिया।

नोट :—कहा जाता है कि श्रमण भगवान् महावीर अपने पूर्वभ्रम में (नंदराजा) थे—वहाँ ११ लाख-८१ हजार पासक्षण कर गोथंकर गोत्र का उपाजन किया।

३२ अच्युत स्वर्ग—प्राणत स्वर्ग का देव

३२.१ देवरूप में उत्पन्न

क) पुण्फुत्तरे उववन्नो तओ चुओ माहणकुलम्मि ।

—आव० निगा ४५० उत्तरार्ध

मलयटीका—× × × (नन्दननृपभवात्) मृत्वा 'पुण्फुत्तरे उववन्नो' त्ति प्राणतकल्पेषु पुष्पोत्तरावतंसके विंशतिसागरोपमस्थितिर्देव उत्पन्न इति ।

ख) षट्ठिं दिनान्नवशनं पालयित्वा समाहितः । पंचविंशत्यब्दलक्षपूर्णायुः सोऽममो मृतः ॥ २६८ ॥

अथाधिप्राणतं पुष्पोत्तरनामनि विस्तृते । विमाने स उपपेदे शय्यायामुदपद्यतः ॥ २६९ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग १

नन्दन मुनि साठ दिन अनशन व्रत का पालन कर, पचीस लाख वर्ष का आयुष्य पूर्णकर, मृत्यु प्राप्त प्राणत नामक दशवें देवलोक में पुष्पोत्तर विमान में बीस सागरोपम की स्थिति वाले देव रूप में उत्पन्न हुए।

(ग) समणे भगवं महोवीरे × × × महाविजयसिद्धथपुष्फुत्तर-पवर-पुण्डरीय-दिसासोवस्थिय-वद्धमा
महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाईं आउयं पालइत्ता × × × ।

—आया० श्रु २ । अ १५ । सू० ३ । पृ० २

(घ) आयुर्विशतिसागरोपममितं सोऽपूर् देवाप्रणीः, पर्यन्तेऽपि विशेषतः प्रतिकलं देदीप्यमानः श्रिया ॥
मुह्यन्ति ह्यपरे त्रिविष्टपसदः षण्मासशेषायुषः । क्वाप्युच्चैर्न तु तीर्थकृद्द्विषदोऽस्यासन्नपुण्यो
॥ २८४ ॥ —त्रिशलाका० पर्व १० । सम

वर्धमान महावीर बीस सागरोपम का आयुष्य पूर्ण किया—अन्य देव ६ मास के आयुष्य के क्षेप रहने मोह को प्राप्त होते हैं परन्तु तीर्थंकर होने वाले देवों के अतिशय पुण्योदय होता है नजदोक होने पर भी बिल्कुल को प्राप्त नहीं होते हैं ।

३२२ अच्युत स्वर्ग का इन्द्र अथवा प्राणत स्वर्ग का इन्द्र

(क) ततस्तद्योगपाकेन सोऽच्युतेन्द्रोऽभवद्यतिः । दिवि षोडशमेऽनेकभूतिवाधौ सुरार्चितः ॥ १०४ ॥
त्रिकरोच्चातिदिव्याङ्गधरो नेत्रप्रियो महान् । स्वेदधातुमलातीतो नयनस्पन्दवर्जितः ॥ १६५ ॥
षट्प्रभावनिपर्यन्तान् रूपिद्रव्यांस्त्रिधात्मकान् । जानन् स्वावधिबोधेन विक्रियर्द्धिप्रभावतः ॥ १६६ ॥
गमनागमनं कर्तुं क्षमः क्षेत्रे स्वचित्समे । द्वाविंशत्यब्धिमानायुर्विश्वाभरणभूषितः ॥ १६७ ॥
द्वाविंशतिसहस्राब्दैर्गतैः सर्वाङ्कृत्प्रिदम् । दिव्यं सुधामयाहारमाहरन्मनसोर्जितम् ॥ १६८ ॥
एकादशप्रमैर्मासैर्निष्क्रांतैश्च मनाग्भजन् । सुगन्धिदिव्यमुच्छ्वासां सुरभीकृतदिक्वचयम् ॥ १६९ ॥
—वीरच० अधि

(ख) जीवितान्ते समासाद्य सर्वमाराधनाविधिम् । पुष्पोत्तरविमानेऽभूदच्युतेन्द्रः सुरोत्तमः ॥ २४६ ॥
द्वाविंशत्यब्धिमेयायुररन्नित्रयदेहकः । शुक्लेश्याङ्गयोपेतो द्वाविंशत्या स निःश्वसन् ॥ २४७ ॥
पक्षैस्तावत्सहस्राब्दैराहरन् मनसामृतम् । सदा मनःप्रवीचारो भोगसारेण तृप्तवान् ॥ २४८ ॥
आषष्ठपृथिवीभागाद्भ्याप्तावधिविलोचनः स्वावधिक्षेत्रसंमेयबलाभाविक्रियावधिः ॥ २४९ ॥

—उत्तपु० पर्व ७

नन्दन मुनिराज उस समाधि योग के फल से अनेक प्रकार की विभूति के समुद्र ऐसे सोलहवें अच्युतकल्प देवों से पूजित अच्युतेन्द्र उत्पन्न हुए । वह इन्द्र तीन हाथ उन्नत, अति दिव्य देह का धारक, नेत्रों को अतिप्रिय स्वेद धातु आदि सब मलों से रहित और नेत्र-टिमकार से रहित था । छट्टी पृथ्वी तक के तीन प्रकार के रूपी देवों को अपने अवधि ज्ञान से जानता हुआ वह देव अवधि ज्ञान प्रमाण क्षेत्र में विक्रिया ऋद्धि के प्रभाव से गमनागमन करने में समर्थ था । बाइस सागर प्रमाण आयु थी और सब उत्तम आभरणों से भूषित था ।

बाइस हजार वर्ष बीतने पर सर्वांग से तृप्त करने वाला अमृतमय दिव्य-आहार मन से ग्रहण करता था।
 अ्यासहमास बीतने पर दिङ्मंडल को सुरभित करनेवाला सुगन्धिवाला दिव्य उवाञ्छुवास नाम मात्र को लेता था।

(ग) पावोवओग - विहिणा मुणिंदु पाणाइँ धम्मुभाणें अणिंदु ।
 मेल्लेविणु पाणय-कप्पे जाउ पुप्फोत्तारे सुरहरे तियस-राउ ।
 विमलंगु वीस-सायर समाउ

— वड्डुमाणच० संधि ८ । कड १७

उन अनिन्द्य नन्दन मुनिराज ने पादोपगमन विधि से धर्मध्यान पूर्वक प्राण छोड़े तथा प्राणत-स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में त्रिदशराज इन्द्र हुआ। विमल अंग वाले उस इन्द्र की आयु बीस सागर की थी।

३२३ आहार—श्वासोच्छ्वास-ज्ञान

दुवई—धुव - णीसासु मुयइ सो तेत्तिय - पक्खहिं दुह - विहंजणो ।
 जाणइ ताम जाम छट्ठावणि वड्डिय - ओहि - दंसणो ॥
 परमागम - साहिय - दिव्व - माणि । णिवसंतहु पुप्फुत्तार - विमाणि ॥

—वीरजि० संधि १ । कडवक ६

पुष्पोत्तर स्वर्ग में देवरूप से रहते हुए वह सहस्र वर्ष में एक बार आहार करता था और उतने ही पक्षों में श्वासोच्छ्वास लेता था। वहाँ समस्त दुःखों का विनाश कर अपने अधधि दर्शन द्वारा छट्टी पृथ्वी तक की बातें जान लेता था।

३२४ पुष्पोत्तर विमान में भगवान महावीर का जीव और भाविजन्म-क्षेत्र में धन-वर्षा—

(क) जइयहुँ वट्टइ छम्मासु तासु । परमाउ - माउ परमेसरासु ।
 तइयहुँ सोहम्म - सुराहिवेण । पभणित कुवेरु इच्छिय - सिवेण ॥
 इह जंबुदीवि भरहंतरालि । रमणीय - विसइ सोहा - विसालि ॥
 कुंडउरि राउ सिद्धत्थु सहिउ । जो सिरिहरु मग्गण-वेस रहिउ ॥

× × ×

—वीरजि० संधि १/कड ६

इस प्रकार परमागम में कहे हुए गुणों से युक्त दिव्य प्रमाण वाले उस पुष्पोत्तर विमान में रहते हुए जब अपनी उत्कृष्ट आयु प्रमाण के छह मास शेष रहे तभी सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने जगत्-कल्याण की कामना से प्रेरित होकर कुवेर से कहा—इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विशाल शोभाधारी विदेह प्रदेश में कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं। वे आत्म-हितैषी हैं और श्रेयस्कर होते हुए भी विष्णु के समान कामनावतार सम्बन्धी याचक वेष से रहित हैं।

घत्ता—पहुंपंगणि तेषु वंदिय-चरम - जिणिदें । छम्मास विरहय रयणविट्ठि जक्खिदें ॥ ७ ॥

—वीरजि० संधि १/कड ७

ऐसे उस राजभवन के प्रांगण में अन्तिम तीर्थंकर की बन्दना करने वाले उन यक्षों के राजा कुबेर ने छह मास तक रत्नों की वृष्टि की ।

(ख) तस्मिन्षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति । भरतेऽस्मिन्निवेहाल्ये विषये भवनाङ्गणे ॥ २५१ ॥

राज्ञः कुंडपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथुः । सप्तकोटिर्मणिः सार्धा सिद्धार्थस्य दिनं प्रति ॥ २५२ ॥

—उत्तपु० पर्व ७४

जब उसदेव की आयु छः मास की बाकी रह गयी और स्वर्ग से आने को उद्यत हुआ तब इसी भरत क्षेत्र के विदेह नामक देश सम्बन्धी कुण्डपुर नगर के राजा सिद्धार्थ के भवन के आंगन में प्रतिदिन साढ़े सात करोड़ रत्नों की बड़ी मोटी धारा बरसने लगी ।

(ग) अथ सौधर्मकल्पेशो ज्ञात्वाच्युतसुरेशिनः । षण्मासावधिशेषायुः प्राहेति धनदं प्रति ॥ ४२ ॥

प्रीदात्र भारते क्षेत्रे सिद्धार्थनृपमन्दिरे । श्रीवर्धमानतीर्थेशश्चरमोऽवतरिष्यति ॥ ४३ ॥

अतो गत्वा विधेहि त्वं रत्नवृष्टिं तदालये । शेषाश्चर्याणि पुण्याय स्वान्यशार्माकराणि च ॥ ४४ ॥

इत्यादेशं स यक्षेशो मूर्धनादायामरेशिनः । द्विगुणीभूतसद्भाव आजगाम महीतलम् ॥ ४५ ॥

ततः प्रत्यहमारभे मणिकाञ्चनवर्षणैः । रत्नवृष्टिं मुदा कर्तुं भूपधामनि सोऽमरः ॥ ४६ ॥

नानारत्नमयाधारा सैरावतकराकृतिः । पतन्ती श्रीरिवायान्त्यभात् पुण्यकल्पशाखिनः ॥ ४७ ॥

दीप्राहिरण्यमयी वृष्टिः पतन्ती खाङ्गणाद् बभौ । ज्योतिर्मालेव सायान्ती सेवितुं पितरौ गुरोः ॥ ४८ ॥

—वीरवर्धच० अधि ७

सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र ने उक्त अच्युतेन्द्र की छह मास प्रमाण शेषायु को जानकर कुबेर के प्रति इस प्रकार कहा—हे धनद, इस भरतक्षेत्र में सिद्धार्थ राजा के राजमन्दिर में अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान स्वामी अवतार लेंगे, अतः तुम जाकर के उनके भवन में रत्नों की वृष्टि करो, तथा पुण्य प्राप्ति के लिए स्व-पर को सुख करने वाले शेष आश्चर्यों को भी करो । वह यक्षेश अमरेश के इस आदेश को शिरोधार्यकर द्विगुण हर्षित होता हुआ महीतल पर आया । तत्पश्चात् उस यक्षेश ने सिद्धार्थ राजा के भवन में प्रतिदिन मणिसुवर्ण बरसाते हुए हर्ष से रत्न वृष्टि आरंभ कर दी । ऐशवत हाथी की सूँड़ के समान आकारवालो नाना रत्नमयी वह धारा आकाश से गिरती हुई ऐसी शोभती थी, मानो पुष्परूपी कल्पवृक्ष से लक्ष्मी ही आ रही हो । गगनांगण से गिरती हुई वह देदीप्यदान हिरण्यमयी वृष्टि इस प्रकार शोभा दे रही थी मानो त्रिजगद्-गुह के माता-पिता की सेवा करने के लिए ज्योतिर्मय नक्षत्र माला ही आ रही हो ।

घ) प्राग्गर्भाधानतः षण्मासान्त सिद्धार्थमन्दिरे । सार्धं कल्पद्रुमोद्भूतपुष्पगंधाम्बुवृष्टिभिः ॥ ४९ ॥

रत्नवृष्टिं चकारोच्चैर्महाह्यमणिकाञ्चनैः । धनदोऽनुदिनं भूत्या सेवया श्रीजिनेशिनः ॥ ५० ॥

—वीरवर्धच० अधि ७

गर्भाधान से पूर्व छह मास तक सिद्धार्थ नरेश के मन्दिर में कल्पवृक्षों से उत्पन्न हुए पुष्पों के और सुगन्धित जलवर्षा के साथ, तथा बहुमूल्य वाले मणियों और सुवर्णों के द्वारा श्री जिनेश्वर देव की विभूति से सेवा करने के लिए प्रतिदिन महारत्नवृष्टि करने लगा ।

(च) सक्काण लेवि भत्तिण णविवि । णिहि - कलस - हस्थु धणवइ महस्थु ।
मण - भंति तोड़ि आहुट्ट - कोड़ि । वर मणि - गणेहिँ गयणंगणेहिँ ।
वरिसियउ ताम छम्मास जाम । × × ×

—बड्डमाणच० संधि ६ कड ६

महाधनपति-कुबेर अपने मन की भ्रांति को तोड़कर तथा भक्तिपूर्वक नमस्कार कर साढ़े तीन करोड़ श्रेष्ठ मणिगणों से युक्त निधि कलश हाथ में लेकर गगन रूपी आँगन से (कुण्डपुर में) उस समय तक बरसाता रहा, जब तक कि छः मास पूरे न हो गये हो ।

३३ वर्धमान तीर्थंकर—भगवान् महावीर

१ गर्भ प्रवेश

(क) इह जंबुदीवि भरहंतरालि । रमणीय - विसइ सोहा-विसालि ॥
कुंडउरि राउ सिद्धस्थु सहिउ । जो सिरिहरु मग्गण-वेस रहिउ ॥
× × ×

दो - बाहु वि जो रणि सहसबाहु । सुहि - दिण्ण - जीउ जीमूयबाहु ।
हालिहहारि रायाहिराउ । जो कप्परुक्खु णउकट्टभाउ ॥

घत्ता—पियकारिणि देवि तुंग - कुंभि कुंभस्थणि ।
तहु रायहु इट्ट णारीयण - चूडामणि ॥

—वीरजि० संधि १/कड ६

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में विशाल शोभाघारी विदेह प्रदेश में कुंडपुर के राजा सिद्धार्थ राज्य करते हैं । वे आत्म-हितैषी हैं और श्रीधर होते हुए भी विष्णु के समान धामनावतार संबंधी याचक वेष से रहित हैं ।

उनकी भुजाएँ तो दो ही थीं, किन्तु युद्ध में वे सहस्रबाहु जैसी वीरता दिखलाते थे । वे सुधी अर्थात् विद्वानों को जीविका प्रदान करते थे, अतएव वे साक्षात् जीमूतवाहन थे जिन्होंने अपने मित्र के लिए अपना जीवनदान कर दिया । वे राजाधिराज लोगों के दारिद्र्य को दूर करने वाले कल्पवृक्ष थे, तथापि कल्पवृक्ष के समान वे काष्ठ और कटुभाव-युक्त नहीं थे ।

ऐसे उन सिद्धार्थ राजा की रानो प्रियकारिणी देवी थी जो विशाल हाथियों के कुंभस्थलों के समान पीनस्तनी होती हुई समस्त नारी-समाज की चूडामणि थी ।

(ख) दुवई—एयहँ बिहिँ मिजक्ख कमलक्ख । सलक्खणु रक्खियासवो ॥
चउवैसमु जिण्णिदु सुउ सोही । पय - जुय - णविय - वासवो ॥

—वीरजि० संधि १ । कड ७

इन्द्र कुबेर से कहते हैं कि हे कमल-नयन यक्ष, इन्हीं राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के शुभ लक्षणों से युक्त मदिरादि व्यसनों का त्यागो पुत्र चौबीसवाँ तीर्थ कर होगा, जिसके वरणों में इन्द्र भी नमन करेंगे।

(ग) आसाढ - मासि ससिहर - पयासी । पक्खंतरालि ह्य - तिमिर - जालि ॥
दिस - णिम्मलम्मि छट्ठी - दिणम्मि । संसार - सेउ थिउ गग्भि देउ ।
संपण्ण - हिट्ठि कण - कणय - विट्ठि । जक्खेण ताम णव - मास - जाम ।

—वीरजि० संधि १ । कड ६

आषाढ मास के चन्द्र से प्रकाशमान व अन्धकार समूह को दूर करने वाले शुक्ल पक्ष में छट्ठी तिथि के दिन जब दिशाएँ निर्मल थीं, तब संसार के सेतुभूत भगवान महावीर, माता के गर्भ में आकर स्थित हुए। तब से नव मास तक वरुणन्द्र यक्ष आनन्ददायी स्वर्ण की वृष्टि करता रहा।

(घ) अथेह भारते क्षेत्रे विदेहाभिध ऊर्जितः । देशः सद्धर्मसंघाद्यैर्विदेह इव राजते ॥ २ ॥

×

×

×

इत्यादि वर्णनोपेतदेशस्याभ्यन्तरे पुरम् । कुण्डाभिधां विराजेत नाभिवद्धार्भिकैर्महत् ॥ १० ॥

×

×

×

पतिस्तस्य महीपालः श्रीमान् सिद्धार्थसंज्ञकः । आसीत् काश्यपगोत्रस्थो हरिवंशनभोंऽशुमान् ॥ २२ ॥

×

×

×

तस्याभवन् महादेवी सन्नाम्ना प्रियकारिणी । अनौपम्यैर्गुणव्रातैर्जगतां पुण्यकारिणी ॥ २८ ॥

×

×

×

गजेन्द्राकारमादाय भवरयास्यप्रवेशनात् । त्वद्गर्भे निर्मले तीर्थेऽन्तिमोऽवतरिष्यति ॥ १०३ ॥

×

×

×

तद्वाषाढमासस्य शुक्ले षष्ठी दिने शुचौ । उत्तराषाढनक्षत्रे शुभे लम्नादिक सति ॥ ११० ॥

सोऽमरेन्द्रोऽव्युत्ताच्च्युत्वा धर्मध्यानेन धर्मकृत् । सुगर्भे प्रियकारिण्याः शुचौ पुण्याद्वातरत् ॥ १११ ॥

—वीरवर्धमानच० अधि ७

इस भारत वर्ष में विदेह नामक एक विशाल देश है, जो श्रेष्ठ धर्म और मुनिस्वरों के संवादि से विदेह क्षेत्र के समान शोभायमान है। इत्यादि वर्णन से संयुक्त उस देश के भीतर नाभि के समान मध्यभाग में कुण्डपुर नामक महान नगर विराजमान है।

उस कुण्डपुर के स्वामी श्रीमान् सिद्धार्थ नामवाले महिपाल थे, जो काश्यप गोत्री, हरिवंश रूप गगन के सूर्य थे। उस सिद्धार्थ नरेश की रानी 'प्रियकारिणी' इस उत्तम नामवाली महादेवी थी। जो अपने अनुपम गुण समूह से जगत् की पुण्यकारिणी थी।

सिद्धार्थ ने प्रियकारिणी को कहा—मुख में प्रवेश करते हुए गजेन्द्र के देखने से आपके निर्मल गर्भ में अन्तिम तीर्थ कर गजेन्द्र के आकार को धारण करके अवतरित होगा।

उसी समय आषाढ मास के शुक्ल पक्ष की पवित्र षष्ठी के दिन उत्तराषाढ नक्षत्र में शुभ लग्नादिक होने पर वह देवदेव धर्मध्यान के साथ अच्युत स्वर्ग से च्युत होकर पुण्योदय से प्रियकारिणी के पवित्र गर्भ में अवतरित हुए ।

१) पण्डसदिवसेहि अङ्गेहि मासेहि य अहियपंचहत्तरिवासासेसे चउत्थकाले ७५-८-१५ पुण्फुत्तर-विमाणदो आसाढ-जोण्हपक्ख छट्ठीए महावीरो बाहत्तरिवासाउओ तिण्णाणहरो गम्भमोइण्णो ।
××× । एत्थुवउज्जंतीओ गाहाओ—

सुर महिदोच्चुदक्कपे भोगं दिव्वाणुभागमणुभूदो । पुण्फुत्तरणामादो विमाणदो जो चुदो संतो ।

—कसापा० भाग १/ गा १, २/ टीका

२) सञ्चट्टसिद्धिठाणा अवइण्णा उसहधम्मपहुदितिया । ×××

पुण्फोत्तराभिधाणा अणंतसेयंसंवड्डमाणजिणा ।

—तिलोप० अधि गा ५२२ पूर्वार्ध, ५२४ उत्तरार्ध

सा तं षोडशसुस्वप्नदर्शनोत्सवपूर्वकं । दध्ने गर्भेश्वरं गर्भे श्रीवीरं प्रियकारिणी ॥

—हरिपु० खंड १ । सर्ग २ । श्लो २१

३) ××× इह भारहवरे संतरे ×××

णिवसइ विदेहु गामेण वेसु खयरामरेहिं सुहयर-पयसु ×××

तहिं णिवसइ कुण्डपुराहिहाणु

—वड्डमाणच० संधि ६ । कड १

उसी भारतवर्ष में विद्यावर्षों एवं अमरों से सुशोभित प्रदेशवाला विदेह नामक एक सुप्रसिद्ध देश है ।

४) विदेह देश में कुण्डपुर नामक एक नगर है ।

५) सुणेऊण एयं कमेणं मुहाओ स - कंतस्स धारेवि साणंदभाओ ।

गया सुन्दरे मंदिरे जाम देवी तुरंती तिलोए गणासार सेवी ।

तओ सो सुराहीसु पुण्फुत्तराओ विमाणाय आवेवि सोक्खायराओ ।

घत्ता—सिबिणए पवरु गय-रुव-धरु णिसि पविट्टु, देवी-मुहे ।

मुणिवर भणिया सावण तणिया सिय छट्ठिहे जिय-सररुहे ॥

—वड्डमाणच० संधि ६/कड ७

राजा सिद्धार्थ के मुख से स्वप्नों के फल को क्रमशः सुनकर उसकी कास्ता प्रियकारिणी आनन्दलहरी से भ्रम में आ गई । त्रिलोक में महिला गणों की सारभूत महिलाओं द्वारा सेवित वह देवी शीघ्र ही जब अपने सुन्दर भवन में आई, तभी वह सुराधीश सुखकारी पुण्योत्तर विमान से चयकर रात्रि के समय प्रवर स्वप्न में देवी प्रियकारिणी के रूप में प्रवेश हुआ । (उसे) मुनिवरों ने कमलों को जीतने वाली ध्रावण संबन्धी शुक्ल षष्ठी (विधि) में देखा ।

६) षणवइ वसु वरिसिउ पुणुवि तेम णव मासु सुपाउसे मेहु जेम ।

गम्भट्टिओवि णाणत्तएण सोमुक्कु ण मुणिय-जयत्ताएण ।

—वड्डमाणच० संधि ६/ कड ८

जिस प्रकार वर्षा ऋतु के नव (आषाढ) मास में मेघ बरसते हैं, उसी प्रकार घनपति — कुबेर भी पुनः नोमास तक शस्त्रवृष्टि करता रहा ।

गर्भ में स्थित रहने पर भी वे भगवान् मति-श्रुत एवं अवधि रूप तीन ज्ञानों से मुक्त न थे ।

२ प्रियकारिणी (त्रिशला) के गर्भ के समय धन - वर्षा—

(क) घत्ता—घरपंगणि तासु रायहु सुह-पम्भारहिं । वुट्टउ धणणाहु अविहंणिय-धण-धारहिं ।

—वीरजि० संधि १ । कड ८ । पृ० १६

(ख) आसाढ - मासि ससियर - पयासी पक्खंतरालि ह्य - तिमिर - जालि ।

दिस - णिम्मलम्मि छट्ठी - दिणम्मि । संसार - सेउ थिउ - गब्भि देउ ।

संपण्ण - हिट्ठि कय कणय - विट्ठि । जक्खेण ताम णव - मास जाम ।

—वीरजि० संधि १ । कड ६ । पृ० १५

(ग) धणवइ वसु वरिसिउ पुणुवि तेम णव मासु सुपाउसे मेहु जेम

—वड्ढमाणच० संधि ६ । कड ८

(घ) यस्यावतारतः पूर्वं पित्रोः सौधे धनाधिपः । मासान् षण्णवसंपूर्णाश्चक्रेरन्नादिवर्षणम् ॥

—वीरवर्धच० संधि १ । श्लो २

भगवान् महावीर के जीव के रानी प्रियकारिणी के गर्भ में आने के पश्चात् नव मास तक घनपति - कुबेर या यक्ष ने राजा सिद्धार्थ के प्रसाद के प्रांगण में प्रचुर रत्नादि की वृष्टि की ।

३३ क-भगवान् महावीर—देवानंदा गर्भ

१. समणे भगवं महावीरे××× तस्सणं आषाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं हत्थुत्ताराहिं नक्खस्वत्तेणं जोगमुवागएणं, महाविजय - सिद्धत्थ - पुण्फुत्तार - पवर - पुण्डरीय - दिसासोवत्थिय-वद्धमाणाओ महाविमाणाओ वीसं सागरोवमाइं आउयं पालयित्ता आउक्खएणंभवक्खणं ठिइक्खएणं चुए चइत्ता इह खलु जंबुद्दीवे दीवे, भारहे वासे, दाहिणड्ढभरहे दाहिणमाहणकुण्डपुरसन्निवेसंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडाल-सगोत्तस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायण—सगोत्ताए सीहोच्चभूवभूएणं अप्पाणेणं कुच्छिसि गब्भं वक्कंते ।

—आया० श्रु २ । अ १५ । सू ३ । पृ० २३१

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे × × × तस्सणं आसाढसुद्धस्स छट्ठीपक्खेणं महा-विजयपुण्फुत्तारपवरपुण्डरीयाओ महाविमाणाओ वीसं सागरोवमट्ठिइयाओ आउक्खएणं भवक्खएणं ठिइक्खएणं अणंतर चइच्चइत्ता इहेव जंबुद्दीवे दीवे भारहे वासे × × × समणे भगवं महावीरे चरिमे तिथकरे पुव्वतिथकरनिदिट्ठे माहणकुण्डगामे नगरे उसभदत्तास्स माहणस्स

कोडालसगुत्तस भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थुत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं आहारवक्कंतीए भववक्कंतीए सरोरवक्कंतीए कुच्छिसि गम्भत्ताए वक्कंते ।

—कप्प० सू २ । पृ० ४

अथि इहेव जंबुदीवे दीवे भारहे वासे माहणकुंडगामो णाम गामो । तथ कोडालसगोत्तो (उसहदत्तो णाम) बंभणो । तस देवाणंदा भारिया । तीएसह जहासुहं वसन्तस गच्छंति पियहा । इयो य तओ पुप्फुत्तरविमाणओ आसाढसुद्धद्वीए हत्थुत्तराहिं चइऊण अणेय-भवाईयमिरीइजीवसुरवरो 'अहो उत्तमं मह कुलं' ति दुरुत्तावायावइयरावज्जियकम्मकिचावसेस-राणओ समुप्पणो तीए बंभणीए उदरम्मि ।

—चप्पन० पृ० २७०

इत्थ जंबूद्वीपेऽस्मिन् क्षेत्रेऽस्ति भरताभिधे । ब्राह्मणकुंडप्रामाख्यसंनिवेशो द्विजन्मनाम् ॥ १ ॥
तत्र वर्षभदत्तोऽभूत् कौडालसकुलोद्विजः । देवानंदा च तद्भार्या जालंधरकुलोद्भवा ॥ २ ॥
च्युत्वा च नन्दनो हस्तोत्तरक्षस्थे निशाकरे । आषाढस्य श्वेषष्ठ्यां तस्याः कुक्षाववातरत् ॥ ३ ॥

×

×

×

देवानन्दागर्भगते प्रभौ तस्य द्विजन्मनः । बभूव महती ऋद्धिः कल्पद्रुम इवागते ॥ ६ ॥
त्रिजगद्गुरवोऽर्हन्तो नोत्पद्यन्ते कदाचन । तुच्छकुले रोरकुले भिक्षावृत्तिकुलेऽपि वा ॥ ६ ॥
इक्षाकुवंशप्रभृतिक्षत्रवंशेषु किं त्वमी । जायन्ते पुरुषसिंहा मुक्ताः शुक्र्यादिकेष्विव ॥ १० ॥
तदसंगतमापन्नं जन्म नीचकुले प्रभोः । प्राच्यं कर्मान्यथा कर्तुं यद्दार्हन्तोऽपि नेशते ॥ ११ ॥
मरीचिजन्मनि कुलमदं नाथेन कुर्वता । अर्जितं नीचकैर्गोत्रकर्मद्यापि ह्युपस्थितम् ॥ १२ ॥
कर्मवशान्नीचकुलेषूपन्नानर्हतोऽभ्यतः । क्षेप्तुं महाकुलेऽस्माकमधिकारोऽस्ति सर्वदा ॥ १३ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग २

भयवं तिनानोवगएचुए, सोचइसामित्ति जाणइ, चयमाणे न जाणइ-समयस्य छद्मस्थोपयोगाविषय-त्वात्, चुएमित्ति जाणइ, जंरयणि देवाणंदाए कुच्छिसि गम्भत्ताए उववन्ने तं रयणि सा सयणिज्जंसि सुत्तजागरा इमे चोहस महासुमिणे पासइ × × × ।

उप्पणे खलु समणे भगवं महावीरे देवाणंदाए माहणीए कुच्छिसि, तन्न एयं भूयं वा भवइ वा भविसइवा × × × ।

—आव० निगा० ४५८/ मलयटीका

पुप्फुत्तरे उववन्नो तओ चुओ माहणकुलम्मि ।

—आव० निगा ४५०

टीका— × × × 'ततो चुतो माहणकुलंमि' त्ति ततः—पुष्पोत्तरात् च्युतो ब्राह्मणकुंडप्रामे नगरे सोमिलस्य ब्राह्मणस्य देवानन्दायाः पत्न्याः कक्षौ समुत्पन्नः । × × × ।

माहणकुंडगामे कोडालसगुत्तमाहणो अथि । तस घरे उववन्नो देवाणंदाइ कुच्छिसि ॥

—आव० निगा ॥ ४५७ ॥

मलयटीका—अस्या व्याख्या—पुष्पोत्तराच्युतो ब्राह्मणकुण्डप्रामे नगरे कोडालसगोत्रो ब्राह्मणः सोमिला भिधानोऽस्ति, तस्य गृहे उत्पन्नः देवानन्दायाः कुक्षाविति ।

इस जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में ब्राह्मणकुण्ड नामक एक ब्राह्मण लोगों का ग्राम था । वहाँ कोडाल गोत्र में उत्पन्न ऋषभनाथ सोमिल नामक एक ब्राह्मण रहता था । उसके देवानन्दा नामक एक जालंधर कुल की स्त्री थी ।

आषाढ मास की शुक्ल षष्ठी-हस्तोत्तरा नक्षत्र में नन्दन मुनि का जीव दशवें देवलोक से ज्यवन कर देवानन्द की कुक्षि में अवतरित हुआ ।

जिस दिन वे देवानन्दा के गर्भ में आये तभी से ऋषभदेव को मोठी ऋद्धि की प्राप्ति हुई ।

तीन जगत् के गुरु बर्हत् कभी भी तुच्छ कुल में, दाबिद्र कुल में या भिक्षुकुल में उत्पन्न नहीं होते परन्तु पुष्य सिंह समान शीप में मोती के समान इक्वाकु आदि क्षत्रिय वंश में ही उत्पन्न होते हैं । भगवान् नीच कुल में उत्पन्न हुए हैं—यह असंगत बात है । परन्तु प्राचीन कर्मों को अन्याथा करने में भगवान् भी समर्थ नहीं हैं । भगवान् ने मरीचि के भव में कुलमद किया था—इस कारण नीच गोत्र कर्म का उपार्जन किया था ।

अस्तु शक्रेन्द्र ने सोचा कि कर्म के बशीभूत हुए नीच कुल में उत्पन्न हुए बर्हत् तो को किसी महा कुल में ले जाने का सर्वदा हमारा अधिकार है ।

३३ ख-त्रिशला गर्भ (सिद्धार्थ राजा की पत्नी)

१ गर्भ विवेचन

१ एवं च पवद्भमाणम्मि गम्भे गणसु वासीदिणेषु ताव चलियासोहिप्पओपणसुराहिवइणा मुणिओ भयवओ गम्भसंभवो । चित्तिडं च पयत्तो—एवंविहा महाणुभावा ण तुच्छकूलेषु जायन्ति । ति चित्तिऊण अवहरिओ बंभणीओ (ए) गम्भाओ भयवं । पक्खित्तो इहेव जंबुद्वीवे दीवे भारहे वासे उत्तुङ्गधवलपासायसिहरोवसोहीए तीर (? खत्तिय) णगराहिहाणे पुरवरे × × × ।

अणया य गामाणुगामं गच्छमाणो कीलाणिमित्तमागओ णियमुत्तिपरिसंठियं कुंडपुरं णामं णयरं । जहाविहावयारेण पविट्ठो णिययमंदिरं । आगओ सयलो वि पुरजणवओ दंसणत्थं । सम्मा-गियविसज्जियम्मि पउरलोए विसिट्ठविणोएण अइवाहिऊण दिणसेसं पसुत्तो वासभवणम्मि । णिवण्णा तयन्तिए देवी । समागया सुहेणणिहा । तओ पहायप्पायाए रमणीए चउइसमहासुविणाणु-कूललाभसंसूइओ समुपण्णो आसोयतेरसीए हत्थुत्तराहिं तिसलादेवीए गम्भम्मि ।

—चउपण्ण पृ० २७०

२ ताओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अणुक्कंपए णं देवेणं 'जीयमेयं' त्ति × × × तस्सणं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं × × × जेच्चि य से तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिसि गम्भे, तपि य दाहिणमाहणकुंडपुरसन्निवेशंसि उसभदत्तस्स माहणस्स कोडाल-सगोतस्स देवाणंदाए माहणीए जालंधरायणसगोताए कुच्छिसि साहरइ ।

—आया० श्रु २/ अ १५/सू ५, ६

३ तथा गर्भस्य उदरसत्वस्स हरणं उदरान्तरं - संकामणं गर्भहरणं एतदपि तीर्थकरापेक्षयाऽभूतपूर्वं सद्भगवतो महावीरस्य जातं पुरन्दरादिष्टेन हरिणेगमेषिदेवेन देवानन्दाभिधानब्राह्मण्युदरा-स्त्रिशलाभिधानाया राजपत्न्या उदरे संक्रमणाद्, एतदप्यनन्तकालभावित्वादाश्चर्यमेविति ।

—ठाण० स्था० १० । सू० १६० । टीका—

४ 'समणे' इत्यादि आषाढस्य शुक्लपक्षषष्ठ्यां आरभ्य द्वायशीत्यां रात्रिन्दिवेष्वतिक्रान्तेषु त्र्यशीतितमे वर्तमाने अश्वयुजः कृष्णत्रयोदश्यामित्यर्थः गर्भात्—गर्भाशयाद्देवानंदाब्राह्मीणीकुक्षित इत्यर्थः गर्भ—त्रिशलाभिधानक्षत्रियाकुक्षिं संहतो-नीतो देवेन्द्रवचनकारिणा हरिणेगमेष्यभिधानदेवेनेति ।

—सम० सम० ८२ । सू० २ । टीका०

५ हरिणेगमेसि पायत्ताणियाहिवई देवं × × × जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमेपक्खे आसोयबहुल-तेरसी तंमि देवाणंदाए माहणीए कुच्छीतो तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिसि अन्वाबाहं साहरइ, जे से तिसलाए गम्भे तं देवाणंदाए कुच्छिसि साहरइ, × × × जं रयणिं च णं भगवं देवाणंदाए कुच्छीतो तिसलाए कुच्छिसि साहरिए तं रयणिं सादेवाणंदा तेसुमिणे तिसलाए हडे पासित्ताणं, पडिबुद्धा, तिसलावि य णं मणोरमंसि सयणिज्जंसि सुत्तजागरा ते चोइस महासुमिणे पासित्ताणं पडिबुद्धा ।

—आव० निगा ४५८/मलयटीका

६ तए णं से हरिणेगमेसी पायत्ताणियाहिवई देवे × × × जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमेपक्खे आसोयबहुले, तस्सणं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं + + + हियाणुकंपएणं देवेणं हरिणेगमेसिणा सक्कवयणसंदिट्ठेणं माहणकुंडगामाओ नयराओ उसभदत्तस्स माहणस्स कोडालस-गोत्तस्स भारियाए देवाणंदाए माहणीए जालंधरसगोत्ताए कुच्छीओ खत्तियकुंडगामे नयरे नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्थस्स खत्तियस्स कासवसगोत्तस्स भारियाए तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठ-सगोत्ताए पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि हत्थत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं अन्वाबाहं अन्वा-बाहेणं कुच्छिसि साहरिए । ×

—कप० सू० २७, ३०

७ विद्धे नैगमेषी च तथैव स्वामिशासनम् । देवानन्दात्रिशलयोर्गर्भव्यत्यलक्षणम् ॥ २६ ॥ देवानन्दा ब्राह्मणी सा शयिता पूर्ववीक्षितान् । मुखानिःसरतोऽद्राक्षीन्महास्वप्नांश्चतुर्दश ॥ २७ ॥ उत्थाय वक्ष आध्नाना निःस्थामा ज्वरजर्जरा । केनापिजह्ने मे गर्भ इति चुक्रोश सा चिरम् ॥ २८ ॥ कृष्णाश्विनत्रयोदश्यां चन्द्रे हस्तोत्तरास्थिते । स देवस्त्रिशलागर्भे स्वामिनं निभृतं न्यधात् ॥ २९ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग २

देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में भगवान् महावीर का गर्भ है—यह विचारकर इन्द्र के स्वयं के पायदल सेनापति हरिणगमेषी देव को बुलाकर कहा कि त्रिशलादेवी की कुक्षि में उस गर्भ को रखो तथा देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षिमें उस गर्भ को रखो । यह कार्य सत्कर करो । हरिणगमेषी देव भी तुरन्त स्वामी की आज्ञानुसार देवानन्दा और

त्रिशला के गर्भ को अदल-बदल किया। उस समय शय्या में सोई हुई देवानन्दा ब्राह्मणी ने पूर्व देखे हुए चौदह महा-स्वप्नों को स्वयं के मुख से निकलते हुए देखा। वह तुरन्त बैठी परन्तु शरीर निर्बल और ज्वर से जर्जरित हो गया और छाती कूटती—“किसी ने हमारे गर्भ का हनन किया है।” इस प्रकार बारम्बार पुकार करने लगी। आश्विन कृष्णा त्रयोदशी, चन्द्र हस्तोत्तरा नक्षत्र के आवागमन होने पर उस देव ने भगवान् को त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया।

२ गर्भ का प्रभाव—त्रिशला के गर्भ के समय धन-वर्षा

१ जं रयणिं भयव्वं तिसलाए गब्भे साहरिते तं रयणिं सक्कत्रयणेणं तिरियजंभगा देवा विविहाइं मणि-निहाणाइं सिद्धत्थरायभवणंसि साहरंति, तं च नायकुलं हिरण्णेणं सुवण्णेणं धन्नेणं रज्जेणं बड्डुले वाहणेणं कोट्टागारेणं पुरेण अंतेउरेणं जणवयपुत्तोहिं पसूहिं सावइज्जेण य अतीव अतीव अभिवणइ। सिद्धत्थरायस्सविय सामंतरायणो सव्वे वसमागया।

—आव० निगा ४५८/मलयटीका

२ गर्भस्थोऽथ प्रभौ शक्राऽऽज्ञया जृंभकनाकिनः। भूयो भूयो निधानानिन्यधुः सिद्धार्थवेशमनि ॥ ३४ ॥
सर्वं ज्ञातकुलं भूरिधनधान्यादिद्विद्धिभिः। गर्भावतीर्णभगवत्प्रभावाद्बृधेतराम् ॥ ३५ ॥
सिद्धार्थस्यापि नृपतेर्दर्पादप्रणताः पुरा। प्रणेमुभूभुजोऽभ्येत्य स्वयं प्राभृतपाणयः ॥ ३६ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०। सर्ग २

भगवान् जब त्रिशला के गर्भ में आये तब शकेन्द्र को आज्ञा से जृंभक देवों ने सिद्धार्थ राजा के गृह में बारंबार धन का समूह ला लाकर स्थापित किया। गर्भ में अवतरित भगवान् के प्रभाव से उसका समूचा कुल धन-धान्य की समृद्धि से वृद्धि को प्राप्त हुआ।

जो राजा गर्भ के कारण पहले सिद्धार्थ राजा की नमन नहीं करते थे—वे हस्त में स्वयं भेंट लेकर वहाँ आकर नमने लगे।

३ त्रिशला के गर्भ में अभिग्रह

१ पित्रोर्विज्ञाय तद् दुःखं ज्ञानत्रयधरः प्रभुः। अंगुलिं चालयामास गर्भज्ञापनहेतवे ॥ ४४ ॥
मद्गर्भोऽक्षत एवेति ज्ञात्वा स्वाभिन्यमोदत। अमोदयच्च सिद्धार्थं गर्भस्पन्दनशंसनात् ॥ ४५ ॥
अचिन्तयच्च भगवान्मय्यदृष्टेऽपि कोऽप्यहो। मातापित्रोर्महान् स्नेहो जीवतोरनयोर्यदि ॥ ४६ ॥
प्रत्रजिष्याम्यहं स्नेहमोहादेतौ तदा ध्रुवम्। आर्तध्यानगतौ कर्माशुभं बह्वर्जयिष्यतः ॥ ४७ ॥
अथैवं सप्तमे मासि जग्राहाभिग्रहं प्रभुः। उपादास्ये परिव्रज्यां न पित्रोर्जीवतोरहम् ॥ ४८ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग २

२ अह सत्तमम्मि मासे गढ्भत्थो चेषग्भिग्गहं गेण्हे । नाहं समणो होहं अम्मापियरंमि जीवंते ॥ ५६ ॥

—आव० निगा० ४५८ पर भाष्य गा० ५६

मलयटीका— × × × अथ गर्भादारभ्य सप्तमे मासे तयोर्मातापित्रोर्गर्भप्रयत्नकरणेनात्यन्तं स्नेहमवबुद्ध्य अहो ममोपर्यतीवानयोः स्नेहो, यद्यहमनयोर्जीवितोः प्रव्रज्यां गृह्णामि नूनं न भवत एवैतावित्यतो गर्भस्थ एवाभिग्रहं गृह्णाति, ज्ञानत्रयोपेतत्वात्, किंविशिष्टमित्याह—नाहं श्रमणो भविष्यामि मातापित्रो जीवितोरिति

३ तए णं समणे भगवं महावीरे गढ्भत्थे चेष इमेयारुवं अभिग्गहं अभिग्गिहइ नो खलु मे कप्पइ अम्मापिएहिं जीवंतेहिं मुंडे भवित्ता अगारवासाओ अणगारिपं पव्वइत्तए

—कप्प० सू ६१

तोन ज्ञान के धारक (गर्भ में स्थित) वधमान ने माता-पिताको दुःखित जानकर गर्भज्ञापन कराने के लिए एक अंगुली को चलायमान किया । इससे माता ने जाना कि मेरा गर्भ क्षति को प्राप्त नहीं हुआ है । हर्षित हुई । गर्भ की स्फूर्णा को जानकर सिद्धार्थ राजा भी बहुत खुशी हुआ । फलस्वरूप वधमान ने विचार किया कि मैं अट्टट हूं फिर भी माता-पिता का मेरे पर कितना स्नेह है । यदि मैं माता पिता के जीवित रहते हुए दीक्षा ग्रहण करूंगा तो वे स्नेह के मोह से अति आतंष्यान को प्राप्त होंगे ।—अशुभ कर्म उपाजन करेंगे । अतः मुझे उचित है कि मैं उनके जीवित काल में दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा—यह अभिग्रह भगवान् ने सातवें मास में ग्रहण किया ।

४ वधमान का वंश

इक्ष्वाकवः सुखक्षेत्रे संभवन्ति दिवश्च्युताः । वीरेऽवतरति त्रातुं धरित्रीमसुधारिणः ॥

—हरि० खंड १ । सर्ग २/श्लो ४ उत्तरार्ध/२० पूर्वार्ध

वधकान का इक्ष्वाकु वंश था ।

५ वधमान भगवान् का शरीर

(समणे भगवं महावीरे) सत्त हत्थूस्सेहे समचउरंस-संठाण - संठिए वज्ज - रिसह—नारायसंधयणे अणुलोम - वाउवेगे कंक्कगणी कवोय - परिणामे सउणि - पोस - पिट्टतरोह - परिणए पउमुप्पल गंध - सरिस - निस्सास - सुरभिवयणे, छ्वो निरायंक - उत्तम - पसत्थ - अइसेय - निरुवय - पले जल्ल-मल्ल - कलंक - सेय - रय - दोस - वज्जिय - सरीर - निरुवलेवे छाया - उज्जोइयंग - मंगे ।

—आव० सू० १६

श्रमण भगवान् महावीर की ऊँचाई सात हाथ की थी । आकार समचौरस (उचित एवं श्रेष्ठ माप से युक्त सुन्दर) था । उनकी हड्डियों की संयोजना अत्यन्त मजबूत थी । शरीरस्थित वायु का वेग अनुकूल था । कंकपक्षी के समान गुदाशय था । कबूतर के आहार-परिणमन की शक्ति के समान पाचन शक्ति थी । पक्षियों के समान अपान-देश निर्लेप रहता था । पीठ, अन्तर (पीठ और पेट के बीच के दोनों तरफ के हिस्से पार्श्व) और जंघाएँ विशिष्ट परिणाम

वाली थी अर्थात् सुन्दर थी। पशु और उत्पल की सुगन्ध के समान निःश्वास से सुरभित मुख था। उनकी चमड़ी सुन्दर और कोमल थी। रोग से रहित उत्तम, शुभ, अति सफेद और अनुपम प्रभु की देह का मांस था। अतः जड़, मल्ल, कलंक, पसीने और रज के दोष से रहित (भगवान् का) शरीर था—उस पर मैल जम ही नहीं सकता था। अतः अंग-अंग उज्ज्वल कांति से प्रकाशमान थे।

६ वर्षमान भगवान के शरीर के अवयवों का विवेचन

(क) शिख-नख विवेचन

घण-निचिय-सुबद्ध-लकखण-णय-कूडागार-निभपिंडि-अग सिरए सामलि-बौंड-घण-निचियच्छोडिय-मिउ विसय-पसस्थ-सुहुम-लकखण-सुगंध-सुन्दर-भुअमोअग - भिंग-नेल कज्जल-पहिट्ट-भमर-गण-णिद्ध-णिकुरंब-निचिय-कुंचिय-पयाहिणावत्त मुद्ध सिरए दालिम-पुप्फणगास-तवणिज्ज-सरिस-निम्मल-सुणिद्ध-केसंत-केसभूमी

घण-निचिय-छत्तागारुत्तमंगदेसे णिञ्चण-समलट्ट-मट्ट चन्दद्ध-सम-णिडाले उडुवइ-पडिपुण-सोमवयणे, अल्लीण-पमाण-जुत्त-सवणे सुस्सवणे, पीण-मंसल-कवोल-देसभाए आणामिय-चाव-रुइल-किण्हम्भराइ तणु-कसिण-णिद्ध-भमुहे अनदालिय पुण्डरीय-णयणे कोआसिअ-धवल-पत्तलच्छे गरु लायत-उज्जु-तुज्ज-णासे उवचिअ-सिल-पवाल-बिबफल सण्णिभाहरोट्टे, पंडुर-ससि-सअल-विमल णिम्मल संख-गोक्खीर-फेण-कुन्ददगरय मुणालिआ-धवल-दंत-सेढो अखंडदंते अण्फुडिअदंते अविरलदंते सुणि-द्धदंते सुजायदंते एगदंतसेढीविव अणेगदंते, ह्यवहणिद्धंत-धोय-त्ता-तवणिज्ज-रत्ता-तल-तालु-जीहे अवट्टिय-सुविभत्त-चित्ता-मंसू मंसल-संठिय-पसस्थ-सदूल-विउल-हणूए,

चउरंगुल-सुप्पमाण-कंबु-वर-सरिस-भगीवे, वर-महिंस वराह-सीह-सूदल-उसभ-नाग - वर - पडिपुण-विउलक्खंवे जुग-सन्निभ-पीण-रइय-पीवर-पउट्ट-सुसंठिय-सुसिलिट्ट-विसिट्ट-घण-थिर-सुबद्ध-संधि पुर-वर-फलिह-वट्टिय-भुए-भुय-ईसर-विउल-भोग आदाण पलिह उच्छूठ दीह-बाहू-रत्ता - तलोवइय मउअ मंसल सुजाय लकखण-पसस्थ अच्छिह-जाल पाणी पीवर कोमल वरंगुली आयंब-तंब - तलिण - सुइ रुइल-णिद्ध-णक्खे चंदपाणिलेहे सूरपाणिलेहे संखपाणिलेहे चक्रपाणिलेहे दिसासोत्थिअ पाणिलेहे चंद-सूर-संख-चक्र-दिसा-सोत्थिय-पाणिलेहे,

कणग सिलातलुज्जल पसस्थ समतल उवचिय विच्छिण्ण पिडुल वच्छे सिरिवच्छं कियवच्छे अकरंडुअ-कणग-रुयय-निम्मल-सुजाय-निरुवहय-देहधारी-अट्ठ-सहस - पडिपुण - वर - पुरिस-लकखण-धरे-सणयपासे संगयपासे सुन्दरपासे सुजायपासे मिय-माइअ-पीण-रइय-पासे

उज्जुअ-सम-संहिय-जच्च-तणु-कसिण-णिद्ध-आइज्ज-लडह-रमणिज्ज-रोम राई-भस विहग सुजाय-पीण-कुच्छी भसोदरे सुइकरणे पउमविअडणाभे गंगावत्तक पयाहिणावत्त तरंग-भंगुर-रवि-क्किरण तरुण-बोहिय-अकोसायंत-पउम-गंभीर-वियड-णाहे (-भे) साहय-सोणंद-मुसल-दण्ण-णिकरिय-वर-कणगच्छरु-सरिस-वर-वइर-वलिअ-मज्जे-पमुइय-वर-तुरग-सीह-वर-वट्टिय-कडी

वर-सुरग-सुजाय-सुगुम्भ-देसे आइण्ण-हउव्व-णिरुवलेवे, वरवारण-तुल्ल-विक्कम-विलसिय-गई गय-
ससण-सुजाय-सन्निभोरु समुग्ग-णिमग्ग-गूहजाणू एणी - कुरुविदावत्त - वट्टाणुपुव्व - जंघे संठिय
सुसिलिद्ध गूहगुप्फे सुप्पइट्ठिय कुम्भचारुचलणे अणुपुव्व सुसंहयंगुलीए उण्णय-तणु-तंब-णिद्ध-णक्खे
रत्तु-पुलपत्त-मउय-सुकुमाल-कोमलतले अट्टसहस्सवरपुरिसलक्खणधरे,

(नग-नगर-मगर-सागर-चक्कंक-वरक मंगलंकिय-चलणे विसिद्ध-रुवे-हुयवह निद्धूम-जलिय - तडि-
तडिय-तरुण रवि-किरण-सरिस-तेए,

अणासवे अममे अकिचणे छिन्नसोए निरुवलेवे ववगय-पेम-राग-दोस-मोहे,

निगंथस्स पवयणस्स देसए सत्थनायगे पइट्ठावए, समणगपई समणग विद परिअट्टए, चउतीस-बुद्ध
वयणतिसेस-पत्ते पणत्तीस-सच्च वयणतिसेस-पत्ते, —आव० सू० २०

अत्यन्त ठोस या सघन, स्नायुओं से अच्छी तरह से बंधा हुआ, श्रेष्ठ लक्षणों से युक्त, पर्वत के शिखर के
बाकार वाला और पत्थर की गोल पिण्डी के समान (भगवान् का) शिर था। सेमल वृक्ष के फल जो कि रूई
भरा हुआ हो, उसके फटे हुए अंश से रूई बाहर निकाली हुई हो उसके समान कोमल, सुलभे हुए, स्वच्छ और
थोड़े या पतले-सूक्ष्म, लक्षणयुक्त सुगन्धित, सुन्दर, भुजमोचक रत्न भू गकीट, नील-विकार, काजल और अत्यन्त
शरीर के समान काले और लटों के समूह से एकत्रित घूँघराले छल्लेदार बाल (प्रदक्षिणावर्त) शिरपर थे।
समीप में केश के उत्पत्ति के स्थान की त्वचा दाडिम के फूल के समान प्रभायुक्त की, लाल सोने के समान
(निर्मल थी और उत्तम तेल से सिञ्चित-सी थी।

उनका उत्तमार्ग धन, भरा हुआ और छत्राकार था। ललाट भागें चांद के समान, घाघ आदि के चिह्न से रहित
मोक्ष और शुद्ध था। नक्षत्रों के स्वामी पूर्ण चन्द्र के समान सौम्य मुख था। मनोहर या संलग्न या आलीन
से युक्त कान थे, अतः वे सुशोभित थे। दोनों गाल मांसल और भरे हुए थे। भौंहे कुछ झुके हुए धनुष के
(टेडी) सुन्दर और काले बादल की रेखा के समान पतली, काली और कांति से युक्त थी। नेत्र खिले हुए
कमल के समान थे। आँखें बरौनी से युक्त धवल थीं। इस प्रकार शोभित थीं मानों कुछ भाग में पत्तों से
ढके हुए कमल हों। नाक गरुड़ के समान लम्बा, सीधा और ऊँचा था। संस्कारित-शिलाप्रवाल और
काल के समान अघरोष्ठ थे। दातों की श्रेणि निष्कलंक चन्द्रकला, निर्मल से भी निर्मल शंख गाय के दूध,
चन्द्र के फूल, जलकण और कमलनाल के समान सफेद थी। दांत अखण्ड, अजर्जर (मजबूत), अविरल (पर-
दे हुए दो दांतों के बीच का अन्तर अधिक नहीं हो ऐसे), सुस्निग्ध और सुन्दराकार थे। एक दांत की श्रेणि
एक दांत थे। तालु और जीभ के तले अग्नि के ताप से मल रहित, जल से धोए हुए और तपे हुए सोने के समान
थे। भगवान् की दाढ़ी-मूँछे कभी न बढ़ती थी—सदा एक सी रहती और सुन्दर ढंग से छाँटी हुई सी रम्य थी।
(ठुडो) मांसल, सुन्दराकार, प्रशस्त और व्याघ्र की शिबुक के समान विस्तीर्ण थी।

श्रीमा श्रेष्ठ शंख समान (सुन्दर) और चार अंगुल की उत्तम प्रमाण से युक्त थी। स्कंध—खंभे श्रेष्ठ भैसे, सुअर,
बाघ, प्रधान हाथी और वृषभ (खंभे) के समान प्रमाण से युक्त सभी विशेषताओं से सम्पन्न और विशाल
आकार के बाहू गाड़ी के जुड़े के समान, मोट, देखने में सुखकर और दुर्बलता से रहित—पुष्ट पोंचों से युक्त थे। बाहू

का आकार सुन्दर था, संगत था, अतः वे विशिष्ट थे—घन, स्थिर और स्नायुओं से ठीक ढंग से बंधी हुई (—हड्डियों के जोड़) से युक्त थे। वे पूरे बाहू ऐसे दिखाई देते थे कि मानों इच्छित वस्तु को प्राप्त करने के लिए पंखों ने अपना महान देह फैलाया हो। प्रभु के हाथ के तले लाल, उन्नत, कोमल, भरे हुए, सुन्दर और शुभ लक्षण युक्त थे और अंगुलियों के बीच में छिद्र दिखाई नहीं देते थे। अंगुलियाँ पुष्ट, कोमल और श्रेष्ठ थीं। (अंगुलियाँ नख ताम्बे के समान कुछ-कुछ लाल, पवित्र, दीप्त और स्निग्ध और रूक्षता से रहित थे। हाथ में चन्द्राकार, सूर्य-खंखाकार, चक्राकार और दक्षिणावर्त स्वस्तिकाकार रेखाएँ थीं। इन सभी रेखाओं के सुसंगम से सुसोभित थे।

भगवान् का वक्ष (= छाती, सीना) सुवर्ण शिलातल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त, समतल, मांसल, चिह्नित और चौड़ा था। उस पर 'श्रीवत्स' स्वस्तिक का चिह्न था। मांसलता के कारण पांसलियों की हड्डियाँ दिखाई नहीं देती थीं। स्वर्ण कांतिसा (सुनहरा), निर्मल, मनोहर और रोग के पराभवसे (= आघात से) रहित (अक्रान्त) देह था।

जिसमें पूरे एक हजार आठ श्रेष्ठ पुरुषों के लक्षण थे। उनके पार्श्व (= बगल) नीचे की ओर क्रमशः घेरे वाले हो गये थे, देह के प्रमाण के अनुकूल थे सुन्दर थे। उत्तम बने हुए थे और मितमात्रिक पुष्ट-रम्य थे।

(वक्ष और उदर पर) सीधे और सम रूपसे एक दूसरे से मिले हुए, प्रधान, पतले, काले, स्निग्ध, मन को आकर्षित करने वाले, सलावण्य और रमणीय शोभों की पंक्ति थी। मत्स्य और पक्षीकी सी उत्तम और दृढ़ मांसपेशियों के युक्त कुक्षि थी। मत्स्य का-सा उदर था। पावन इन्द्रिय थी या पेट के करण पावन थे। गंगा के भँवर के समान दाहिनी और घूमती हुई तरंगों के भंगुर अर्थात् चंचल सूर्य की तेज किरणों से विकसित कमल के मध्यभाग के समान गम्भीर और गहन नाभि थी। त्रिदण्ड, मूशल, सार पर चढ़ाये हुए श्रेष्ठ स्वर्ण दर्पणक और खड्ग-मुष्टि के समान श्रेष्ठ, वज्रवत् क्षीण मध्य भाग था। रोग-शोकादि से रहित श्रेष्ठ अश्व और सिंह के समान श्रेष्ठ बाली कटि थी।

श्रेष्ठ घोड़े के समान अच्छी तरह बना हुआ उत्तम गृह्य भाग था। जातिवान् घोड़े के समान (कर्णिका) शरीर लेप से लित नहीं होता था। श्रेष्ठ हाथी के समान पराक्रम और विलास युक्त चाल थी। हाथी के समान जँघाएँ थीं। गोल डिब्बे के ढक्कन के समान निमज्ज और गुप्त घुटने थे। हरिणी (की जंघा) के समान और 'कुरुविंद' नामक तृण के समान तथा सूत्र बनाने के पदार्थ के समान क्रमशः उतार सहित गोल जंघाएँ (अथवा पिंडलियाँ थीं)। सुन्दराकार, सुगठित और गुप्त पैर के मणिबंध (= टखने) थे। शुभरीति से स्पर्श कक्षुए के समान चरण थे। क्रमशः बढ़ी-घटी हुई अंगुलियाँ थीं। ऊँचे उठे हुए, पतले, ताम्र वर्ण और स्निग्ध लाल कमल दल के समान कोमल और सुकुमार पगलियाँ थीं। देह्यष्टि में श्रेष्ठ पुरुषों के १००८ लक्षण थे।

पर्वत, नगर, मगर, समुद्र और चक्र रूप श्रेष्ठ चिन्हों और स्वस्तिक आदि मंगल चिन्हों से अंकित भगवान् का रूप विशिष्ट था। धूर्ण से रहित जाज्वल्यमान अग्नि फैली हुई बिजली और तरुण सूर्य किरणों से सज्ज भगवान् का तेज था।

भगवान् ने कर्म के आत्म-प्रदेश के द्वारों को खोल दिया था। मेरेपन की बुद्धि त्याग दी थी। अतः अपनी मालिकी में कोई भी वस्तु नहीं रखी थी। भव-प्रवाह को छेद दिया था। वा (परिग्रह संज्ञा के अभाव) शोक से रहित थे। निरुपलेप थे। प्रेम, राग, द्वेष और मोह से अतीत हो चुके थे।

निर्ग्रन्थ प्रवचन के उपदेशक, शास्ता, नायक और प्रतिष्ठायक थे। अतः साधु-संघ के स्वामी थे और अन्त के वर्द्धक (उन्नतिकर्ता या पूर्णता की ओर ले जाने वाले) थे। जिनवर के वचन आदि चौतीस अतिशेष अर्थ = तीव्र और उत्कृष्ट पुण्योदय से सर्वजन हितकरता की भावना से पूर्व भव में बद्ध पुण्य के उदय से होने पर साधारण के लिए दुर्लभ पौद्गलिक रचनादि विशेष) और पैंतीस सत्य-वचन के अतिशयोक्तियों के धारक थे।

व्याख्या में अध्ययन

अधितद्वेषवासजाते भगवं × × × अम्मापिऊहिं लेहायरियस्स । × × × ताहे सक्को करतल-
कतंजलिपुडो पुच्छति (उपोद्घातपदपदार्थक्रमगुरूलाघवसमासविस्तरसंक्षेपविषयविभागपर्यायवचना
क्षेपपरिहारलक्षणया व्याख्यया व्याकरणार्थ) अकारादीण य पज्जाए भंगे गमे य पुच्छति, ताहे
सामी वागरेति अणेगप्पगारं...तप्पभिति च णं एन्द्रं व्याकरणं संवृत्तं ते य विद्धिता, तिणाणो
कामातोत्ति ।

—आव० चूर्णी पूर्ण भाग पृ० २४६, ४६

भगवान् के माता-पिता ने आठ वर्ष की अवस्था होने पर वर्धमान को लेखाचार्य के पास भेजा। ब्राह्मण
क्षेत्र में शक्रेन्द्र आया। उसने कुमार वर्धमान से कुछ प्रश्न पूछे—अक्षरों के पर्याय कितने हैं। उपोद्घात क्या
क्षेप और परिहार क्या है? वर्धमान ने इन प्रश्नों के समुचित उत्तर दिये।

शाला आदि में जाकर व्याकरण आदि का अध्ययन न महावीर करते हैं और न बुद्ध। महावीर एक दिन
शाला में जाते हैं और इन्द्र के व्याकरण सम्बन्धी प्रश्नों का निरसन कर अपनी ज्ञान-गरिमा का परिचय
दाते हैं।

भार्यादिपर्याय—

तीसा य वर्द्धमाणे बायालीसा य परियाओ ।

—आव० निमा ३२१

टीका—वर्द्धमाने—वर्द्धमानस्वामिनो गृहवासस्त्रिशद्वर्षाणि, व्रतपर्यायः द्विचत्वारिंशद्वर्षाणि ।

वर्धमान स्वामी की गृहवास-पर्याय का कालमान तीस वर्ष का था तथा व्रतपर्याय अर्थात् दीक्षापर्याय का
कालमान बायालीस वर्ष का था।

ग्रामलकी क्रीडा

भगवं च पमद्वणे चेडुवेहिं समं सुंकलिकडण (सं० वृक्षक्रीडया अभिरमति ।) × × × ताहे

सामिणा अमूढेणं वामहत्थेणं सत्तले उच्छूढो ।

—आव० चू० पूर्वभाग, पृ० १

प्रमदवन में भगवान् आमलकी क्रीड़ा—खेल खेलते थे । सांप को पकड़कर एक ओर डाल दिया ।

तिदूसक खेल दो-दो बालकों के बीच यह खेल खेला जाता था । दोनों बालक लक्षित वृक्ष की ओर पड़ते । जो बालक लक्षित वृक्ष को सबसे पहले छू लेता, वह विजयी होता । विजयी पराजित पर सवार हो प्रस्थान स्थान पर आता ।

१० चक्रवर्ती की कल्पना

पच्छा सामिणं दिवद्वण सुपासपमुहं सयणं आपुच्छति ताहे सणियपज्जोयादयो कुमारा पडि
वा एस चक्किन्ति ।

—आव० चू० पूर्वभाग पृ० १

सुपाश्वं, नन्दिबद्धं न प्रमुख वर्द्धमान के चक्रवर्ती होने का साक्ष्य दे रहे थे ।

११ भगवान् के अभिनिष्क्रमण का विचार और नन्दिबद्धन

पच्छा सामी णं दिवद्वण सुपासपमुहं सयणं आपुच्छति, समत्ता पतिन्नत्ति, ताहे ताणि विगुणसोम
भणंति मा भट्टारगा, सव्वजगदपिता परमबंधू एककसराए चेव अणाहाणि होमुत्ति, इमेहि कालं
तुब्भेहि विणिक्खमवन्ति खते खारं पक्खेवं, ता अच्छह कंचि कालं जाव अम्हे विसोगाणि जातं

—आव० चू० पूर्वभाग पृ० १

नन्दिबद्धन सुपास प्रमुख वर्द्धमान के पास आकर बोले, भैया ! इधर माता-पिता का विधोग भोव
तुम्हारा घर से अभिनिष्क्रमण । क्या मैं इस शोक को सहन कर सकूंगा ।

१२ नन्दिबद्धन के आग्रह पर दो वर्ष और गृहस्थावास में

(क) अम्हं परं विहिं संवत्सरेहिं रायदेविसोगो णासिज्जति ।

—आव० चू० पूर्वभाग पृ० १

(ख) अम्हं परं विहिं संवच्छरेहिं रायदेविसोगा णासिज्जंति ।

—आया० चू० पृ० १

नन्दिबद्धन के आग्रह पर भगवान् दो वर्ष और विरक्तभाव से गृहस्थास में रहे ।

१३ साधक दो वर्ष में विविध-नियम

१ रात्रि—भोजन न करने तथा सचित्त जल न पीने को प्रतिज्ञा

ताहे पडिस्सुत्तं तो णवरं अच्छामि जति अप्पच्छं देण भोयणादिकिरियं करेमि ताहे समंति

अतिसयरूवंपि ताव सेकंचि कालं पसामो, एवंसयं निक्खमणकालं णच्चा अवि साहिए दुवे वासे सीतोदगमभोच्चा णिवखंते अप्फासुगं आहारं राइभत्तं च अणाहारेतो बंभयारी असंजमवाररहितो ठिओ, ण य फासुगेणवि ण्हातो हाथफदसोयणं आयमणं च, परं णिक्खमणमहाभिसेगे अप्फसुणेणं ण्हाणितो, णय बंधवेहिवि अतिणेहं कतवं ।

—आव० चू० पूर्वभाग/पृ० २४६

अभिनिक्रमण काल को जानकर साधिक दो वर्ष वद्धमान ने सचित्त अन्न नहीं खाया, सजीव पानो नहीं पीया और न रात्रि-भोजन किया । अचित्त जल से भी स्नान नहीं किया, केवल हस्त पाद अप्रासुक जल से धोते थे । केवल निक्रमणाभिषेक के अवसर पर अप्रासुक जल से स्नान किया । बंधवो घर भी अति स्नेह नहीं किया ।

२ एकत्व भावना—

एगत्तिगतोणाम णमे कोत्ति णाहमवि कस्सइ ।

—आया० चू० पृ० ३०४

मैं अकेला हूँ—दूसरा कोई किसी का नहीं है—ऐसी भावना का वद्धमान चित्तन करते ।

१४ जीव-सचित्त-अचित्त का ज्ञान

पुढविं च आउकायं, तेउकायं च वाउकायं च । पणगाइं बीय-हरियाइं, तसकायं च सव्वसो णच्चा एयाइं संति पडिलेहे, चित्तमंताइं से अभिण्णाय । परिवज्जिया ण विहरिस्था, इति संखाए से महावीरे ॥

—आया० श्रु १/अ ६/उ१/गा १२, १३/पृ० ७३

टीका—××× । पुढविं च इत्यादि इयाइं इत्यादिश्लोकद्वयस्याप्ययमर्थं एतानि पृथिव्यादीनि चित्तमन्त्यभिज्ञाय तदारंभ परिवर्ज्जं विहरति स्म क्रियाकारक संबंधः । ××× । (यहां पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय (पनक-बीज-हरित) तथा त्रसकाय के भेदों का वर्णन है ।) ××× एतानि पृथिव्यादीनि भूतानि संति विद्यंत इत्येवं प्रत्युपेक्ष्य तथा चित्तमन्ति सचेतनान्यभिज्ञाय ज्ञात्वा इत्येतस्संख्यावगम्य स भगवान्महावीरस्तदारंभं परिवर्ज्जं विहतवानिति ××× ।

—आया० श्रु १/अ ६/उ१/गा १२, १३

पृथ्वीकाय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, पनक, बीज, हरितादि वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय को सर्वथा

—सर्वप्रकार—भेदविभेदों को जानकर, ये सभी काय अस्ति-विद्यमान है—ऐसा देखकर तथा ये काय सचित्त—सचेतन होती हैं इससे अभिज्ञात होकर तथा इन सभी भेद-विभेदों से, अस्तित्व से तथा सचेतनत्व से अवगम्य—परिज्ञात होकर भगवान् (इन कार्यों के आरम्भ) का परिहार कर विहरण करते थे ।

१५ दीक्षा-पर्याय

उसभस्स पुव्वलक्खं पुव्वंगूणमजियस्स तं चेव । × × ×

सयरी विचरावासा दिक्खाकालो जिणिंदाणं ।

—आव० निगा २६४/पूर्वार्ध, २६८/उत्तरार्ध

मलयटीका—ऋषभस्य भगवतः श्रमणपर्याय एकं पूर्वलक्षम्, × × × पार्श्वनाथस्य सप्ततिर्वर्षाणां

वद्धमानस्वामिनो द्वाचत्वारिंशत्—××× । ऋषभादीनां दीक्षाकालो—त्रतपर्यायः ।

ऋषभनाथ भगवान् की श्रमणपर्याय का कालमान एक लाख पूर्वका था । वर्धमान स्वामी की श्रमणपर्याय का कालमान बयालीस वर्ष का था ।

१६ प्रथम-भिक्षा-दाता ने कैसे भिक्षा दी

एए कयंजलिउडा भत्तीवहुमाणसुककलेसागा । तक्कालपहट्टमणा पड्डिहाम्भेसु जिणवरिंदे ॥

—आव० निगा ३३० पृ० २२७

मलयटीका—एते श्रेयांसप्रभृतयः कृताञ्जलिपुटाः भक्तिः—उचितप्रतिपत्त्या विनयकरणं बहुमानः
आन्तरः प्रीतिविशेषस्ताभ्यां शुक्ला—अतीव शोभना लेश्या—परिणामविशेषो येषां ते
भक्तिबहुमानशुक्ललेश्याकाः तस्कालं—तस्मिन् प्रथमभिक्षादानकाले प्रहृष्टमनसो यथा-
क्रममृषभादीन् जिनवरेन्द्रान् प्रतिलाभितवन्तः

प्रथम भिक्षा-दाता श्रेयांस यावत् बहुल ब्राह्मण कृताञ्जलि जोड़कर, विनयपूर्वक प्रीतिवश—शुक्ललेश्यापरिणाम में स्थित अवस्था में भगवान् ऋषभदेव यावत् भगवान् महावीर को भिक्षा दी ।

१७ जृम्भक देवों द्वारा प्रथम-पारणे में वृष्टि

घुट्टं च अहोदाणं दिव्वाणि य आहयाणि तूराणि । देवा य संनिवइया वसुहारा चैव वुट्ठाय ॥

—आव० निगा० ३४४ पृ० २१७

मलयटीका—देवैराकाशस्थितैर्घुट्टं यथा—अहोदानमिति, अहोशब्दो विस्मये, अहोदानमहोदानम्
अस्यायमर्थः एवं दीयते, एवंहि दत्तं भवतीति, तथा दिव्यानि तूराणि त्रिदशैराहतानि,
देवाश्च तदैवसन्निपतिताः, वसुधारानिपातार्थमाकाशे जृम्भकादेवाः समागताः, ततो
वसुधारा वृष्टा, द्रव्यवृष्टिरभूदित्यर्थः । एवं सामान्येन पारणकालभाव्युक्तम् ।

सभी तीर्थंकरों के दीक्षा के बाद प्रथम पारणे में देवों द्वारा आकाश में अहोदान ! अहोदानं शब्द गुंजित हुआ ।
जृम्भक देवों द्वारा द्रव्य-वृष्टि हुई ।

१८ भगवान के लज्जस्थ-अवस्था का ज्ञान

१ कर्म और कर्मफल का ज्ञान—

(क) अट्ट थावरा तसत्ताए, तसजीवा य थावरत्ताए । अट्ट सव्वजोणिया सत्ता, कम्मुणा कप्पिया
पुट्ठेबाला ॥

भगवं च 'एवं मन्नेसिं, सोव्हिए हू लुप्पति बाले । कम्मं च सव्वसो णच्चा, तं पड्डियाइक्खे पावगं
भगवं ॥

—आया० श्रु० १ । अ ६ । उ १ । गा १४, १५ । पृ० ७३

मलयटीका—अट्ट थावरा इत्यादि अथानन्तर्यस्थावराः पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः ते त्रसतया द्वीन्द्रिया-
दित्तया विपरिणमंते कर्मवशाद् गच्छन्ति च शब्द उतरापेक्षया समुच्चयार्थस्तथा त्रसजीवा-
श्च कृम्यादयः स्थावरतया पृथिव्यादिवेन कर्मनिष्ठाः समुत्पद्यन्ते; × × × अथवा
सर्वा योनयः उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वं योनिकाः सत्त्वा सर्वगतिभाजस्ते च

बालारागद्वेषाकलिताः स्वकृतेन कर्मणा पृथक्तया सर्वयोनि भोक्तेन च कल्पिता व्यवस्था-
पिता इति । × × × ।

किञ्च भगवं च इत्यादि भगवांश्चक्षीरवर्द्धमान स्वाम्येवमवगम्य ज्ञातवान् सह उपधिनावर्त्तत इति
सोपधिकः द्रव्यभावोपधियुक्तः जहरवधारणे लुप्यत एव कर्मणो क्लेशमनुभवत्येवाज्ञो बाल इति, यदि
वाङ्महर्हैतौ यस्मात् सोपधिकः कर्मणा लुप्यते बालस्तस्मात्कर्म च सर्वशो ज्ञात्वा तत्कर्म प्रत्याख्या-
तत्वां स्तदुपादानं च पापकर्मामुष्टानं भगवान् वर्द्धमानस्वामीति ।

कर्मों के बशीभूत होकर स्थावर जीव (पृथ्वी-अप-तेजस्-वायु-वनस्पतिकाय) त्रसरूप में द्वीन्द्रियादि जीव
रूप में उत्पन्न होते हैं तथा त्रसजीव—कृमी आदि भी पृथ्वी-आदि स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं ।

जो जीव सर्वयोनि में उत्पन्न हुए है वे जीव सर्वयोनिक कहलाते हैं तथा वे सर्वयोनिक जीव भजना से
सर्वगतियों में उत्पन्न हुए हैं । बाल-अज्ञानी जीव राग-द्वेष से युक्त होकर, अपने किये हुए कर्मों के अनुसार भिन्न २
योनियों में उत्पन्न होते हैं यह योन्यान्तर का कथन कोई कल्पित नहीं है तथा व्यवस्थित नहीं भजना से होता है ।

भगवान् श्री वर्द्धमान स्वामी ने स्वयमेव स्वज्ञान से यह जान लिया था कि बाल अज्ञानी जीव द्रव्य और
भाव रूप उपधि के कारण कर्म से लिप्त होकर (एक योनि से अन्य योनि में जन्म लेता हुआ) क्लेश को पाता
है । कर्मों को सब प्रकार से—कर्म और कर्मफल को सर्वप्रकार—सर्वथा उपादान जानकर भगवान् ने कर्म और उसके
कारण पाप का प्रत्याख्यान कर दिया ।

१६ वर्धमान को चतुर्थ प्रहर में केवल ज्ञान की उपलब्धि

(क) उगं च तवोकर्मं विसेसतो वदमाणस्स ।

—आव० निगा २६२

अन्य सब तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर के तपको उपरतप कहा गया है ।

(ख) वैशाखे मासि सज्योस्सन्दशम्यामपराण्हके ।

—उत्तपु० पर्व / ७४ / श्लो० ३५०

वैशाख शुक्ल दशमी के दिन-अपराण्हकाल में वर्धमान को केवल-ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

(ग) तेवीसाए नाणं उत्पन्नं जिणवराण पुब्बण्हे । वीरस्स पच्छिमण्हे पमाणपत्ताए चरमाए ॥ २७५ ॥

—आव० निगा० २७५

मलयटीका—त्रयोविंशति (तेः) जिनवराणां तीर्थंकरतां ज्ञानमुत्पन्नं पुर्वाण्हे, सरोद्गमनमुद्दत्तो इत्यर्थः
तथा चोक्तं चुणौ—‘तेवीसाए तित्थगराणं सुरुग्गमणमुद्दत्तो एगराइयाए पडिमाए नाणमुत्पन्नं’ मिति,
वीरस्य भगवतः अपश्चिमतीर्थंकरतः पश्चिमाण्हे, तत्रापि प्रमाणप्राप्तायां चरमायां पौरुण्यामिति, अन्ये
त्वभिदधति—द्वाविंशतेः पूर्वाण्हे ज्ञानमुत्पन्नं मल्लिस्वामिमहावीरयोः पुनरपराण्हे इति ।

तेवीस तीर्थंकरों को पुर्वाण्ह—सूर्य के उद्गमन के समय में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तथा वर्धमान को पश्चिम
प्रहर—चतुर्थ प्रहर में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ।

अन्य लोगों की यह मान्यता है कि बाइस तीर्थंकरों को पूर्वाण्ह में केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ तथा मल्लिनाथ व
महावीर स्वामी को अपराण्ह में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ।

२० ज्ञान-कल्याणक

१ देवों द्वारा महोत्सव—

(क) विज्ञायाऽऽसनकंपेन केवलज्ञानमीशितुः । इन्द्राः सह सुरैस्तत्र समाजगुः प्रमोदिनः ॥ ५ ॥
 केऽप्युत्पेतुः केऽपि पेतुर्नृतुः केऽपि केऽपि च । जहसुः केऽपि च जगुर्वूच्चक्रुः केऽपि सिंहवत् ॥ ६ ॥
 केऽप्यश्ववदहेषन्त बभृहुः केऽपि हस्तिवत् । रथवत् केऽपि चीच्चक्रुः पूच्चक्रुः केऽपि नागवत् ॥ ७ ॥
 स्वामिनः केवलोत्पत्या हृष्टार्यानोऽपरेऽपि हि । चतुर्विधा दिविषदो विविधं विचिचेष्टिरे ॥ ८ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ तब इन्द्रों के आसन कंपित हुए । भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है —ऐसा जानकर देवों के साथ हर्ष को प्राप्त कर वहाँ आये । उस अवसर पर कतिपय देवगण नाचने लगे, कतिपय कुदने लगे, कतिपय हँसने लगे, कतिपय गाना गाने लगे । कतिपय देव सिंह की तरह गर्जने लगे । कतिपय-देव अश्व की तरह हेषारव करने लगे । कतिपय देव हस्ति की तरह नाद करने लगे, कतिपय रथ की तरह चोटकार करने लगे, कोई सर्प की तरह पुकार मारने लगे ।

अस्तु भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है अतः केवल ज्ञान से हर्ष को प्राप्त हुए चारों निकाय के देव अन्य भी विविध चेष्टा करने लगे ।

(ख) इति भगवति वृत्तान्निर्जितारौ तदैव नभसि जयनिनादो देवसंघैर्जजृम्भे ।
 सुरपटहरवौघैरुदमासीत्खलोकं भुवनपतिविमानैश्छादितं यात्रयास्य ॥ १३३ ॥
 घनकुसुमवृष्टिश्चापतस्वात्सुरेन्द्राः असमपरमभक्त्याश्रीपति प्राणमंस्तम् ।
 विगतमलविकाराः संबभूवुर्दिशोऽष्टौ गगनममलमासीत् केवलश्रीप्रभावात् ॥ १३४ ॥
 मृदुशिशिरतरोऽस्मान्मातरिश्वा ववौ च सकलसुरपतीनां कम्पिरे विष्टराणि ।
 समवसरणभूर्ति यक्षराडाशु चक्रे ह्यसमगुणनिधे श्रोवर्द्धमानस्य भक्त्या ॥ १३५ ॥

—वीरवर्धच० अधि १३

इस प्रकार चारित्र के प्रभाव से भगवान् के कर्मशत्रुओं के बीत लेने पर आकाश में उसी समय देवसमूह के द्वारा जय-जयकार शब्द हो गया । तथा देव-द्वन्द्वियों के शब्दों से आकाश व्याप्त हो गया । भगवान् की दर्शन-यनत्रायं आने वाले भुवनपति देवों के विमानों से आकाश अच्छादित हो गया ।

केवल लक्ष्मी के प्रभाव से आकाश में सघनपुष्प-वृष्टि होने लगी । और देवेन्द्रों ने आकर उन श्रीपति महावीर जिनेन्द्र को अनुपम परम भक्ति से नमस्कार किया । उस समय आठों ही दिशाएँ मल-विकार से रहित (निर्मल) हो गयी और आकाश भी निर्मल हो गया ।

उस समय मृदु शीतल समीच मन्द-मन्द बहने लगी और सभी देवेन्द्रों के आसन कम्पायमान हुए । तभी यक्षराज ने आकर अनंत गुणों के निधान श्री वर्धमान जिनेन्द्र को भक्ति सकवसरण की रचना की ।

ल ज्ञानोत्पत्ति के समय आसनकंपन—

मुक्तात्तयस्स ताहे अइसयकोडीय होदिपक्खोहो । सोहम्मपहुदिइंदाण आसणाइं पि कंपंति ॥७०६॥

—तिलोप० अधि ४

केवलज्ञान उत्पन्न होने पर तीनों लोकों में अतिशय क्षोभ उत्पन्न होता है और सौधर्मादि इन्द्रों के आसन गगन होते हैं ।

वर्धमान की अंतक्रिया और परिनिर्वाण

अहं च णं इमीसे ओसप्पिणाए चउवीसाए तित्थंकरणं चरिमे तित्थंकरे सिज्झिस्स जावअंतं फरेस्संति

—भग० श १५

इस अवतरिणी काल में ऋषभदेव यावत् चरम तीर्थंकर — वर्धमान सिद्ध हुए, बुद्ध हुए यावत् अंतक्रिया की ।

भगवान् महावीर के पर्यायवाची नाम

महामाहण

× × × सहालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महामाहणे ? तएणं से सहालपुत्ते समणोवासए गोसालं मंखलिपुत्तं एवं वयासी—के णं देवाणुप्पिया ! महामाहणे ? तए णं से गोसाले मंखलिपुत्ते सहालपुत्तं समणोवासयं एवं वयासी—

समणे भगवं महावीरे महामाहणे ! से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे महामाहणे ? एवं खलु सहालपुत्ता ! समणे भगवं महावीरे महासमणे उप्पण्णणाणदंसणधरे जाव महियपूइए, जाव तच्चकम्मसम्पयासंपउत्ते, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ - समणे भगवं महावीरे महामाहणे ।

—उवा० अ ७/ सू ४४ से ४६

भ्रमण भगवान् महावीर—महामाहण है; क्योंकि उत्पन्न हुए ज्ञान-दर्शन को धारण करने वाले यावत् स्तुति कराये हुए और पूजित है यावत् तथ्य कर्म की संपत्ति से युक्त है ।

महागोप

आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महागोवे ? केणं देवाणुप्पिया । महागोवे ? समणे भगवं महावीरे महागोवे । से केणट्ठेणं देवाणुप्पिया । जाव महागोवे ? एवं खलु देवाणुप्पिया । समणे भगवं महावीरे संसाराडवीए बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे खज्जमाणे छिज्जमाणे भिज्जमाणे लुप्पमाणे विलुप्पमाणे धम्ममएणं दंडेणं सारक्खमाणे संगोवेमाणे निव्वाणमहावाडं साहस्सिं संपावेइ, से तेणट्ठेणं सहालपुत्ता ! एवं वुच्चइ - समणे भगवं महावीरे महागोवे ।

—उवा० अ । सू ४६

श्रमण भगवान् महावीर महागोप है; क्योंकि श्रमण भगवान् महावीर संसाराटवी में नाश को प्राप्त हुए, विनाश को प्राप्त होते हुए, भक्षण करते हुए, छेदाते हुए, भेदाते हुए, लुप्त होते हुए बहुत से जीवों को (प्रकृत तरह) धर्म रूप दण्ड से संरक्षण करते हुए, संगोपन करते हुए निर्वाण रूप महाटवी में स्वयं के हाथ से पहुंचा देते हैं।

विवेचन—महागोप—अर्थात् गोप-गाय का रक्षक और अन्य गाय की रक्षा करने की अपेक्षा विशेष विनिश्चय होने के कारण महान् है अतः महागोप है।

३ महासत्थवाह

आगए णं देवाणुप्पिया ! इहं महासत्थवाहे ? केणं देवाणुप्पिया ! महासत्थवाहे ? सहाल्लुप्पुसमणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे, से केणट्टेणं ? एवं खलु देवाणुप्पिया । समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे बहवे जीवेनस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पन्थेणं सारक्खं निव्वानमहापट्टणाभिमुहे साहस्तिं संपावेइ, से तेणट्टेणं सहाल्लुप्पुत्ता । एवं वुच्चइ-समणे भगवं महावीरे महासत्थवाहे ।

—उवा० अ० ७/१

श्रमण भगवान् महावीर महासत्थवाह है; क्योंकि श्रमण भगवान् महावीर संसाराटवी में नाश को प्राप्त होते हुए, विनाश को प्राप्त होते हुए यावत् विलुप्त होते हुए बहुत से जीवों को धर्ममय मार्ग से संरक्षण करते हुए निर्वाण रूप महापट्टण—नगर के सम्मुख स्वयं के हाथ से पहुंचाते हैं।

४ महाधम्मकथी

आगएणं देवाणुप्पिया । इहं महाधम्मकथी ? केणं देवाणुप्पिया । महाधम्मकथी ? समणे भगवं महावीरे महाधम्मकथी । से केणट्टेणं XXX समणे भगवं महावीरे महाधम्मकथी ? एवं खलु देवाणुप्पिया । समणे भगवं महावीरे महइमहालर्यसि संसारसि बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जाव विलुप्पमाणे धम्ममएणं पन्थेणं सारक्खं निव्वानमहापट्टणाभिमुहे साहस्तिं संपावेइ, से तेणट्टेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—समणे भगवं महावीरे महाधम्मकथी ।

—उवा० अ० ७/२

श्रमण भगवान् महावीर महाधम्मकथी है; क्योंकि वास्तव में श्रमण भगवान् महावीर अत्यंत मोटे शरीर में नाश को प्राप्त होते हुए, विनाश को प्राप्त होते हुए, भक्षण कराते हुए, छेदाते हुए, भेदाते हुए, लुप्त हुए, निर्वाण रूप महापट्टण को प्राप्त हुए, सन्मार्ग से भूले हुए, मिथ्यात्व के बल से पराभव को प्राप्त हुए और आठ प्रकार के रूप अंधकार के समूह से ढके हुए बहुत जीवों को बहुत अर्थों, यावत् व्याकरण—उत्तर से चार गति रूप संसाराटवी से स्वयं के हाथ से पार उतारते हैं। इस प्रकार से हे देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर महाधम्मकथी है।

निर्यामक

नागए णं देवाणुप्पिया ! इहं महानिज्जामए ? केणं देवाणुप्पिया । महानिज्जामए ? समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए । से केणट्ठेणं ? एवं खलु देवाणुप्पिया । समणे भगवं महावीरे संसार-महासमुद्वे बहवे जीवे नस्समाणे विणस्समाणे जावविलुप्पमाणे बुद्धमाणे निबुद्धमाणे उप्पियमाणे सम्मईए नावाए निव्वाणतीराभिमुहे साहस्थिं सम्पावेइ, से तेणट्ठेणं देवाणुप्पिया ! एवं वुच्चइ—
समणे भगवं महावीरे महानिज्जामए । —उवा० अ ७ । सू ४६

श्रमण भगवान् महावीर महानिर्यामक हैं; क्योंकि श्रमण भगवान् महावीर संसार रूप महासमुद्र में नाशको पति हुए, विनाश को प्राप्त होते हुए यावत् विलुप्त होते हुए, बुडते हुए, अत्यन्त बुडते हुए 'उप्पियमाण' गोथा हुए जीवों को धर्म बुद्धिरूप नौका से निर्वाण रूप तीर के सन्मुख स्वयं के हाथ से पहुँचाते हैं—इस कारण भगवान् महावीर को महानिर्यामक कहा है ।

मंगल और तप शब्दों में वर्धमान

वर्द्धमाणक (वर्द्धमानक)

आठ मंगल में से एक मंगल का नाम ।

अट्ठमंगलया पुरओ अहाणुपुन्वीए संपट्टिया । तंजहा सोवत्थिय १, सिरिवच्छ २, णंदियावत्त ३
वर्द्धमाणक ४, भद्दासण ५, कलस ६, मच्छ ७, दप्पणया ८ । —ओव० सू ६४

आठ मंगल के नाम इस प्रकार हैं— १—स्वस्तिक, २—श्रीकस्त, ३—नन्दावत्तं, ४—वर्द्धमानक, ५—भद्दासन, ६—कलश, ७—मत्स्य और ८—दर्पण ।

आयंबिलवद्धमाणं (आयंबिलवर्द्धमान)

(भगवओ महावीरस्स अंतेवासी निगंथा)

भईपडिमं महाभद्दपडिमं सव्वओभद्दपडिमं आयंबिलवद्धमाणं तवोकम्मं पडिवण्णा । —ओव०सू २४
भगवान् महावीर के बहुत से निग्नंथ भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा, सर्वतोभद्र प्रतिमा और आयंबिल
तपः कर्म करनेवाले थे ।

तीर्थप्रवर्तन काल

दीणि सया अडहत्तरिजुत्ता वासाण पासणाहस्स, इगिक्कीससहस्साणि दुदाल वीरस्स सो कालो ।

—तिलोप० अधि ४/गा १२७४

वीर भगवान् का तीर्थकाल इक्कीस हजार ब्यालीस वर्ष प्रमाण है ।

वर्धमान के समय चारित्र

पच्चक्खाणमिणं संजमो य पढमंतिमाण दुविगप्पो । सेसाणं सामइतो सत्तरसंगो अ सव्वेसि ॥

—अव० निगा-२५६

मलयटीका—संयमोऽपि—सामायिकादिरूपः प्रथमान्तिमजिनथोद्विविकल्पः, इत्थं सामायिकं
द्वेदोपस्थानीयं चेत्यर्थः, शेषाणां—मध्यमानां द्वाविंशतितीर्थकृतां यावत्कथिकमेवैकं सामायिकं, न शेषं

छेदोपस्थापनादि, तथाकल्पत्वात्, समदशाङ्गः — समदशभेदः पुनः, चः पुनरर्थे, सर्वेषां तीर्थकृतान् भूत् ।

संयम का अर्थ सामायिक रूप होता है । प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर (ऋषभदेव-वर्द्धमान) के शासन दो प्रकार का विकल्प था—१. इत्वरिक सामायिक चारित्र रूप तथा छेदोपस्थापनीय चारित्र रूप । मध्यम का तीर्थंकरों के शासन में यावत्कथिकम् सामायिक चारित्र होता है किन्तु छेदोपस्थापनीय चारित्र नहीं होता ।

२ हिंसादिपञ्चपापानां सामस्येन च सर्वदा । त्यजनं यत्रिगुप्त्यापञ्चधा समितिपालनैः ॥ १८ ॥
चारित्रं व्यवहाराल्यं भुक्तिमुक्तिनिबंधनम् । तज्ज्ञेयं शर्मदं सारं कर्मागमनिरोधकम् ॥ १९ ॥
चारित्रेण विना जातु तपोऽङ्गकलेशकोटिभिः । कर्मणां संवरः कर्तुं शक्यते न जिनैरपि ॥ २० ॥
संवरेण विना मुक्तिं कुतो मुक्तेर्विना सुखम् । कथं च जायते पुंसां शाश्वतं परमं यतः ॥ २१ ॥
—वीरवर्धच० अधि १८/श्लो १८ से

हिंसादि पाँच पापों का समस्त रूप से, अर्थात् कृत, कारित और अनुमोदना से सर्वदा के लिए त्रियोग शुद्धिपूर्वक तीन गुप्ति और पाँच समिति के परिपालन के साथ त्याग करना व्यवहार चारित्र है, यह भुक्ति (सांसारिक भोगसुख) और मुक्ति का कारण है । इसे ही कर्मों के भासव का रोकने वाला और सारभूत सुख का देनेवाला वाच्य चाहिए ।

औरों की तो बात ही क्या है, तीर्थंकर भी चारित्र के बिना शरीर को कष्ट देने वाले कोटि-कोटि तपों द्वारा कर्मों का संवर नहीं कर सकते हैं । संवर के बिना मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है और कर्मों से मुक्त हुए कि जीवों को शाश्वत स्थायी परम सुख कैसे प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता ।

२६ भगवान् महावीर और दीपालिका

ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्धदीपालिकयात्र भारते ।

समुद्यतः - पूजयितुं जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाणविभूतिभक्तिभाक् ॥

—हरिवंशपुराण ६६/१

भगवान् महावीर के निर्वाण के उपलक्ष्य में भारत में प्रतिवर्ष लोगों के द्वारा दीपालिका पर्व मना जाता है ।

२७ वर्धमान-महावीर भगवान् की स्तुति

१ सूयगडो (सूत्रकृतांग सूत्र) से

(क) पुच्छिसु णं समणा माहणा य, अगारिणो यापरतिस्थिआ य ।

से के 'इमं णितियं धम्ममाहु अणेत्थिं ? साहुसमिक्खयाए ॥ १ ॥

कहं व णाणं ? कहं दंसणं से ? सीलंकहं णायसुयस्स आसी ?
जाणासि णं भिक्खु जहातहेणं, अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥ २ ॥
खेयणं ए से कुसले मेहावी, अणंतणाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स, जाणाहि धम्मं च धिइंच पेह ॥ ३ ॥

—सूय०/श्रु १/अ ६/गा १ से ३/ पृष्ठ ३०१

टीका—सः भगवान् चतुस्त्रिंशदतिशयसमेतः खेदः — संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिन कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदिवा 'क्षेत्रज्ञो' यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति, अथवा-क्षेत्रम्-आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः, तथा भावकुशान् - अष्टविधकर्मरूपान् लुनातिद्धिनतीति कुशलः प्राणिनां कर्मोच्छ्रित्तयेनिपुण इत्यर्थः, आशु-शीघ्रं प्रज्ञा यस्यसावाशुप्रज्ञः, सर्वत्र सदोपयोगाद्, न छद्मस्थ इव विचिन्त्य जानातीति भावः महर्षिरिति क्वचित्पाठः, महाश्वासावृषिश्च महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वाद्दुलपरीषहो-पसर्गसहनाच्चेति, तथा अनन्तम् - अविनाश्यनन्तपदार्थपरिच्छेदकं वा ज्ञानं—विशेषग्राहकं यस्या-सावनन्तज्ञानी, एवं सामान्यार्थं परिच्छेदकत्वेनानन्तदर्शी, तदेवम्भूतस्य भगवतो यशोनृसुरासुराति शाय्यतुलं विद्यते यस्य स यशस्वी तस्य, लोगस्य 'चक्षुःपथे' लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावेन चक्षुर्भूतस्य वा 'जानीहि' अवगच्छ 'धर्म' संसारोद्धरणस्वभावं, तत्प्रणीतं वा श्रुतचारित्राख्यं, तथा तस्यैव भगवतस्तथोपसर्गितस्यापि निष्प्रकम्पा-चारित्राचलन-स्वभावां 'धृति' संयमे रतिं तत्प्रणीतां वा 'प्रेक्षस्व' सम्मक्कुशाप्रीयया बुद्ध्या पर्यालोचयेति, यदिवा-तैरेव श्रमणादिभिः सुधर्मस्वाम्यभिहितो यथात्वं तस्य भगवतो यशस्विनश्चक्षुष्पथे व्यवस्थितस्य धर्मं धृतिं च जानीषे ततोऽस्माकं 'पेहि' त्ति कथयेति ।

नरक के दुःखों को सुनकर—संसार के भय से भयभीत बने हुए श्रमण, ब्राह्मण, गृहस्थ और परतीर्थिक—सुधर्मा स्वामी को पूछते थे कि यह एकांत हित को करने वाला प्रधान धर्म—साधु-समीक्षा से किसने कहा है—

श्री वीर प्रभु का ज्ञान, दर्शन और यम-नियम रूप शील कैसा था ? हे स्वामिन् ! जो जो मैंने पूछा है उसे आप यथातथ्य जानते हो—इसलिये जैसा आपने सुना तथा अवधारण किया—वैसा कहो ।

ऐसा पूछने पर सुधर्मास्वामी वीर प्रभु के गुण का वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

श्री महावीर प्रभु—संसारो जीवों को कर्मों से उत्पन्न हुआ जो खेद-उसके जानने वाले, महर्षि कुशल, अनंत ज्ञानी और अनंत दर्शी थे ।

ऐसे यशस्वी केवलज्ञानी के धर्म को तुम जानो; वैसे ही उनकी धृति को देखो ।—

(ख) 'उड्डु' अहेयं' तिरियँ दिसासु, तसा य जे थावर जे य पागा ।

'सेणिच्चणिच्चेहि' समिक्खपण्णे, 'दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥

—सूय० श्रु १/ अ ६/ गा ४/

टीका— × × × । स भगवांस्तान् प्राणिनः प्रकर्षेण केवलज्ञानित्वात् जानातीतिप्रज्ञः स एव प्राज्ञो, नित्यानित्याभ्यां द्रव्यार्थपर्यायार्थाश्रयणात् 'समीक्ष्य' केवलज्ञानेनार्थान् परिज्ञाय प्रज्ञापनायोग्याना-हेत्युत्तरेण संबंधः, तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः यदिव—संसारार्णवपतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इव द्वीपः स एवम्भूतः संसारोत्तारणसमर्थ 'धर्मः' श्रुतचारि-त्राख्यं सम्यक् इत्—गते सदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा, तथा चोक्तम्—“जहापुण्ण-स्स कथइतहा तुच्छस्स कथइ” इत्यादि समंवा-धर्ममूत्-प्राबल्येन आह—उक्तवान् प्राणिनामनुप्र-हार्थं न पूजासत्कारार्थमिति ।

ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक् दिशा में त्रस और स्थावर प्राणी रहे हुए है उनको सम्यग् जानने वाले श्री महावीर देवने नित्य, अनित्य, द्रव्य, पर्यायादि भेदों से दीपक-द्वीप समान समता धर्म कहा है ।

(ग) से सव्वदंसी अभिभूयणाणी, गिरामगंधे धिइमं ठियप्पा । अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं, गंधा अतीते अभए अणाऊ ॥
—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा ५ । पृ० ३०१

टीका—'स' भगवान् सर्व—जगत् चराचरं सामान्येन द्रष्टुं शीलमस्य स सर्वदर्शी, तथा अभिभूय पराजित्य मत्यादीनि चत्वार्यपि ज्ञानानि यद्वर्तते ज्ञानं केवलाख्यं तेन ज्ञानेन ज्ञानी । × × × ।

श्री वीर प्रभु-सर्व लोक के देखने वाले, बावीस परीपह के सम्मुख हो—उनको जीतकर केवल ज्ञानी बने । मूल और उत्तम गुणों को विशुद्ध पालने वाले, धैर्यवंत, स्थिरात्मा, प्रधान, सर्वजगत में निरुपम ज्ञाता, बाह्याभ्यंतर ग्रन्थि से रहित, सन्त प्रकार के भय से रहित तथा आयुक्रम से रहित थे ।

(घ) से भूइपण्णे अणिएयचारी, ओहंतरे धीरे अणंतचक्खू । अणुत्तरं तवति सूरिए वा, वइरोयणिदे व तमं पगासे ॥
—सूय० श्रु० १ । अ ६ । गा ६ । पृ० ३०१

टीका—XXX । यथा—सूर्यः 'अनुत्तरं' सर्वाधिकं तपतिन तस्मादधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति, तथा 'वेरोचनः' अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रो यथाऽसौ तमोऽपनीय प्रकाशयति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानतमोऽपनीय यथावस्थितपदार्थप्रकाशनं करोति ।

वीर प्रभु—भूतिप्रज्ञ अर्थात् अनंत ज्ञानी तथा अप्रतिबंध विहासी थे, भवोच तीरने वाले, धीर ज्ञान रूप चक्षु के धारक थे । —जैसे सूर्य सबसे अधिक तपता है—वैसे ही भगवान् ज्ञान करके उत्तम थे ।

जैसे अग्नि अन्धकार को नाशकर अधिक प्रकाश करती है वैसे ही महावीर—यथावस्थित पदार्थ के प्रकाशक थे ।—

(च) अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं, नेता मुणी कासवे आसुपण्णे इंदेव देवाण महाणुभावे, सहस्सणेता 'दिविणं विसिट्ठे' ॥
—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा ७ । पृ० ३०२

टीका—नास्योत्तरोऽस्तीत्यनुत्तरस्तभिममनुत्तरं धर्म 'जिनानाम्' ऋषभादितीर्थकृतां संबंधिनमयं मुनिः श्रीमान् वर्धमानाख्यं 'काश्यपः' गोत्रेण 'आशुप्रज्ञः', केवलज्ञानी उत्पन्नदिव्यज्ञानो 'नेता' प्रणेतेति, × × × । यथा चेन्द्रो 'दिवि' स्वर्गो देवसहस्राणां 'महानुभावो' महाप्रभाववान् × × × तथा 'नेता' प्रणायको 'विशिष्टो' रूपबलवर्णादिभिः प्रधानं एवं भगवानपि सर्वभ्यो विशिष्टः प्रणायको महा-नुभावश्चेति ।

श्री काश्यप गोत्रीय केवल ज्ञानी महावीर श्री ऋषभदेव स्वामी से प्ररूपित प्रधान धर्म के नेता थे । जैसे इन्द्र सहस्रों देवों का नायक तथा महा प्रभावान् देवों में प्रधान है वैसे ही श्री महावीर प्रभु सहस्र मनुष्यों में इन्द्र के समान महानुभाववाले थे ।

(छ) से पण्णया अक्खयसागरेवा, महोद्धही वावि अणंतपारे ।
अणाइले या अकसाइ मुक्के सक्के व देवाहिवई जुईमं ॥

—सूय० श्रु १ / अ ६ / गा ८ / पृ० ३०२

टीका—असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तथा 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिक्षीयते प्रतिहन्यते वा तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानारूपा । × × × । यथा 'सागर' इति, अस्यचाविशिष्टत्वात् विशेषणमाह—'महोद्धिरिव' स्वयंभूरमण इवानन्तपारः यथाऽसौ विस्तीर्णो गंभीरजलोऽक्षोभ्यश्च एवं तस्यापि भगवतो विस्तीर्णा प्रज्ञा स्वयंभूरमणनन्तगुणा गम्भीराऽक्षोभ्या च, × × × सत्यपि निःशेषान्तरायक्षये सर्वलोकपूज्यत्वे च तथापि भिक्षामात्र—जीवित्वात् भिक्षुरेवासौ, नाक्षीणमहानसादिलब्धिमुपजीवतीति, तथा शक्र इव देवाधिपतिः 'द्युतिमान्' दीप्तिमानिति श्री वीर प्रभु का ज्ञान विस्तीर्ण जलबाला स्वयंभूरमण समुद्र के समान अक्षय प्रज्ञा वाला था वैसे ही भगवान् कालुष्यता रहित थे । (अकषायी होने पर भिक्षा से आजीविका करने वाले थे ।)

जैसे देवों का स्वामी शक्रेन्द्र दीप्तिमान है वैसे ही श्री वीरप्रभु दीप्तिवान् थे ।

(ज) सेवीरिएणं पडिपुण्णवीरिए, सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे ।
सुरालएवावि मुदागरे से, विरायए णेगगुणोववेए ॥

—सूय० श्रु १/अ६/गा ६

टीका—'स' भगवान् 'वीर्येण' औरसेन बलेन धृतिसंहनादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः, तथा 'सुदर्शनो' मेरुर्जम्बूद्वीपनाभिभूतः स यथा नगानां--पर्वतानां सर्वेषां श्रेष्ठः—प्रधानः तथा भगवानपि वीर्येणान्यैश्च गुणैः सर्वश्रेष्ठ इति ।

जैसे सुदर्शन (मेरु) पर्वत सर्व पर्वतों में श्रेष्ठ है और देवलोक के देवों को वह पर्वत आनन्द करने वाला है—और भी ऐसे अनेक गुणों से सहित है—वैसे ही श्री वीरप्रभु वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से प्रतिपूर्ण वीर्यवान् थे अर्थात् संहननादि में बलवान् थे ।

(झ) सयं सहस्साण उजोयणार्णं, तिकंडगे पंडगवेजयंते ।
से जोयणे णवणउत्ति सहस्से, उद्धस्सिए हेट्ठ सहस्समेगं ॥ १० ॥
पुट्ठे णभे चिट्ठइ भूमिवट्ठिए, जं सूरिया अणुपरिवट्ठयंति ।
से हेमवण्णे बहुणंदणे य, जंसी रइं वेययई महिदा ॥ ११ ॥
से पव्वए सद्धमहप्पगासे, विरायती कंचणमट्ठवण्णे ।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे, गिरीवरे से जलिए व भोमे ॥ १२ ॥
महीए मज्झम्मि ठिए णग्गिदे, पण्णायते सूरियसुडलेसे ।
एवं सिरिए उ स भूरिवण्णे, मणोरमे 'जोयति अच्चिमाळी ॥ १३ ॥

सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स, पवुच्चती महतो पव्वतस्स ।
एतोवमे समणे णातपुत्ते, जाती-जसो-दंसण-णाण-सीले ॥ १४ ॥

—सूय० श्रु १ / अ ६/गा १० से १४ पृ० ३०३

मेरुपर्वत सब मिलाकर एक लाख योजन का है। उसके तीन काण्ड है— १. भूमिमय, २-सुवर्णमय और ३. वेङ्कूर्य मणि। उसमें पंडगवन ध्वजा के समान शोभित होता है। वह मेरुपर्वत नानावें हजार योजन ऊंचा है और नीचे एक सहस्र योजन है ॥ १० ॥

मेरुपर्वत पृथ्वी से लगाकर आकाश को अडककर रहा हुआ है। उसके चारों ओर ११२१ योजन के अंतर पर सूर्य प्रमुख ज्योतिषी देव परिभ्रमण कर रहे हैं। वह मेरुपर्वत सुवर्णमय है और उसमें चार वन स्थित हैं अर्थात् भूमितल में भद्रशाल वन है—उससे पांच सौ योजन ऊपर नन्दनवन है। उससे ६२५०० योजन ऊपर सोमनसवन है और उससे ३६००० योजन ऊपर शिखर पर पंडगवन है। वहां पर देवेन्द्र क्रीड़ा करने के लिए आते हैं और रतिसुख भोगते हैं।

और भी वह पर्वत मन्दर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि इत्यादि नामों से प्रसिद्ध होता हुआ शोभायमान है तथा सुवर्ण के समान देदीप्यमान सुकुमाल है—उसमें प्रधान मेखला रही हुई है जिससे सामान्य जीवको चढ़ने में बड़ा विषम है और अच्छी मणि और औषधियों से देदीप्यमान भूमी के समान है ॥ १२ ॥

वह नगेन्द्र [मेरु पर्वत] पृथ्वी के मध्यभाग में स्थित है और सूर्य के समान कांतितवान् है। वैसे ही लक्ष्मी से सुमेरु पर्वत अनेक वर्षावाला और मन को आनन्द देने वाला है तथा जैसे सूर्य सब दिशा में प्रकाश करता है वैसे ही वह पर्वत दशों दिशाओं को प्रकाशमान करता है ॥ १३ ॥

सुदर्शन, सुमेरु आदि नामों से प्रसिद्ध महान् मेरु पर्वत का यश जैसे कहते हैं वैसे ही ज्ञातपुत्र श्री वीरप्रभु जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील करके समस्त चर्ममार्ग के प्रकाशकों में प्रधान थे ॥ १४ ॥

(ब) गिरिवरे वा णिसहायताणं, रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं ।
ततोवमे से जगभूतिपण्णे, मुणीण 'मज्जे तमुदाहु' पण्णे ॥

—सूय० श्रु १ / अ ६ / गा १५ । पृ० ३०२

टोका—X X X । यथा तावाय तवृत्ताभ्यां श्रेष्ठौ एवं भगवानपि जगति-संसारे भूतिप्रज्ञः—
प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः तथा अपर मुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जासातीति प्रज्ञः एवं तत्स्वरूपविद्ः
'उदाहुः' उदाहृतवन्त उक्तवन्त इत्यर्थः ।

जैसे समस्त पर्वतों की लम्बाई में निषेध पर्वत श्रेष्ठ है और वतुलाकार में हृक्क नामक पर्वत श्रेष्ठ है वैसे ही सब जगत में महावीर प्रभु प्रज्ञा से श्रेष्ठ है और समस्त मुनियों में तत्त्व स्वरूप जानने में अत्यन्त ज्ञानवान् जानना ।

(ट) अणुत्तरं धम्ममुदीरइत्ता, अणुत्तरं ऋणवरंभियाईं ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं, संखेंदुवेगंतवदातसुक्कं ॥

—सूय० श्रु १ / अ ६ / गा १६ / पृ० ३०३

टीका—×××। 'अनुत्तरं' प्रधानं 'ध्यानवरं' ध्यानश्रेष्ठं ध्यायति, तथाहि—उत्पन्नज्ञानो भगवान् योगनिरोधकाले सूक्ष्मं काययोगं निरुन्धन् शुक्लध्यानस्य तृतीयं भेदं सूक्ष्मक्रियम-प्रतिपाताख्यं तथा निरुद्धयोगश्चतुर्थं शुक्लध्यानभेदं व्युपरतक्रियमनिवृत्ताख्यं ध्यायति, ××× शुक्लं—शुक्लध्यानोत्तरं भेदद्वयं ध्यायति ।

श्री महावीर प्रभु सर्वोत्तम धर्म को प्ररूपित कर सर्वोत्तम शुक्लध्यान ध्याते थे । वह शुक्लध्यान श्रेष्ठ-शुक्ल शु के समान सफेद दोष रहित-सुवर्ण के समान प्रकाशमान, जल के फेन के समान उल्लव, शंख और चन्द्र के समान शीत अवदांत (स्वच्छ) शुक्लध्यान है ।

भगवान् महावीर योगनिरोधकाल में सूक्ष्मकाययोग के निरोध के समय में शुक्लध्यान का तीसरा भेद अक्रिया-अप्रतिपाति नामक शुक्ल ध्यान ध्याते थे ।

योग निरोध होने के बाद शुक्लध्यान का चतुर्थ भेद—व्युपरतक्रियानिवृत्ति ध्यान ध्याते थे ।

३) अणुत्तरगं परमं महेसी, असेसकम्मं स विसोहइत्ता ।

सिद्धिं गतिं साइमणंत पत्ते, णाणेण सीलेण य दंसणेण ॥

—सूय० श्रु १ / अ ६ / गा० १७

समस्त ज्ञानावरणीय कर्म आदि अष्ट कर्मों का क्षय कर महर्षि महावीर प्रभु ज्ञान, दर्शन और शील (आचार) से सर्वोत्तम और लोक के अग्रभाग में स्थित आदि-अंत-रहित मुक्ति में गये ।

४) 'हक्खेसु णाते जह सामली वा, जंसी रति वेययंती सुवण्णा ।

वणेषु या णंदणमाहु सेट्टं, णाणेण सीलेण य भूतिपण्णे ॥

—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा १८

टीका—×××। वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानं एवं भगवानपि 'ज्ञानेन' कैवलाख्येन समस्तपदार्थाविर्भावकेन 'शीलेन' च चारित्र्येण - यथाख्यातेन 'श्रेष्ठः' प्रधानः, 'भूतिप्रज्ञः' प्रवृद्धज्ञानो भगवानिति ।

सर्ववृक्षों में देवकुह —उत्तरकुह में स्थित सामली वृक्ष बड़ा है क्योंकि वहाँ सुवर्णकुमारादि देव आकर वृक्ष का अनुभव करते हैं ।

और वनों में नन्दनवन श्रेष्ठ है—वैसे ही ज्ञान, दर्शन और शील से श्री महावीर प्रभु श्रेष्ठ थे ।

५) थणितं व सद्द ण अणुत्तरं उ. चंदेव ताराण महानुभावे । गंघेसु वा चंदणमाहु सेट्टं, एवं मुणीणं अपडिण्णमाहु ॥

सूय० श्रु १ । अ ६ । गा १६

टीका—यथा शब्दानां मध्ये 'स्तनितं' मेघगजितं तद् 'अणुत्तरं' प्रधानं, ×××। तारकाणां च' नक्षत्राणां मध्ये यथाचंद्रो महानुभावः सकलजननिवृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः 'गन्धेषु' इति गुणगुणिनोरभेदान्मुतुबलोपाद्वा गंधवरसु मध्ये यथा 'चन्दनं' गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा तज्ज्ञाः श्रेष्ठमाहुः, एवं 'मुनीनां' महर्षीणां मध्ये भगवन्तंतास्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाशंसिनी विद्यते इत्य-प्रतिज्ञस्तमेवम्भूतं श्रेष्ठमाहुरिति ।

सब शब्दों में जैसे मेघगजन प्रधान है तथा नक्षत्रों के मध्य में जैसे सब को आनन्द देने वाले कांति के महानुभाव चन्द्रमा प्रधान है तथा गंध (गुण और गुणी के अभेद से) अर्थात् गन्धवाले पदार्थों में जैसे गोशीर्ष अथवा चन्दन श्रेष्ठ है इसी तरह मुनियों के मध्य में इसलोक तथा परलोक के सुख की कामना नहीं करने वाले महावीर स्वामी को श्रेष्ठ कहते हैं ।

(ग) जहा सयंभू उदहीण सेट्टे. णागेसु वा धरणिदमाहु सेट्टे । खोओदए वा रस वेजयंते, तवोव मुणि वेजयंते ॥
—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २० । पृ० ३

जैसे सब समुद्रों में स्वयंभूरमण समुद्र प्रधान है तथा जैसे नागों में धरणेन्द्र सर्वोत्तम हैं एव जैसे सब रस में इक्षुसोदक समुद्र श्रेष्ठ है इसी तरह सब तपस्वियों में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी श्रेष्ठ है ।

(त) हन्थीसु एरावणमाहु णाते सीहो मीगाणं सल्लिाण गंगा ।
पक्खीसु या गरुले वेणुदेवे, णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥

—सूय० श्रु १ / अ ६ / गा २१ । पृ० ३०३

टीका—+ + + । निर्वाणं-सिद्धिक्षेत्राख्यं कर्मच्युतिलक्षणं वा स्वरूपतस्तदुपायप्राप्तिहेतुतो वदितुं शीलं येषांते तथा तेषां मध्ये ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः अपत्यं ज्ञातपुत्रः-श्रीमन्महावीरवर्धमान स्वामी स प्रधान इति, यथावस्थितनिर्वाणार्थवादित्वादित्यर्थः ।

जैसे हाँस्त में ऐरावण हस्ति प्रधान है, पशुओं में सिंह, नदियों में गंगा, पक्षियों में गरुड़ प्रधान है वैसे मोक्षमार्ग की स्थापना करने वालों में महावीर प्रभु श्रेष्ठ थे ।

(थ) जोहेसु णाए जह वीससेणे, पुप्फेसु वा जह अरविदमाहु ।
खत्तीण सेट्टे जह दंतवक्के, इसीण सेट्टे तह वट्टमाणे ॥

—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २२

टीका—योधेसु मध्ये 'ज्ञातो' विदितो दृष्टांतभूतो वा विश्वा—हस्यश्वरथपदातिचतुरंग समेता सेना यस्य स विश्वसेनः—चक्रवर्ती यथाऽसौ प्रधानः, पुष्पेषु च मध्ये यथा अरविन्दं प्रधानमा तथा क्षतात् त्रायन्त इति क्षत्रियाः तेषां मध्येदान्ता—उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः चक्रवर्तीयथाऽसौ श्रेष्ठः । तदेव बहून् दृष्टांतान् प्रशस्तान् प्रदर्शयित्वा भगवन्तं दाष्टान्तिकं स्वनामप्राहमा तथा ऋषीणां मध्ये श्रीमान् वर्धमानस्वामी श्रेष्ठ इति ।

जैसे योद्धाओं में वामुदेव प्रसिद्ध है, पुष्प में अरविन्द और क्षत्रिय में चक्रवर्ती श्रेष्ठ है—वैसे ही ऋषियों में वर्धमान स्वामी श्रेष्ठ थे ।

(द) दाणाण सेट्टं अभयप्पयाणं, सच्चेसु या अणवज्जं वयंति । तवेषु या उत्तम वंभचेरं, लोगतमे स णायपुत्ते ॥
—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २३ । पृ० ३

टीका—× × × तथा सर्वलोकोत्तमरूपसंपदा—सर्वातिशायिन्या शक्यया क्षायिकज्ञानदर्शना शीलैः च 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् श्रमणः प्रधान इति ।

जैसे दान में अभयदान श्रेष्ठ है, सत्यवचन में निरवद्यवचन और तप में ब्रह्मचर्य श्रेष्ठ है—वैसे ही लोक में श्रमण ज्ञातपुत्र थे ।

ठिठिण सेट्ठा लवसत्तमा वा, सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा । णिव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा, ण गायपुत्ता परमत्थि णाणी ॥
—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २४ । पृ० ३०३

टीका—स्थितिमतं मध्ये यथा 'लवसत्तमाः' पंचानुत्तरविमानवासिनो देवाः सर्वोत्कृष्टस्थितिवर्तिनः ताः, + + + । सभानां च पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीडास्थानैरूपेतत्त्वात्तथा सर्वेऽपि धर्माः 'निर्वाणश्रेष्ठाः' मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं यतः एवं 'ज्ञातपुत्रात्' वीरवर्धमानस्वामिनः सर्वज्ञात् सकाशात् 'परं' प्रधानं अन्यद्विज्ञानं नास्ति । भव भगवानपरज्ञानिभ्याऽधिकज्ञानो भवतीति भावः ।

जैसे स्थिति में लवसप्तमदेव—पंचानुत्तर-विमान-वासीदेव श्रेष्ठ है, सर्वसभाओं में सौधर्म सभा तथा सर्व में निर्वाण श्रेष्ठ है वैसे ही ज्ञातपुत्र महावीर से अन्य कोई ज्ञानी नहीं है ।

पुढोवमे धुणती विगयगेही, ण सण्णिहिं कुव्वइ आसुपण्णे । तरिउं समुद्धं व महाभवोधं, अभयं करे वीर चक्रवू
—सूय० श्रु० १/अ ६ / गा २५ / पृ० ३०३

टीका—स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेश-द्वारा सत्त्वाचार इति यदि वा—यथा पृथ्वी सर्वं सहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहत तथा 'धुनाति' अपनयत्यष्टप्रकारं कर्मेति शेषः, तथा—विगता प्रलीना स बाह्याभ्यन्तरेषु वस्तुषु च गार्ह्यमभिलाषो यस्य स विगत गृद्धिः, तथा सन्निधानं सन्निधिः, स च द्रव्य सन्निधिः—साम्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया क्रोधादयो वा सामान्येन कषायास्तमुभयरूपमपि धिन करोति भगवान्, तथा 'आशुप्रज्ञः' सर्वत्र सदोषयोगात् न छद्मस्थवन्मनसा पर्यालोच्य पदार्थ-च्छिन्ति विधत्ते, स एवम्भूतः तरित्वा समुद्रमिवापारं 'महाभवौघं' चतुर्गतिकं संसारसागरं बहुव्यसना-सर्वोत्तमं निर्वाणमासादितवान् पुनरपि तमेव विशिनष्टि—'अभयं' प्राणिनः प्राणरक्षारूपं स्वतः स्व सदुपदेशदानात् करोतीत्यभयंकरः, तथाऽष्टप्रकारं कर्मविशेषेणेरयति—प्रेरयतीति वीरः, तथा जन्तुम् अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वाद्वाऽनन्त चक्षुरिव चक्षुः—केवलज्ञानं यस्य स तथेति ।

जैसे पृथ्वी सर्व पदार्थों को आधारभूत है—ऐसी उपमा वाले श्री महावीर प्रभु अष्ट प्रकार के कर्मों को करते थे और वे विगत गृद्धि थे और वे केवलज्ञानी किंचिन्मात्र संचय नहीं करने वाले थे । और अनन्त ज्ञान प्रभुवाले श्री महावीर प्रभु भवोघ रूपी समुद्र को तोरकर सर्वजीवों का भय दूर करने वाले थे ।—

कोहं च माणं च तहेव मायं, लोभं चउत्थं अज्झत्तदोसा । एताणि चत्ता अरहा महेसो, ण कुव्वइ पाव ण कारवेइ ॥
—सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २६ । पृ० ३०४

टीका—+ + + क्रोधादयः कषायाः कारणमत एतान् अध्यात्म-दोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषा-यान् + + + परित्यज्य असौ भगवान् 'अर्हन्' तीर्थकृन् जातः, तथा महर्षिः, एवं परमार्थतो महर्षि-कत्वं भवति यद्यध्यात्मदोषा न भवन्ति, नान्यथेति, तथान स्वतः 'पापं' सावद्यमनुष्ठानं करोति नाप्यन्यैः कारयतीति

क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चार अध्यात्म दोषों को दूर कर श्री वीर प्रभु, कुछ भी पाप करने से ही कराते भी नहीं ।

(फ) किरियाकिरियं वेणइयाणुवार्यं, अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं । से सव्ववार्यं इह वेयइत्ता, उव्वि सम्म स दीहरार्यं ॥ —सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २८

टीका—तथा स भगवान् क्रियावादिनामक्रियावादिनां वैनयिकानामज्ञानिकानां च 'स्थानं, प मभ्युपगतमित्यर्थः, यदिवा—स्थीयतेऽस्मिन्निति स्थानं-दुर्गतिगमनादिकं 'प्रतीत्य' परिच्छिद्य सम्यग् बुध्येत्यर्थः । + + + । इत्येवंरूपं तेषामभ्युपगमं परिच्छिद्य-स्वतः सम्यगवगम्य सम्यगवबोधे तथा स एव वीरवर्धमान स्वामी सर्वमन्यमपि बौद्धादिकं यं कंचन वादमपरान् सत्त्वान् यथा स्थित् तत्त्वोपदेशेन "वेदयित्वा" परिज्ञाप्योपस्थितः सम्यगुत्थानेन संयमे व्यवस्थितो न तु । + + +

भगवान् महावीर स्वामी ने क्रियावादी, अक्रियावादी, विनयवादी और अज्ञानवादियों के मतों को खर अथवा ये सभी मतवादी दुर्गति में जाते हैं यह जानकर यावज्जीवन संयमपालन किया था ।

इस प्रकार सभी मतवादियों के मतों को अच्छी तरह समझकर तथा दूसरे बौद्ध आदि मतों को जानकर भगवान् महावीर स्वामी प्राणियों को वस्तु के यथार्थ स्वरूप का उपदेश देते हुए संयम में स्थित रहे । वे दूसरे मतवादियों की तरह नहीं थे—कहा है—(वीतराग प्रभु की स्तुति करते हुए जैनाचार्य कहते हैं कि हे प्रभो ! तुम धर्म वाले आचार्यों में जो बक्रुत्व दोष अर्थात् बोलने के दोष है वे आपमें नहीं है क्योंकि दूसरे भगवान् उपदेश देनेवाले में बड़े कुशल है अतः उन्होंने लघुता को प्राप्त किया है, कारण यह है कि उनके शिष्य तथा वे, जो दूसरे पुरुषों को उपदेश करते हैं उसके अनुसार स्वयं आचरण नहीं करते है परन्तु आपने आजीवन के लिए संयम धारण किया था ।

(ब) से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए । लोगं विदित्ता 'अपरं परं' च सव्वं प वारिय सव्ववारी ॥ —सूय० श्रु १ । अ ६ । गा २८ । पृ० ३०

टीका—स भगवान् वारयित्वा—प्रतिषिष्य किं तदित्याह—'स्त्रियम्' इति स्त्रीपरिभोगं मथैतन्नित्यर्थः, सह रात्रिभक्तेन वर्तते इति सरात्रिभक्तं उपलक्षणार्थत्वाद्स्यान्न्यदपि प्राणातिपातनिषेधाद्द्रष्टव्यं, तथा उपधानं-तपस्तद्विधते यस्यासौ उपधानवान् - तपोनिष्ठप्रदेहः, + + +

भगवान् महावीर स्वामी ने स्त्रीभोग तथा रात्रिभोजन त्याग दिया था । यह उपलक्षण माना है इसलिए भगवान् ने दूसरे पापों को अर्थात् प्राणातिपात आदि को भी छोड़ा था । भगवान् ने तप से अपने शरीर तपा दिया था ।

२ कसाय पाहुंडं से

तम्हा सेय-मल-रय-रत्तणयण-कदक्खसरमोक्खादिसरीरगयदोसविरहिण्ण - समचउरस्संठा वडजरिसहसंधडण - दिव्वगंध - पमाणहरोम - गिराहरणभासुरसोम्मवयण - गिरंवरमणोह गिराउअ-सुणिब्भयादिणाणागुणसहियदिव्वदेहधरेण, रायदोसकसायिं दियचउव्विहोवस बाबीसपरीसहादिसयलदोसविरहिण्ण, जोयणंतरदूरसमीवस्थट्टारसदेसभासकुभासा - जुद्ध - के तिरिक्ख-मणुस्साणं सगसगभासाजुद्ध-हीणाहियभावविरहिय - महुर-मणोहर-गम्भीर-विसदवा

(ग) दिसयसंपणेण, भवणवासिय-वाणवेंतर-जोदिसिय-सोहम्मीसाणादिकप्पवासिय-चक्कवट्टि-बल-णारायण-विज्जाहर-रायाहिराय - मंडलीय-महामंडलीय-इंद्गि-वाडभूदि-सिध-वालादि-देव - मणुव-मुणि-मइं देहिंतो पत्त-पूजादिसयेण सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरियावगाह-णागुरुवलहुअ-अव्वावाह-सुहुमत्तादिगुणेहि-सिद्धसारिच्छेण वड्ढमाणभडारण उवइट्ट-त्तादो पमाणं दव्वागमो । उत्तं च । णिस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो । राग-दोस-भयादीदो धम्मतिथ्यस्स कारओ ॥

—कसापा० भा १/ गा १ । टीका । पृ०७१ से ७३

वर्धमान तीर्थकर— पत्नीना, मल, रज अर्थात् बाह्य कारणों से शरीर पर चढ़ा हुआ मैल, नयन और कटाक्ष रूपों का छोड़ना आदि शरीरगत समस्त दोषों से रहित, समचतुरस्र संस्थान, वज्र ऋषभ नाराच संहनन, दिव्यगन्धमय प्रमाण रूप से स्थित नख और रोम, आभरणों से रहितपना, देदीप्यमान और सौम्य मुख, वस्त्र से रहितपना मोहर, आयुध से रहितपना, और अत्यन्त निर्भयपना आदि नाना गुणों से युक्त दिव्य देह को धारण करने वाले भग, द्वेष, कषाय और इन्द्रियों से तथा देव, मनुष्य, तिर्यक और अचेतनकृत चार प्रकार के उपमर्ग और बाइस शीषह आदि समस्त दोषों से रहित, एक योजन के भीतर दूर या समीप बंटे हुए नानादेश सम्बन्धी अठारह महाभाषा और (सात सौ) लघु भाषाओं से युक्त ऐसे देव, तिर्यञ्च और मनुष्यों को, अपनी २ भाषा रूप से परिणत भाषा न्यूनता और अधिकता से रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद इन भाषाओं के अतिशयों से युक्त, भवन-वासी, अंतर, ज्योतिष्क और सौधर्म, ऐशान आदि कल्पवासी, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, विद्याधर, राजा, अधिराजा, मंडलीक, महामंडलीक, इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति सिंह, ब्याल आदि देव-मनुष्य-मुनि और तिर्यंचों के इन्द्रों से पूजा के अतिशयों को प्राप्त हुए और क्षायिक सम्यक्त्व, केवल ज्ञान, केवल दर्शन, अनंत धीर्य, अवगाहनत्व अगुरुलघु अभ्याबाध और सुकमत्वादि गुणों से सिद्ध के समान वर्धमान भट्टारक के द्वारा उपदिष्ट होने से द्रव्यगम प्रमाण है । कहा भी है—

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को निःसंशय किया, जो धीरे हैं अर्थात् जिन्होंने विशेष से समस्त पदार्थ समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ है तथा राग, द्वेष और भय से रहित हैं ऐसे भगवान् महावीर धर्मतीर्थ के कर्ता हैं ।

३ अन्यान्य आगमों से

(क) इह खलु समणेणं भगवया महावीरेणं आदिगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेणं पुरिसोत्तमेणं पुरिस-सीहेणं पुरिसवरपोंडरीएणं पुरिसवरगन्धहस्थिणा लोकोत्तमेणं लोचनाहेणं लोगहिएणं लोगपईवेणं लोगपज्जोयगरेणं अभयदएणं चक्खुदएणं मग्गदएणं सरणदएणं जीवदएणं धम्मदएणं धम्मदेसएणं धम्मनायगेणं धम्मसारहीणा धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टिणा अप्पडिहयवरणाण-दंसणधरेणं वियट्ठच्छउमेणं जिणेणं जावएणं तिण्णेणं तारएणं बुद्धेणं बोहएणं मुत्तेणं मोयगेणं सव्वणुणा सव्वदरिसिणा सिवमयलमरुयमणंत - मक्खय - मव्वावाहमपुगरावत्तयं सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपाविडकामेणं ।

—सम० सम १/सू २/—अणुत्त० व ३/अ १०/सू ७५—नाया० श्रु १/अ १/सू ७। जंबू० वक्खार ५

(ख) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं भगवं महावीरे आइगरे तित्थगरे सहसंबुद्धे पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवरपोंडरीए पुरिसवरगन्धहत्थी लोगुत्तमे लोगनाहे लोगपदीवे लोगपज्जोयमरे अभयदए चक्खुदए मगगदए सरणदए धम्मदेसए धम्मसारही धम्मवरचाउरतचक्कवट्ठी अप्पडिहय-वरनाणदंसगधरे वियट्ठच्छमे जिणे जाणए बुद्धे बोहए मुत्तो मोयए सव्वणू सव्वदरिसी सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वावाहं सिद्धिगतिनामधेयं ठाणं संपाविउकामे XXX । ७ ॥

—भग० श १ / उ १

(ग) × × × / समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं सयंसंबुद्धेणं जाव सिद्धिगइनामधेज्जं ।
× × × —नाया० श्रु १ / अ १६ / सू ४८

(घ) समणेणं भगवया महावीरेणं आइगरेणं तित्थगरेणं जावसिद्धिगइनामधेज्जं ठाणं संपत्तेणं ।
—नाया० श्रु १ / अ ६ / सू १

(च) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे, आइगरे तित्थगरे सहसंबुद्धे, पुरिसुत्तमे पुरिससीहे पुरिसवर-पुंडरीए पुरिसवरगन्धहत्थी, अभयदए चक्खुदए मगगदए सरणदए जीवदए, दीवोताणं सरणं गई पइट्ठा, धम्म-वर-चाउरंत-चक्क-वट्ठी अप्पडिहयवरनाण-दंसग-धरे वियट्ठच्छमे जिणे जणाए तिण्णे तारए मुत्तो मोयए बुद्धे बोहए, सव्वणू सव्वदरिसी सिव-मयल-मरुअ-मणंत-मक्खय-मव्वावाहमपुगरावत्तिगं सिद्धिगइ-नामधेज्जं ठाणं संपाविउकामे (अरहा जिणे केवली) ।

—राय० सू ८ । ओव० सू १६

उस फाल उस समय में भ्रमण भगवान् महावीर (चंपा के समीप) पधारे । वे घोर तपस्या करने से 'भ्रमण' नाम से प्रसिद्ध थे । समस्त ऐश्वर्य के युक्त होने के कारण भगवान् कहे जाते थे । देव आदि के द्वारा उपद्रव किये जाने पर भी अपने मार्ग पर वीरता से डटे रहे, अतः देवों ने उन्हें महावीर नाम से प्रतिष्ठित किये थे । (केवल ज्ञान होने पर पहले पहले श्रुत धर्म के करने वाले होने से) वे आदि कर्ता थे और (साधु साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ के होने के कारण) तीर्थंकर थे । स्वयमेव किसी की सहायता या निमित्त के बिना ही उन्होंने बोध प्राप्त किया था । वे पुरुषों में उत्तम थे, क्योंकि उनमें सिंह के समान शौर्य का उत्कृष्ट विकास हुआ था । पुरुषों में रहते हुए भी श्रेष्ठ सफेद कमल के समान सभी प्रकार की अशुभताएँ—मलिनताएँ उनसे दूर रहती थी और श्रेष्ठ गन्धहस्ती के समान, किसी क्षेत्र के उनके प्रविष्ट होते ही सामान्य हाथियों के समान परचक्र, दुर्भिक्ष, महामारी आदि दुरितों का विनाश हो जाता था । वे प्राणों को हरण करने में रसिक और उपद्रव करने में रसिक और उपद्रव करने वालों को भी भयभीत नहीं करते थे अथवा सभी प्राणियों के भय को हरण करने वाली दया के धारक थे—निर्भयता के दाता थे । चक्षु के समान श्रुतज्ञान के देने वाले थे । सम्यग्दर्शन आदि मोक्ष मार्ग के प्रदाता थे । उपद्रव से रहित स्थान के दायक थे । और जीवन (= अमरता रूप भाव प्राण के) दानी थे । वे दीपक के समान समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा द्वीप के समान संसार-सागर में नाना प्रकार के दुःखों की लहरों के थपेड़ों से पीड़ित व्यक्तियों के लिए आश्वासन धैर्य के कारण रूप, अनर्थों के नाशक होने से त्राणरूप, उद्देश्य की प्राप्ति में कारण होने से शरण रूप, खराब अवस्था से उत्तम अवस्था में लाने वाली गति रूप और

संसार रूपी खड्डे में गिरते हुए प्राणियों के लिए आधार रूप थे। चार अन्तों (= तीन दिशाओं में समुद्र और उत्तम दिशाओं में हिमालय पर्वत रूपी किनारे) वाली पृथ्वी के मालिक चक्रवर्ती के समान धर्म में श्रेष्ठ थे। क्योंकि वे अक्सिवादि—अचूक ज्ञान के और दर्शन के घटक थे, कारण उनके ज्ञान आदि के आवरण (ज्ञानादि गुणों को दबाने वाले कर्म) हट गये थे। (अतः निश्चय ही) राग-द्वेष को जीत लिया था। ज्ञायिक भाव में रागादि के स्वरूप, उनके कारण और फल के ज्ञात भाव में स्थित थे। इसलिए मुक्त थे, मुक्त करने वाले थे। समझे हुए थे) समझाने वाले थे। वे सर्वदा सर्वदर्शी उपद्रव से रहित, स्वाभाविक और प्रयोगजन्य चलन से रहित, नीरोग, अनंत, सादि होते हुए भी नाश से रहित, अक्षय, बाधा-पीड़ा से रहित और जहाँ ये पुनः आगमन नहीं हो ऐसे 'सिद्धगति' नाम वाले स्थान को पाने के लिए सहज भाव में (विचरण कर रहे थे) अर्थात् अभी ऐसे स्थान को प्राप्त नहीं हुए थे। किन्तु उसे प्राप्त करने को प्रवृत्ति चालू थी।

(छ) अणासवे अममे अकिंचणे छिन्नसोए निरुवलेवे ववगय-पेम-राग-दोस-मोहे

निगंथस्स पवयणस्स देसए सत्थनायगे पइट्ठावए, समणगपई समणग-विद्-परिअट्ठए, चउतीस-बुद्ध-वयणातिसेस-पत्तेपणतीस-सच्चं वयणातिसेस-पत्ते । —ओव० सू० १६

भगवान् ने कर्म के आत्म-प्रवेश के द्वारों को रूँध दिया था। मेरे मन की बुद्धि त्याग दी थी। अतः उन्होंने अपनी मालिकी में कोई भी वस्तु नहीं रखी थी। भव-प्रवाह को छेद दिया था या शोक से रहित थे। निरूपलेप थे। प्रेम, राग, द्वेष और मोह से अतीत हो चुके थे।

निर्गन्थ प्रवचन के उपदेशक, शास्ता, नायक और प्रतिष्ठायक थे। अतः साधु-संघ के स्वामी थे और भ्रमण-वृन्द के वर्द्धक थे। जिनवर के वचन आदि चौतस अतिशय के और पैंतीस वचन के अतिशयों के धारण थे।

४ अन्यान्य ग्रन्थों से

(क) विद्धंसिय - रयवइ सुरवइ - णरवइ - फणिवइ - पयडिय - सासणु ।

पणवेप्पिणु सम्मइ णिंदिय - दुम्मइ णिम्मल - मग्ग - पयासणु ॥

विणासो भवाणं मणे संभवाणं । दिणेसो तमाणं पहू उत्तमाणं ।

खयगी-णिहाणं तवाणं णिहाणं । थिरो मुक्क-माणो वसी जो समाणो ।

अरीणं सुहीणं सुरीणं सुहीणं । समेणं वरायं पमत्तं सरायं ।

चलं दुद्धिणीयं जयं जेणं णीयं । णीयं णाण-मग्गं कयं सासमग्गं ।

सया णिक्कसाओ सया चत्त-माओ । सया संपसण्णो सया जो विसण्णो ।

पहाणो गणाणं सुदिव्वं गणाणं । ण पेम्मे णिसण्णो महावीरसण्णो ।

तमोसं जईणं जए संजईणं । द्दमाणं जमाणं खमा-संजमाणं ।

उहाणं रमाणं पबुद्धरथ-माणं । दया-वड्डमाणं जिणं वड्डमाणं सिरेणं णमामो चरित्तं भणामो ।

—वीरजि० संधि १

मैं उन सन्मति भगवान् को प्रणाम करता हूँ जिन्होंने कामदेव का विध्वंस किया है, जिनका शासन सुरपति, नरपति तथा नागपति द्वारा प्रकट किया गया है।

जिन्होंने कुशाण की निन्दा की है और निर्मल मोक्षमार्ग का प्रकाशन किया है।

वे भगवान् जन्म-मरण की परंपरा के विनाशक है तथा मनुष्यों के मन में उत्पन्न हुए अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य-समान हैं।

वे प्रभु पाप रूपी ईन्धन को नष्ट करने के लिए अग्नि समान उत्तम तपों के निधान हैं। वे स्थिर हैं, मान से मुक्त है और इन्द्रियों को वश में करने वाले हैं, तथा शत्रु और मित्र, सुरी और सुधोजनों पर समान दृष्टि रखते हैं।

उन्होंने अपने समता भाव द्वारा, प्रमादी राग युक्त तथा दुर्विनीत चंचल मन को पराजित कर दिया है। उन्होंने इस जगत को ज्ञान के मार्ग पर लगाया है, तथा शाश्वत मार्ग की स्थापना की है। ये सर्वदा कषाय रहित हैं और विषाद रहित है। उनके हर्ष भी नहीं है और माया का भी अभाव है।

वे सदैव सुप्रसन्न रहते हैं। आहार, भय आदि संज्ञाएँ उनके नहीं होतीं। वे उन तपस्विगणों के प्रधान हैं, जिन्होंने दिव्य द्वादश अंगों का ज्ञान प्राप्त किया है।

वे महावीर नामक तीर्थंकर, उत्तम देवांगनाओं के प्रेम में आसक्त नहीं हुए। ऐसे उन जगतभ्रम के मुनियों और अजिकाओं के स्वामी दम, धर्म, क्षमा, संयम एवं अभ्युदय और निःश्रेयस् रूप दोनों प्रकार के लक्ष्मी और समस्त द्रव्यों के प्रमाण के ज्ञानी, दया से वृद्धिशील वर्धमान जिनेन्द्र को मैं अपना मस्तक धूमकच नमन करता हूँ और उनके चरित्र का वर्णन करता हूँ।

(ख) सम्यक्त्वं क्षायिकं चास्य प्राक्तनं मलदूरगम् । अस्ति तेनाखिलार्थानां स्वयं सुनिश्चयोऽभवत् ॥

—वीरवर्धमान० अधि १०/श्लो १२

वीरप्रभु के निर्मल क्षायिक सम्यक्त्व पूर्वभाव से ही प्राप्त था, उससे उनके सर्वतत्त्वों का यथार्थ निश्चय स्वयं हो गया।

(ग) जिनवरमुखजातां सत्कथां धर्मखानि चरमजिनपतेर्वचमीह कर्मारिशान्त्ये ॥ ८६ ॥

—वीरच० अधि १/श्लो ८६

जिनेन्द्र देव के मुख से उत्पन्न हुई, धर्म की खानि स्वरूप अन्तिम जिनपति महावीर स्वामी की सत्कथा अपने कर्मशत्रुओं को शांत करने के लिए है।

(घ) वीरोऽशौष नुतः स्तुतः किञ्च मया वीरं श्रयाम्यन्वहं । वीरेणानुचराम्यमा शिवपथं वीराय कुर्वे नुति ।

वीरान्नास्यपरो ममातिहितकृद्धीरस्य पादौ श्रये । वीरे स्वस्थितिमातनोमि परमां मां वीरतेऽन्तं नय ।

—वीरवर्धच० । अधि १७ / श्लो २०६

वीरप्रभु के साथ मैं भी शिवमार्ग का अनुसरण करता हूँ। तथा वीरप्रभु के लिये नमस्कार करता हूँ। वीर से अतिरिक्त अन्य कोई मेरा हित करने वाला नहीं है, इसलिये मैं वीर जिनेन्द्र के चरणों का आश्रय लेता हूँ। मैं वीर भगवान में अपने चित को परम स्थिति करता हूँ। हे वीर भगवान, आप मुझे अपने समीप ले जायें।

ग्रन्थों में

ब्राह्मणग्रन्थों में —

आतिथ्यं रूपमासरं महावीरस्य नग्नहु । रूपमुपसदामेत्तिन्नो रात्रीः सुरासुता ॥
—यजु० / अ १६, मं १४

अतिथि स्वरूप पूज्य मासोपवासी नग्न (दिगम्बर) महावीर की उपासना करो, जिसमें (संशय-विपर्यय-साय रूप) तीन अज्ञान, अथवा (धन-शरीर-विद्या रूप) मदनत्रय की उत्पत्ति नहीं होती ।

बौद्धग्रन्थों में

निगंठो आवुसो नातपुत्तो सञ्चञ्जु सञ्चदरस्सी । अपरिसेसे णाण दंस्सण परिजानाति ॥
—मज्झिमनि० भाग १

आयुष्मान् निग्रन्थ ज्ञातृपुत्र (भगवान् महावीर) सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है । अपने अपरिच्छेप (अनंत) ज्ञान-प्राप्ति वह सब कुछ जानते और देखते हैं ।

[दिगम्बर परम्परा में पुरुरवा भील से लेकर महावीर होने तक भगवान् के गणनीय ३३ भवों का उल्लेख है । श्वेताम्बर परम्परा में २७ ही भव मिलते हैं । उनमें प्रारम्भ के २२ भव कुछ नाम परिवर्तनादि के साथ हैं, जो कि दिगम्बर-परम्परा में बतलाये गये हैं । शेष भवों में से कुछ को नहीं माना है । उनकी स्पष्टकारी के लिए, यहाँ पर दोनों परम्पराओं के अनुसार भगवान् महावीर के पूर्व भव दिये जाते हैं—

दिगम्बर मान्यतानुसार

पुरुरवा भिल्ल

सौधर्म देव

मरीचि कुमार

स्वर्ग का देव

मिच्छि ब्राह्मण

सौधर्म स्वर्ग का देव

पुष्यमित्र ब्राह्मण

सौधर्म देव अथवा ईशान देव

अग्निह (अग्निशिख) ब्राह्मण

श्वेताम्बर मान्यतानुसार

० अनन्त संसार-भ्रमण

१. ग्रामचित्तक - नयसार भिल्ल

२. सौधर्म कल्प का देव

३. मरीचि

४. ब्रह्मलोककल्प देव

५. कौशिक

५.क चतुर्गति संसार-भ्रमण (अपर)

६. ईशान अथवा सौधर्म स्वर्ग का देव

७. पुष्यमित्र ब्राह्मण

७.क संसार भ्रमण (अपर)

८. सौधर्म कल्प देव

८.क संसार भ्रमण

९. अग्निहोत ब्राह्मण

९.क संसार भ्रमण (अपर)

१०. सनत्कुमार देव
 ११. अभिमित्र ब्राह्मण
 १२. माहेन्द्र देव
 १३. भारद्वाज ब्राह्मण
 १४. माहेन्द्र देव
 १४क त्रस-स्थावर योनि के असंख्यात भव
 १५. स्थावर ब्राह्मण
 १६. माहेन्द्र कल्प देव
 १७. विश्वनन्दी (मुनिपद में निदान)
 १८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
 १९. त्रिपृष्ठ नारायण
 २०. सातवें नरक का नारकी
 २१. सिंह
 २२. प्रथम नरक का नारकी
 २३. सिंह (मृग-भक्षण के समय
 चारण मुनि के द्वारा सम्बोधन)
 २४. सौधमं स्वर्ग का देव
 २५. कनकोज्ज्वल राजा — कनकप्रभ राजा
 २६. लान्तव स्वर्ग का देव
 २७. हरिषेण राजा
 २८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
 २९. प्रियमित्र-प्रियदत्त चक्रवर्ती
 ३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
 ३१. नन्दराज (तीर्थंकर प्रकृति का बंध)
 ३२. अच्युत स्वर्ग का इन्द्र
 ३३. भगवान् महावीर

१०. ईशान देव
 १०क संसार-भ्रमण (अपर)
 ११. अभिमभूति ब्राह्मण
 ११क संसार भ्रमण (अपर)
 १२. सनत्कुमार देव
 १२क संसार भ्रमण (अपर)
 १३. भारद्वाज ब्राह्मण
 १३क संसार भ्रमण
 १४. माहेन्द्र देव
 १४क संसार भ्रमण
 १५. स्थावर ब्राह्मण
 १६. ब्रह्मलोक कल्पदेव
 १६क संसार-भ्रमण (प्रभूत)
 १७. विश्वभूति-प्रज्ञया-सनिदान
 १८. महाशुक्र देव
 १९. त्रिपृष्ठ वासुदेव (प्रथम दसा)
 २०. सप्तम नरक का नारकी
 २१. सिंह
 २२. चतुर्थ नरक का नारकी
 २२. क कश्चिद् तियंग् मनुष्य भव
 × × ×
 × × ×
 × × ×
 × × ×
 × × ×
 × × ×
 २३. पोट्टिल या प्रियमित्र चक्र
 प्रज्ञित प्रौष्टिल आचार्य के
 २४. महाशुक्र कल्प देव-सर्वाथं वि
 अथवा सहस्रार कल्प-सर्वाथं वि
 २५. नन्दन राजा - प्रज्ञया-ती
 प्रकृति का बंध
 २६. प्राणत स्वर्ग का देव (पुष्पो
 विमान)
 २७. क- भगवान् महावीर-देवा
 गर्भ (सोमिल की पत्नि)
 ख- त्रिशला गर्भ

नोट—‘चउत्पन्न महापुरिसचरियं’ में कहा है कि कौशिक परिव्राजक परकर सोधमं देवलोक में गया । वहां से कर अमोघोत्त ब्राह्मण हुआ । परन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में लिखा है कि कौशिक परिव्राजक ईशान देवलोक अथवा देवलोक में उत्पन्न हुआ । वहां से चयवन कर पुष्यमित्र ब्राह्मण के रूप में उत्पन्न हुआ ।

[दिग्म्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में भगवान् महावीर के जीवन वृत्त विषयक अम्नाय-भेद इस प्रकार है]

श्वेताम्बर

भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की बहिन थी । राजकुमार महावीर का विवाह बसंतपुर नगर के महासामंत समरवीर की पुत्री यशोदा के साथ हुआ ।

दीक्षाके पूर्व भगवान् के माता-पिता देवंगत हो चुके थे । भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश वैशाख शुक्ल एकादशी मध्यम पावापुरी में हुआ ।

भगवान् महावीर षाणो द्वारा उपदेश देते थे ।

भगवान् महावीर केवली होने के पश्चात् भी आहार करते थे ।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य पुषर्मा हुए ।

दिग्म्बर

भगवान् महावीर की माता त्रिशला चेटक की पुत्री थी । राजकुमार महावीर के सामने कलिंग नरेश जितशत्रु की पुत्री यशोदा के साथ विवाह करने का प्रस्ताव आया पर उन्होंने विवाह नहीं किया ।

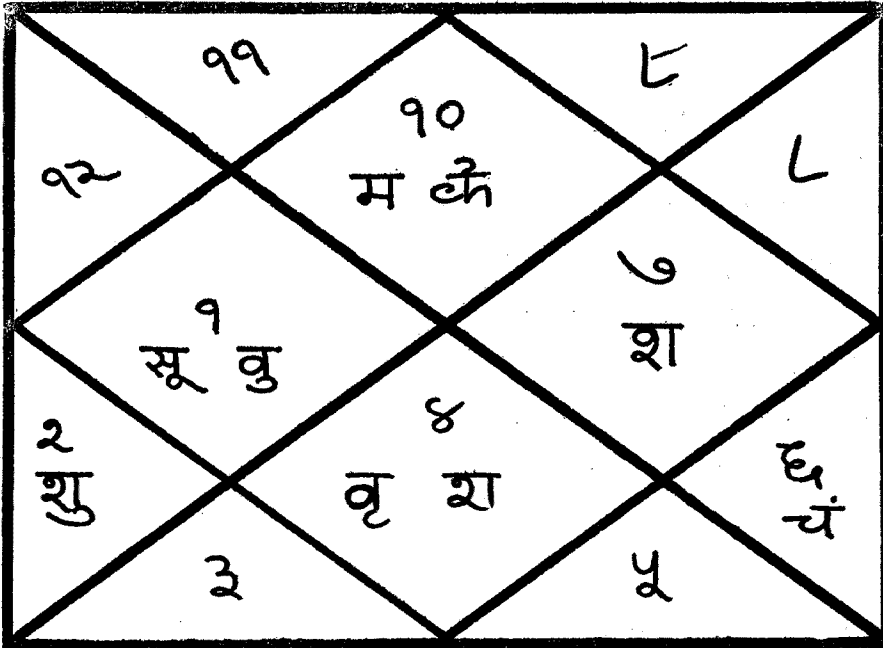
दीक्षा के समय भगवान् के माता-पिता विद्यमान थे । भगवान् महावीर का प्रथम धर्मोपदेश श्रावण कृष्ण एकम विपुलाचल पर्वत पर हुआ ।

भगवान् महावीर दिव्यप-ध्वनि द्वारा उपदेश देते थे । भगवान् महावीर केवली हाने के पश्चात् आहार नहीं करते थे ।

भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् प्रथम आचार्य गोतम हुए ।

वर्धमान की जन्म-कुण्डली

युधिष्ठिर सं० २६६१ की तिथि चैत्र शुक्ल १३ वार मंगलवार उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र



जन्म ईस्वी पूर्व ५६६ — निर्वाण ईस्वी पूर्व ५२७ — उम्र ७२ वर्ष

३४ वर्धमान-महावीर और समवसरण—देशना

१ चतुर्विधा दिवेषदो विविधं विचित्रेष्टिरे ॥ ८ ॥

प्रतिवप्रंचतुर्द्वारं वप्रत्रितयभूषितम् । चक्रुः समवसरणं यथाविधि दिवौकसः ॥ ९ ॥

न सर्वविरतेरहः कोऽप्यत्रोति विदन्नपि । कल्प इत्यकरोत्तत्र निषण्णो देशनां विभुः ॥ १० ॥

तत्तीर्थजन्मा मातंगो यक्षः करिरथोऽसितः । बीजपूरं भुजे वामे दक्षिणे नकुलं दधत् ॥ ११ ॥

सिद्धायिका तथोत्पन्ना सिंहयाना हरिश्चक्रविः । समातुल्लिगवल्लक्यौ वामबाहू च विभ्रती ॥ १२ ॥

पुस्तकाऽभयदौ चोभौ दधाना दक्षिणौ भुजौ । अभूतां ते प्रभुर्नित्याऽऽसन्ने शासनदेवते ॥ १३ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/१

चूँकि जूभक ग्राम के बाहर झरजुबालिका नदी के तट पर शामाक नामक किसी गृहस्थ के क्षेत्र में महावीर को केवलज्ञान—(केवल दर्शन) उत्पन्न हुआ ।

भगवान् के केवलज्ञान के उत्पन्न होने से हर्ष को प्राप्त चार प्रकार के देव दूसरी तरह भी अन्य चेष्टा लगे । तत्पश्चात् देवों ने तीन किला वाला और प्रत्येक किले में चार-चार दरवाजे वाले समवसरण की रचना

यहाँ सर्व विरती के कोई योग्य नहीं है—ऐसा जानते हुए भी भगवान् समवसरण में बैठकर देशना दी

उनके तीर्थ में हाथी के बाहन वाला, कृष्णवर्णी वाम भुजा में बीजपूर (बीजोरा) और दक्षिण भुजा नकुल का धारण करता हुआ मातंग नामक यक्ष और सिंह के आसनवाली नीलवर्ण वाली, दो वाम भुजा में सिंहा और बाणा और दा दक्षिण भुजा में पुस्तक और अभय को धारण करती हुई सिद्धायिका नामक देवी—ये दोनों प्रभु के पास रहनेवाले शासन देव हुए ।

नोट—यह भगवान् की प्रथम देशना निष्फल गयी । क्योंकि वहाँ सिर्फ देव थे । देवों के व्रत नहीं होता

तीर्थकर की देशना निष्फल नहीं जाती है परन्तु वीर भगवान् की प्रथम देशना किसी के भी विरति का ग्रहण न होने से निष्फल गयी ।

२ पुत्रविविधिमियभागं, जोयणपरिवेढमंडलाभोयं । पायारतिउणमणिमय-गोउरविस्थिण्णकयसो
अह दोष्णि य वक्खारा, अट्टमहापाडिहेरसंजुता । अट्टइ नाडयाइ, दारे दारे य नच्चं
सोलस वरवावीओ, कमलुप्पलविमल सल्लिपुणाओ । चउसु विदिसासु मज्जे.हवन्ति चत्तारि च
भयवं पि तिहुयणगुरु, विचित्तसोहासणे सुहनिविट्ठो । छत्ताइल्लत्त-चामर-असोग-भामण्डलसणा
पढम्मि य वक्खारे, परिसा निग्गन्थमहरिसोणं तु ।? तयणन्तरं पिबीए, सोहम्माईसुरवहूणं ॥२॥
तइयम्मि य वक्खारे, परिसा अज्जाण गुणमहन्तीणं ॥ ३ ॥ तत्तो परं तु नियमा, जोइसक
परिसा य ॥ ४ ॥ ५६ ॥

वन्तरवहूणं तत्तो ५ परिसा उण भवणवासियवहूणं ॥ ६ ॥ तत्तो परं तु नियमा, जोइसि
सुरवरणं ॥ ७ ॥ ५७ ॥

वन्तरभवगिन्दार्णं ८, वक्खारेसु य ह्वन्ति परिसाओ ६ । सोहम्माईण तओ, देवार्णं कप्पवासीणं १०
॥ ५८ ॥

अवरम्मि य वक्खारे, परिसा मणुयाण नरवरिन्दार्णं ११ । होइ तिरिक्खाण पुणो, परिसा पुव्वुत्तरे
भागे ॥ १२ ॥ ५९ ॥

एवं पसन्नचित्ते, सुरवरमेलीणपस्थिवसमूहे । पुच्छइ धम्मा-ऽधम्मं, तिस्थयरं गोयमो नमिउं ॥ ६० ॥
तो अद्धभागहीए, भासाए, सञ्चजीवहियजणणं । जलहरगंभीरखो, कहेइ धम्मं जिणवरिंदो ॥ ६१ ॥
—पउच० अधि० २/ गा ५० से ६१

३ एकयोजनविस्तीर्णं सुवृत्तं भ्राजते तराम् । सुरेन्द्रनीलरत्नौघैस्तस्याद्यं पीठमूर्जितम् ॥ ६६ ॥
भो विशतिसहस्राङ्कमणिसोपानराजितम् । सुक्त्वा सार्धद्विगव्यूतिं भूमेर्नभसि संस्थितम् ॥ ७० ॥
तस्य पर्यन्तभूभागमलंचक्रोऽतिदीप्तिमान् । धूलिशालपरिक्षेपो रत्नपांशुमयो महान् ॥ ७१ ॥
क्वचिद्-विद्रुभरम्याभः क्वचिक्काञ्चनसंनिभः । क्वचिद्भ्रज्जनपुञ्जाभः क्वचिच्छुक्कच्छदच्छविः ॥ ७२ ॥
नानामुवर्णरत्नोत्थपांसुतेजश्चर्यैः क्वचित् । तन्वन्निवेन्द्रचापानि हसन् वा खे स राजते ॥ ७३ ॥
चतुर्दिक्ष्वस्य दीप्याढ्या हेमस्तम्भाग्रलम्बिताः तोरणा मकरास्फोटमणिमाला विभान्त्र्यहो ॥ ७४ ॥
ततोऽन्तरान्तरं किञ्चिद्गत्वा र्चांस्वुपवित्रिताः । स्युश्चतस्रो जगदयो हि वीथीनां मध्यभूमिषु ॥ ७५ ॥
चतुर्गोपुरसंयुक्तप्राकारत्रयवेष्टिताः । हेमषोडशसोपानयुता दीप्रा मनोहराः ॥ ७६ ॥
तासां मध्येषु भान्द्युच्चैस्तत्प्रमाः पीठिकाः पराः । जिनेद्रप्रतिमायुक्ता मणितेजोऽर्चनादिभिः ॥ ७७ ॥
—वीरवर्धच० अधि १४/ श्लो ६६ से ७७

कुबेर आदि महाशिल्पियों द्वारा निर्मित समवसरण मंडल—

वह समवसरण गोलाकार एक योजन विस्तार वाला था, उसका प्रथम पीठ उत्तम इन्द्र नीलमणियों से रचा गया था—अतः वह अत्यन्त शोभायमान हो रहा था ।

दो भयों, वह बीस हजार मणिमयी सोपानों (सीढ़ियों) से विराजित था और भूतल से अठ्ठाई कोश ऊपर आकाश में अवस्थित था । उसके किनारे के भू-भाग के सर्व ओर अतिदीप्तिमान् रत्नधूलि से निर्मित विशाल धूलि-शाल नामका पहला परकोटा था । वह कहीं पर विद्रुम (मूंगा) की सुन्दर कांति वाला था, कहीं सुवर्ण आभा-वाला था, कहीं अंजनपुञ्ज के समान काली आभावाला था और कहीं पर शुक (तोता) के पंखों के समान हरे रंग वाला था ।

कहीं पर नाना प्रकार के रत्न और सुवर्णोत्पन्न धूलि के तेजपुञ्ज से आकाश में इन्द्रधनुषों की शोभा को विस्तारता अथवा हंसता हुआ शोभित हो रहा था ।

उसकी चारों दिशाओं में दीप्ति-युक्त सुवर्ण स्तंभों के अग्रभाग पर मकराकृति मणिमालावाले चार तोरण द्वारा सुशोभित हो रहे थे ।

उसके भीतर कुछ दूर चल कर वीथियों की मध्य भूमि में पूजन-सामग्री से पवित्रित चार वेदियाँ थी ।

वे चार गोपुर द्वारों से संयुक्त, तीन प्राकारों (कोटों) से वेष्टित, सुवर्णमयी सोलह सोदियों से भूषित देदीप्यमान और मन को हरण करने वाली थी ।

उन वेदियों के मध्य भाग में जिनेन्द्र देव की प्रतिमासहित, मणियों की कांति और पूजनसामग्री से युक्त चार ऊँचे पीठ (सिंहासन) शोभायमान थे ।

४ तस्या मध्ये व्यधाद् रैदः परार्ध्यमणिभूषितम् । हैमं सिंहासनं दिव्यं स्वप्रमाजितभास्करम् ॥ १=१ ॥
विष्टरं तदलं चक्रं कोट्यादिरयाधिकप्रभः । भगवान् श्रीमहावीरस्त्रिजगद्भव्यवेष्टितः ॥ १८२ ॥
अनंतमहिमारूढो विश्वाङ्गयुद्धरणक्षमः । चतुर्भिरङ्गलैः स्वेन महिम्नाऽस्पृष्टतत्तलः ॥ १८३ ॥
—वीरवर्धमानच० अधि १४/श्लो १८१ से १८३

उस गंधकुटी के मध्य में यक्षराज ने अनमोल उत्कृष्ट मणियों से भूषित, अपनी प्रभा से सूर्य को प्रभा को जीतने वाला, स्वर्णमयी दिव्य सिंहासन बनाया था ।

उस सिंहासन को कोटिसूर्य की प्रभा से अधिक प्रभावले और तीनलोक के भव्यजीवों से वेष्टित श्री महावीर प्रभु अलंकृत कर रहे थे ।

उस पर अनंत महिमाशाली, विश्व के सर्व प्राणियों के उद्धार करने में समर्थ और अपनी महिमा से सिंहासन के तलभाग को चार अंगुलियों से नहीं स्पर्श करते हुए भगवान् अंतरिक्ष में विराजमान थे ।

५ विभोः प्राग्दिशमारभ्य सत्कोष्ठे प्रथमे शुभे । गणीन्द्राद्या मुनीशौचाः स्थितिं चक्रं शिवाप्तये ॥ २० ॥
द्वितीये कल्पनार्यश्वाद्येन्द्राणीप्रमुखाश्चिदे । तृतीये चार्थिकाः सर्वाः श्राविकाभिः समं मुदा ॥ २१ ॥
चतुर्थे ज्योतिषां देव्यः पंचमे व्यन्तराङ्गनाः । षष्ठे भावनदेवानां पद्मावत्यादिदेवताः ॥ २२ ॥
सप्तमे धरणेन्द्राद्याः सर्वे च भावनामराः । अष्टमे व्यन्तराः सेन्द्राः नवमे ज्योतिषां सुराः ॥ २३ ॥
चन्द्रसूर्यादयः सेन्द्राः दशमे कल्पवासिनः । एकादशसत्कोष्ठे च खगेशप्रमुखा नराः ॥ २४ ॥
कोष्ठे द्वादशमे तिर्यञ्चोऽर्हिसिंहमृगादयः । इति द्वादशकोष्ठेषु परीत्य त्रिजगद्गुरुम् ॥ २५ ॥
द्विषड्भेदा गणा भक्त्या कृताञ्जलिपुटाः शुभाः । तिष्ठन्त्यग्निदाहार्ताः पातुं तद्वचनामृतम् ॥ २६ ॥
वेष्टितस्तैर्जगद्भर्ता भासतेऽत्यन्तसुन्दरः । सर्वेषां धर्मिणां मध्ये धममूर्तिरिवोच्छ्रितः ॥ २७ ॥
—वीरवर्धच० अधि १५/श्लो २० से २७

इस समवसरण सभा में बारह कोठे थे । उनमें से भगवान् की पूर्व दिशा से लेकर प्रथम शुभ प्रकोष्ठ में गणधरादि मुनिश्वरों का समूह शिवपद की प्राप्ति के लिए विराजमान था ।

दूसरे कोठे में इन्द्राणी आदि कल्पवासिनी देवियाँ विराजमान थीं ।

तीसरे कोठे में सर्व आर्थिकाएँ श्राविकाओं के साथ हर्ष से बैठो हुई थीं । चौथे कोठे में ज्योतिषी देवों की देवियाँ बैठी थीं । पांचवें कोठे में व्यन्तर देवों की देवियाँ और छठे कोठे में भवनवासी देवों की पद्मावती आदि देवियाँ बैठी थीं । सातवें कोठे में धरणेन्द्र आदि सभी भवनवासी देव बैठे थे । आठवें कोठे में अपने इन्द्रों के साथ व्यन्तर देव बैठे थे ।

नववें कोठे में चन्द्र-सूर्यादि ज्योतिषी देव बैठे थे ।

दसवें कोठे में कल्पवासी देव बैठे थे ।

ग्यारहवें कोठे में विद्याधर आदि मनुष्य बैठे थे और बारहवें कोठे में सर्प, सिंह, मृगादि तिर्यञ्च बैठे थे ।

इस प्रकार बारह कोठों में बारह गणवाले जीव भक्ति से हाथों की अंजलि बाँधे हुए, संसार ताप की अग्नि से पीड़ित होने से उसकी शांति के लिए भगवान के वचनामृत का पान करने के इच्छुक होकर

त्रिजगद्-गुरु को घेरकर बैठे हुए थे ।

उक्त बारह गणों से वेष्टित, अत्यन्त सुन्दर, जगद्भर्ता श्री वर्धमान भगवान् सर्व धर्मीजनों के मध्य में उन्नत धर्ममूर्ति के समान शोभायमान हो रहे थे ।

६ चउभागेण विरहिदा पासस्स य वड्डमाणस्स —तिलोप० अधि ४/गा ७१७

वर्धमान तीर्थंकर के समवसरण की सामान्य भूमि योजन के चतुर्थ भाग से कम थी ।

इह केई आइरिया पण्णारसकम्मभूमिजादाणं । तिस्थयराणं बारसजोयणपरिमाणमिच्छंति ॥ ७१६ ॥

—तिलोप० अधि ४ । गा ७१६

यहां कोई आचार्य पन्द्रह कर्मभूमियों में उत्पन्न हुए तीर्थंकरों की समवसरण भूमि को बारह योजन प्रमाण मानते हैं ।

पासम्मि पंच कोसा चउ वीरे अट्टतालअह्रिदा । इगिहत्थुच्छेहा ते सोवाणा एकहत्थवासाय ॥ ७२२ ॥

—तिलोप० अधि ४/ गा ७२२

भगवान् पार्श्वनाथ के समवसरण में सीढ़ियों की लम्बाई अड़तालीस से भाजित पाँच कोश और वीरनाथ के अड़तालीस से भाजित चार कोश प्रमाण थी । वे सीढ़ियाँ एक हाथ ऊँची और एक हाथ ही विस्तार वाली थी ।

पण्णारसेहि अहियं कोसाण सयं च पासणाहम्मि । देवम्मि वड्डमाणे वाणउदी अट्टतालहिदा ॥ ७२७

वीहीदोयासेसुं णिम्मलपलिहोवलेहि रइदाओ । दो वेदोओ वीहीदीहत्तसमाणदीहत्ता ॥ ७२८

—तिलोप० अधि ४ । गा ७२७, २८

वर्धमान के समवसरण में वीथियों की दीर्घता अड़तालीस से भाजित वानवें कोश प्रमाण थी । वीथियों के दोनों पार्श्व भागों में वीथियों की दीर्घता के समान दीर्घता से युक्त और निर्मल स्फटिकपाषाण से रचित दो वेदियाँ होती हैं ।

कोदंडअस्सयाइं पणवीसजुदाइं अट्टहरिदाइं । पासम्मि वड्डमाणे पणवणदंडाणि दल्लिदाणि ॥ ७३०

—तिलोप० अधि ४

वर्धमान स्वामी के समवसरण में वेदियों का विस्तार दो से भाजित पाँच के घन अर्थात् एक सौ पचवीस वनुष प्रमाण था ।

७ एक्को य वड्डमाणे कोसो वाहत्तरीहरिदो ।

—तिलोप० अधि ४ । ७४६

भगवान् वर्धमान के समवसरण में घूलिसालका मूल विस्तार बहतर से भाजित एक कोस प्रमाण था ।

८ पणवण्णासा कोसा पासजिणे अट्टसीदिदुसयहिदा । —तिलोप० अधि ४/गा ७५५
वीरनाथ भगवान के समवसरण में प्रथम पृथिवी का विस्तार बारह के वर्ग अर्थात् एक सौ चवालीस भाजित बाईस कोस प्रमाण था ।

९ पासे पंचच्छहिदा त्तिदयहिदा दोण्णि वड्डमाणजिणे । सेसाण अट्टमाणा आदिमपीढस्स उदयाओ ॥ ७७० ॥
—तिलोप० अधि ४ / गा ७७०
वर्धमान जिन के समवसरण में प्रथमपीठ की ऊंचाई तीन से भाजित दो धनुष प्रमाण थी । शेष दो पीठों की ऊंचाई प्रथम पीठ की ऊंचाई से आधी थी ।

दंडाणं पंचसदा छक्कहिदा वीरणाहम्मि । ॥ ७७४ ॥ —तिलोप० अधि ४

वीरनाथ के समवसरण में तृतीय पीठ का विस्तार छह से भाजित पांच सौ धनुष प्रमाण था ।

१० पंचसया रूऊणा छक्कहिदा वड्डमाणदेवम्मि । णियणियजिणउदयेहि वारसगुणिदेहि थंभउच्छेहो ॥
—तिलोप० अधि० ४/गा ७७७
वर्धमान तीर्थंकर के समवसरण में मानस्तम्भों का बाह्य छह से भाजित एक कम् पांच सौ धनुष प्रमाण था । इन मान स्तम्भों की ऊंचाई अपने-अपने तीर्थंकर के शरीर की ऊंचाई से बारह गुणी होती है ।

११ चउदाल्छक्कहिदा णिहिट्ठा वड्डमाणम्मि । —तिलोप० अधि ४/गा ८२३
वर्धमान स्वामी के समवसरण में मान स्तम्भों का विस्तार छह से भाजित चवालीस अंगुल प्रमाण बतलाया गया है ।

धयदंडाणं अंतरमुसहजिणे छस्सयाणिचावाणि ॥ ८२४ ॥

वीरजिणे एककसयं तेत्तियमेत्तेहि अवहरिदं ॥ ८२५ ॥ —तिलोप० अधि ४/गा ८२४, ८२५

वीर-जिनेन्द्र के समवसरण में ध्वज दंडों का अन्तर अड़तालीस से भाजित एक सौ धनुष प्रमाण था ।

१२ पणवीसाधियल्लस्सयदंडा छत्तीससंविभत्ताय । पासम्मि वड्डमाणे णवहिदपणुवीसअधियसयं ॥
—तिलोप० अधि ४/गा ८५१
भगवान् वर्धमान स्वामी के समवसरण में कोट का विस्तार नौ से भाजित एक सौ पचोस धनुष प्रमाण था ।

१३ कोठों का विस्तार

वीरजिण्णिदे दंडा पच्चघणा दसहदा य णवभजिदय —तिलोप० अधि ४/गा ८५५

वीरजिनेन्द्र के समवसरण में कोठों का विस्तार पांच के धनको दशसे गुणा करके नौका भाग देने पर जो लब्ध हो उतने धनुष प्रमाण था ।

एककोच्चिय छक्कहिदे देवेसिखिवड्डमाणम्मि । —तिलोप० अधि ४/गा ८६८

वर्धमान के समवसरण में प्रथम पीठ का विस्तार छह से भाजित एक कोस प्रमाण था ।

एककसयं पणवीसवभहियं वीरम्मि दोहि हिदं । —तिलोप० अधि ४/गा ८७९

वीर भगवान के समवसरण में पीठ की मेखला का विस्तार दो से भाजित एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण था ।
 *१४ पासजिणे पणदंडा वारसभजिदा य वीरणाहम्मि । एक्कोच्चिय तियभजिदा णाणावररणणिलयइला ॥
 —तिलोप० अधि ४/गा ८७६

पार्वनाथ तीर्थंकर के समवसरण में प्रथम पीठ का विस्तार बारह से भाजित पाँच धनुष और वीरनाथ के तीन से भाजित एक धनुष मात्र था । ये द्वितीय पीठिकायें नाना प्रकार के उत्तम रत्नों से खचित भूमियुक्त होती है ।
 एक्कसयं पणवीसव्वहियं वीरम्मि दोहिहिदं ॥
 —तिलोप० अधि ४/गा ८७८

वीरनाथ स्वामी के समवसरण में द्वितीय पीठ की मेखला का विस्तार दो से भाजित एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण था ।

पंचच्चिय वीरजिणे पविहत्ता अट्टतालेहिं ॥ —तिलोप० अधि ४/गा ८८३

वीरजिनेन्द्र के समवसरण में द्वितीय पीठ का विस्तार अड़तालीस से भाजित पाँच कोस मात्र था ।

*१५ ताणोवरि तदियाइं पीढाइं विविहरयणरइदाइं । णियणियदुइज्जपीदुच्छेधसमा ताण उच्छेधा ॥
 णियआदिमपीढाणं वित्थारचउत्थ भागसारिच्छा । एदाणं वित्थारा तिउणकदे तत्थ समधिए परिधी ॥
 —तिलोप० अधि ४/गा ८८४-८८५

द्वितीय पीठों के ऊपर विविध प्रकार के रत्नों से रचित तीसरी पीठिकायें होती है । इन तीसरी पीठिकाओं की ऊँचाई अपनी-अपनी पीठिकाओं की ऊँचाई के समान होती है ।

इनका विस्तार अपनी प्रथम पीठिकाओं के विस्तार के चतुर्थ भाग प्रमाण होता है । और तिगुणे विस्तार से कुछ अधिक इनकी परिधि होती है ।

*१६ गंधकुटी

विगुणियपणवीसाइं तित्थयरे वड्ढमाणम्मि । —तिलोप० अधि ४/गा ८९०

भगवान वर्धमान के समवसरण में गंधकुटी की चौड़ाई और लंबाई पचास धनुष प्रमाण थी ।

पणुवीसोणं च सयं जिणप वरे वीरणाहम्मि । —तिलोप० अधि ४/गा ८९२

वर्धमान जिनेन्द्र के समवसरण में गंधकुटी की ऊँचाई पच्चीस कम सौ धनुष प्रमाण थी ।

*१७ सिंहासणाणि मज्जे गंधउट्ठीणं सपादपीढाणि । वरफलि ह्णिम्मिदाणि घंटा जालादिरम्माणि ॥
 रयणखचिदाणि ताणि जिणिंदउच्छेहजोग्गउदयाणि । इत्थ तित्थयराणं कहिदाइं समवसरणाइं ॥
 —तिलोप० अधि ४/गा ८९३-९४

गंध कुटियों के मध्य में पादपीठ सहित, उत्तम स्फटिक मणियों से निर्मित और घंटाओं के समूहादिक से रमणीय सिंहासन होते हैं ।

रत्नों से खचित उन सिंहासनों की ऊँचाई तीर्थंकरों के ही योग्य हुआ करती है ।

*१८ एत्थंतरे हरिणा भणिउ जाम, किउ समवसरणु जक्खेण ताम ।
 पविउलु वारह-जोयण-पमणु, णीलमउ गयणउलु भासमाणु ।

बलय समु रयणमय धूलिसारु, चउदिसहिं माण-थंभेहिं चारु ।
 चउसरवरु जललहरीहिं मंजु, परिहा - पाणिय - पायडिय कंजु ।
 मणिमय वेइय-बल्ली-वणेहिं, वेढिउ जण - णयण सुहावणेहिं ।
 घत्ता-वरविहि रइय मणिगण खइय कणय परिहे परिपुन्नउँ ।
 रूपय मयहिं णहयळ गयहिं गोडर मुहहिं रवणउँ ॥

—बड्ढमाणच० संधि ६/कड २२

मगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने के बाद जब हरि—इन्द्र ने आदेश दिया तब यक्ष ने एक समवशरण की रचना की। वह १२ योजन प्रमाण विशाल था, जो गगन तल में नीला-नीला मासता था। तथा जो रत्नमय धूलि से बने बलय के समान शाल (परकोटों), चतुर्दिक् निमित्त चार मानस्तंभों से सुशोभित मंजुल जल-तरंगों वाले चार सरो-वरो, जल से परिपूर्ण तथा कमल पुष्पों से समृद्ध परिखाओं तथा लोगों के मन को सुहावनी लगने वाली बल्ली-बनों से वेष्टित मणिमय वेदिका—(से वह समवशरण शोभायमान था) और—

घत्ता—उत्तम विषियों से रचित, मणियों द्वारा खचित (जटित), कनकमय परिषि से परिपूर्ण, रोप्यमय और गगनचुम्बी गोपुर मुखों से रमणीक—

जयइ सुयाणं पभवो तित्थयराणं अपच्छिमो जयइ । जयइ गुरू लोगाणं जयइ महप्पा महावीरो ॥
 भद्दं सब्बजगुज्जोयगस्स भद्दं जिणस्स वीरस्स । भद्दं सुराऽसुरणमंसियस्स भद्दं धुयरयस्स ॥

—नन्दी० गा २, ३/पृ० २

समग्र श्रुत ज्ञान के मूल स्रोत जयवंत है। २४ तीर्थंकरों में अंतिम तीर्थंकर जयशील है, जगवंत होने से ही लोकमात्र के गुरु है। महात्मा महावीर अपने आश्रमगुणों से सर्वोत्कृष्ट है—अतः जयवंत है।

समस्त जगत् में ज्ञान का प्रकाश करने वाले का कल्याण हो, राग-द्वेष रहित परम विजयी जिन महावीर का मद्र हो। देव-असुरों के द्वारा बन्दित का मद्र हो। अष्टविध कर्म-रज को सर्वथा नष्ट करने वाले महावीर का सदैव मद्र हो।

*१६ तोरणहिं विहंसिय घंधलेहिं वर अट्टोत्तर सय मंगलेहिं
 ण उ सालि वीहि चउ उववणेहिं × × ×
 तिपयार बाबि मणि मंडवेहिं कीला महिहर लय मंडवेहिं ।
 अमरा जंतेहिं विहिय रईहे पासाय सुहालय घर तईहे
 अट्टोत्तर - अट्टोत्तर सएहिं एक्केक्कु अलंकरियउ धएहिं
 दह भेय महा धुव्विर धएहिं किंकिणि रव तासिय रवि-हएहिं ।
 किंकिणि - णिम्मिय - साले सुहेण पर पउमराय - गोडर - मुहेण
 मणिमय थूहहिं फंसिय णहेहिं । किरणावलि पिहिय महागएहिं ।
 फलिहामल - पायारें वरेहिं हरि मणमय णेउर सिरिहरेहिं

तिपयारहिं पीढहिं सुन्दरेहिं धारह - कोट्टेहिं मणोहरेहिं ।
रयणमय-धम्म-चक्रहिं फुरन्तु । गंधउ इहिं सुरहर - सिरिहरन्तु ॥

—वड्डमाणच० संधि ६/कड २३

मेघ-समूह का विघ्नसंकर देनेवाले तोरणों पर उत्तम १०८-१०८ अंकुश, चंद्र आदि मंगल द्रव्य सुरक्षित थे—जो भगवान् की विभूति को प्रकट कर रहे थे । तथा (गोपुरों के भीतर) नाट्यशालाएं, वीथियाँ अशोक, सप्तच्छद्र, चम्पक एवं आम्र नामक चार उपवन (अशोक आदि चार प्रकार के वृक्ष ?) वन्दा, नन्दवती एवं नन्दोत्तर नामक तीन प्रकार की वापियाँ तथा मणिमंडप, क्रीड़ा पर्वत एवं लता-मंडप बने हुए थे ।

देव यंत्रों द्वारा विधिपूर्वक रचित प्रासाद, सभामंडप, भवन आदि की पंक्तियाँ भी सुशोभित थीं । (वीथियों के चारों ओर) एक-एक (वीथी) परमयूर, माला आदि दस भेदवाली तथा किकिणी रवों से सूर्य के घोड़ों को भी त्रस्त कर देनेवाली ऊँची-ऊँची फहराती हुई १०८-१०८ छवजा पताकाएं थीं ।

किकिणियों द्वारा निमित्त सुन्दर शाल बनाये गये जो कि पद्मराग मणियों के द्वारा बनाये गये गोपुर मुखों से युक्त थे ।

गगन-चुम्बी मणिमय स्तूप बने हुए थे—जो अपनी किरणावलि से महागजों को भी डंक देनेवाले थे ।

स्फटिक के निर्मल एवं श्रेष्ठ प्राकार हरित्-मणियों से निमित्त तथा नूपुरों से युक्त श्रीगृह (श्रीमंडप) तीन प्रकार के सुन्दर पीठ एवं मनोहर १२ कोठे बने हुए थे ।

इसी प्रकार रत्नमय चक्र से स्फुरायमान तथा स्वर्गश्री का हरण करने वाली गंधकुटी से वह समवसरण शोभायमान था ।

२० भगवान महावीर और चतुर्विध संघ की उत्पत्ति—

द्वितीय समवसरण में—तीर्थोत्पत्ति

(क) तित्थं चाउव्वण्णो संघो सो पढमए समोसरणे ।

उप्पण्णो उज्जिणाणं वीरजिणिंदस्स वीयंमि ॥२८७॥

—आव०/नि/गा २८७

मलय टीका—तीर्थ नाम प्रवचनं, तच्च निराधारं न भवतीति चतुर्वर्णः, संघं उच्चते, स जिनानाम्—
ऋषभादीनां प्रथम एव समवसरणे उत्पन्नः, वीरजिनेन्द्रस्य पुनर्द्वितीये समवसरणे,
मध्यमापांपुरि, यत्र हि केवलज्ञानयांमुत्पन्नं, तत्र तथाकल्पत्वात् समवसरणमभूत् यावतान
तत्र संघो जातः ।

सामान्यतः तीर्थंकरों के प्रथम समवसरण में ही चतुर्विध संघ की उत्पत्ति हो जाती है । भगवान् ऋषभ आदि के प्रथम समवसरण में ही चतुर्विध संघ की उत्पत्ति हो गई लेकिन भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ की उत्पत्ति द्वितीय समवसरण में हुई । उनका प्रथम समवसरण निराधार—निष्फल गया ।

(ख) जिण्णं दिवसं समणस्स भगवओ महावीरस्स णिव्वाणे कसिणे जाव समुप्पण्णे, तण्णं दिवसं भवण-
वइवाणमंतरजोइसियविमाणावासिदेवेहिं य देवीहि य ओषयतेहिं य जाव उप्पिजळगभूए यावि

होत्था ॥ तथो णं समणे भगवं महावीर उप्पण्णवरणाणदंसणधरे अप्पाणं च लोणं च अभिसमेक्ख पुव्वं देवाणं धम्ममाइक्खति, तथो पच्छा मणुस्साणं ॥

—आया० श्रु० २/अ १५/सू० ४०-४१

जिस दिन श्रमण भगवान् महावीर को अन्तिम परिपूर्ण केवलज्ञान—केवल दर्शन उत्पन्न हुआ, उस दिन भवनपति, वाणधर्मतर, ज्योतिष्क, वैमानिक देवों में तथा देवियों में उनके नीचे आने-जाने से चहल-पहल हो गयी। तत्पश्चात् सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण-भगवान् महावीर ने आत्मा और लोक के स्वरूप को जानकर पहले देवों को और फिर मनुष्यों को धर्म का उपदेश दिया।

(ग) तथोणं समणे भगवं महावीरे उप्पण्णणाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं णिग्गंथाणं पंच महव्वयाइं सभावणाइं छज्जीवनिकायइं आइक्खइ भासइ परूवेइ, तंजहा—पुढविकाए आउकाए, तेउकाए, वाउकाए, वणस्सइकाए, तसकाए।

—आया० २/अ १५/सू० ४२/पृ० २४१

भगवान् ने द्वितीय देशना में भावना सहित पंच महाव्रत, छज्जीवनिकाय का उपदेश दिया—यथा—पृथ्वी-काय, अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय—

२९ भगवान् महावीर और दिव्यध्वनि

(क) णिग्गंथाइय समेड भरंतह, केवलि किरणहो धरविरहंतह।

गय छासट्टि दिणंतर जामहि, अमराहिउमणि चिन्तइ तामहि ॥

इम सामग्गि सयल जिणणाहहो, पंचमणाणुग्गम गयबाहहो।

किंकारणु ण उ वाणि पयासइ, जीवाइय तच्चाइ ण भासइ।

—वड्डमाण च० (जयमित्तल)

भगवान् महावीर केवलज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् इन्द्रभूति गौतम के समागम नहीं होने तक ६६ दिन दिव्य-ध्वनि नहीं खिरने पर भी भूतल पर विहार करते रहे। यथा—

केवलज्ञान रूपी सूर्य की किरणों के धारण कर लेने पर निर्गुन मुनि आदि के साथ भारतवर्ष में विहार करते हुए छयासठ दिन बीत जाने पर भी जब भगवान् की दिव्य-वाणी प्रकट नहीं हुई, तब अमरेश्वर इन्द्र के मन में चिन्ता हुई कि सकल सामग्री के होने पर भी क्या कारण है कि भगवान् अपनी वाणी से जीवादि तत्त्वों को नहीं कह रहे हैं।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्ति के ६५ दिन बाद श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन पहला प्रवचन किया था। इसके विपरीत श्वेताम्बर परंपरा के अनुसार भगवान् महावीर को जिस दिन केवलज्ञान उत्पन्न हुआ उस दिन देवों के मध्य में प्रथम प्रवचन किया था।

(ख) दिगम्बर मतानुसार—

*१ प्रस्तावेऽस्मिन् विलोक्याशु गणान् द्वादशसंख्यकान्।

स्वस्वकोष्ठेषु चासीनान् सद्धर्मश्रवणोत्सुकान् ॥७८॥

यामत्रये गतेऽप्यस्यार्हतो न ध्वनिनिर्गमः।

हेतुना केन जायेतादीन्द्रो हृदीत्यचिन्तयत् ॥७९॥

ततः स्वावधिना ज्ञात्वा गणेशाचरणाक्षमम् ।
मुनिवृन्दं पुनश्चेत्थं देवेन्द्रश्चिन्तयेत्सुधीः ॥८०॥
अहो मध्ये मुनीशानां मुनीन्द्रः कोऽपि तादृशः ।
नास्ति ओऽर्हन्मुखोद्भूतान् विश्वतत्त्वार्थसंचयान् ॥८१॥
श्रुत्वा सकृत्करोत्यत्र द्वादशांगश्रुतात्मनाम् ।
सम्पूर्णां रचनां शीघ्रं योग्यो गणभृतः पदे ॥८२॥
विचिन्तयेत्यनुविज्ञाय गौतमं विप्रमूर्जितम् ।
गणेन्द्रपदयोग्यं च गौतमान्वयभूषणम् ॥८३॥
केनोपायेन सोऽप्यत्रागमिष्यति द्विजोत्तमः ।
इति चिन्तां चकारोच्चैः सौधमेन्द्रः प्रसन्नधीः ॥८४॥
अहो एष मयोपायो ज्ञात आनयनं प्रति ।
विद्यादिगर्वितस्यास्य किञ्चित्पृच्छामि दुर्घटम् ॥८५॥
काव्यादिमङ्क्षु गत्वाहं पुरं ब्रह्माभिधं किल ।
तदज्ञानात्से वादार्थी स्वयमत्रागमिष्यति ॥८६॥
इत्यालोच्य हृदाधीमान् यष्टिकान्वितसत्करम् ।
वृद्धब्राह्मणवेषं स कृत्वा तन्निकटं ययौ ॥८७॥
विद्यामदोद्धतं वीक्ष्य गौतमं प्रत्युवाच सः ।
विप्रोत्तमात्र विद्वांस्त्वं मत्काव्यैकं विचारय ॥८८॥
मद्गुरुश्रीवर्धमानाख्यो मौनालम्बी स विद्यते ।
ब्रूते मया समं नाहं काव्यार्थार्थी त्विहागतः ॥८९॥
काव्यार्थो नात्र जायेताजीविका मम पुष्कला ।
उपकारश्च भव्यानां तव ख्यातिर्भविष्यति ॥९०॥

—वीरवर्धमानच० अधि १५/श्लो० ७८ से ९०

इसी अवसर में मय्यग् धर्म को सुनने के लिए और अपने-अपने कोठों में बैठे हुए बारह गणों को शीघ्र देखकर, तथा तीन प्रहर काल बीत जाने पर भी इन अर्हन्तदेव की दिव्य-ध्वनि किस कारण से नहीं निकल रही है, इस प्रकार से इन्द्र ने अपने हृदय में चिन्तवन किया ।

तब अपने अवधिज्ञान से बुद्धिमान इन्द्र ने गणधरपद का आचरण करने में असमर्थ मुनिवृन्द को जानकर इस प्रकार विचार किया । अहो, इन मुनीश्वरों के मध्य में ऐसा कोई भी मुनीन्द्र नहीं है, जो कि अर्हन्मुख कमल-विनिर्गत सर्व तत्त्वार्थ-संचय को एक बार सुनकर द्वादशांगश्रुत की संपूर्ण रचना को शीघ्र कर सके और गणधर पद के योग्य हो ।

ऐसा विचार कर गौतम गोत्र से विपूषित गौतम विप्र को उत्तम और गणधर पद के योग्य जानकर किस उपाय से वह द्विजोत्तम गौतम यहाँ पर आयेगा, इस प्रकार प्रसन्न बुद्धि सौधर्मन्द्र ने गंभीरतापूर्वक चिन्तन किया ।

कुछ देर तक चिन्तन करने के पश्चात् वह मन ही मन बोला—अहो ! उसके जाने के लिए मैंने यह उपाय जान लिया है कि विद्या आदि गर्व से युक्त उससे कुछ दुर्घट (अति कठिन) काव्यादि के अर्थ को शीघ्र उस ब्राह्मण के आगे जाकर कहूँ ? उस काव्य के अर्थ को नहीं जानने से वह वाद (शास्त्रार्थ) का इच्छुक होकर स्वयं ही यहाँ पर आ जायेगा ।

हृदय में ऐसा विचार कर वह बुद्धिमान् सौधर्मन्द्र लकड़ी हाथ में लिए हुए वृद्ध ब्राह्मण का वेष बना करके उस गौतम के निकट गया । विद्या के मद से उद्धत गौतम को देखकर उसने उनसे कहा—हे विप्रोत्तम ! आप विद्वान् हैं, अतः मेरे इस एक काव्य का अर्थ विचार करे ।

मेरे गुरु श्री वर्धमान स्वामी है, वे इस समय मीन धारण करके विराज रहे हैं और मेरे साथ नहीं बोल रहे हैं । अतः काव्य के अर्थ को जानने की इच्छा वाला होकर मैं आपके पास यहाँ आया हूँ । काव्य का अर्थ जान लेने से यहाँ मेरी बहुत अच्छी आजीविका हो जायेगी—भयजनों का उपकार भी होगा और आपकी ख्याति भी होगी ।

*२ गौतम के प्रश्न—

अथासौ गौतमस्वामी प्रणम्य शिरसा मुदा । हितं जगत्सतामिच्छन् स्वस्य श्रीतीर्थनायकम् ॥२॥
अज्ञानोच्छ्रित्तये ज्ञानप्राप्त्यै सर्वज्ञगोचराम् । प्रश्नमालामिमामप्राक्षीद् विश्वांगिहितां पराम् ॥३॥
देवादेर्जीवतत्त्वस्य लक्षणं कीदृशं भुवि । कावस्था च कियन्तो हि गुणाभेदा द्विधात्मकाः ॥४॥
के पर्यायाः कियन्तो वा सिद्धसंसारिगोचराः । अजीवस्यापि तत्त्वस्य के प्रकारा गुणादयः ॥५॥

×

×

×

किमत्र बहुनोक्तेन भूतं भावि च साम्प्रतम् । त्रिकालविषय ज्ञानं द्वादशांगभवं चयत् ॥२४॥
तत्सर्वं त्वं कृपानाथ दिव्येन ध्वनिना दिश । भव्यानामुपकाराय स्वर्गमुक्तिवृषाप्तये ॥२५॥

—वीरवर्धमानच० अधि १६

उन गौतम स्वामी ने तीर्थनायक श्री महावीर प्रभु को हर्ष के साथ सिर से प्रणाम करके अपने तथा जगत् के संतजनों के हितार्थ अज्ञान के विनाश और ज्ञान की प्राप्ति के लिए समस्त प्राणियों का हित करने वाली यह सर्वज्ञ-गम्य उत्तम प्रस्तावली पूछी ।

हे देव ! सात तत्त्वों में जो संसार में जीव तत्त्व है, उसका कैसा लक्षण है, कैसी अवस्था है, कितने गुण है, उनके विभागात्मक कितने भेद हैं, कितनी पर्याय हैं, सिद्ध और संसारी विषयक उसके कितने भेद हैं ? इसी प्रकार अजीव तत्त्व के भी कितने भेद, गुण और पर्याय आदि हैं ।

*३ गौतम के प्रश्न करने पर—प्रथम देशना भगवान् द्वारा—दिव्यध्वनि के द्वारा उपदेश—

इति प्रश्नवशाद्देवो विश्वभव्यहितोद्यतः । तत्त्वादिप्रश्नराशीनां सद्भावं च तदीप्सितम् ॥२६॥
दिव्येन ध्वनिना तीर्थेद् स्वर्गमुक्तिसुखाप्तये । प्रारंभे वक्तुमित्थं च मुक्तिमार्गप्रवृत्तये ॥२७॥
शृणुधीमन् मनः कृत्वा स्थिरं सर्वगणैः समम् । प्रोच्यमानमिदं सर्वं त्वदभिप्रेतसाधनम् ॥२८॥

प्रोक्तुर्विभोर्मनाग् नासीदोष्ठादिस्पन्दविक्रिया । मुखाब्जे साम्यतापन्ने तथापि तन्मुखाम्बुजात् ॥२६॥

निर्ययौ भारती रम्या सर्वसंशयनाशिनी । मंदराद्रिगुहोत्पन्न प्रतिच्छन्दनिभा शुभा ॥३०॥
अहो तीर्थेशिनामेषा योगजा शक्तिरुजिता । यथा जगत्सतामत्रोपकारः क्रियते महान् ॥३१॥

—वीरवर्धच० अधि १६/श्लो २६ से ३१

इस प्रकार गौतम स्वामी के प्रश्न के वश से संसार के समस्त मग्य जीवों के हित करने के लिए उद्यत, तीर्थकर वर्धमान देव ने मुक्तिमार्ग की प्रवृत्ति के लिए सप्त तत्त्वादि विषयक समस्त प्रश्न-समूहों का सद्भाव और उनका अभीष्ट अभिप्राय जीवों को स्वर्ग और मोक्ष के सुख प्राप्त कराने के लिए दिव्यध्वनि से इस प्रकार कहवा प्रारंभ किया—

हे धीमन् ! सर्व गण के साथ मन को स्थिर करके तुम्हारे सर्व अभीष्ट साधक मेरा यह वक्ष्यमाण (उत्तर) सुनो । जब भगवान् ने उत्तर देना प्रारंभ किया, तब बोलते समय प्रभु के सान्यता को प्राप्त मुख-कमल में रंच मात्र भी ओष्ठ आदि चलने की विक्रिया (विशेष क्रिया) नहीं हुई । तथापि उनके मुख-कमल से सर्व संशयों का नाश करने वाली मंदराचल की गुफाओं में से निकली प्रतिध्वनि के समान गंभीर, शुभ और रमणीय वाणी निकली ।

आचार्य कहते हैं कि अहो ! तीर्थकरों की यह योगजनित ऊर्जस्विनी शक्ति है कि जिसके द्वारा इस संसार में समस्त सज्जनों का उपकार होता है ॥३१॥

अपापप्राप्तितन्विज्यास्थायिकातिशयोर्जितः । परमात्मपदं प्रापत्परमेष्ठी स सन्मतिः ॥३५५॥
अथ दिव्यध्वनेर्हेतुः को भावीत्युपयोगवान् । तृतीयज्ञाननेत्रेण ज्ञात्वा मां परितुष्टवान् ॥३५६॥
तदैवागत्य मद्प्रामं गौतमाख्यं शचीपतिः । तत्र गौतमगोत्रोत्थमिन्द्रभूति द्विजोत्तमम् ॥३५७॥
महाभिमानमादित्यविमानादेस्य भास्वरम् । शेषैः पुण्यैः समुत्पन्नं वेदवेदांगवेदिनम् ॥३५८॥
दृष्ट्वा केनाप्युपायेन समानीयान्तिकं विभाः । स्वपिपृच्छितं जीवभावं पृच्छेत्य चोदयत् ॥३५९॥
अस्ति किं नास्ति वा जीवस्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् । इत्यप्राक्षमतो मह्यं भगवान्मव्यवत्सलः ॥३६०॥
अस्ति जीवः चोपात्तदेहमात्रः सदादिभिः । किमादिभिश्च निर्देश्यो नोत्पन्नो न विनङ्क्ष्यति ॥३६१॥
द्रव्यरूपेण पर्यायैः परिणामी प्रतिक्षणम् । चैतन्यलक्षणः कर्त्ता भोक्ता सर्वैकदेशवित् ॥३६२॥

×

×

×

इति जीवस्य याथात्म्यं युक्त्या व्यक्तं न्यवेदयत् । द्रव्यहेतुं विधायास्य वचः कालादिसाधनः ॥३६६॥
विनेयोऽहं कृतश्राद्धो जीवतत्त्वनिश्चये । × × ×

भट्टारकोपदेशेन श्रावणे बहुले तिथौ ॥३६६॥

पक्षादावर्थरूपेण सद्यः पर्याणमन् स्फुटम् । पूर्वाण्हे पश्चिमे भागे पूर्वाणामप्यनुक्रमात् ॥३७०॥

—उत्तपु० पर्व ७४

पुण्य रूप परम औदादिक शरीर की पूजा और समवसरण की रचना होना आदि अतिशयों से संपन्न श्री वर्धमान स्वामी परमेष्ठी कहलाने लगे और परमात्मा पद को प्राप्त हो गये ।

तदनन्तर इन्द्र ने भगवान् की दिव्य-ध्वनि का कारण क्या होना चाहिए—इस बात का विचार किया और अवधिज्ञान से मुझे (इन्द्रभूति) उसका कारण जानकर वह बहुत ही संतुष्ट हुआ । वह उसी समय मेरे गाँव में आया । मैं वहाँ पर गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति नाम का उत्तम ब्राह्मण था । महाभिमानी था, आदित्य नामक विमान से आकर शेष बचे हुए पुण्य के द्वारा वहाँ उत्पन्न हुआ था, मेरा शरीर अतिशय देदीप्यमान था और मैं वेदवदांग का जानने वाला था ।

मुझे देखकर वह इन्द्र किसी उपाय से भगवान् के समीप ले आया और प्रेरणा करने लगा कि तुम जीव तत्त्व के विषय में जो कुछ पूछना चाहते थे पूछ लो ।

इन्द्र की बात सुनकर मैंने भगवान् से पूछा कि हे भगवन् ! जीव नामक कोई पदार्थ है या नहीं ? उसका स्वरूप कहिए । इसके उत्तर में भव्यवस्सल भगवान् कहने लगे कि जीव नामक पदार्थ है और वह ग्रहण किये गये शरीर के प्रमाण है, सत्संख्या आदि सदादिक और निर्देश आदि किमादिक से उसका स्वरूप जाना जाता है । वह द्रव्य रूप से न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा किन्तु पर्याय रूप से प्रतिक्षण परिणमन करता है । चेतना उसका लक्षण है, वह कर्ता है, भोक्ता है और पदार्थों के एक देश तथा सर्व देश का जानकार है ।

इस प्रकार भगवान् ने युक्तिपूर्वक जीव तत्त्व का स्पष्ट स्वरूप कहा । भगवान् के वचन को द्रव्य—हेतु मानकर तथा काललब्धि आदि की कारण सामग्री मिलने पर मुझे जीव तत्त्व का निश्चय हो गया । और मैं उसकी श्रद्धाकर भगवान् का शिष्य बन गया ।

तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामी के उपदेश से मुझे श्रावण वदी प्रतिपदा के दिन पूर्वाह्न काल में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े । इसी तरह उसी दिन अपराह्न काल में अनुक्रम से पूर्वों के अर्थ व पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया ।

नोट—अतः दिगम्बर मतानुसार भगवान् की प्रथम देशना—केवलज्ञान की प्राप्ति के छयासठवें दिन श्रावण वदी प्रतिपदा को हुई ।

*४ गणैर्द्वादशभिः प्रोक्तैः परीतेन जिनेशिना ॥३८०॥

सिंहविष्टरमध्यस्थेनार्धमागधभाषया । षड्द्रव्याणि पदार्थाश्च सप्तसंस्मृतिमोक्षयोः ॥३८१॥
प्रत्ययस्तत्फलं चैतत्सर्वमेव प्रपञ्चतः । प्रमाणनयनिक्षेपाद्युपायैः सुनिरूपितम् ॥३८२॥
औत्पत्तिक्यादिधीयुक्ताः श्रुतवन्तः सभासदाः । केचित्संयमापन्नाः संयमासंयमं परे ॥३८३॥
सम्यक्त्वमपरे सद्यः स्वभव्यत्वविशेषतः एवं श्रीवर्धमानेशो विदधद्धर्मदेशनाम् ॥३८४॥
क्रमाद्राजगृहं प्राप्य तस्थिवान् विपुलाचले । श्रुत्वैतदागमं सद्यो मगधेशत्वमागतः ॥३८५॥

—उत्तपु० पर्व ७४

इस प्रकार ऊपर कथित बारह गणों से परिवृत्त भगवान् के सिंहासन के मध्य में स्थित हो अर्धमागधी भाषा के द्वारा छह द्रव्य, सात तत्त्व, संसार और मोक्ष के कारण तथा उनके फल का प्रमाण नय और निक्षेप आदि उपायों के द्वारा विस्तारपूर्वक निरूपण किया।

भगवान् का उपदेश सुनकर स्वाभाविक बुद्धिवाले कितने शास्त्रज्ञ सभासदों ने संयम धारण किया, कितनों ही ने संयमासंयम धारण किया और कितनों ने अपने भयत्व गुण की विशेषतायें शीघ्र ही सम्यग्दर्शन धारण किया।

इस प्रकार वर्धमान स्वामी धर्म देशना करते हुए अनुक्रम से राजगृह नगर आये और वहाँ विपुलाचल नामक पर्वत पर स्थित हो गये।

हे भगवन् ! जब तुमने भगवान् के आगमन का समाचार सुना—तब तुम शीघ्र ही यहाँ आये।

५ सेणिय हउं आणिउ दिय पमुहु । महु संसयेण संभिणमइ ।
जिणु पुच्छिउ जीवहु तणिय गइ । णाहें महु संसउ णासियउ ।
मइं अप्पउ दिक्खइं भूसियउ । मइं समउ समण-भावहु गयइं ।
पावइयइं दियइं पंचसयइं

घत्ता—पत्ते मासे सावणि बहुले पाडिवए दिणि ।

उप्पण्णउ चउ-बुद्धिउ महु सत्त वि रिसि-रिद्धिउ ॥

—वीरजि० संधि २/कड ६

इन्द्र प्रसन्न मुख होकर मुञ्ज (इन्द्रभूति) द्विज प्रमुख को भगवान् के समवसरण में ले आया। उस समय मेरी मति संशय से भ्रान्त थी, अतएव मैंने जिनेन्द्र से जीव की गति के विषय में प्रश्न किया। भगवान् ने मेरे संशय को दूर कर दिया, तब मैंने अपने आपको मुनि-दीक्षा से विभूषित किया। मेरे साथ अन्य पाँचसौ द्विज भी प्रव्रज्या लेकर श्रमण बन गये।

तत्पश्चात् श्रावण मास के कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन आने पर मुझे चारों प्रकार की बुद्धि तथा सातों ऋषि-ऋद्धियाँ भी उत्पन्न हो गयीं।

१—वर्धमान-महावीर को ऋजुकूला नदी के तीर पर केवलज्ञानोत्पत्ति

२—तत्पश्चात् ही इन्द्र के आदेश से यक्ष द्वारा समवसरण की रचना

३—भगवान् की दिव्यध्वनि श्लेष्म के लिए इन्द्र की खोज

४—इन्द्र अपना वेष बदलकर गौतम के यहाँ पहुँचता है

६ णिडुहेवि घाइ-कम्मैधंणाइं भाणाणले जालोहिं घणाइं ॥

घाइक्खइ दह-अइसय धरेहिं । × × ×

एत्थंतरे हरिणा भणिउ जाम किउ समवसरणु जक्खेणताम ।

पविउलु वारह-जोयण-पमाणु । × × × ।

—वड्डमाणच० संधि ६/कड २३

इय वारह-विह-गणु उवविट्टु । हरे विट्टरे ठिउ सहइ जिणेसरु,
 भामंडल जुइणिज्जिय पेसरु । × × ×
 एत्थंतरे णिण्णासिय मारवे अण उप्पज्जमाण दिव्वारवे ।

घत्ता—तहो जिणणाहहो अवहिए मुणेवि गोतम-पासे तुरंतउ ।

गउ सुरवइ गणियाणण लइवि मउड-मणीहिं फुरंतउ ॥ —वड्ढमाणच० संधि १०/कड १

तब ध्यान रूपी अग्निवाला से गहव घातिया कर्म रूपी ईंघन जलाकर सिद्धार्थ नरेन्द्र के उस स्तनन्धय-पुत्र (वर्धमान-महावीर) को केवलज्ञान उत्पन्न हो गया । उस समय वे उत्तम दश अतिशयों को धारण कर सुशोभित हुए ।

इसी बीच में जब हवि—इन्द्र ने आदेश दिया तब यक्ष ने एक समवसरण की रचना की । वह १२ योजन प्रमाण विशाल था ।

इस प्रकार १२ समाओं में १२ प्रकार के गण (साधु—१, साध्वियाँ—२, भवनपति-वाणध्वंतर-ज्योतिषी-वैमानिक देव-देवियाँ—३ से १०, मनुष्य—११ तथा तिर्यंच—१२) उपविष्ट थे ।

भामंडल की द्युति से सूर्य को भी जीत लेने वाले जिनेश्वर सिंहासन पर बैठे हुए सुशोभित हो रहे थे ।

(किन्तु) उस समय जिननाथ की मिथ्यात्व एवं मार-कामनाशक दिव्यध्वनि नहीं खिर रही थी ।

तब मुकुट-मणियों से स्फुरायमान इन्द्र ने अपने अवधि ज्ञान से (उसका कारण) जाना और (विक्रिया-ऋद्धि से) गणितानन-गणितज्ञ-देवज्ञ ब्राह्मण का बेष बनाकर वह तुरन्त ही गौतम के पास पहुँचा ।

सुरेन्द्र ने गौतम गोत्ररूपी नंभागण के लिए चन्द्रमा के समान तथा गुण-समूह के निवासस्थल उस इन्द्रभृति गौतम को देखा तथा उसे वह स्वयं ही ले आया, जहाँ कि स्वामी-जिन विराजमान थे ।

उस गौतम ने नत-शिर होकर जीव-स्थिति पर प्रश्न किया, जिसका उत्तर परमानन्द जिनेश्वर ने स्पष्ट किया । उस उत्पन्न दिव्यध्वनि को उस गौतम ने समझ लिया, जिससे उस (गौतम) का सन्देह दूर हो गया । अपने ५०० द्विज पुत्रों के साथ मिलकर उस गौतम विप्र ने सब कुछ त्याग कर जिन-दीक्षा ले ली ।

उसी दिन अपराह्न में उस गौतम नामक ऋषि ने महावीर-जिन के मुख से निर्गत अर्थों से अलंकृत सांगोपांग द्वादशांग श्रुतपदों की रचना की ।

*७ तहि अवलोएविणु गुण - गणहरु, गोत्तमु गोत्तणहंगण - ससहरु ।
 विप्पवड्डव रूवेण सुरेंदें, मेरु महीहरे ण्हविय जिणेंदें ।
 सइ वासवेण पुराणिउ तित्तेहे, इंदभूइ जिणुसामिउ जेत्तेहे ।
 माणथंभु अवलोएवि दूरहो विहडिउ माणु तमोहु व सूरहो ।
 पणय - सिरेण तेण गय - माणें, गोत्तमेण महियले असमाणें ।
 पुच्छिउ जीव - ट्टिदि परमेसरु । पयणिय - परमाणंदु जिणेसरु ।

सोविजाय - दिव्वज्जुणि भासइ । तहो संदेहु असेसु विणासइ ।
पंच सयहिं दिय - सुयहेँ सम्मिल्लेँ । लइय दिक्ख विप्पेण समेल्लेँ ।

×

×

×

तम्मि दिवसे अवरण्हए तेणवि । सोवंगा गोतम णामेणवि ।
जिण - सुह - णिग्गय अत्थालंकिय । वारहंगं सुय - पय रयणंकिय ।

—वड्डमाणच० संधि १०/कड १

भासइ अहर - फुरण - परिवज्जिउ, खयरामर नर नियरहिं पुज्जिउ ।
दोविह जीव सिद्ध - संसारिय । संसारिय णिय - कम्मैं भारिय ॥

—वड्डमाणच० संधि १०/कड ४

सुरेण पर्वत पर जिनेन्द्र कान्हवन करने वाले तथा विप्र बटुक के वेषधारी उस सुरेन्द्र ने गौतम गोत्ररूपी नंभा-
गण के लिए चन्द्रमा के समान तथा गुण-समूह के निवास-स्थल उस इन्द्रभूति गौतम को देखा तथा उसे वह स्वयं ही ले
आया, जहाँ कि स्वामी जिन विराजमान थे । दूर से मानस्तम्भ देखकर उस (गौतम) का मान-अहंकार उसी प्रकार नष्ट
हो गया, जिस प्रकार कि सूर्य के सम्मुख अंधकार-समूह नष्ट हो जाता है । उस गौतम ने निरहंकार भाव से नतशिर
होकर पृथिवी-मंडल पर असाधारण उन परमेश्वर के जीव-स्थिति पर प्रश्न किया, जिनका उत्तर परमानन्द जिनेश्वर ने
स्पष्ट किया । उस उत्पन्न दिव्य-ध्वनि को उस गौतम ने समझ लिया, जिससे उस (गौतम) का समस्त संदेह दूर हो
गया । अपने ५०० द्विज-पुत्रों के साथ मिलकर उस गौतम विप्र ने सब कुछ त्यागकर जिन-दीक्षा ले ली ।

पूर्वाह्न में दीक्षा लेने के साथ ही उसे (गौतम को) ७ विख्यात (अक्षीण) लब्धियाँ (बुद्धि, क्रिया, विक्रिया,
रस, तप, औषधि एवं बल) उत्पन्न हो गयीं तथा उसी दिन अपराह्न में उस गौतम नामक ऋषि ने महावीर-जिन के
मुख से निर्गत अर्थों से अलंकृत सांगोपांग द्वादशांग श्रुतपदों की रचना की ।

विद्याधरों, देवों और मनुष्यों द्वारा पूजित महावीर जिनेन्द्र ने ओष्ठ-स्फुरण के बिना ही सप्त तत्त्वों पर इस
प्रकार प्रवचन किया—

सिद्ध और संसारी के भेद से जीव दो प्रकार के होते हैं । अपने कर्मों के भार को ढोनेवाले जीव संसारी
कहलाते हैं ।

५८. णिससंसयकरो बीरो महावीरो जिणुत्तमो । राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ ॥१६॥

५९. कर्त्थं कहियं ? सेणियराए सचेलणे महामंडलीए सयलवसुहामंडल भुजंते मगहामंडल-तिल-
ओवमरायणिहणया णेरयिदिसमहिद्विय - विउल - गिरिपव्वए सिद्धचारणसेविए बारहगणपरि-
वेड्ढिण कहियं । उत्तं च—

“पंचसेलपुरे रम्मे, विउले पव्वदुत्तमे । णाणादुमसमाइण्णे, सिद्धचारणसेविदे ॥१७॥

ऋषिगिरिरैन्द्राशायां चतुरस्रो याम्यदिशि च वैभारः । विपुलगिरिनैऋत्यामुभौ त्रिकोणौ स्थितौ

तत्र ॥१८॥

धनुषा (रा) कारच्छिन्नो वारुण-वायव्य-सोमदिक्षु ततः । वृत्ताकृतिरीशाने पांडुस्सर्वे कुशाग्रवृताः
॥१६॥

कम्हि काले कहियमिदि पुच्छिदे सिस्साणं पच्चयजणणट्टं कालपरूवणा कीरदे । तंजहा- दुविहो कालो उस्सप्पिणी ओसप्पिणी चेदि । जत्थ बलाउउस्सेहाणमुस्सप्पणं बुड्ढी होदि सो कालो उस्स-
प्पिणी । जत्थ तेसिं हाणी होदि सो ओसप्पिणी ।

तत्थ एक्केको सुसमसुसमादिभेएण छव्विहो । तत्थ एदस्स भरहखेत्तस्स ओसप्पिणीए चउत्थे दुस्समसुसमकाले णवहि दिवसेहि छहि मासेहि य अहियतेत्तीसवासावसेसे । तित्थुप्पत्ती जदा ।
उत्तं च—

इम्मिस्सेवसप्पिणीए चउत्थकालस्स पच्छिमेभाए । चोत्तीसवासावसेसे किंचि विसेसूण कालम्मि ॥२०॥

×

×

—कसापा० भा २/गा/१/टीका/पृ० ७३-७४

एदम्हि छावट्टिदिवसूणकेवलिकाले पक्खित्ते णवदिवसल्लम्मासाहिय तेत्तीसवासाणि चउत्थकाले अवसेसाणि होंति । छासट्टिदिवसावणयणं केवलकालम्मि किमट्टं कीरदे । केवलणाणे समुप्पण्णेवि तत्थ तित्थाणुप्पत्तीदो । दिव्वज्झाणीए किमट्टं तत्थापउत्ती ? गणिंदाभावादो । सोहमिंदादेण तक्खणे चव गणिंदो किण्ण ढोइदो ? ण; काललद्धीए विणा असहेज्जस्स देविदस्स तड्ढोयणसत्तीए अभावादो । सगपादमूलम्मि पडिवण्णमहव्वयं मोत्तूण अण्णमुद्दिस्सिय दिव्वज्झुणी किण्ण पयट्टे ? साहावियादो । ण च सहाओ पर पज्जणिओगारुहो; अव्ववत्थावत्तीदो । तम्हा चोत्तीसवासाव-
सेसकिंचिविसेसूणचउत्थकालम्मि तित्थुप्पत्ती जादेत्ति सिद्धं ।

— कसापा० गा १/टीका/भाग १/पृ० ७५-७६

षट्षष्टिदिवसान् भूयो मौनेन विहरन् विभूः । आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥
आरुरोह गिरिं तत्र विपुलं विपुलश्रियम् । प्रबोधार्थं स लोकानां भानुमानुदयं यथा ॥
श्रावणस्यासि ते पक्षे नक्षत्रेऽभिजिति प्रभुः । प्रतिपद्यहि पूर्वाह्णं शासनार्थमुदाहरत् ॥

—हरिपु० २, ६१ आदि

जिन्होंने धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति करके समस्त प्राणियों को निःसंशय किया, जो वीर है अर्थात् जिन्होंने विशेष रूप से समस्त पदार्थ-समूह को प्रत्यक्ष कर लिया है, जो जिनों में श्रेष्ठ है तथा राग, द्वेष और भय से रहित है—ऐसे भगवान् महावीर धर्मतीर्थ के कर्ता है ।

प्र०—भगवान् महावीर ने धर्मतीर्थ का उपदेश कहाँ पर दिया ।

समाधान—जब महामंडलीक श्रेणिक राजा अपनी चेलना रानी के साथ सकल पृथिवी मंडल का उपभोग करता था । जब मगध देश के तिलक के समान राजगृह नगर की नैऋत्य दिशा में स्थित तथा सिद्ध और चारणों के द्वारा सेवित विपुलगिरि पर्वत के ऊपर बारह गणों अर्थात् सभाओं से परिवेष्टित भगवान् महावीर ने धर्मतीर्थ का कथन किया । कहा भी है ।

‘पंचशैल में अर्थात् पांच पहाड़ों से शोभायमान राजगृह नगर के पास स्थित, नाना प्रकार के वृक्षों से व्याप्त, सिद्ध तथा चारणों से सेवित और सर्व पर्वतों में उत्तम ऐसे अति रमणीक विपुलाचल पर्वत के ऊपर भव्यजनों के लिए भगवान् महावीर ने धर्मतीर्थ का प्रतिपादन किया। ऐन्द्र अर्थात् पूर्व दिशा में चौकोर आकार वाला ऋषिगिरि नाम का पर्वत है। दक्षिण दिशा में वैभार और नैऋत्य दिशा में विपुलाचल नाम के पर्वत है। ये दोनों पर्वत त्रिकोण आकार वाले हैं। पश्चिम, वायव्य और उत्तर दिशा में धनुष के आकार वाला छिन्न नाम का पर्वत है। ऐशान दिशा में गोलाकार पांडु नाम का पर्वत है। ये सब पर्वत कुशा के अग्रभागों से ढंके हुए हैं।

किस काल में धर्मतीर्थ का प्रतिपादन किया—ऐसा पूछने पर शिष्यों को काल का ज्ञान कराने के लिए आगे काल की प्ररूपणा की गयी है। वह इस प्रकार है—उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के भेद से काल दो प्रकार का है। जिस काल में बल, आयु और शरीर की ऊँचाई का उत्सर्पण अर्थात् वृद्धि होती है वह काल उत्सर्पिणी काल है। तथा जिस काल में बल, आयु और शरीर की ऊँचाई की हानि होती है वह अवसर्पिणी काल है। उनमें से प्रत्येक काल सुषमसुषमादि के भेद से छह प्रकार का होता है। उनमें से इस भरत क्षेत्र सम्बन्धी अवसर्पिणी काल के चौथे—दुःषम-सुषमा काल में नौ दिन और छः मास अधिक तेतीस वर्ष अवशिष्ट रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई! कहा भी है।

इस अवसर्पिणी काल के दुषमसुषमा नामक चौथे काल के पिछले भाग में कुछ कम चौतीस वर्ष बाकी रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई।

(ग) श्वेताम्बर मतानुसार भगवान् की द्वितीय देशना—अपापा नगरी में

(भगवान् महावीर और समवसरण) द्वितीय समवसरण में तीर्थ की स्थापना—

*१ उपकारार्हलोकानामभावात्तत्र च प्रभुः। परोपकारैकपरः प्रक्षीणप्रेमबन्धनः ॥१४॥
तीर्थकृन्नामगोत्राऽख्यं कर्म वेद्यं महन्मया। भव्यजंतुप्रबोधेनानुभाव्यमितिभावयन् ॥१५॥
द्युसन्निकायस्त्रिकोटीभिरसंख्याताभिरावृतः। सुरैः संचार्यमाणेषु स्वर्णाब्जेषु दधत्क्रमौ ॥१६॥
स्फुटे मार्गे दिन इव देवोद्घोतेन निश्यपि। द्वादशयोजनाध्वनां भव्यसत्त्वरलंकृताम् ॥१७॥
गौतमाद्यैः प्रबोधार्हैर्भूरिशिष्यसमावृतैः। यज्ञाय मिलितैर्जुष्टामपापामगमत्पुरीम् ॥१८॥
तस्या अदूरे पुर्याश्व महासेनवनाभिधे। उद्याने चारुसमसरणं विबुधाव्यधुः ॥१९॥
सञ्जातसर्वातिशयः स्तूयमानः सुरासरैः। पूर्वद्वारेण समवसरणं प्राविशत्प्रभुः ॥२०॥
द्वात्रिंशद्भनुरुक्तुंगं रत्नच्छंदच्छंविर्निभम्। ततः प्रदक्षिणीकृत्य चैत्यवृक्षं जगद्गुरुः ॥२१॥
नमस्तीर्थांमैत्युदित्वा पालयन्नर्हतीं स्थितिम्। सपादपीठे न्यषदत्पूर्वसिंहासने प्रभुः ॥२२॥
स्वामिनः प्रतिरूपाणि तन्महिम्नैव नाकिनः। विचक्रिरे भक्तिमन्तस्तिष्ठन्व्यासु दिक्ष्वपि ॥२३॥
यथाद्वारं प्रविश्याथ यथास्थित्यवतस्थिरे। पश्यन्तः स्वामिवदनं सर्वे सुरनरादयः ॥२४॥
नमस्कृत्य जगन्नार्थं य सन्नाथः कृताञ्जलिः। रोमाञ्चितवपुर्भक्त्या स्तोतुमेवं प्रचक्रमे ॥२५॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

इत्यभिष्टुत्य विरते विडौजसि जगद्गुरुः । सर्वभाषाजुषा वाचा विदधे देशनामिति ॥३८॥
 अहो अपारः संसारः सरस्वानिव दारुणः । कारणं तस्य कर्मैव हन्त बीजं तरोरिव ॥३९॥
 कर्मणा स्वकृतेनैव विवेकपरिवर्जितः । कूरकारइवाधस्ताद्गतिमाप्नोति देहभृत् ॥४०॥
 अप्यूर्ध्वगतिमाप्नोति निजनैव हि कर्मणा । प्रासादकारक इव शरीरी विशदाशयः ॥४१॥
 प्राणातिपातं नो कुर्यात् कर्मबंधनिबंधनम् । स्वप्राणवत् परप्राणपरित्राणपरो भवेत् ॥४२॥
 न मृषा जातु भाषेत किं तु भाषेत सूतृतम् । परपीडां परिहरन्नात्मपीडामिवांगवान् ॥४३॥
 अदत्तं नाददीऽतार्थं बाह्यप्राणोपमं नृणाम् । अर्थं हि हरता तेषां वध एव कृतो भवेत् ॥४४॥
 मैथुनं न विदध्याच्च बहुजीवोपमर्दकम् । ब्रह्मैव कुर्यात्तत्प्राज्ञः परब्रह्मनिबंधनम् ॥४५॥
 परिग्रहं न कुर्याच्च परिग्रहवशेन हि । गोरिवाधिकभारेण विधुरो निपतत्यधः ॥४६॥
 एतान्प्राणातिपातादीन् सूक्ष्मांस्त्यक्तुं न चेत्क्षमाः । त्यजेयुर्वाद्रांस्तर्हि सूक्ष्मत्यागेऽनुरागिणः ॥४७॥
 इत्थं च देशनां भर्तुः शृण्वन्तोऽवहिता जनाः । तस्थुरानन्दनिस्पन्दा आलेख्यलिखिता इव ॥४८॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

२ उप्पन्नंमि अणंते नट्टम्मि अ छाउमत्थिए नाणे । राईए संपत्तो महसेणवणम्मि उज्जाणे ॥

—आव० नि गा ५३८

मलय टीका—उत्पन्ने—प्रादुर्भूते अनन्ते—अनंतज्ञेयविषये, कस्मिन्?—ज्ञाने केवलज्ञाने नष्टे च
 छादूमत्थिके मत्यादिरूपे ज्ञाने, देशज्ञानव्यवच्छेदेन केवलज्ञानसद्भावाद्, भावितं चैतत् प्रथम-
 पीठिकायां, रात्रौ सम्प्राप्तो महसेनवने उद्याने, किमिति चेत्? उच्यते भगवतो ज्ञानरत्नोत्पत्ति-
 समनन्तरमेव देवाश्चतुर्विधा अप्यागता आसन्, अत्यद्भुतां च प्रहर्षवन्तो ज्ञानोत्पादमहिमां
 चक्रुः, तत्र भगवान् अवबुध्यते—नात्र कश्चित्प्रब्रज्याप्रतिपत्ता विद्यते, तत एतद्विज्ञाय न विशिष्ट-
 धर्मकथनाय प्रवृत्तवान्, केवलं कल्प एषः—यत्र ज्ञानमुत्पद्यते तत्र जघन्यतोऽपि मुहूर्त्तमात्रमवस्थातव्यं
 देवकृता च पूजा प्रतीच्छनीया धर्मदेशना च कर्त्तव्येति संक्षेपतो धर्मदेशनां कृत्वा द्वादशसु
 योजनेषु मध्यमानाम नगरी, × × × ।

अमरनररायमहिओ पत्तो वरधम्मचक्रवट्ठित्तं । बीअपि समोसरणं पावाए मज्झिमाए उ ॥

—आव० नि गा ५३९

मलय टीका—अमरा—देवाः नरा—मनुष्याः तेषां राजानस्तैर्महितः—पूजितः प्राप्तो धर्मवरचक्रवत्तित्वं
 धर्मवरप्रभुत्वं, द्वितीयं पुनः समवसरणं, अपिशब्दः पुनरर्थे, पापायां मध्यमायां प्राप्त इत्यनुत्ते ।
 ज्ञानोत्पत्तिस्थानकृतपूजापेक्षया चास्य द्वितीयता ।

× × × एवं जाव मज्झिमाए णगरीए महसेणवणं उज्जाणं संपत्तो । तत्थ देवा बितियं समोसरणं
 करेति, महिमं च सुरुगमणे, एगं जत्थ नाणं बितियं इमं चेव ।

—आव० चू० पूर्व भाग/पृ० ३२३-३२४

जुंभक ग्राम में भगवान् ने प्रथम देशना दी ।

फलस्वरूप उस समय वहाँ उपकार के योग्य ऐसे जीवों का बिल्कुल अभाव होने से परोपकार में तत्पर और जिनका प्रेमबंधन क्षीण हो गया है—ऐसे वर्धमान महावीर ने अपापा नगरी की ओर विहार किया ।

मेरे तीर्थंकर नाम-गोत्र नाम का मोटा कर्म वेदने के योग्य है । उन भव्य जीवों को प्रतिबोध देने के योग्य अनुभव करने योग्य है । ऐसा विचार कर असंख्य कोटि देवों से परिवारित और देवों के द्वारा संचारित सुवर्ण कमल पर चरण छोड़ते हुए भगवान् दिवस की तरह देवों के उद्योत से रात्रि में भी प्रकाश करते हुए बारह योजन के विस्तार वाली भव्य प्राणियों से अलंकृत और यथार्थ बुलाये हुए, प्रबोध के योग्य बहुत से शिष्यों से परिवारित, गौतमादिक विप्रों से सेवित अपापा नगरी में भगवान् आये । अर्थात् भगवान् महावीर बैशाख शुक्ला एकादशी को मध्यम पावा पहुँचे । महासेन उद्यान में ठहरे ।

उस पुरी के नजदीक महासेन वन नामक उद्यान में देवों ने एक सुन्दर समवसरण की रचना की ।

तत्पश्चात् सर्व अतिशयों से संपन्न, सुर - अमुरों से स्तवित भगवान् ने पूर्वद्वार से उस समवसरण में प्रवेश किया ।

बतीस धनुष ऊँचे रत्न के प्रतिच्छंद - चैत्य वृक्ष को तीन प्रदक्षिणा कर 'तीर्थीय नमः' ऐसा कहकर, आर्हती मर्यादाओं को पालन कर भगवान् पादपीठ युक्त पूर्व सिंहासन पर बैठे । भक्ति वाले देवों ने प्रभु की महिमा से ही अन्य तीन दिशाओं में प्रभु के प्रतिरूप किये ।

उस अवसर पर सर्व देवों तथा मनुष्यादि योग्य द्वार से समवसरण में प्रवेश कर प्रभु के शरीर को देखते स्वयं स्वयंके योग्य स्थान में बैठे ।

तत्पश्चात् शक्रेन्द्र भक्ति से रोमाञ्चित शरीर से प्रभु को नमस्कार कर अंजलि जोड़कर स्तुति की ।

कर्म के बंध का कारण ऐसी प्राणी की हिंसा कदाचित् भी नहीं करनी चाहिए ।

हमेशा स्वयं के प्राणी की तरह दूसरों के प्राणी की रक्षा करने में तत्पर रहना चाहिए ।

आत्म पीड़ा की तरह पर जीव की पीड़ा को दूर करने की इच्छा रखता हुआ प्राणी असत्य नहीं बोलते हुए सत्य ही बोलना चाहिए ।

मनुष्य के बहिःप्राण लेने की तरह अदत्त द्रव्य कदाचित् भी ग्रहण नहीं करना चाहिए । क्योंकि उसके द्रव्य का हरण करने से उसका वध किया हुआ ही कहा जाता है ।

बहुत जीवों का उपमर्दन करने वाला मैथून का कभी भी सेवन नहीं करना चाहिए । प्रज्ञापुरुष को परब्रह्म (मोक्ष) को देने वाला ब्रह्मचर्य को ही धारण करना चाहिए ।

परिग्रह का ग्रहण नहीं करना चाहिए । अति परिग्रह के ग्रहण करने से अधिक भार से बलद की तरह प्राणी विधुर होकर अधोगति में गिरते हैं ।

इन प्राणातिपातादि के दो भेद हैं—सूक्ष्म और बादर । इनमें से यदि सूक्ष्म को नहीं छोड़ा जा सकता है तो सूक्ष्म के त्याग में अनुरागी होकर बादर का त्याग अवश्य ही करना चाहिए ।

इस प्रकार की भगवान् की देशना सुनकर सर्व लोक आनन्द में मग्न होकर चित्रवत् स्थिर हो गये ।

भगवान् भी स्तुति कर इन्द्र विराग को प्राप्त हुआ । तत्पश्चात् प्रभु सर्व भाषा में समझा जाय—ऐसी वाणी से देशना दी । यह भगवान् महावीर की द्वितीय देशना थी ।

“अहो ! यह संसार समुद्र की तरह दारुण है और उसका कारण वृक्ष में बीज की तरह कर्म ही है ।

स्वयं के ही किये कर्म से विवेक रहित हुआ प्राणी कूप खोदने वाले की तरह अधोगति को प्राप्त होता है और शुद्ध हृदय वाला पुरुष, स्वयं के ही कर्म से महत् बांधने वाले की तरह ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है ।

*३ भगवान् महावीर और समवसरण

द्वितीय समवसरण में तीर्थ की स्थापना हुई—ग्यारह गणधर दीक्षित—

मलय टीका— × × × तत्र भगवान् × × × संक्षेपतो धर्मदेशनां कृत्वा द्वादशसु योजनेषु मध्यमानाम नगरी, तत्र सोमिलाख्यो नाम ब्राह्मणः, स यज्ञं यष्टुमभ्युद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्यायाः, खल्वागताः, ते च चरमशरीरा भवान्तरोपाजितगणधरलब्धयश्च, तान् विज्ञायासंख्येयाभिर्द्वैकोटिभिः परिवृतो देवोद्योतेन दिवस इवा शेषं पंथानमुद्योतयन् देवपरिकल्पितेषु सहस्रपत्रेषु नवनीतस्पर्शेषु पद्मेषु चरणन्यासं विदधानो मध्यमनगर्यां महासेनवनोद्यानं सम्प्राप्तः ॥ × × × तत्थ किरसोमिलज्जोत्तिमाहणो तस्स दिक्खकालम्मि । पउरा जणजाणवया समागया जण्णवाडम्मि ॥ एगंते अ विचित्ते उत्तरपासम्मि जन्नवाडस्स । तो देवदाणविंदा करिति महिमं जिणिंदस्स ॥ भवणवइवाणमंतर जोइसवासी विमाणवासी य । सन्विड्ढीइ सपरिसा कासी नाणुप्पयामहिमं ॥

—आव० नि गा ५४० से ५४२

टीका—तत्र पापाबां मध्यमायां किलशब्दः पूर्ववत्, सोमिलः आर्य इति-ब्राह्मणः तस्य दीक्षाकाले यागकाले पौरा-विशिष्टनगरनिवासिलोका जनाः-सामान्यलोका जनपदा-नानाजनपदभवा लोका समागता यज्ञ पाटे ॥ × × ×

भगवान् महावीर ने अपापा नगरी के नजदीक महासेन उद्यान में संक्षेपतः धर्मदेशना दी ।

अपापा नगरी में सोमिल नामका एक धनाढ्य ब्राह्मण रहता था । उसने यज्ञकर्म में विचक्षण ग्यारह द्विज को यज्ञ करने के लिए आमंत्रित किया । एकादश उपाध्यायों का समागत हुआ । वे चरम शरीरी थे । उन्होंने अनेक देवों को आकाश मार्ग से भगवान् महावीर के समवसरण की ओर जाते हुए देखा ।

ग्यारह ही गणधरों ने ४४०० शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की !

*४ देशना का निष्कर्ष—अपापा नगरी के

दूसरे समवसरण में—चतुर्विध संघ की स्थापना

महाकुला महाप्राज्ञाः संविग्नां विश्ववंदिताः । एकादशाऽपि तेऽभूवन्मूलशिष्या जगद्गुरोः ॥१६०॥
इतश्च चन्दना तत्र शतानीकगृहस्थिता । पश्यन्ती यान्तमायान्तं दिविषज्जनमम्बरे ॥१६१॥
स्वामिनः केवलोत्पत्तिनिश्चयाद्वतकाक्षिणी । त्रिदशैरद्वीयोभिर्निन्ये श्रीवीरपर्षदि ॥१६२॥

सा त्रिः प्रदक्षिणीकृत्य नत्वा चोपास्थित प्रभुम् । प्रव्रज्यार्थं नृपाऽमात्यपुत्र्यो बह्व्योऽपराधपि ॥१६३॥
चन्दनां धुरि कृत्वा ताः स्वयं प्राब्राजयत् प्रभुः । अस्थापयन्प्रायकत्वे नृन्नारीश्च सहस्रशः ॥१६४॥
जाते सर्वे चतुर्थे च ध्रौव्योत्पादव्ययात्मिकाम् । इन्द्रभूतिप्रभृतीनां त्रिपदी व्याहरत् प्रभुः ॥१६५॥

— त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

(भगवान् के पास अपने प्रश्नों का समाधान किया)

इस प्रकार महान् कुल में उत्पन्न हुए महाप्राज्ञ, संवेग को प्राप्त और विश्व को बंदित—ऐसे इन्द्रभूति आदि ग्यारह प्रसिद्ध विद्वान श्री वीर प्रभु के मूल शिष्य हुए ।

इस समय शतानिक राजा के घर में स्थित चंदना ने आकाश मार्ग में आते-जाते हुए देवों को देखा । इससे प्रभु को केवलज्ञान की उत्पत्ति होने का निश्चय होने से उसको व्रत लेने की इच्छा हुई ।

तत्पश्चात् पास में स्थित कोई देव उसे श्री वीर प्रभु की परिषद् में लाकर रखा । प्रभु को तीन प्रदक्षिणा कर नमस्कार कर चंदना दीक्षा लेने के लिए तत्पर हुई और खड़ी रही ।

उस समय दूमरे भी अनेक राजा तथा अमात्य की पुत्रियां दीक्षा लेने के लिए तैयार हुई ।

भगवान् ने चंदना को आगे कर उन सर्व को दीक्षा दी और हजारों नर-नारी श्रावकपन में स्थापित किये ।

इस प्रकार प्रथम (द्वितीय) देशना के बाद चतुर्विध संघ की स्थापना हुई ।

*५ आर्य चंदना को प्रवर्तिनी पद पर स्थापित—भगवान् महावीर की धर्म देशना—

द्वितीय धर्म देशना—

साध्वीनां संयमोद्योगघटनार्थं तदैव च । प्रवर्तिनीपदे स्वामी स्थापयामास चन्दनाम् ॥१८१॥
पूर्णप्रथमौरुष्यां देशनां व्यसृजत् प्रभुः । राजोपनीतस्तत्र प्रागद्वारेण प्राविशद्बलिः ॥१८०॥

— त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

भगवान् महावीर ने साध्वी चंदना को संयमोद्योग के घटनार्थ प्रवर्तिनी पद पर स्थापित किया ।

इस प्रकार प्रथम पौरुषी पूर्ण हुई । भगवान् ने देशना समाप्त की—

*६ भगवान् की अन्तिम देशना के समय—इन्द्रभूति (गौतम) भगवान् के निकट नहीं थे ।

*१ भगवान् बहूत्रर्वे वर्ष में चल रहे थे । उस अवस्था में भी वे पूर्ण स्वस्थ थे । वे राजगृह से विहार कर आपापापुरी में आये । वहाँ की जनता और राजा हस्तिपाल ने भगवान् के पास धर्म का तत्त्व सुना । भगवान् के निर्वाण का समय बहुत समीप आ रहा था । भगवान् ने गौतम को आमंत्रित कर कहा—गौतम ! पास के गाँव में सोमशर्मा नाम का ब्राह्मण है । उसे धर्म का तत्त्व समझाना है । तुम वहाँ जाओ और उसे संबोधित दो । गौतम भगवान् का आदेश शिरोधार्य कर वहाँ चले ।

भगवान् ने दो दिन का उपवास किया । वे दो दिन तक प्रवचन करते रहे । भगवान् ने अपने अन्तिम प्रवचन में पुण्य और पाप के फलों का विशद् विवेचन किया । भगवान् प्रवचन करते-करते ही निर्वाण को प्राप्त हो गये । उस समय रात्रि चार घड़ी शेष थी ।

१—सौभाग्यपर्वेणादि पर्वकथा संग्रह, पर्व-१००

२—समवाओ, ५५/४

३—कल्पसूत्र, सूत्र १४७, सुबोधिका टीका, चतुर्थघटिकावशेषायां सत्री ।

सोमशर्मा ब्राह्मण प्रतिबुद्ध हो गया। गीतम अपने कार्य में सफल होकर भगवान् के पास आ रहे थे। उनका मन प्रसन्न था। वे सोच रहे थे—मैं भगवान् को अपने उद्देश्य में सफल होने की बात कहूँगा। उन्हें इसका पता हो, फिर भी मैं अपनी ओर से बताऊँगा। वे अपनी कल्पना का ताना-बाना बुन रहे थे। इतने में उन्हें संवाद मिला कि भगवान् महावीर का निर्वाण हो गया।

भगवान् महावीर की अन्तिम देशना सोलह प्रकार की थी। भगवान् छट्ठ भक्त से उपोसित थे। देशना के अन्तर्गत अनेक प्रश्न-चर्चाएँ हुईं। राजा पुण्यपाल ने अपने आठ स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर सुनकर संसार से विरक्त हुआ और दीक्षित हुआ। हस्तिपाल राजा भी प्रतिबोध पाकर दीक्षित हुआ।

*२ भगवान की अन्तिम देशना (अन्तिम रात्रि में)—

समणे भगवं महावीरे अंतिमराइयंसि, षणपण्णं अज्झयणाइं कल्लाणफलविवागाइं, षणपण्णं अज्झयणाणि पापफलविवागाणि वागरित्ता सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतकडे परिनिवुडे सव्वदुक्खप्पहीणे

—सम० सम ६५/सू०४/पृ० ८८६

टीका—‘अन्तिमरायंसि’ त्ति सुर्वायुःकालपर्यवसानरात्रौ रात्रेरन्तिमे भागे पापायां मध्यमायां नगर्यां हस्तिपालस्य राज्ञः करणसभायां कार्तिकमासामावास्यायां स्वातिनक्षत्रेण चंद्रमसा युक्तेन नागकरणे प्रत्युषसि पर्यंकासननिषण्णः पञ्चपञ्चाशदध्ययनानि ‘कल्लाणफलविवागाइं’ त्ति कल्याणस्य—पुण्यस्य कर्मणः फलं कार्यं विपाच्यते—व्यक्तिक्रियते यैस्तानि कल्याणफलविपाकानि, एवं पापफलविपाकानि व्याकृत्य-प्रतिपाद्य सिद्धो बुद्धः यावत्करणत् ‘मुत्ते अंतकडे परिनिवुडे सव्वदुक्खप्पहीणे’ त्ति दृश्यं।

‘पढमे’ त्यादि. प्रथमायां त्रिंशन्नरकलक्षाणि द्वितीयायां पंचविंशतिरिति पंचपञ्चाशत्।

‘दंसणे’ त्यादि, दर्शनावरणायस्य नव प्रकृतयो नाम्नो द्विषत्वारिंशत् आयुषश्चतस्र इत्येकं पंचपञ्चाशदिति

श्रमण भगवान् महावीर अन्तिम रात्रि में पचपन अध्ययन पुण्यफल के विपाक वाले और पचपन अध्ययन पापफल के विपाक वाले प्ररूपित कर निद्रा हुए, बुद्ध हुए यावत् सर्व दुःखों से रहित हुए।

‘अंतिमरायंसि त्ति’ सर्व आयुष्य के काल की अन्तिम रात्रि में, रात्रि के अन्तिम प्रहर में पापा नाम की मध्यमा नगरी में, हस्तिपाल राजा की कार्य सभा में, कार्तिक मास की अमावस्या में, स्वाति नक्षत्र में चन्द्र के रहते हुए, नाग नामक कर्ण के रहते हुए, प्रातःकाल पर्यंकासन में बैठे हुए भगवान् ने पचपन अध्ययन कल्याण के—पुण्य कर्म के फल का, कार्य को प्रगट करने वाले कहे—

और इसी प्रकार पापफल को प्रगट करने वाले पचपन अध्ययन कहकर, सिद्ध बुद्ध यावत् सर्व दुःखों से मुक्त हुए।

*३ अथ तत्र सुरारचक्रुर्वप्रत्रितयभूषितम्। रभ्यं समवसरणं स्वामिनो देशनासदः ॥१॥
ज्ञात्वा निजायु पर्यन्तमन्तिमां देशनां प्रभुः। कर्तुं तस्मिन्नुपाविशत् सुरासुरनिधेवितः ॥२॥
स्वामिनं समवस्तुं ज्ञात्वाऽपापापुरीपतिः। हस्तिपालः समागत्य नत्वा च सऽुपाविशत् ॥३॥

शुश्रूषमाणास्तत्रास्थुर्यथास्थानं सुरादयः । एत्य नत्वा सदृक्षाश्च इति स्वामिनमस्तथीत् ॥४॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

अपापानगरी में देवों ने तीन वर्षों से विभूषित रमणीक समवसरण भगवान् की देशना देने के लिए रचित किया ।

सुर-असुर सेवित प्रभु स्वयं के आयुष्य का अंत जानकर अन्तिम देशना देने के लिए बैठे ।

भगवान् पधारें हैं—ऐसा जानकर अपापापुरी का राजा हस्तिपाल वहाँ आया और भगवान् को नमस्कार किया और भगवान् की देशना सुनने के लिए बैठा ।

देव भी देशना सुनने के लिए वहाँ आये ।

उस समय इन्द्र आकर भगवान् को नमस्कार किया । फिर भगवान् ने ऐसी देशना दी—

समणे भगवं महावीरे एगदिवसेणं एगनिसिज्जाए चउप्पण्णाइं वागराइं वागरित्था ।

—सम० सम ५४/सू ३

श्रमण भगवान् महावीर ने एक ही दिवस में एक ही आसन पर बैठकर चौपन व्याकरण (प्रश्नोत्तर) कहे थे ।

७ भगवान् महावीर की अन्तिम देशना

एवं स्तुत्वा हस्तिपाल विरतेऽर्हन्मपश्चिमः । अपश्चिमामित्यकरोद्भगवान् धर्मदेशनाम् ॥२४॥

पुमर्था इह चत्वारः कामार्थौ तत्र जन्मिनाम् । अर्थभूतौ नामधेयादनर्थौ परमार्थतः ॥२५॥

अर्थस्तु मोक्ष एवैको धर्मस्तस्य च कारणम् । संयमादिर्दशविधः संसारामोघितारणः ॥२६॥

अनन्तदुःखः संसारो मोक्षोऽनन्तसुखः पुनः । तयोस्त्यागपरिप्राप्तिहेतुर्धर्मं विना न हि ॥२७॥

मार्गं श्रितो यथा दूरं क्रमात् पंगुरपि प्रजेत् । धर्मस्थो घनकर्माऽपि तथा मोक्षमवाप्नुयात् ॥२८॥

एवं च देशनां कृत्वा विरते त्रिजगद्गुरौ । मण्डलेशः पुण्यपालः प्रभुं नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥२९॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

हस्तिपाल राजा ने भगवान् की स्तुति की । तत्पश्चात् चरमतीर्थकर भगवान् महावीर ने इसप्रकार देशना दी—

“इस जगत् में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ हैं । उनमें काम और अर्थ—प्राणियों के लिए नाम से ही अर्थ रूप हैं, परमार्थ रूप में अनर्थ रूप है । चार पुरुषार्थ में, सम्यग् रूप से, अर्थ रूप एक मोक्ष रूप है और उसका कारण धर्म है । वह धर्म—संयमादि दश प्रकार का कहा है । और संसार-सागर से तारने वाला है । अनंत दुःख रूप संसार है और अनंत सुख रूप मोक्ष है । इसका कारण संसार का त्याग और मोक्ष की प्राप्ति का हेतु धर्म के बिना अन्य कोई नहीं है ।”

पंगु मनुष्य भी वाहन के आश्रय से दूर जा सकता है उसी प्रकार घनकर्मी होने पर भी धर्म के आश्रय से मोक्ष जा सकता है ।

८ भगवान् की अन्तिम देशना की समाप्ति पर—

राजा हस्तिपाल ने देखे गये आठ स्वप्नों का अर्थ पूछा—

अथ तत्र सुराश्चक्रुर्वप्रत्रितयभूषितम् । रम्यं समवसरणं स्वामिनो देशनासदः ॥१॥

ज्ञात्वा निजायुपर्यन्तमन्तिमां देशनाप्रभुः । कर्तुं तस्मिन्नुपाविशत् सुरासुरनिषेवितः ॥२१॥

स्वामिनं समवस्तुनं ज्ञात्वाऽपापापुरीपतिः । हस्तिपालः समागत्य नत्वाच समुपाविशत् ॥३॥

शुश्रूषमाणास्तत्रास्थुर्यथास्थानं सुरादयः ।

×

×

×

एवं स्तुत्वा हस्तिपाल विरतेऽहंनपरिचमः । अपरिचमामित्यकरोद् भगवान् धर्मदेशनाम् ॥२४॥

×

×

×

एवं च देशनां कृत्वा विरते त्रिजगद्गुणौ । मण्डलेशः पुण्यपालः प्रभुं नत्वा व्यजिज्ञपत् ॥२६॥

स्वामिन् स्वप्ना मयाऽद्याष्टौ दृष्टास्तत्र गजःकपिः । क्षीरदुः काकसिंहाब्ज बीजकुंभाश्मे क्रमात्

॥३०॥

तदाख्याहि फलं तेषां भीतोऽस्मि भगवन्नहम् । इति पृष्टो जगन्नाथो व्याचकारेति तत्फलम् ॥३१॥

१. विवेकनौग्याद् भूत्वाऽपि हस्तितुल्याअतः परम् । वत्स्यन्ति श्रावका लुब्धाः क्षणिकद्विसुखेगृहे ॥३२॥
न दीस्थये पञ्चके वा प्रव्रजिष्यन्त्युपस्थिते । आत्तामपि परिभ्रज्यां त्यक्ष्यन्ति च कुसंगतः ॥३३॥
विरलाः पालयिष्यन्ति कुसंगेऽपि व्रतं खलु । इदं गजस्वप्नफलं कपिस्वप्नफलं त्वदः ॥३४॥
२. प्रायः कपिसमा लोलपरिणामाऽल्पसत्त्वकाः । आचार्यमुख्या गच्छस्थाः प्रमादं गामिनो व्रते ॥३५॥
ते त्रिपर्यासयिष्यन्ति धर्मस्थानितरानपि । भाविनो विरला एव धर्मयोगपराः पुनः ॥३६॥
धर्मश्लथेषु ये शिक्षां प्रदास्यत्यप्रमादिनः । ते तैरुपहसिष्यन्ते प्राग्यैर्ग्रामस्थपौरवत् ॥३७॥
इत्थं प्रवचनाऽवज्ञाऽतः परं हि भविष्यति । प्लवंगमस्वप्नफलमिदं जानीहि पार्थिवः ! ॥३८॥
३. क्षीरद्रु तुल्याः सुक्षेत्रे दातारः शासनार्चकाः । श्रावकास्ते तु रोटस्यन्ते लिङ्गिभिर्वचनापरैः ॥३९॥
तेषां न प्रतिभास्यन्ति सिंहसत्त्वभूतोऽपि हि । महर्षयः सारमेया इवासांगमतिस्पृशाम् ॥४०॥
आदास्यन्ते सुविहितविहारक्षेत्रमद्धतिम् । लिङ्गिनो बब्वूलसमाः क्षीरदुफलमीदृशम् ॥४१॥
४. धृष्टस्वभावा मुनयः प्रायो धर्मार्थिनोऽपि हि । रंस्यन्ते न हि गच्छेषु दीर्थिकांभःस्विव द्विकाः ॥४२॥
ततो अन्यगच्छिकैः सुरिप्रमुखैर्वचनापरैः । मृगवृष्णानिभैः सार्धं चलिष्यन्ति जडाशया ॥४३॥
न युक्तमेभिर्गमनमिति तत्रोपदेशकान् । बाधिष्यन्ते नितान्तं ते काकस्वप्नफलं ह्यदः ॥४४॥
५. सिंहतुल्यं जिनमतं जातिस्मृत्याद्यनूङ्कितम् । विपत्स्यतेऽस्मिन् भरतवने धर्मज्ञवर्जिते ॥४५॥
न कुतश्चिन्नतिर्यंचोऽभिभविष्यन्ति जातु तत् । स्वोत्पन्नाः कृमिवत्किं तु लिङ्गिनोऽशुशुबुद्धयः ॥४६॥
लिङ्गिनोऽपि प्राक्प्रभावात् श्रावकाभैः कुतीर्थिकैः । न जात्वभिभविष्यन्ते सिंहस्वप्नफलं ह्यदः ॥४७॥
६. अञ्जाकरेष्वंबुजानि सुगन्धीनीव देहिनः । धार्मिका न भविष्यन्ति संजाताः सुकुलेष्वपि ॥४८॥
अपि धर्मपरा भूत्वा भविष्यन्ति कुसंगतः । प्रासावकरकोत्पन्नगर्दभाब्जवदन्यथा ॥४९॥
कुदेशे कुकुले जाता धर्मस्था अपि भाविनः । हीना इत्यनुपादेयाः पद्मस्वप्नफलं ह्यदः ॥५०॥
७. यथा फलायावीजानि बीजबुद्धयोखरे वपेत् । तथा वप्स्यन्त्यकलानि कुपात्रे कल्पबुद्धितः ॥५१॥
यद्वा घुणाक्षरन्यायाद्यथा कोऽपि कृषीबलः । अवीजान्तर्गतं बीजं वपेत् क्षेत्रे निराशयः ॥५२॥
अकलान्तर्गतं कल्पमज्ञानाः श्रावकास्तथा । पात्रे दानं करिष्यन्ति बीजस्वप्नफलं ह्यदः ॥५३॥

क्षमादिगुणपद्मांकाः सुचरित्राम्बुपूरिताः । रहःस्था भाविनः कुम्भा इव स्तोका महर्षयः ॥१४॥
 श्लथाचारचरित्राश्च कलशा मलिना इव । यत्र तत्र भविष्यन्ति बहवो लिगिनः पुनः ॥१५॥
 समत्सराः करिष्यन्ति कलहं ते महर्षिभिः । उभयेषामपि तेषां साम्यं लोके भविष्यन्ति ॥१६॥
 गीतार्था लिगिनश्च स्युः साम्येन व्यवहारिणः । जनेन ग्रहिलेनेवाग्रहिलग्रहिलो नृपः ॥१७॥
 कथा-तथाहि पृथिवीपुर्यां पूर्णोनाम महीपतिः । सुबुद्धिस्तस्य चामात्यो निधानं बुद्धिसंपदः ॥१८॥
 कालं तेनागमिष्यन्तं पृष्टोऽन्येषुः सुबुद्धिना । लोकदेवोऽभिधानेन नैमित्तिकवरोऽवदत् ॥१९॥
 मासादनन्तरं मेघो वर्षिता तज्जलं पुनः । यः पास्यति स सर्वोऽपि ग्रहप्रस्तो भविष्यति ॥२०॥
 कियत्यपि गते काले सुवृष्टिश्च भविष्यति । पुनः सज्जा भविष्यन्ति तत्पयःपानतो जनाः ॥२१॥
 राज्ञे मंत्री तदाचख्यौ राजाऽप्यानकताडनात् । आख्यापयज्जने वारिसंग्रहार्थमथाऽऽदिशत् ॥२२॥
 सर्वोऽपि हि तथाचक्रेववर्षोक्तोऽहि चाम्बूदः । कियत्यपि गते काले संगृहीताम्बु निष्ठितम् ॥२३॥
 अक्षीणसंग्रहाम्भस्कौ राजामात्यौ तु तौ विना । नवाम्बु लोकाः सामन्तप्रमुक्त्वाश्चपपुस्ततः ॥२४॥
 तत्तानाद् ग्रहिलाः सर्वे ननृनुर्जहसुर्जगुः । स्वैरं चिचेष्टिरेऽन्यत्र विना तौ राजमन्त्रिणौ ॥२५॥
 राज मात्यौ विसदृशौ सामन्ताद्या निरीक्ष्य ते । मंत्रयाञ्चक्रिरे नूनं ग्रहिलौ राजमन्त्रिणौ ॥२६॥
 अस्मद्विच्छणाचाराविमकापसार्यं तत् । अपरौ स्थापयिष्यामः स्वोचितौ राजमन्त्रिणौ ॥२७॥
 मंत्रो ज्ञात्वेतितन्मंत्रं नृपायाख्यःनृपोऽवदत् । आत्मरक्षा कथं कार्या तेभ्यो वृन्दहि राजवत् ॥२८॥
 मंत्र्यूत्रे ग्रहिलीभूय स्थातव्यं ग्रहिलैः सह । त्राणोपायो न कोऽप्यन्य इदं हि समयोचितम् ॥२९॥
 कृत्रिमं ग्रहिलीभूय ततस्तौ राजमन्त्रिणौ । तेषां मध्ये ववृताते रक्षन्तौ निजसंपदम् ॥३०॥
 ततः सुममये जाते शुभवृष्टौ नबोदके । पीते सर्वेऽभवन् स्वस्था मूलप्रकृतिधारिणः ॥३१॥
 एवं च दुःपमाकाले गीतार्था लिगिभिः सह । सदृशीभूय वत्स्यति भाविस्वसमयेच्छवः ॥३२॥
 इति श्रुत्वा स्वप्नफलं पुण्यपालो महामनाः । प्रबुद्धः प्राव्रजत्तत्रकमान्मोक्षमियाय च ॥३३॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

भगवान् की अन्तिम देशना की समाप्ति पर हस्तिपाल राजा के आठ स्वप्नों का अर्थ स्वयं पूछना—

भगवान् की अन्तिम देशना समाप्त हुई । तत्पश्चात् हस्तिपाल राजा ने भगवान् को नमस्कार किया और कहा—‘हे स्वामिन् ! मैं आज स्वप्न में अनुक्रमतः—हाथी, कपि, क्षीर-वाला वृक्ष, काकपक्षी, सिंह, कमल, बीज और कुंभ—ये आठ बातें देखी है, उनका क्या फल होगा । भगवान् ! इन स्वप्नों को देखने से मुझे भय लगता है ।’

इस प्रकार हस्तिपाल ने पूछा । तत्पश्चात् भगवान् बोले—हे राजन् ! इन स्वप्नों का अर्थ सुन—

१—वर्तमान में क्षणिक समृद्धि के सुख में लुब्ध हुए श्रावक वर्ग विवेक बिना की जड़ता से हाथी जैसे होने

१—इन स्वप्नों में हाथी, कपि आदि मात्र स्पष्ट नहीं देखे परन्तु अलग-अलग स्थिति में देखे । इस कारण उनका विशेष फल-वर्णन ‘दिवालीकल्प’ में जानना चाहिए ।

पर भी घर में पड़े रहेंगे। महा दुःखी स्थिति अथवा परचक्र का भय उत्पन्न होगा—तो भी दीक्षा-ग्रहण नहीं करेंगे। यदि कदाचित् दीक्षा ग्रहण करेंगे तो—उन्हें भी कुसंग होने के कारण छोड़ देंगे।

फलस्वरूप कुसंग होने के कारण लिए हुए व्रतों को पालने वाले विरले होंगे—इस प्रकार प्रथम देखे हुए हाथी-स्वप्न का फल है।

२—दूसरे कपि के स्वप्न का फल यह है—बहुधा गच्छ के स्वामीभूत आचार्य कपि की तरह चपल परिणामी, अल्प सत्त्ववाले और व्रत में प्रमादी होंगे। इतना ही पर्याप्त नहीं है—परन्तु धर्म में स्थित दूसरों को भी विपर्यास भाव करायेंगे। धर्म के उद्योग में तत्पर तो कोई विरले ही निकलेंगे।

जो प्रमादी होते हुए धर्म में शिथिल अन्यों को शिक्षा देंगे। उनकी गाँवों में रहे हुए—शहरों की तरह ग्राम्यजन भी हांसी करेंगे।

हे राजन् ! इस रीति से आगामी काल में प्रवचन के अज्ञात पुरुष होंगे।

यह कपि के देखे गये स्वप्न का फल है।

३—जो क्षीर वृक्ष का स्वप्न देखा—इससे सातों क्षेत्र में द्रव्य देनेवाले दातार और शामन पूजक क्षीर वृक्ष तुल्य श्रावक वर्ग होंगे। उनको ठगी लिंगधारी लोग रोक देंगे। ऐसे पासत्यों की संगति से सिंह जैसे सत्त्ववाले मूढि गण भी उनको श्वान की तरह सार बिना लगेंगे।

सुविहित मुनियों की विहार भूमि में लिंगधारी शुली जैसे होकर उपद्रव करेंगे।

क्षीर वृक्ष जैसे श्रावक ऐसे मुनियों की संगति नहीं करने देंगे।

इस प्रकार क्षीर वृक्ष के स्वप्न का फल है।

४—चौथे स्वप्न का फल इस प्रकार है—शृष्ट स्वभावी मुनिगण धर्माधी होने पर काकपक्षी की तरह विहार-वापिका में रमण नहीं करते हैं। वे प्रायः स्वयं के गच्छ में नहीं रहेंगे। इस कारण अन्य गच्छ के सूरिगण की तरह वंचना करने में तत्पर और मृग-तृष्णिका की तरह मिथ्याभाव दिखाने वाले होंगे। उनके साथ में जड़ाशय की तरह चलेंगे। उनके साथ गमन करना उपयुक्त नहीं है।

ऐसे उपदेश करने वालों को वे सम्मुख होकर विपरीत बंधन करेंगे।

इस प्रकार काक पक्षी के स्वप्न का फल है।

५—श्री जिनमत के जो सिंह जैसा है—वह जाति-स्मरण आदि से रहित—ऐसा धर्मज्ञ रहित—ऐसा भरत क्षेत्ररूपी वन देखने में आयेंगे। उस पर तीर्थीरूपी तिर्यच तो पराभव कर नहीं सकेंगे। परन्तु सिंह के कलेवर में जैसे क्रीड़े पड़ते हैं और वे उपद्रव करते हैं उसी तरह वे लिंगी कृमि की तरह स्वयं में ही उत्पन्न हुए वे उपद्रव करेंगे और शासन की हीलना करायेंगे। कितनेक लिंगधारी तो जैन शासन के पूर्व के प्रभाव को लिये हुए श्वापदों की तरह अन्य दर्शनियों से कभी भी पराभव को प्राप्त नहीं होंगे।

इस प्रकार सिंह के स्वप्न का फल है।

६—जैसे कमलाकर में कमल सुगंध को प्राप्त होता है वैसे ही उत्तम कुल में उत्पन्न हुए सर्व प्राणी धार्मिक होने चाहिए। परन्तु वर्तमान में वैसे नहीं होते हैं।

धर्मपरायण होकर वापस वे कुसंग से भ्रष्ट होते हैं और उकरड़े में कमल पैदा होने की तरह कुदेश और कुकुल में उत्पन्न हुए कोई-कोई प्राणी धर्मी होंगे ।

तथापि वे हीन-जाति के होने से अनुपादेय होंगे । इस प्रकार कमल के स्वप्न का फल जानना चाहिए ।

७—जैसे फल प्राप्ति के लिए बीज उषर भूमि में बोये जाते हैं उसी प्रकार कुपात्र में सुपात्र बुद्धि से अकल्प्य वस्तु बोयेंगे । अथवा जैसे कोई निराशय खेहूत घूणाक्षर न्याय से उत्तम क्षेत्र में अबीज के अन्तर्गत बीज बोते हैं उसी प्रकार कोई श्रावक — अकल्प्य के अंतर्गत कल्प्य रूप पात्र दान करेंगे—यह बीज स्वप्न का फल है ।

८—क्षमादि गुण रूप कमलों से अंकित और सुचरित्र रूप जल से पूरित ऐसे एकांत में रखे हुए कुंभ की तरह महर्षिगण कोई एक स्थान में और वे भी बहुत थोड़े दिखाई देंगे ।

और मलिन कलश की तरह शिथिलाचार और चारित्र्य वाले लिंगी—जहाँ-वहाँ बहुत देखने में आयेंगे ।

वे मत्सर भाव से महर्षियों के साथ कलह करेंगे और वे दोनों लोक में सरिखे गिने जायेंगे ।

गीतार्थ और लिंगी नगरलोव धेला होने से जैसे राजा भी धेला हुआ—वैसे व्यवहार पक्ष में सरिखे दिखाई देंगे उसके ऊपर एक कथा है—वह इस प्रकार है—

‘पृथिवीपुरी में पूर्ण नाम का राजा था । उसके सुबुद्धि नामक बुद्धि संपत्ति वाला मंत्री था । सुखमें काल निर्गमन करते हुए सुबुद्धि मंत्री ने देवलोक नामक निमित्तज्ञ को भविष्यत् काल संबंधी प्रश्न पूछा ।

तत्पश्चात् उस निमित्तज्ञ ने कहा—एक मास के बाद में मेघवृष्टि होगी । उसके जल का जो पान करेगा उन सबों के ग्रहिल (धेला) हो जायेगा ।

तत्पश्चात् कितनेक काल के बाद में दूसरी बार मेघ वृष्टि होगी । उसके जल का पान करने से लोक वापस ठीक हो जायेंगे ।

मंत्री ने यह सब वृत्तान्त राजा को कहा—

तत्पश्चात् राजा ने पडह फिराकर लोगों को जल-संग्रह करने की आज्ञा की । फलस्वरूप सर्व लोगों ने वैसा किया ।

तत्पश्चात् निमित्तज्ञ के कथित दिन को मेघ वृष्टि हुई ।

तुरंत संग्रहित जल को लोगों ने नहीं पिया परन्तु कितनेक काल-निर्गमन होने से लोगों का संग्रह किया हुआ पानी रिक्त हो गया ।

मात्र राजा और मंत्री का वहाँ जल रिक्त नहीं हुआ । फलस्वरूप उनके सिवाय अन्य सामंत आदि लोगों ने नये वर्षे हुए जल का पान किया ।

उसका पान करते ही वे लोग धेला होकर नाचने लगे । हँसने लगे । जैसे-तैसे बोलने लगे । गाने लगे और स्वेच्छा से अनेक प्रकार की चेष्टा करने लगे । मात्र राजा और मंत्री दो ही ठीक रहे ।

तत्पश्चात् अन्य सामंत आदि राजा और मंत्री को स्वयं के ही विपरीत प्रवृत्तिवाला देखकर निश्चय किया कि—जब यह राजा और मंत्री दोनों धेला हो गया ऐसा जाना जाता है । क्योंकि वे अपने से विलक्षण आचार वाले हैं । इस कारण उनको उनके स्थान से दूर कर अन्य राजा और मंत्री को अपने लोगों के लिए स्थापित करना चाहिए ।

उनका यह विचार मंत्री के जानने में आया। उसने राजा को सूचित किया। फलस्वरूप राजा ने मंत्री को पूछा कि—अपने को अब उनसे आत्म रक्षा किस रीति से करनी चाहिए? क्योंकि जनवृन्द राजा के समान है। मंत्री ने कटा कि—हे देव! अपने को भी उनके साथ धेला होकर उनकी तरह रहना चाहिए।

इसके विवाय अन्य कोई उपाय इस समय योग्य नहीं है। तत्पश्चात् राजा और मंत्री कृत्रिम धेला होकर उनके मध्य में रहने लगे। और स्वयं की संपत्ति का भोग करने लगे।

जिस समय वापस शुभ समय आया और शुभ वृष्टि हुई उस समय वे नवीन वृष्टि के जलपान के करने से सर्व मून प्रकृति वाले हो गये।

इस प्रकार दुःषम काल में गीतार्थ मुनि भी वेषधारियों के साथ उनकी तरह होकर रहेंगे। परन्तु भविष्यत् में स्वयं के समय की इच्छा रखेंगे।

अस्तु इस प्रकार स्वयं के स्वर्णों का फल सुनकर महाशय हस्तिपाल राजा प्रतिबोध को प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण कर मोक्ष-स्थान प्राप्त किया।

नोट—अपापा नगरी में समवसरण में भगवान् देशनार्थ बैठे। सुरासुर सेवित प्रभु स्वयं के आयुष्य का अन्त जानकर अंतिम देशना के लिए बैठे। भगवान् का पदार्पण सुनकर हस्तिपाल राजा भगवान् के निकट आया और भगवान् की देशना सुनने के लिए बैठा।

*६ भगवान् महावीर की राजगृह में धर्म देशना— (मेघकुमार के दीक्षित वर्ष में)

*१ तए णं समणे भगवं महावीरे मेहणस्स कुमारस्स तीसेय महइ महालियाए परिसाए मज्झगए विचित्तं धम्ममाइक्खइ।
नाया० श्रु १/अ १/सू० १००

*२ इतश्च विहरन् भव्यावबोधाय जगद्गुरुः। सुरासुरपरीवारोययौ राजगृहं पुग्म् ॥३६२॥
तस्मिन् गुणशिले चैत्ये चैत्यवृक्षोपशोभितम्। सुरप्रकल्पं समवसरणं शिश्रिवे प्रभुः ॥३६३॥

पीयूषवृष्टिदेशीयां विदधे धर्मदेशनाम् ॥३७५॥

श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्। श्रावकधर्मं त्वभयकुमाराद्याः प्रपेदिरे ॥३७६॥

— त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ६

भगवान् महावीर राजगृह में गुणशीलक चैत्य में पधारकर वहाँ समवसरण में पधारे। वीर भगवान् अश्रुत्पि जैसी धर्म देशना दी।

प्रभु की देशना सुनकर श्रेणिकराजा सम्यक्त्व को प्राप्त किया और अभयकुमारादि ने श्रावक धर्म अंगीकार किया।

१० ब्राह्मण कुंडग्राम में धर्म देशना—(ऋषभदत्त-देवानन्दा दीक्षित हुए)

*१ तए णं समणे भगवं महावीरे उसभदत्तस्स माहणस्स देवाणंदाए माहणीए तीसे य महइति-
महालियाए × × × धम्मं परिकहेइ।
भग० श ६/उ ३३/सू १४६

*२ विहरन् ब्राह्मणकुंडग्रामेऽगात् परमेश्वरः।

बहुशालाभिबोधाने पुदात्तस्माद्बहिःस्थिते। चक्रुःसमवसरणं त्रिवध्रं त्रिदशोत्तमाः ॥२॥

३ पितरौ दुःप्रतीकारावीहृग्धीर्भगवानपि । तावुद्दिश्य जनांश्चापि विदधे देशनामिति ॥१४॥
 × × × —त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग ८

अन्यदा भगवान् ब्राह्मणकुंड ग्राम पधारे । उसके बाहर बहुशाल नामक उद्यान में देवों ने तीन गढ़वाले समवसरण की रचना की । भगवान् सिंहासन पर बैठे ।

देवानंदा ब्राह्मणी तथा ऋषभदत्त ब्राह्मण को लक्षित कर और अन्य लोगों को लक्षित कर भगवान् ने देशना दी ।

११ चंपानगरी में धर्म देशना—(कृणिक राजा, सुभद्रादि देवियों के समक्ष)

तएणं समणे भगवं महावीरे कृणियस्स रण्णे भिंभसारपुत्तस्स सुभद्रापमुहाण य देवीणं तीसेय महत्तिमहालियाए इसिपरिसाए मुणिपरिसाए जइपरिसाए देवपरिसाए अणेगसयाए अणेगसयवंदाए अणेगसयमवंदपरियालाए ओह्वले अइवले महव्वले अपरिमियवल - वीरिय - तेय - माह्वक्कंतिजुत्ते सारयणवत्थणिय - महुरंगमीर - कोंचणिग्घोस - दुंदुभिस्सरे उरे वित्थडाए कंठे वट्टियाए सिरे समाइण्णाए अगरलाए अमम्मणाए 'सुव्वत्तकवर - सण्णिवाइयाए पुण्णरत्ताए सव्वभासाणुगामिणीए सरस्सईए जोयणणीहारिणासरेणं अद्धमागहाए भासाए भासइ-अरिहा धम्मं परिकहेइ ।

तेसि सव्वेसि आरियमणारियाणं अगिलाए धम्मं आइक्खइ । सावि यणं अद्धमागहा भासा तेसि सव्वेसि आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणमेणं परिणमइ । × × × ॥७१॥

धम्मममइक्खइ-इणमेव णिग्गंथे पावयणे सच्चे अणुत्तरे केवलिए संसुद्धे, पडिपुण्णे णेयाउए सल्लकत्तणे सिद्धिमग्गे मुत्तिमग्गे 'णिज्जाणमग्गे णिव्वाणमग्गे' अवितहमविसंधि सव्वदुक्खप्पहीणमग्गे । इत्थंठिया जीवा सिज्झंति बुज्झंति मुच्चंति परिणिव्वायंति सव्वदुक्खाणामंतं करंति ।

—ओव० सू० ७१, ७२

तब ओषबली (सदा समान बल वाले), महाबली (प्रशस्त बल वाले), अपरिमित शारीरिक शक्ति (बल शारीरिक प्राण) वीर्य (आत्म जनित बल), तेज, माहृत्थ्य (महानुभावता) और कान्ति से युक्त और शरद ऋतु के नव-मेघ की मधुर-गंभीर ध्वनि, कौच पक्षी के निर्घोष और दुंदभि नाद के समान स्वर वाले उन श्रमण भगवान् महा-वीर ने भंभसारपुत्र कृणिक को, सुभद्रा आदि देवियों को, कई सौ और कई सौ वृन्द परिवार वाली उस अति विशाल परिषद् को, ऋषि (अतिशय ज्ञानी साधु) परिषद् को, मुनि (मौनधारी साधु परिषद् को), यति (चरण में उद्यत साधु) परिषद् और देव परिषद् को, हृदय में विस्तृत होती हुई, कण्ठ में ठहरनी हुई, मस्नक में व्याप्त होती हुई अलग-अलग नीच स्थानीय उच्चारण वाले अक्षरों से युक्त, अस्पष्ट उच्चारण से रहित (या हकलाहट से रहित), उत्तम स्पष्ट वर्ण संयोगों से युक्त, स्वर कला से संगीतमय और सभी भाषाओं में परिणत होने वाली सरस्वती के द्वारा, एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर से, अर्धमागधी भाषा में धर्म को पूर्ण रूप से कहा ।

उन सभी आर्य-अनार्यों को अज्ञानि से (तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से अनायास बिना थकावट के) धर्म कहा । वह अर्धमागधी भाषा भी, उन सभी आर्य-अनार्यों की अपनी-अपनी स्वभाषा में परिवर्तित हो जाती थी ।

(भगवान् प्रकारान्तर से) धर्म की प्ररूपणा करने लगे—यह निर्ग्रन्थ प्रवचन (जड़ चेतन की ग्रंथि को छुड़ाने वाला उपदेश—आत्मानुशासन) सत्य है । अनुत्तर (सर्वोत्तम अलौकिक) है । केवल (अद्वितीय या केवलि प्रणीत तथा अनंत अर्थ की विषयता के कारण अनंत) है । प्रतिपूर्ण (अल्प ग्रंथतादि प्रवचन गुणों से सर्वांग संपन्न) है । संशुद्ध (कषादि से शुद्ध स्वर्ण के समान गुण पूर्णता के कारण निर्दोष) है । नैयायिक (प्रमाण से बाधित नहीं होने वाला) है । शल्य कर्तन (मर्यादि शल्य का निवारक) है ।

सिद्धि मार्ग (कृतार्थता का उपाय) है । मुक्ति मार्ग (कर्म रहित अवस्था का हेतु) है । निर्याण मार्ग (पुनः नहीं लौटने वाले गमन का हेतु) है । निर्व्राण मार्ग (सकल संताप रहितता का पंथ) है । अत्रितथ (सद्-भूतार्थ वास्तविक) और अविसंधि अर्थात् महाविदेह क्षेत्र की अपेक्षा से इसका न कभी विच्छेद होता है और न कभी विच्छेद होगा और सर्व दुःख प्रहीण मार्ग (सकल दुःखों को निःशेष करने का पंथ अथवा जहाँ सभी दुःख प्रहीण है ऐसे मोक्ष का यह मार्ग है ।

इस (प्रवचन में) स्थित जीव सिद्ध (सिद्धि गमन के योग्य अथवा इस लोक में अणिमादि महासिद्धियों को प्राप्त) होते हैं । बुद्ध (केवल ज्ञानी-पूर्ण ज्ञानी) होते हैं । मुक्त (भवोपग्राही कर्माश से रहित) होते हैं । परिवृत्त (कर्म कृत सकल संताप से रहित आनंद घन) होते हैं और सभी दुःखों का अंत करते हैं ।

अनन्तविज्ञानमतीतदोषमवाध्यसिद्धान्तममत्यं पूज्यम् ।

श्रीवर्धमानं जिनमाप्तमुख्यं स्वम्भुवं स्तोतुमहं यत्तिष्ठे ॥१॥

—अन्ययो०

अनन्त ज्ञान के धारक, दोषों से रहित, अबाध्य सिद्धांत से युक्त, देवों द्वारा पूजनीय, यथार्थ वक्ताओं में प्रधान और स्वयम्भू—ऐसे श्री वर्धमान जिनेन्द्र की स्तुति करूंगा ।

वाग्बैभवं ते निखिलं विवेक्तुमाशास्महे चेद् महनीयमुख्यं ।

लंघेम जंघालतया समुद्रं वहेम चंद्रद्युतिपानतृष्णाम् ॥३१॥

हे पूज्य शिरोमणि ! आपके संपूर्ण गुणों की विवेचना करना वेग से समुद्र को लांघने अथवा चंद्रमा की चांदनी का पान करने की तृष्णा के समान है ।

इदं तत्त्वातत्त्वव्यतिकरकरालेऽन्धतमसे । जगन्मायाकारैरिव हतपरैर्हा विनिहितम् ॥

तदुद्धर्तं शक्तो नियतमविसंवादिवचनस्त्वमेवात्सत्रातस्त्वयि कृतसपर्याः कृताधियः ॥३२॥

—अन्ययो०

इन्द्रजालियों की तरह अधम अन्य दर्शनवालों में इस जगत् को तत्त्व और अतत्त्व के अज्ञान में भयानक गाड़ अंधकार में डाल रखा है । अतः आप ही इस जगत् का उद्धार कर सकते हैं क्योंकि आपके वचन विसंवाद से रहित हैं । अतः हे जगत् के रक्षक ! बुद्धिमान लोग आपकी सेवा करते हैं ।

*१२ तेणं कालेणं तेण समएणं साहंजणी नामं नयरी होत्था । × × × तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए । परिसाराया य निग्गए । धम्मो कहिओ । परिसा गया ।

—विवा० श्रु १/अ ४/सू २, ११

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर साहंजनी नगरी में देवरमणोद्यान में पधारे । वहाँ पर धर्मदेशना दी ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं कोसंबीनामं नयरी होत्था—रिद्धथिमियसमिद्धा । बाहिं चन्दोतरणे उज्जाणे । सेयभदे जकखे । × × × तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं महावीरे समोसढे ।

—विवा० श्रु० १/अ ५/सू० २,६

उस काल उस समय में कौशाब्बी नगरी में भगवान् महावीर पधारे तथा वहाँ परिषद् के बीच धर्म-देशना दी ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं मथुरा नामं नगरी × × × तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे । परिसा निग्गया राया निग्गओ जाव परिसा पडिगया । —विवा० श्रु० १/अ ६/सू० २, ६

उस काल उस समय में मथुरा नाम की नगरी थी । उस नगरी में श्रमण भगवान् महावीर पधारे । परिषद् और राजा भगवान् के दर्शनार्थ आये तथा भगवान् ने धर्मदेशना दी ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं वाणियगामे णामं नयरे होत्था × × × ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे (वाणियगामे) । परिसा निग्गता । रायानिग्गओ × × × । धम्मो कहिओ । परिसा पडिगयारायाय गओ ॥—विवा० श्रु० १/अ २/सू० ११
श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्यग्राम पधारे । वहाँ का मित्र नामक राजा था । भगवान् ने वहाँ धर्म-देशना दी ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे पुरिमताले नगरे समोसढे । परिसा निग्गया, राया-निग्गओ, धम्मो कहिओ, परिसा राया य पडिगओ । —विवा० श्रु १/अ ३/सू २, १२

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर पुरिमताल नगर में पधारे । परिषद्-जनता निकली । महावीर राजा भी दर्शनार्थ आया । भगवान् ने धर्म का उपदेश दिया ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं हत्थिसीसे णामं णयरे होत्था × × × तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे । परिसानिग्गया । अदीणसत्तू जहा कूणिए तहानिग्गए । सुबाहुवि जहा जमाली तहा रहेणं निग्गए जाव धम्मो कहिओ । राया परिसा गया । —विवा० श्रु० १/अ १/सू १२

हस्तिशीर्ष नगर में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ । परिषद् में भगवान् ने धर्मदेशना दी ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे समोसरिए । परिसा निग्गया । तएणं तीसे कालीए देवीए, इमीसे कहाएलद्धट्टाए समाणीए अयमेयारूवे अज्झत्थिए जाव समुप्पज्जित्था ।

—निर० व १/अ १

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर चंपा नगरी में पधारे । देव और मनुष्यों की सभा में भव्यों को धर्मदेशना देने लगे । धर्म कथा श्रवण करने के लिए परिषद् निकली ।

तएणं समणे भगवं महावीरे सुबाहुस्स कुमारस्स इमं एयाख्वं अज्झत्तियं × × × हत्थिसीसे
नगरे जेणेव पुप्फकरंडयउज्जाणे जेणेव कयवणमाल्लभियस्स जक्कवस्स जक्कवायत्तणे तेणेव उवागच्छइ,
× × × । परिस्ता राया निग्गाए । × × × । धम्मो कहिओ । परिस्ता राया पडिगया ।

—विवा० श्रु २/अ १/सू ३२, ३३

तदनन्तर भगवान् महावीर क्रमशः ग्रामानुग्राम विहार करते हुए हस्तिशीर्ष नगर के पुष्पकरण्डक उद्यानात्तगत
कृतवन्त मालप्रिय नामक यक्ष के यक्षायतन में पधारे । भगवान् ने परिषद् को धर्म का उपदेश दिया ।

*१३ श्रमण भगवान् महावीर के विविध विशेषण

मम धम्मायरिण, धम्मोवदेसए, समणे भगवं महावीरे उप्पण्णनाण-दंसणधरे अरहा जिणे केवली
तीय-पच्चुप्पन्न-मणागयवियाणए, सव्वण्णू, सव्वदरिसी × × × । —भग० श २।३ १/सू ३८

धर्माचार्य, धर्मोपदेशक, श्रमण भगवान् महावीर उत्पन्न ज्ञान-दर्शन के धारक हैं, अरिहंत हैं, जिन हैं, केवली
हैं । भूत, भविष्यत् और वर्तमान के ज्ञाता हैं, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी हैं ।

*१४ भगवान् महावीर और दुर्गम स्थान

पंचहिं ठाणेहिं पुरिम-पच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवति तंजहा-दुआइक्खं, दुव्विभज्जं
दुपस्सं, दुत्तित्तिक्खं, दुरणुचरं । —ठाण० स्था ५/उ १/सू ३२/पृ० ६८४

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के शासन में पांच स्थान दुर्गम होते हैं—

- १—धर्म तत्व का आख्यान करना ।
- २—तत्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग करना ।
- ३—तत्व का युक्ति पूर्वक निदर्शन करना ।
- ४—उत्पन्न परीषहों को सहन करना ।
- ५—धर्म का आचरण करना ।

नोट—वर्धमान तीर्थंकर—अन्तिम तीर्थंकर—जिन थे ।

*१५ भगवान् महावीर और उनका प्रवचन

*१ भगवात महावीर से उपदिष्ट और अनुमत पांच वस्तुएँ ।

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणार्णं निग्गथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं
कित्तिताइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चमभगुण्णाताइं भवति तंजहा-खंती, मुत्ती, अज्जवे,
मइवे, लाघवे । —ठाण० स्था ५/उ १/सू ३४/पृ० ६८५

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पांच स्थान सदा वजित किये हैं, कीर्तित किये हैं, व्यक्त
किये हैं, प्रशंसित किये हैं । अभ्यनुज्ञात (अनुमत) किये हैं—

- (१) क्षांति, (२) मुक्ति, (३) आर्जव, (४) मार्दव और (५) लाघव ।

*२ भगवान से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं कित्ति-
ताइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चं अब्भणुणाताइं भवंति, तंजहा—सच्चे, संजमे, तवे, चियाए,
बंभचेरवासे ।
—ठाण० स्था ५/उ १/सू ३५/पृ० ६८५

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, कीर्तित किये हैं, व्यक्त किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात (अनुमत) किये हैं—

सत्य, संयम, तप, त्याग, और ब्रह्मचर्य-वास ।

*३ भगवान से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं
कित्तिताइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चं अब्भणुणाताइं भवंति, तंजहा—उक्खित्तचरणे, णिक्खित्त-
चरणे, अंतचरणे, पंतचरणे, लूहचरणे ॥
—ठाण० स्था ५/उ १/सू ३६/पृ० ६८५

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, कीर्तित किये हैं, व्यक्त किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये हैं—

- (१) उत्क्षिप्तचरक—पाक-भाजन से बाहर निकाले हुए भोजन को ग्रहण करने वाला ।
- (२) निक्षिप्तचरक—पाक-भाजन में स्थित भोजन को ग्रहण करने वाला ।
- (३) अन्तदचरक—बचा-बुचा भोजन ग्रहण करने वाला ।
- (४) प्रान्तदचरक—बासी भोजन ग्रहण करने वाला ।
- (५) रूक्षचरक—रूखा भोजन ग्रहण करने वाला ।

*४ भगवान से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं कित्तिताइं
णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चं अब्भणुणाताइं भवंति, तंजहा—अण्णातचरणे, अण्णइलायचरणे,
मोणचरणे, संसट्टकप्पिए, तज्ज.तसंसट्टकप्पिए ।
—ठाण० स्था ५/उ १/सू ३७/पृ० ६८५

श्रवण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, कीर्तित किये हैं, व्यक्त किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये हैं—

- १—अज्ञात परक—जाति, कुल आदि को बताये बिना भोजन करनेवाला ।
- २—अन्नग्लाय चरक—विकृत अन्नको लानेवाला
- ३—मौनचरक—बिना बोले भिक्षा लेनेवाला
- ४—संसृष्ट कल्पिक—लिप्त हाथ या कड़छी आदि से लेनेवाला ।
- ५—उज्जातसंसृष्टकल्पिक—देय द्रव्य से लिप्त हाथ या कड़छी से भिक्षा लेनेवाला ।

•५ भगवान महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं कित्तिताइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चं अब्भणुण्णाताइं भवन्ति, तंजहा—उवण्हिए, सुद्धेसणिए, संखादत्तिए, दिट्ठलाभिए, पुट्टलाभिए ।

—ठाण० स्था ५/उ १/सू ३८/पृ० ६८५

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रंथों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये हैं ।

- १—औपनिधिक—पास में रखे हुए भोजन को लेनेवाला ।
- २—शुद्धैषणिक—निर्दोष या व्यंजन रहित आहार लेनेवाला ।
- ३—संख्यादत्तिक—परिमित दत्तियों का आहार लेनेवाला ।
- ४—दृष्टलाभिक—सामने देखने वाले आहार आदि को लेनेवाला ।
- ५—पृष्टलाभिक—'क्या भिक्षा लोगे' यह पूछे जाने पर ही भिक्षा लेनेवाला ।

•६ भगवान महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं कित्तिताइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चं अब्भणुण्णाताइं भवन्ति, तंजहा—आयंवल्लिए, णिव्विए, पुरिमड्ढिए, परिमितपिंडवात्तिए, भिण्णपिंडवात्तिए ।

—ठाण० स्था ५/उ १/सू ३६/पृ० ६८५

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रंथों के पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं—कीर्तित किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये हैं ।

- १—आचाम्लिक—ओदन, कुल्माष आदि में से कोई एक अन्न खाकर किया जानेवाला तप
- २—निर्विकृतिक—घृत आदि विकृति का त्याग करनेवाला
- ३—पूर्वाधिक—दिन के पूर्वार्ध में भोजन नहीं करनेवाला ।
- ४—परिमित द्रव्यों की भिक्षा लेनेवाला
- ५—भिन्नपिंडपातिक—भोजन के टुकड़ों की भिक्षा लेनेवाला ।

•७ भगवान महावीर से उपदिष्ट एवं अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाइं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गंथाणं णिच्चं वण्णिताइं णिच्चं कित्तिताइं णिच्चं बुइयाइं णिच्चं पसत्थाइं णिच्चं अब्भणुण्णाताइं भवन्ति, तंजहा—अरसाहारे, विरसाहारे, अंताहारे, पंताहारे, लूहाहारे ।

ठाण० स्था ५/उ १/सू ४०/पृ० ६८५—८६

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रंथों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं—कीर्तित किये हैं, व्यक्त किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये हैं—

- १—अरसाहार—हींग आदि के बाधर से रहित भोजन लेनेवाला ।
- २—विरसाहार—पुराने धान्य का भोजन करनेवाला ।

- ३—अन्त्याहार
- ४—प्रान्त्याहार
- ५—रूक्षाहार

.८ भगवान महावीर से उपदिष्ट और अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाईं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गथाणं णिच्चं वण्णिताईं णिच्चं कित्तिताईं णिच्चं बुइयाईं णिच्चं पसत्थाईं णिच्चं अब्भणुण्णाताईं भवन्ति, तंजहा—अरसजीवी, विरसजीजी, अंतजीवी, पंतजीवी, लूहजीवी ।

—ठाण० स्था ५/उ १/सू ४१/पृ० ६८६

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, कीर्तित किये हैं, व्यक्त किये है, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये हैं ।

- १—अरसजीवी—जीवन भर अरस आहार करने वाला ।
- २—विरसजीवी—जीवन भर विरस आहार करने वाला ।
- ३—अन्त्यजीवी
- ४—प्रान्त्यजीवी
- ५—रूक्षजीवी

.९ भगवान महावीर से उपदिष्ट और अनुमत स्थान

पंच ठाणाईं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गथाणं णिच्चं वण्णिताईं णिच्चं कित्तिताईं णिच्चं बुइयाईं णिच्चं पसत्थाईं णिच्चं अब्भणुण्णाताईं भवन्ति तंजहा—ठाणात्तिए, उक्कुडुआसणिए, पडिमट्टाई, वीरासणिए, णेसज्जिए ।

—ठाण० स्था ५/उ १/सू ४२/पृ० ६८६

भगवान् महावीर ने श्रमण निग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, कीर्तित किये है, व्यक्त किये हैं, प्रशंसित किये हैं, अभ्यनुज्ञात किये है—

- १—स्थानायतिक—कायोत्सर्ग मुद्रा से युक्त होकर दोनों बाहुओं से घुटनों की ओर झुकाकर—खड़ा रहने वाला ।
- २—उत्कुटुकासनिक—उकडू बैठने वाला
- ३—प्रतिमास्थायी—प्रतिमाकाल में कायोत्सर्ग की मुद्रा में अवस्थित
- ४—वीरासनिक—वीरासन की मुद्रा में अवस्थित
- ५—नैषधिक—विशेष प्रकार से बैठने वाला

.१० भगवान महावीर से उपदिष्ट और अनुमत पाँच स्थान

पंच ठाणाईं समणेणं भगवता महावीरेणं समणाणं णिग्गथाणं णिच्चं वण्णिताईं णिच्चं कित्तिताईं णिच्चं बुइयाईं णिच्चं पसत्थाईं णिच्चं अब्भणुण्णाताईं भवन्ति, तंजहा—दंडायतिए, लगंडसाई, आतावए, अवाउडए, अकंडूयए ।

—ठाण० स्था ५/उ १/सू ४३/पृ० ६८६

श्रमण भगवान् महावीर ने श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए पाँच स्थान सदा वर्णित किये हैं, कीर्तित किये हैं, अभ्य-
नुज्ञात किये हैं—

- १—दंडायतिक—पैरों को पसारकर बैठने वाला ।
- २—लगंड शायी—सिर और एडी भूमि से संलग्न रहे और शेष सारा शरीर ऊपर उठ जाये । अथवा पृष्ठ
भूमि भाग से संलग्न रहे । और सारा शरीर ऊपर उठ जाए—इस मुद्रामें सोने वाला ।
- ३—आतापक—शीतताप सहने वाला ।
- ४—अप्रावृतक—वस्त्र त्याग करने वाला
- ५—अकण्डूयक—खुजली नहीं करने वाला ।

.१६ भगवान महावीर के शासन और अन्य तीर्थंकरों के शासन में अन्तर—

पंचहिं ठाणेहिं पुरिस-पच्छिमगाणं जिणाणं दुग्गमं भवन्ति, तंजहा—दुआइक्खं, दुव्विभज्जं,
दुपस्सं, दुत्तित्तिक्खं. दुरणुचरं ।

पंचहिं ठाणेहिं मज्झिमगाणं जिणाणं सुग्गमं भवन्ति, तंजहा—सुआइक्खं, सुविभज्जं, सुपस्सं,
सुत्तित्तिक्खं, सुरणुचरं ॥ —ठाण० स्था ५/उ १/सू ३२, ३३

प्रथम तथा अंतिम तीर्थंकर के शासन में पाँच स्थान दुर्लभ होते हैं :—

- १—धर्म तत्त्व का आख्यान करना ।
- २—तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विचार करना ।
- ३—तत्त्व का युक्ति पूर्वक निर्दर्शन करना ।
- ४—उत्पन्न परीषहों को सहन करना
- ५—धर्म का आचरण करना

मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में पाँच स्थान सुगम होते हैं ।

- १—धर्म तत्त्व का आख्यान करना
- २—तत्त्व का अपेक्षा दृष्टि से विभाग करना
- ३—तत्त्व का युक्ति पूर्वक निर्दर्शन करना
- ४—उत्पन्न परीषहों को सहन करना
- ५—धर्म का आचरण करना

४०/३६ वर्धमान (महावीर) और शासन संपदा

४०/४६ वर्धमान के ग्यारह गणधरों का विवेचन

४०/१ औघिक गणधर विवेचन

१ सोमिल ब्राह्मण द्वारा यज्ञ और गणधर

× × × तत्र सोमिलारुयो नाम ब्राह्मणः, स यज्ञं यष्टुमभ्युद्यतः, तत्र चैकादशोपाध्यायाः खल्वागताः, ते च चरमशरीरा भवान्तरोपाजितगणधरलब्धयश्च, तान् विज्ञायासंख्येयाभिर्द्वैवकोटिभिः परिवृत्तो देवोद्योतेन दिवसं इवाशेषं पंथानमुद्योतयन् देवपरिकल्पितेषु सहस्रपत्रेषु नवनीतस्पशेषु पद्मेषु चरणन्यासं विदधानोमध्यमनगर्यां महसेनवनोद्यानं संप्राप्तः ।

—आव० निगा ५३८/मलय टीका

जब भगवान् महावीर मध्यमा अपापा में महसेन वन में पदार्पण किया तब वहाँ सोमिल नामक ब्राह्मण यज्ञार्थ इन्द्रभूति आदि ग्यारह ब्राह्मणों को बुलाया था । वे चरम शरीरी थे—भवान्तर उपाजित गणधर लब्धि भी प्राप्त की । उन्होंने आकाश मार्ग से देवों के आवागमन देखा ।

तं दिव्यं देवघोसं सोऊर्णं माहणा तर्हि तुष्टा ।

अहो ! जन्निएण जट्टं देवा किरआगया इहयं ॥५६१॥

मलय टीका—तं दिव्यं देवघोषं श्रुत्वा मनुष्यास्तत्र यज्ञपाटके तुष्टाः, अहो विस्मये, यज्ञेन याजयति लोकानिति याज्ञिकः तेन इष्टं यतो देवाः किलआगता अत्रेति, किलशब्दः संशयएव, तेषामन्यत्र गमनात्, तत्र यज्ञपाटके वेदार्थविद एकादशापि गणधराः ऋत्विजः समन्वागताः । तथा चाह—

इकारसवि गणहरा सव्वे उन्नयविसालकुलवंसा ।

पावाइ मज्झिमाए समोसढा जन्नवाडम्मि ॥५६२॥

मलय टीका—एकादशापि गणधराः समवसृता यज्ञपाटे इतियोगः किम्भूता इत्याह—सर्वे निरवशेषाः उन्नताः प्रधानजातित्वात् विशालाः पितामहपितृपितृव्याद्यनेकजनसमाकुलाः कुलान्येव वंशा-अन्वया येषां ते तथाविधाः,

पापायां मध्यमायां समवसृता—एकीभूता यज्ञपाटे ॥

आह—किमाद्या किनामानो वा ते गणधरा इति । उच्यते—

पढमिस्थ इंदभूई वीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति ।

तइए अ वाउभूई तओ विअत्ते सुहम्मे अ ॥५६३॥

मंडिअ मोरिअपुत्ते अकम्पिए चेव अयलभाया य ।

मेअज्जे अ पभासे गणधरा हुंति वीरस्स ॥५६४॥

—आव० भाग २/निगा ५६१ से ५६४

गणधरों के नाम—
(क)

पढमिस्थ इंदभूई, वीए पुण होइ अग्गिभूइत्ति ।

तइए य वाउभूई, तओ वियत्ते सुहम्मे अ ॥

मंडिअ मोरियपुत्ते, अकंपिए चेव अयलभाया य ।

मेअज्जे य पहासे, गणहरा हुंति वीरस्स ।

—नंदीसुत्त० स्तुतिपद, आव० निगा ५६४

(ख) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स एकारस गणहरा होत्था,—तंजहा—इंदभुई, अग्गिभुई, वायुभुई, विअत्ते, सोहम्मै, मंडिए, मोरियपुत्ते, अकंपिए, अयलभाया, मेतज्जे, पभासे ।

—सम० सम ११/सू ४

प्रथमोऽत्र गणधरमध्ये इन्द्रभूतिः, द्वितीय पुनर्भवति अग्निभूतिस्तृतीयो वायुभूतिश्चतुर्थो व्यक्तः पंचमः सुधर्मस्वामी, षष्ठो मण्डिकपुत्र सप्तमो मौर्यपुत्रः. पुत्रशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, अष्टमोऽकम्पिकः, नवमोऽचलभ्रातादशमो मेतार्यः एकादशः प्रभासः एते गणधरा भवन्ति वीरस्य ।

—आव० निगा ५६४/टीका

श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे, यथा (१) इन्द्रभूति (२) अग्निभूति (३) वायुभूति (४) व्यक्त (५) सुधर्मा (६) मंडित (७) मौर्यपुत्र (८) अकंपित (९) अचलभ्राता (१०) मेतार्य और (११) प्रभास

.२ गणधर-परिवार (गणधर के साथ दीक्षित)

साम्प्रतं गणधरपरिवारमानप्रदर्शनार्थमाह—

पंचहं पंच सया अद्घुट्टसया च हुंति दुण्हगणा । दुण्हतु जुअलयाणं तिसओ तिसओ ह्वइ गच्छो

—आव० निगा ५६७

मलय टीका—पंचानामाद्यानां गणधराणां प्रत्येकं परिवारः पंचशतानि, तथा अर्द्धं चतुर्थस्य येषु तानि अर्द्धचतुर्थानि अर्द्धचतुर्थानि शतानि मानं ययोस्तौ अर्द्धचतुर्थशतौ भवतोद्वयोः प्रत्येकं गणौ, इह गणः समुदाय एवोच्यते, नपुनरागमिकः, तथा द्वयोरगणधरयुगलकयोः प्रत्येकं त्रिशतस्त्रिशतो गच्छः, किमुक्तं भवति ?—उपरिस्थितानां चतुर्णां गणभृतां प्रत्येकं प्रत्येकं त्रिशतमानः परिवारः ।

प्रथम पांच गणधरों का परिवार—अर्थात् इन्द्रभूति से सुधर्मा गणधर का—प्रत्येक के परिवार की (शिष्य-संख्या) ५००-५०० थी। मंडित दो का अर्थात् मंडित तथा मौर्यपुत्र की शिष्यसंख्या (प्रत्येक प्रत्येक की) ३५०-३५० थी। दो युगल का अर्थात् ऊपर के चार गणधर अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य-प्रभास इन चारों का—प्रत्येक-प्रत्येक की ३००-३०० शिष्य-संख्या थी।

कुल शिष्य-संख्या का जोड़ ४४०० होता है ।

.३ गणधर - व्याख्या

(क) स गणधरः क्व निपण्णः कथयति ? उच्यते—

राओवणीयसीहासणोवविट्ठो च पादपीठे वा ।

जिट्ठो अन्नयरो वा गणहारि कहेइ बीयाए ।

—आव० भाग २/गा ५८६

मलय टीका—× × × तदभावे तीर्थकरपादपीठे वा उपविष्टो ज्येष्ठोऽन्यतरो वा गणं—साध्वादि-समुदायलक्षणं धारयितुं शीलमस्येति गणधारी कथयति ।

तीर्थकर की पादपीठ में उपविष्ट हो तथा ज्येष्ठ हो तथा साधु आदि समुदाय को शील-आचार विशेष में स्थापित करते हैं वे गणधर कहलाते ।

(ख) × × × द्वितीयायां पौरुष्याम् ॥ आह स कथयन् कथं कथयति ? उच्यते । × × × यथा एष गणधरश्छद्मस्थ इति, अशेषप्रश्नोत्तरप्रदानसमर्थत्वान् तस्य, एवं तावन् समवसरणवक्तव्यता सामान्ये-
नोक्ता, सम्प्रति प्रकृतमभिधीयते,
—आव० भाग २/निगा ५८६, ६०/टीका

गणधर छद्मस्थ होते हुए भी अशेष प्रश्नों के उत्तर देने में समर्थवान् होते हैं ।

इन्द्रभूति आदि एकादश गणधर यज्ञ विशेष के लिए मध्यम पापा नगरी में सोमिल ब्राह्मण द्वारा आमंत्रित होने पर आये थे । वे यज्ञ में तल्लीन थे । उन्होंने देवों को उधर आकाश से जाते हुए देखा । यज्ञ की महीमा से ये देव हमारी तरफ आ रहे हैं—उन्होंने ऐसा सोचा । परन्तु वे देव अन्यत्र पापा नगरी में भगवान् महावीर के दर्शनार्थ जा रहे थे ।

नोट—ग्यारह गणधरों के निम्नलिखित आशंकाएं थी-जिनका समाधान भगवान् महावीर से मिला । उनकी आशंकाओं का विवरण इस प्रकार है—

- १ इन्द्रभूति—आत्मा का अस्तित्व है या नहीं ?
- २—अग्निभूति—कर्म है या नहीं ?
- ३—वायुभूति—जो जीव है, वही शरीर है या अन्य ?
- ४—व्यक्त—पंचभूत है या नहीं
- ५—सुधर्मा—इस भव में जो जैसा है, परभव में वह वैसा ही होता है ?
- ६—मण्डित—कर्मों का बंध व मोक्ष कैसे हैं ?
- ७—मौर्यपुत्र—स्वर्ग-देव है या नहीं ?
- ८—अकम्पित—नरक है या नहीं ?
- ९—अचल भ्राता-पुण्य-पाप है या नहीं ।
- १०—मेतार्य—परलोक है या नहीं
- ११ प्रभास—निर्वाण है या नहीं ?

४ गौतम गणधर के संशय

तत्र जीवादिसंशयापनोदनिमित्तं गणधरनिष्क्रमणमितिकृत्वा यो यस्य संशयस्तदुपदर्शनार्थमाह—

जीवे कम्मे तज्जीव भूअ तारिसय बंध मुक्खे च ।

देवा नेरइया वा पुन्ने परलोअ निव्वाणे ॥

—आव० निगा ५६६/टीका

मलय टीका—आद्यस्य गणभृतो जीवे संशयः, किमस्ति, नास्तिति ।

ग्यारह गणधरों के जीवादि का संशय उनकी दीक्षा में हेतुभूत बने । प्रथम गणधर के यह संशय था कि जीव है या नहीं ।

.५ अग्निभूति के संशय :

× × × द्वितीयस्य कर्मणि, यथा ज्ञानावरणीयादिलक्षणं कर्म किमस्ति किंवा नास्तीति

—आव० निगा ५६६/मलय टीका

द्वितीय गणधर—अग्निभूति के यह संशय था कि कर्म हे या नहीं ।

.६ वायुभूति के संशय :

तृतीयस्य 'तज्जीवे'ति किं तदेवं शरीरं स एव जीवः किं वाऽन्य इति, न पुनर्जीवसत्तायां तस्य संशयः ।

आव० निगा ५६६/टीका

तृतीय अग्निभूति के यह संशय था कि शरीर ही जीव हे या अन्य ।

.७ व्यक्त गणधर के संशय

चतुर्थस्य भूतेषु संशयः, किं पृथिव्यादीनि भूतानिसन्ति किंवा नेति ?

—आव० निगा ५६६/टीका

चतुर्थ गणधर-व्यक्त गणधर के भूत में संशय था; पृथ्वी आदि भूत होते हैं या नहीं ।

.८ सुधर्म गणधर के संशय

पञ्चमस्य 'तारिसय' ति किं यो यादृश इह भवे सोऽन्यस्मिन्नपि भवेतादृश एव उतान्यथापीति संशयः ।

—आव० निगा ५६६/टीका

पंचम गणधर—सुधर्मा गणधर के यह संशय था कि जो इस भव में जैसा है वह अन्य भव में वैसा ही होगा या अन्यथा होगा ।

.९ षष्ठम गणधर-मंडित के संशय

षष्ठस्य बन्धश्च मोक्षश्च बंधमोक्षं तस्मिन् संशयो यथा बन्धमोक्षौ स्त किंवा नेति आह— कर्मसंशयादस्य कोविशेषः ? —उच्यते, सकर्मसत्तागोचरः, अयंतु तदस्तित्वे सत्यपि जीवकर्मसंयोग विभागगोचरइति ।

—आव० निगा ५६६/टीका

षष्ठम गणधर—मंडित गणधर के यह संशय था कि बन्ध और मोक्ष हे या नहीं ।

.१० सप्तम गणधर-मौर्यपुत्र के संशय

सप्तमस्य किं देवाः सन्ति किंवा न सन्तीतिसंशयः

—आव० निगा ५६६/टीका

सप्तम गणधर—मौर्यपुत्र के संशय था कि देव हे या नहीं ।

.११ अष्टम गणधर अकम्पित के संशय :

अष्टमस्य नारकाः संशयगोचरः, किं ते सन्ति किंवा न सन्तीति ।

—आव० निगा ५६६/टीका

अष्टम गणधर का यह संशय था कि नारकी हे या नहीं ।

२ नवम गणधर-अचलभ्राता के संशय :

नवमस्य पुण्ये संशयः, कर्मणि सत्यपि किं पुण्यमेव प्रकर्षप्राप्तं प्रकृष्टसुखहेतुः तदेव चापचीयमान-
यन्तस्वल्पावस्थं दुःखस्य, उत तदतिरिक्तं पापमस्ति, आहोस्विदेकमेवोभयरूपमुत स्वतन्त्रमुभयमिति ।

—आवनिगा ५६६/टीका

नवम गणधर—अचलभ्राता के संशय था कि पुण्य है या नहीं । पुण्य और पाप एक रूप है या दो रूप ।

३ दशम गणधर—मेतार्य के संशय

दशमस्य परलोकं संशयः, सत्याप्यात्मनि परलोको-भवान्तरलक्षणः, किमस्ति किंवा नास्तीति

—आव० निगा ५६६/टीका

दशम गणधर—मेतार्य के परलोक में संशय था । परलोक है या नहीं ।

४ एकादशम् गणधर—प्रभास गणधर के संशय

एकादशस्य निर्वाणे संशयः, निर्वाणं किमस्ति किंवा नेति-आह-बंधमोक्षसंशयादस्य को विशेषः ?,
च्यते—स ह्युभयगोचराः, अयं तु केवलविभागविषय एव तथा किं संसाराभावमात्र एव, मोक्षः किं
नाऽन्यः इत्यादि ।

—आव० निगा ५६६/टीका

एकादशम गणधर—प्रभास गणधर के निर्वाण है या नहीं—यह संशय था । संसार का अभाव ही मोक्ष है या

अन्य

५ गणधरों का सामान्य विवेचन

क) महंतो महाणाणवंतो सभुई । गणी वाउभूई पुणो अग्गिभूई ॥
सुधम्मो मुणिंदो कुलायास-चंदो । अणिंदो णिवंदो चरित्ते अमंदो ॥
इसी मोरि मुंडी सुओ चत्त-गावो । समुप्पण्ण - वीरंधि - राईव-भावो ॥
सया सोहमाणो तवेणं खगामो । पवित्तो सचित्तेण मित्तेय णामो ॥
सयाकंपणो णिच्चलंको पहासो । विमुक्कंग-राओ रई-णाह-णासो ॥
इमे एवमाई गणेसा मुणिह्ला । जिणिदस्स जाया असह्ला महह्ला ॥

—वीरजि० संधि २/कड ७/पृ० ३४

महाज्ञानवान् एवं विभूतियुक्त इन्द्रभूति गौतम महावीर भगवान् के श्रेष्ठ गणधर हुए ।

दूसरे—वायुभूति, तीसरे—अग्निभूति, चौथे—सुधर्म मुनीन्द्र जो अपने कुलरूपी आकाश के चंद्रमा थे ।
पाँचवे—ऋषि मौर्य । छठे—मुण्डि (मौण्य) । सातवें—सुत (पुत्र) जो इन्द्रियों की आसक्ति से रहित तथा वीर
भगवान् के चरण-कमलों के भक्त थे । आठवें—मैत्रेय जो महातप से शोभायमान, इन्द्रियजित् व शुक्लध्यानी और चित्त

से पवित्र थे । नववें—अकम्पन जो सदैव तपस्या में अकम्प रहते थे । दसवें—अचल और ग्यारहवें—प्रभास जो देह के अनुराग से रहित और कामदेव के विनाशक थे ।

अस्तु भगवान् महावीर जिनेन्द्र—के—ये ग्यारह गणधर मुनि हुए जो शल्यरहित और महान् थे ।

(ख) × × × इति श्रुतद्विभिः पूर्णोऽभूवं गणभृदादिमः ॥३७२॥
ततः परं जिनेन्द्रस्य वायुभूत्यग्निभूतिकौ । सुधर्ममौर्यौ मौद्राख्यः पुत्रमैत्रेयसंज्ञकौ ॥३७३॥
अकंपनोऽन्धवेलाख्यः प्रभासश्च मया सह । एकादशेन्द्रसंपूज्याः सम्मतेर्गणनायकाः ॥३७४॥
—उत्तपु०/पर्व ७४/श्लो ३७२-३७३-७४

एगारह गणधर तहो जायइं, इंदभूइ धुरिधरि तणुकायइं ।

—वड्डच० संधि १०/कड ४०

अथेन्द्रभूतिरेवाद्यो वायुभूत्यग्निभूतिकौ । सुधर्ममौर्यमौण्ड्याख्यपुत्रमैत्रेयसंज्ञकाः ॥
अकम्पिनोऽन्धवेलाख्यः प्रभासोऽमी सुरार्चिताः एकादश चतुर्ज्ञानाः सन्मतेः स्युर्गणाधिपाः ॥
—वीरवर्धच० अधि १६/श्लो २०६-७

वीर जिनेन्द्र के ग्यारह गणधरों में इन्द्रभूति गौतम प्रथम गणधर थे । दूसरे वायुभूति, तीसरे अग्निभूति, चौथे—सुधर्मा, पाँचवे—मौर्य, छठे—मौड्य (मण्डिक), सातवें—पुत्र (?), आठवें—मैत्रेय, नववें—अकम्पन, दसवें—अंधवेल और ग्यारहवें—प्रभास गणधर हुए ।

ये वीर भगवान् के सभी गणधर देवपूजित और चार ज्ञान के धारक थे ।

(ग) तं दालं छत्तीसा पणतीसा तीस अट्टवीसाय । अट्टारस-सत्तरसेक्कारस-दस-एक्करस य वीरंतं ॥
ध ४३, संति ३६, कंथुं ३५, अर ३०, म २८, मु १८, ण १७, णे ११, पा १०, वीर ११ ।
—तिलोप० अधि ४/गा ६६३

धर्मनाथ तीर्थंकर से लेकर महावीर पर्यन्त क्रमशः तैतालीस, छत्तीस, पैंतीस, तीस, अट्टाईस, अट्टारह, सत्तरह, ग्यारह, दस और ग्यारह गणधर थे । अतः वीर भगवान् के ग्यारह गणधर थे ।

(घ) इतश्च मगधे देशे गोवरग्रामनामनि । ग्रामे गोतमगोत्रोऽभूद्वसुभूतिरिति द्विजः ॥४६॥
तस्येन्द्रभूत्यग्निभूतिवायुभूत्यभिधाः सुताः । पत्न्यां पृथिव्यामभवस्तेऽपि गोत्रेण गोतमाः ॥५०॥
कोलाकेऽभूदनुमित्रो धमिल्लश्च द्विजस्तयोः । पुत्रौ व्यक्तः सुधर्मा च वारुणीभद्रिलाभवौ ॥५१॥
धनदेवश्च मौर्यश्च मौर्याऽख्ये सन्निवेशने । द्वावभूतां द्विजन्मानौ मातृष्वस्त्रेयकौ मिथः ॥५२॥
पत्न्यां विजयदेवायां धनदेवस्य नन्दनः । मंडिकोऽभूत्तत्र जाते धनदेवो व्यपद्यत ॥५३॥
लोकाचारो ह्यसौ तत्रेत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत् । भार्या विजयदेवां तां देशाचारो त्ति त द्विये ॥५४॥
क्रमाद्विजयदेवायां मौर्यस्य तनयोऽभवत् । स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नैव पप्रथे ॥५५॥

तथैव मिथिलापुर्यां देवनाम्नो द्विजन्मनः । अभूदकंपितो नाम जयंतीकुक्षिजः सुतः ॥५६॥
 अभुञ्च कोशलापुर्यां वसुनाम्नो द्विजन्मनः । सूनूर्नाम्नाऽचलभ्राता नन्दाकुक्षिसमुद्भवः ॥५७॥
 वत्सदेशे तुंगिकाऽख्ये सन्निवेशे द्विजन्मनः । दत्तस्य सूनूर्मेतार्यो वरुणाकुक्षिभूरभूत् ॥५८॥
 तथा पुरे राजगृहे बलनाम्नो द्विजन्मनः । प्रभासो नाम पुत्रोऽभूदतिभद्रोदंरोद्भवः ॥५९॥
 एकादशापि तेऽभूवश्चतुर्वेदाब्धिपारगाः । गौतमाद्याः उपाध्यायाः पृथक् शिष्यशतैर्वृताः ॥६०॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

भगवान् महावीर के समय में मगध देश में गोबर नामक ग्राम में वसुभूति नामक एक गौतम गोत्रीय ब्राह्मण रहता था । उसके पृथ्वी नाम की स्त्री से इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति नामक तीन गौतम गोत्रीय पुत्र थे ।

कोल्लाक ग्राम में धनुभिन्न और धम्मिल्ल नामक दो ब्राह्मण थे । उनके वारुणी और भट्टिला नाम की स्त्रियों से व्यक्त और सुधर्मा नामक दो पुत्र थे ।

मौर्य ग्राम में धनदेव और मौर्य नामक दो विप्र थे । वे परस्पर मासी के पुत्र भाई थे । उनमें धनदेव को विजयदेवी नाम की पत्नी से मंडिक नाम एक पुत्र हुआ था । उसके जन्म होते ही धनदेव मृत्यु को प्राप्त हो गया ।

उसका लोकाचार विधि से स्त्री विना का मौर्य विजयदेवी के साथ विवाह किया । देशाचार लज्जा के लिए नहीं होता । अनुक्रमतः मौर्य से विजयदेवी के एक पुत्र हुआ वह लोक में 'मौर्यपुत्र' नाम से प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ ।

इसी प्रकार विमलापुरी में देव नामक ब्राह्मण को जयंती नाम की स्त्री से अकंपित नामक एक पुत्र हुआ ।

कोशलानगरी में वसु नामक ब्राह्मण को नन्दा नाम की स्त्री के उदर से अचलभ्राता नामक एक पुत्र हुआ ।

वत्सदेश में तुंगिक नामक ग्राम में दत्त नामक ब्राह्मण को करुणा नाम की स्त्री से मेतार्य नामक पुत्र हुआ ।

राजगृह नगर में बल नामक ब्राह्मण को अतिभद्रा नामकी स्त्री से प्रभास नामक पुत्र हुआ ।

ये ग्यारह विप्र दुमार चार वेद रूपी सागर के पारगामी हुए और गौतमादिक उपाध्याय होकर अलग-अलग सैकड़ों शिष्यों से विचरते रहते थे ।

अपापा नगरी में सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण यज्ञकर्म में विचक्षण—ऐसे ग्यारह ब्राह्मणों को यज्ञ करने के लिए बुलाया था ।

.१६ भगवान महावीर के गण और गणधर

(क) समणस्स णं भगवतो महावीरस्स णवगणा हुत्था, तंचहा—गोदासगणे, उत्तरबलिस्सहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्वाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामड्ढियगणे, माणवगणे, कोडियगणे ।

—ठाण० स्था ६/सू २६/पृ० ७८२-३

भगवान् महावीर के एक क्रिया और वाचना वाले साधुओं के समुदाय रूप नव गण थे—यथा—

१—गोदास गण, २—उत्तरबलिस्सह गण, ३—उद्देह गण, ४—चारण गण, ५—उद्दुपाटिक गण
 ६—वेशपाटित गण, ७—कामड्ढिक गण, ८—मानव गण, ९—कोटिक गण ।

(ख) तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस्स गणहरा होत्था । २०१।
 से केणट्ठेणं भंते ! एवं लुच्चइ-समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस्स गणहरा होत्था ?
 समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे इंदभुई अणगारे गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाई वातेइ,
 सज्झिमे अणगारे अग्गिभुई नामेणं गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाई वातेइ,
 कणीयसे अणगारे वाउभुई नामेणं गोयमे गोत्तेणं पंच समणसयाई वाएइ,
 थेरे अज्जवियत्ते भारदाये गोत्तेणं पंच समणसयाई वाएइ,
 थेरे अज्जसुहम्मे अग्गिवेसायणे गोत्तेणं पंच समणसयाई वाएइ,
 थेरे मंडियपुत्ते वासिट्ठे गोत्तेणं अद्धुट्ठाई समणसयाई वाएइ,
 थेरे मोरियपुत्ते कासवगोत्तेणं अद्धुट्ठाई समणसयाई वाएइ,
 थेरे अकंपिए गोयमे गोत्तेणं थेरे अयलभाया हाणियायणे गोत्तेणं ते दुत्ति धि थेरा तिन्नित्तिन्नि
 समणसयाई वाईत्ति,

थेरे मेयज्जे थेरे य प्पभासे एए दोन्निवि थेरा कोडिन्ना गोत्तेणं तिन्नि तिन्नि समणसयाई
 वाएत्ति, से एतेणं अट्ठेणं अज्जो ! एवं दुच्चइ—समणस्स भगवओ महावीरस्स नव गणा एक्कारस्स गणहरा
 होत्था ।

—कप्प० सू २०१-२०२/५० ६०

श्री श्रमण भगवान् महावीर के नव गण और ग्यारह गणधर थे ।

प्रश्न हो सकता है कि श्रमण भगवान् महावीर के ग्यारह गणधर थे परन्तु नौ गण थे । ऋषभादिक तेइस तीर्थंकरों के जितने गणधर थे—उतने ही गण थे ।

गणधर—मूलभूत के कर्ता—धारक होते हैं । ग्यारह गणधरों में से दो-दो गणधर की एक वाचना आचार-
 क्रिया थी । अतः नौ गण थे ।

आगे समाधान इस प्रकार है—

१—श्रमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ इन्द्रभूति गणधर जिनका गौतम गौत्र था । उन्होंने पाँच सौ श्रमणों
 को वाचना दी थी ।

२—मध्यम—द्वितीय गणधर—अग्निभूति—जिनका भी गौतम गौत्र था । उन्होंने पाँच सौ श्रमणों को
 वाचना दी थी ।

३—सबसे छोटे—तीसरे गणधर—वायुभूति—जिनका भी गौतम गोत्र था । उन्होंने पाँच सौ श्रमणों को
 वाचना दी थी ।

४—भारद्वाज गोत्रीय स्थविर आर्य व्यक्त ने पाँच सौ श्रमणों को वाचना दी थी ।

५—अग्निवैशायन गोत्रीय स्थविर आर्य सुधर्मा ने पाँच सौ श्रमणों को वाचना दी थी ।

६—वासिष्ठ गोत्रीय स्थविर मंडित पुत्र ने तीन सौ पचास श्रमणों को वाचना दी थी ।

७—काश्यप गोत्रीय स्थविर मौर्यपुत्र ने तीन सौ पचास श्रमणों को वाचना दी थी ।

— ८/९—गौतम गोत्रीय स्थविर अकंपित तथा हारितायन गोत्रीय स्थविर अचलभ्राता—इन दोनों स्थविरों ने—
प्रत्येक ने तीन-तीन सौ श्रमणों को वाचना दी थी ।

१०/११—क्रोडिन्न गोत्रीय स्थविर आर्य मेइज्ज (मेटार्य) और स्थविर प्रभास—इन दोनों स्थविरों ने तीन-तीन सौ
श्रमणों को वाचना दी थी ।

उपरोक्त कारण से हे आर्यो ! ऐसा कहा जाता है कि श्रमण भगवान् महावीर के नव गण और ग्यारह
गणधर थे । गोदास आदि नौ गण का संबंध ग्यारह गणधर से नहीं है परन्तु गोत्री आर्य भद्रबाहु स्थविर के शिष्य
गोदास आदि शिष्य परम्परागत से है ।

(ग) चुलसीइ पंचणउई विउत्तरं सोलसुत्तरसयं च ।

× × ×

× × × ।

एकारसदसनवगं गणाण माणं जिणिंदाणं ॥

—आव० निगा २८८/पूर्वार्ध व २९०/उत्तरार्ध

मलय टीका—भगवत आदि तीर्थंकरस्य चतुरशीतिर्गणा, गणो नामेह एकवाचनाचारक्रियास्थानां
समुदायो, न कुलसमुदाय इति पूर्वसूरयः, अजितस्वामिनः पंचनवतिर्गणाः संभवनाथस्य ह्युत्तरं शतम्
अभिनन्दनस्य षोडशोत्तरं शतं × × × अरिष्ठनेमेरेकादश पार्श्वनाथस्य वर्द्धमान स्वामिनो नव, एतत्
जिनेन्द्राणाम्—ऋषभादीनां जिनानां यथाक्रमं गणानां मानं-परिमाणं ।

गण अर्थात् एक वाचना-आचार-क्रियावाले साधुओं का समुदाय । परन्तु कुल समुदाय को गण नहीं कहा
जाता है । एक समाचारी का पालन करने वाले साधु-समुदाय को गण कहा जाता है ।

भगवान् ऋषभदेव के चौरासी गण थे तथा वर्धमान तीर्थंकर के नौ गण थे ।

(घ) मलय टीका—भगवत आदितीर्थंकरस्य चतुरशीतिर्गणा, गणो नामेह एकवाचनाचारक्रियास्थानां
समुदायो, न कुलसमुदाय इति पूर्वसूरयः × × ×

वर्द्धमानस्वामीनो नव । × × × । सम्प्रति गणधरप्रतिपादनार्थमाह—

एकारस उ गणधरा वीरजिणिंदस्स सेसयणंतु । जावइया जस्स गणा तावइया गणधरा तस्स ॥२९१॥

—आव० निगा २९१

मलय टीका—गणधरा नाम मूलसूत्रकर्तारः, ते च वीरजिनस्य एकादश, गणास्तु नव, द्वयोर्युगल सोरैक-
वाचनाचारक्रियस्थत्वान्, शेषाणां तुजिनवरेन्द्राणां यस्य यावन्तो गणस्तस्य तावन्तो गणधरा, प्रति-
गणधरं भिन्न-भिन्न वाचनाचारक्रियास्थत्वान् ।

भगवान् ऋषभदेव के चौरासी गण थे तथा चौरासी ही गणधर थे । चूंकि भगवान् महावीर को बाद देकर
शेष तीर्थंकरों के जितने गण होते हैं, उतने गणधर होते हैं लेकिन भगवान् महावीर के नौ गण तथा ग्यारह गणधर थे ।

गण अर्थात् एक वाचना-आचार-क्रियास्थान समुदाय होता है, किन्तु कुल समुदाय नहीं। भगवान् महावीर के दो युगलों का एक समान वाचना-आचार-क्रियास्थान था। अतः गण ६ व गणधर ११ थे।

(च) सूत्रितानि गणधरैरंगेभ्यः पूर्वमेव यत्। पूर्वाणित्यभिधीयन्ते तेनैतानि चतुर्दश ॥१७२॥
एवं रचयतां तेषां साप्तानां गणधारिणाम्। परस्परमजायन्त विभिन्नास्तत्र वाचनाः ॥१७३॥
अर्कपिताऽचलभ्रात्रोः श्रीमेतार्यप्रभासयोः। परस्परमजायन्त सदृक्षा एव वाचनाः ॥१७४॥
श्रीवीरनाथस्य गणधरेष्वेकादशस्वपि। द्वयोर्द्वयोर्वाचनयोः साम्यादासन् गणा नव ॥१७५॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

गणधरों ने उत्पाद आदि चतुर्दश पूर्वों की अंगों के पूर्व रचना की फलस्वरूप उसे पूर्व कहा गया है।

इस प्रकार रचना—प्रथम सात गणधरों की सूत्र-वाचना परस्पर अलग-अलग हुई और अर्कपित तथा अचलभ्राता की; मेतार्य और प्रभास की परस्पर एक समान वाचना हुई।

अस्तु श्री वीरप्रभु के ग्यारह गणधर होने पर उनकी दो एक समान वाचना होने के कारण गण (मुनि समुदाय) नौ हुए।

.१७ अंग-पूर्वों की रचना और गणधर :

(क) जाते संघे चतुर्धेवं ध्रौव्योत्पादव्ययात्मिकाम्। इन्द्रभूतिप्रभृतीनां त्रिपदीं व्याहरत् प्रभुः ॥१६५॥
आचारांगं सूत्रकृतं स्थानांगं समवाययुक्। पंचमं भगवत्यंगं ज्ञाताधर्मकथापि च ॥१६६॥
उपासकांतकृदनुत्तरोपपातिकादशाः। प्रश्नव्याकरणं चैव विपाकश्रुतमप्यथ ॥१६७॥
दृष्टिवाद्दश्चेत्यंगानि तत्रिपद्या कृतानि तैः। पूर्वाणि दृष्टिवादान्तः सूत्रितानि चतुर्दश ॥१६८॥
तत्रोत्पादाऽऽग्रायणीये वीर्यप्रवादमित्यपि। अस्तिनास्तिप्रवादं च ज्ञानप्रवादनाम च ॥१६९॥
सत्यप्रवादमात्मप्रवादं कर्मप्रवादयुक्। प्रत्याख्यानं च विद्याप्रवादकल्याणके अपि ॥१७०॥
प्राणावायाऽभिधानं च क्रियाविशालमित्यपि। लोकबिंदुसारमथ पूर्वाण्येवं चतुर्दश ॥१७१॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

इस प्रकार चतुर्विधि संघ की स्थापना होने के बाद भगवान् ने इन्द्रभूति आदि को ध्रौव्य, उत्पादक और व्ययात्मक त्रिपदी का कथन किया। उन्होंने त्रिपदी के द्वारा आचारांग, सूत्रकृतांग, ठाणांग, समवायांग, भगवती, ज्ञाताधर्म कथा, उपासकदशांग, अंतकृद्दशांग, अनुत्तरोपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र और दृष्टिवाद—इन बारह अंगों की रचना की। और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्वों की भी रचना की। उसके नाम इस प्रकार है —

१—उत्पाद, २—आग्रायणीय, ३—वीरप्रवाद, ४—अस्ति-नास्ति प्रवाद, ५—ज्ञानप्रवाद, ६—सत्यप्रवाद, ७—आत्मप्रवाद, ८—कर्म प्रवाद, ९—प्रत्याख्यान प्रवाद, १०—विद्या प्रवाद, ११—कल्याण, १२—प्राणावाय, १३—क्रियाविशाल और १४—लोकबिंदुसार।

(ख) उसभाइ-जिणिंदाणं सव्वेसिं गणहरे य थेरे य । पढमाणुओगभणिया अहभणियो वीरनाहस्स ॥१॥
नमिऊण महावीरं सह सुयदेवीए गणहरे थुणिमो ॥

देसाओ (ऊ)—जणय-जणणी-कम-नामत्थएण सुय-विहिणा—

—धर्मोप० पृ० २२६

.१८ गणधरों का श्रुत :

धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाइं देसया तस्स । सव्वजिणाण गणहरा चोइसपुव्वी उ ते तस्स

—आव० निगा २६२

टीका—धम्मोपायो नाम प्रवचनं, तदन्तरेण धम्मस्यासंभवात्, अथवा पूर्वाणि, तस्य-धम्मोपायस्य देशकाः सर्वजिनानां गणधराः, तेषां मूलसूत्रकर्तृत्वात्, अथवा ये यस्य तीर्थकृतश्चतुर्दशपूर्वविणस्ते धर्मोपायस्य देशकाः, पूरिपूर्णश्रुततया तेषां यथावस्थितवस्तुदेशकत्वात् ।

गणधर मूलसूत्र के कर्ता होते हैं । भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे । ये गणधर धर्मोपाय के देशक होते हैं । धर्म के उपाय का नाम प्रवचन है । उसके बिना धर्म संभव नहीं है । गणधर चतुर्दशपूर्वधारी होते हैं । वे परिपूर्णश्रुत के एक देश को उपदेशित करते हैं ।

.१९ गणधर और तीर्थ

तित्थं च सुहम्माओ निरवञ्जा गणहरा सेसा ।

—आव० निगा ५६५

मलय टीका— × × × तथा तीर्थं सुधर्मात्—पञ्चमात् गणधरात् जातं, यतो निरपत्याः—शिष्य रहिताः शेषाः इन्द्रभृत्यादयो गणधराः ।

चूंकि वर्धमान तीर्थकर के परिनिर्वाण होने के पश्चात् पंचम गणधर सुधर्मा पाट पर विराजमान हुए थे अतः गणधरों में सुधर्मा गणधर से तीर्थ की उत्पत्ति हुई परन्तु शेष गणधरों से नहीं ।

.२० गणधरों की प्रमुखता :

एकारसवि गणहरे पवायए पवयणस्स वंदामि । सव्वं गणहरवंसं वायगवंसं पवयणं च ॥८२॥

—आव० निगा ८२

टीका— एकादशेति संख्यावाचकः शब्दः, अपिः समुच्चये, अनुत्तरं ज्ञानदर्शनादिधर्मगणं धारयन्तीति गणधरास्तान्, प्रकर्षेण प्रधाना आदौ वा वाचकाः प्रवाचकास्तान्, कस्य प्रवाचकाः? प्रवचनस्य—द्वादशाङ्गस्य, वन्दे, एवं तावत् मूलगणधरवन्दनं कृतं, तथा सर्व—निरवशेषं गणधरा—× × × । तीर्थकृतो मूलगणधराश्च वन्द्याः—× × × उच्यते, इह यथा अर्थवक्ता-रोऽर्हन्तो वन्द्याः सूत्रवक्ताःश्च गणधरास्तथा × × × ।

भगवान के गौतमादि ग्यारह गणधर थे । अनुत्तर ज्ञानदर्शनादि धर्मगण को गणधर धारण करते हैं । तीर्थकृत मूल गणधर होते हैं । अरिहंत भगवान अर्थ को कहते हैं उसे सूत्ररूप में गणधर गूँथते हैं ।

.२१ गणधर और वर्षावास :

जहा णं समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसइराए मासे वीइक्कंते (सत्तरिए राइंदिएहिं सेसेहिं) वासावासं पज्जोसवेइ तहाणं गणहरा वि वासाणं सवीसइराए मासे विइक्कंते वासावासं पज्जोसविति ।

—सम० सम ७०/सू १, कप्प० सू २२६/पृ० ६६

जिस प्रकार श्रमण भगवान महावीर वर्षा ऋतु के बीस दिन-रात सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास किया उसी प्रकार गणधरोंने भी वर्षाऋतु के बीस दिन-रात सहित एक मास व्यतीत होने पर वर्षावास किये ।

.२२ भगवान के गणधरों का परिनिर्वाण :

सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोइसपुव्विणो समत्तगणिपिडगधरा रायगिहे नगरे मासिएणं भत्तिएणं अपाणएणं कालगया जाव सव्वदुक्कबप्पहीणा ।

थेरे इंदभुई थेरे अज्जसुहम्मएसिद्धिगए महावीरे पच्छा दोन्नि वि परिनिव्वुया ।

—कप्प० सू० २०३

श्रमण भगवान महावीर के इन्द्रभूति आदि ग्यारह गणधर द्वादीशांगी के ज्ञाता थे और चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता थे और समग्र गणिपिटक के धारक थे ।

वे सर्व गणधर राजगृह नगर में एक महिना का अनशन कर कालधर्म को प्राप्त हुए यावत् सर्व दुःखों का अन्त किया ।

नोट—भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद स्थविर इन्द्रभूति तथा आर्य सुधर्मा दोनों गणधर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए ।

.२३ भगवान् के अंतिम समय-काल में—सिर्फ दो गणधर थे

यातेषु गौतमसुधर्ममुनीन्द्रवर्जं । मोक्षश्रियं गणधरेषु नवस्वथोच्चैः ॥

स्वामी सुरासुरनभश्चरसेव्यमान । पादो जगाम भगवान्नगरीमपापाम् ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १२/श्लो ४४०

वर्धमान जब अंतिमकाल में अवापा नगरी पधारे थे उस समय गौतम और सुधर्म गणधर के अतिरिक्त अन्य गणधर मौजूद प्राप्त कर चुके थे ।

.२४ गणधरों की जन्मभूमि

मगहा गुब्बरगामे जाया तिन्नेव गोयमसगुत्ता । कुल्लागसन्निवेशे जाउ वियत्तो सुहम्मो अ ॥६४३॥
मोरीअसंनिवेशे दो भायर मंडि-मोरिआ जाया । अयलो अ कोसल्लाए मिहिल्लाए अकंपिओ जाओ ॥६४४॥
तुंगीअसंनिवेशे मेअज्जो वच्छभूमिए जाओ । भगवंपि य पभासो रायगिहे गणहरो जाओ ॥६४५॥

—आव० निगा ६४३ से ६४५ = भाग-२

मलय टीका—मगधेषु जनपदेषु गोब्बरग्रामे जातास्त्रय एवाद्या गणधराः, कथम्भूता एते त्रयोऽपीत्याह—
'गौतमसगोत्राः' सह गोत्रं येषां ते सगोत्राः गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्राः,
गौतमाभिधगोत्रयुक्ता इत्यर्थः, तथाकोल्लाकसन्निवेशे जातोऽव्यक्तः सुधम्मश्च, मौर्यसन्निवेशे
द्वौ भ्रातरौ मण्डिकमौर्यौ जातौ, अचलश्च कोशलायां मिथिलायामकम्पिको जात इति,
तुङ्गिके सन्निवेशे, वत्सभूमौ कौशाम्बीविषये इत्यर्थः, मेतार्यो जातः, भगवानपि च
प्रभासो राजगृहे गणधरो जातः ।

इन्द्रभूति, अग्निभूति तथा वायुभूति—ये तीनों गणधर सहोदर भाई थे तथा जन्मभूमि-गोब्बर ग्राम थी । व्यक्त
और सुधर्म—ये दो गणधर की जन्मभूमि—कालाकसन्निवेश थी । मंडित और मौर्यपुत्र—ये दो गणधर की जन्मभूमि
मौर्यसन्निवेश थी । अवजभ्राता को जन्मभूमि कौशल, अकम्पित गणधर को जन्मभूमि—मिथिला थी । मेतार्य तथा
प्रभास गणधर की जन्मभूमि क्रमशः तुंगिकासन्निवेश, राजगृह थी ।

.२५ गणधर और काल—नक्षत्रचंद्र-योग

(जन्म के समय—गणधरों का—नक्षत्रचंद्र-योग)

जेट्टा कत्तिय साई सवणो हत्थुत्तरा महाओअ । रोहिणि उत्तरसाढा मिगसिर तह अरिसणी पुस्सो ॥६४६॥

—आव० निगा ६४६

मलय टीका—इन्द्रभूतेर्जन्मनक्षत्रं ज्येष्ठा अग्निभूतेः कृत्तिकाः वायुभूते स्वातिर्व्यक्तस्य श्रवणः सुधर्मस्य
हस्त उत्तरो यासां ता हस्तोत्तरा उत्तराफाल्गुन्य इत्यर्थः, मण्डिकस्यमघाः, मौर्यस्यरोहिणी,
अकम्पिकस्य उत्तराषाढाः, अचलभ्रातुः मृगशिरः मेतार्यस्य अश्विनी, प्रभासस्य पुष्यः ।

इन्द्रभूति आदि गणधरों के जन्म के समय इस प्रकार नक्षत्र चंद्र का योग रहा है ।

१—इन्द्रभूति के जन्म के समय ज्येष्ठ नक्षत्र चंद्र का योग ।

२—अग्निभूति ,, कृत्तिका ,,

३—वायुभूति ,, स्वाति ,,

४—व्यक्त ,, श्रवण ,,

| | | |
|--|---|------------|
| ५—सुधर्म के जन्म के समय हस्तोत्तरा-उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र चन्द्र का योग | | |
| ६—मंडित | „ | मघा |
| ७—मौर्यपुत्र | „ | रोहिणी |
| ८—अकंपित | „ | उत्तराषाढा |
| ९—अचलभ्राता | „ | मृगशिर |
| १०—मेतार्य | „ | अश्विनी |
| ११—प्रभास | „ | पुष्य |

.२६ गणधरों के पिता के नाम

वसुभूर्दे धनमित्तो धम्मिल्ल धनदेव मोरिए च्चेव । देवे वसू अ दत्ते बले अ पिअरो गणहराणं ॥६४७॥

—अ.व० निगा ६४७

मलय टीका—आद्यानां त्रयाणां गणभृतां पिता वसुभूतिः, व्यक्तस्य धनमित्रः, सुधर्मस्य धम्मिल्लः, मंडिकस्य धनदेवः, मौर्यस्य मौर्यः अकम्पिकस्य देवः, अचलभ्रतुर्वसुः, मेतार्यस्य दत्तः, प्रभासस्य बलः, एवं पितरो गणधराणां भवन्ति ।

इन्द्रभूति, अग्निभूति वायुभूति—इन तीनों आद्य गणधरों का पिता के नाम वसुभूति था, व्यक्त गणधर के पिता का नाम धनमित्र, सुधर्म गणधर के पिता के नाम धम्मिल्ल, मंडिक के पिता का नाम धनदेव, मौर्यपुत्र के पिता का नाम मौर्य, अकंपित के पिता का नाम देव, अचलभ्राता के पिता का नाम वसु, मेतार्य के पिता का नाम दत्त तथा प्रभास गणधर के पिता नाम बल था ।

.२७ गणधरों की माता के नाम

पुह्वी अ वारुणी भद्रिला य विजयदेवा तहा जयंती य । नंदा य वरुणदेवा अईभद्दा य मायरो ॥६४८॥

—अ.व० निगा ६४८

मलय टीका—आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी, व्यक्तस्य वारुणी. सुधर्मस्य भद्रिला, मण्डिक-मौर्यपुत्राणां विजयदेवा पितृभेदेन, धनदेवे, पञ्चत्वमुपागते मण्डिकपुत्रसहिता मौर्येण धृता ततो मौर्योजाता, अविरोधश्चतस्मिन् देशे इत्यदूषणं, जयन्ती माता अकम्पिकस्य, नन्दा अचलभ्रातुः, वरुणदेवा मेतार्यस्य अतिभद्दा प्रभासस्य ।

आद्य तीन गणधर—इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति की माता का नाम पृथ्वी, व्यक्त की माता का नाम वारुणी, सुधर्म की माता का नाम भद्रिला, मंडिक तथा मौर्यपुत्र की माता का नाम विजयदेवा लेकिन पिता का भेद है। मंडिक के पिता धनदेव का स्वर्गवास होने के बाद मंडिक पुत्र सहित विजयदेवा को मौर्य ने ग्रहण किया। उसके मौर्यपुत्र उत्पन्न हुआ चूंकि उस देश में अविरोध था। अकंपित की माता का नाम जयन्ती, अचलभ्राता की माता का नाम नन्दा, मेतार्य की माता का नाम वरुणदेवा तथा प्रभास की माता का नाम अतिभद्दा था ।

.२८ गणधरों का गोत्र

तिन्नि य गोयमगुत्ता भारद्वा अग्निवेश वासिष्ठा । कासव गोअम हारिअकोडिन्नदुग्गं च गुत्ताइं ॥६४६॥

—आव० निगा ६४६

मलय टीका—त्रय आद्या गणभृतो गौतमगोत्रा, भारद्वाजो व्यक्तः, अग्निवेश्यायनः सुधर्मः, वासिष्ठो मण्डिकः, काश्यपो मौर्यिकः, गौतमोऽकम्पिकः हारितोऽअचलभ्राता, कौन्दिन्यौ मेत्रार्य प्रभासश्च ।

आद्य इन्द्रभूति आदि तीन गणधरों—का गोत्र-गौतम गोत्र था । व्यक्त गणधर का गोत्र-भारद्वाज, सुधर्म का गोत्र-अग्निवेश्यायन मंडिक का वशिष्ठ, मौर्यपुत्र का काश्यप, अकम्पित का गौतम, अचलभ्राता का हारित, मेत्रार्य तथा प्रभास का गोत्र कौन्दिन्य था ।

.२९ गणधरों की अगारपर्याय - गृहस्थपर्याय

अधुना अगारपर्यायद्वारप्रतिपादनार्थमाह

पन्ना छयालीसा बायाला होइ पन्न पन्ना य ।

तेवन्न पंचसट्ठी अडयालीसा य छयाला ॥६५०॥

छत्तीसा सोलसगं अगारवासो भवे गणहराणं ।

—आव० निगा ६५०-५१ पूर्वार्ध

मलय टीका—इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पंचाशद्वर्षाणि, अग्निभूतेः षट्चत्वारिंशद् वायुभूतेर्द्वाचत्वारिंशत् । व्यक्तस्य पंचाशत्, सुधर्मणः पञ्चाशत्, मण्डिकस्य त्रिपंचाशत्, मौर्यस्य पंचषष्टिः, अकम्पितस्याष्टाचत्वारिंशत्, अचलभ्रातुः षट्चत्वारिंशत्, मेत्रार्यस्य षट्त्रिंशत्, प्रभासस्य षोडश ।

इन्द्रभूति पचास वर्ष, अग्निभूति छयालीस वर्ष, वायुभूति बयालीस वर्ष, व्यक्त पचास वर्ष, सुधर्मा पचास वर्ष मंडिक त्रेपन वर्ष, मौर्यपुत्र पैंसठ वर्ष, अकम्पित अड़तालीस वर्ष, अचलभ्राता छयालीस वर्ष, मेत्रार्य छत्तीस वर्ष और प्रभास सोलह वर्ष गृहस्थ पर्याय में रहे ।

.३० गणधरों का छउमत्थकाल

छउमत्थं परियागं अहक्कमं कित्तइस्सामि ॥६५१॥

तीसा वारस दसगं वारस बायाल चउदसदुगं च ।

नवगं वारस दस अट्टगं च छउमत्थपरिआओ ॥६५२॥

—आव० निगा ६५१-६५२/भाग २

मलय टीका— अत ऊर्ध्वं छद्मस्थपर्यायं यथाक्रमं कीर्तयिष्यामि ॥ प्रतिज्ञातमेवाह—

इन्द्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि, अग्निभूतेर्द्वादश, वायुभूतेर्वर्षदशकं, व्यक्तस्यद्वादश सुधर्मणो द्वाचत्वारिंशत् मण्डिकस्यचतुर्दश मौर्यस्यापि चतुर्दश अकम्पितस्यवर्षानवकं अचलभ्रातुर्द्वादश वर्षाणि मेतार्यस्य दश प्रभासस्य वर्षाष्टकमेषामेव यथाक्रमं छद्मस्थपर्यायः ।

ग्यारह गणधरों की छद्मस्थ पर्याय इस प्रकार थी, यथा—

१—इन्द्रभूति ३० वर्ष, २—अग्निभूति १२ वर्ष, ३—वायुभूति १० वर्ष, ४—व्यक्त १२ वर्ष, ५—सुधर्मा ४२ वर्ष, ६—मंडित १४ वर्ष, ७—मौर्यपुत्र १४ वर्ष, ८—अकंपित ९ वर्ष, ९—अचलभ्राता १२ वर्ष, १०—मेतार्य १० वर्ष तथा ११—प्रभास ८ वर्ष छद्मस्थ पर्याय में रहे ।

.३१ गणधरों का केवलिकाल-जिनपर्याय

केवलिपर्यायपरिज्ञानोपायमाह—

छ्दमस्थप्परियागं अगारवासं च बुक्कसित्ताणं । सव्वाउअस्स सेसं जिनपरियागं वियाणाहि ॥६५३॥
बरस सोलस अट्टारसेव अट्टारसेव अट्टेव । सोलस सोलसइकवीस चउदस सोले अ सोले अ ॥६५४॥

—आव० भाग २/निगा ६५३-५४

मलय टीका— छद्मस्थपर्यायमगारवासं च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेषं तत् जिनपर्यायं विजानीहि, सचायं जिनपर्यायः इन्द्रभूतेः केवलिपर्यायो द्वादशवर्षाणि, अग्निभूतेः षोडशः, वायुभूतेर-ष्टादश, व्यक्तस्याष्टादश, सुधर्मणोऽष्टौ, मण्डिकस्य षोडश, मौर्यपुत्रस्य षोडश, अकम्पितस्य एकविंशतिः, अचलभ्रातुश्चतुर्दशः, मेतार्यस्य षोडश, प्रभासस्य षोडश ।

गणधरों की सर्वायु में छद्मस्थ पर्याय और अगारवास को घटाने से जिन पर्याय—केवलि काल जानना चाहिए ।

इन्द्रभूति की जिन पर्याय बारह वर्ष, अग्निभूति की सोलह वर्ष, वायुभूति की अठारहवर्ष, व्यक्त की अठारह वर्ष, सुधर्मा की आठ वर्ष, मंडित की सोलह वर्ष, अकंपित की इक्कीस वर्ष, अचलभ्राता की चौदह वर्ष, मेतार्य की सोलह वर्ष तथा प्रभास की सोलह वर्ष थी ।

.३२ गणधरों की आयु-सर्वायु

सम्प्रति सर्वायुष्कमाह—

बाणउई चउहतरे सत्तरि तत्तोभवे असीई य । एगं च सयं तत्तो तेसीई पंचनउई आ ॥६५५॥

अट्टत्तरि च वासा तत्तो वावत्तरि च वासाइं । वावट्टी चत्ता खलु सव्वगणहराउअं एअं ॥६५६॥

—आव० भाग २/निगा ६५५-५६

मलय टीका—इन्द्रभूतेः सर्वायुर्द्विनवतिर्वर्षाणि, अग्निभूतेश्चतुः सप्ततिः, वायुभूतेः सप्ततिः व्यक्तस्यअशीतिः, सुधर्मास्य एकं वर्णशतं मंडिकस्य त्र्यशीतिः, मौर्यपुत्रस्य पंचनवतिर्वर्षाणि, अकम्पिकस्याष्ट-सप्ततिः, अचलभ्रातुर्द्वासप्ततिः, मेतार्यस्य द्वाषष्टिः, प्रभासस्य चत्वारिंशन्, एवं क्रमेण गणधराणां सर्वायुष्कमिति ।

ग्यारह गणधरों की सर्वायु क्रमशः निम्न प्रकार थी —

इन्द्रभूति की सर्वायु बाणवें वर्ष, अग्निभूति की चौहत्तर वर्ष, वायुभूति की सत्तर वर्ष, व्यक्त की अस्सी वर्ष सुधर्मा की एक सौ वर्ष, मंडित की त्र्यासी वर्ष, मौर्यपुत्र की पंचानवें वर्ष, अकम्पित की अठहत्तर वर्ष, अचलभ्राता की बहत्तर वर्ष, मेतार्य की बासठ वर्ष तथा प्रभास की चालीस वर्ष थी ।

.३३ सब गणधरों के शरीर के संहनन और संस्थान

वज्रऋषभनाराच संहनन तथा समचतुरस्र संस्थान युक्त था ।

वज्ररिसहस्रसंघयणा समचउरसा य संठाणे ।

—आव० निगा ६५६

मलय टीका—सर्व एव गणधरा— × × × तथा वज्रर्षभसंहननाः समचतुरस्राश्च संस्थाने—संस्थानविषये ।

इन्द्रभूति आदि सब गणधर समचतुरस्र संस्थान तथा वज्रऋषभनाराच संहनन के धारक थे—युक्त थे ।

.३४ सब गणधर—लब्धि सम्पन्न थे ।

× × × सव्वेऽवि य सव्वलद्धिसम्पन्ना ।

—आव० निगा ६५६/पूर्वार्ध—

मलय टीका—सर्वेऽपि सर्वलब्धिसम्पन्ना—आमर्षोपध्याद्यशेषलब्धिसम्पन्नाः ।

सर्व गणधर—सर्वलब्धि—आमर्षोपधि आदि अशेष लब्धि संपन्न थे ।

.३५ परिनिर्वाण के समय तप

मासं पाओवगया सव्वेऽवि य सव्वलद्धिसम्पन्ना ।

—आव० निगा ६५६

मलय टीका—सर्व एव गणधरा मासं यावत् पादोपगमनगताः ।

परिनिर्वाण के समय इन्द्रभूति आदि सर्व गणधरों ने एक मास का तप किया—पादोपगमन संधारा ग्रहण किया ।

.३६ गणधरों की श्रुत साधना—आगम अध्ययन

आगमद्वारप्रतिपादनार्थमाह—

सव्वे य साहणा जञ्जा, सव्वे अज्जावयाविऊ । सव्वे दुवालसंगीआ, सव्वे चउदसपुव्विणो ॥६५७॥

—आव० निगा ६५७/भाग २

मलय टीका—सर्वे ब्राह्मणा जात्याः—प्रशस्तजातिकुलोत्पन्नाः, तथा सर्वेऽध्यापका-उपाध्याया विदन्तीति विदो—विद्वांसः, चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनात्, तानि चतुर्दश विद्यास्थानान्यमूनिः—
“अङ्गानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च, विद्या ह्येताश्चतुर्दशः ॥१॥”

तत्राङ्गानि षट्, तद्यथा—शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं चेति, एष गृहस्थागम उक्तः, लोकोत्तरागमप्रतिपादनार्थमाह—

सर्वे द्वादशाङ्गिनः, तत्र स्वल्पेनापि द्वादशाङ्गाध्ययनेन द्वादशाङ्गिनोऽभिधीयन्ते ततः सम्पूर्णद्वादशाङ्गज्ञापनार्थमाह—सर्वे चतुर्दशपूर्विणः ॥

इन्द्रभूति आदि सब गणधर ब्राह्मण थे—जिन का कूल प्रशस्त था । सब अध्यापक-उपाध्याय थे, विद्वान थे । चतुर्दश विद्यास्थान के पारगत थे ।

लोकोत्तर आगम में सब गणधर द्वादशांगी के ज्ञाता थे—सब गणधरों ने स्वल्परूप से द्वादशांगी का अध्ययन किया । इसके बाद सम्पूर्ण द्वादशांगी के—चतुर्दश पूर्व के ज्ञाता थे ।

३७ भगवान् के परिनिर्वाण के समय—इन्द्रभूति और सुधर्म गणधर थे ।

परिनिवृत्तुया गणहरा जीवन्ते नायए नव जणा उ । इंदभूई सुधम्मो अ रायगिहे निव्वुए वीरे ॥६५८॥
—आव० निगा ६५८

मलय टीका—जीवति ज्ञातके-ज्ञातकुलोत्पन्ने वीरे भगवति नव जनाः—इन्द्रभूतिसुधर्मस्वामिवर्जाः परिनिवृत्ताः, इन्द्रभूतिः सुधर्मश्च स्वामिनी वीरे निवृत्ते परिनिवृत्तः, तत्रापि प्रथममिन्द्रभूतिः पश्चात्सुधर्मस्वामी, यश्च यश्च कालं करोति स स सुधर्मस्वामिनो गणं ददाति, तेषां तथाविधसन्तानप्रवृत्तिहेतुभूताचार्यासम्भवात्, सुधर्मस्वामी तु कालं कुर्वन् निजशिष्याय जम्बूस्वामिने गणं समर्पितवान् ।

श्रमण भगवान महावीर के समय में ही गौतम तथा सुधर्म गणधर को छोड़कर अवशेष गणधर का परिनिर्वाण हो चुका था । भगवान के परिनिर्वाण के बाद इन्द्रभूति तथा सुधर्म गणधर का परिनिर्वाण हुआ । फिर भी पहले इन्द्रभूति का तथा बाद में सुधर्म गणधर का परिनिर्वाण हुआ ।

जैसे जैसे काल गया—वैसे वैसे सुधर्म स्वामी गण देते रहे । सुधर्म स्वामी ने काल निकट जानकर जंबू स्वामी को गण का भार दिया ।

*४१ प्रथम इन्द्रभूति (गौतम) गणधर

१ गौतम गणधर और सौधर्म इन्द्र का प्रश्न :

(क)

प्रस्तावेऽस्मिन् विलोक्याशु गणान् द्वादशसंख्यकान् । स्वस्वकोष्ठेषु चासीनान् सद्धर्मश्रवणोत्सुकान् ॥७८॥
यामत्रये गतेऽप्यस्यार्हतो न ध्वनिनिर्गमः । हेतुना केन जायेतादीन्द्रो हृदीत्यश्चिन्तयत् ॥७९॥
ततः स्वावधिना ज्ञात्वा गणेशाचरणाक्षमम् । मुनिवृन्दं पुनश्चेत्थं देवेन्द्रश्चिन्तरेत्सुधीः ॥८०॥
अहो मध्ये मुनीशानां मुनीन्द्रः कोऽपि तादृशः । नास्ति योऽर्हन्मुखोद्भूतान् विश्वतत्त्वार्थं संचयान् ॥८१॥
श्रुत्वा सुकृत्करोत्यत्र द्वादशाङ्गश्रुतात्मनाम् । संपूर्णां रचनां शीघ्रं योग्यो गणभृतः पदे ॥८२॥
विचिन्त्येत्यनुविज्ञाय गौतमं विप्रमूर्जितम् । गणेन्द्रपदयोग्यं च गौतमः स्वयभूषणम् ॥८३॥
केनोपायेन सोऽप्यत्रागमिष्यति द्विजोत्तमः । इति चिन्तां चकारोच्चैः सौधर्मेन्द्रः प्रसन्नधीः ॥८४॥
अहो एष मयोपायो ज्ञात आनयनं प्रति । विद्यादिगर्वितस्यास्य किञ्चित्पृच्छामि दुर्घटम् ॥८५॥
काव्यादिमङ्क्षु गत्वहं पुरं ब्रह्माभिर्धं किल । तदज्ञानात्स वादार्थी स्वयमत्रागमिष्यति ॥८६॥
इत्यालोच्य हृदाधीमान् यष्टिकान्वित सत्करम् । बृद्धब्राह्मणवेषं स कृत्वा तन्निकटं ययौ ॥८७॥
विद्यामदोद्धतं वीक्ष्य गौतमं प्रत्युवाच सः । विप्रोत्तमात्र विद्वांस्त्वं मत्काव्यैकं विचारय ॥८८॥
सद्गुरुश्रीवर्धमानाख्यो मौनालम्बी स विद्यते । ब्रूते मया समं नाहं काव्यार्थार्थी त्विहागतः ॥८९॥
काव्यार्थो जात्र जायेताजीविका मम पुष्कला । उपकारश्च भव्यानां तव ख्यातिर्भविष्यति ॥९०॥
—वीरवर्धच० अधि १५/श्लो ७८ से ९०

इसी अवसर में सम्यक् धर्म को सुनने के लिए उत्सुक और अपने-अपने कोठों में बैठे हुए बारह गणों की शीघ्र देखकर तथा तीन प्रहर काल बीत जाने पर भी इन अर्हन्तदेव (वर्धमान तीर्थंकर) की दिव्यध्वनि किस कारण से नहीं निकल रही है, इस प्रकार से इन्द्र ने अपने हृदय में चिन्तवन किया ॥७८-७९॥

तब अपने अवधि ज्ञान से बुद्धिमान इन्द्र ने गणधर पद का आचरण करने में असमर्थ मुनिवृद् को जानकर इस प्रकार विचार किया ॥८०॥

अहो, इन मुनिश्वरों के मध्य में ऐसा कोई भी मुनीन्द्र नहीं है, जो कि अर्हन्मुख कमल-विनिर्गत सर्व तत्त्वार्थ संचय को एक बार सुनकर द्वादशांगश्रुत की सम्पूर्ण रचना को शीघ्र कर सके और गणधर पद के योग्य हो ॥८१-८२॥

ऐसा विचार कर गौतम गोत्र से विभूषित गौतमविप्र को उत्तम एवं गणधर पद के योग्य जानकर किस उपाय से वह द्विजोत्तम गौतम यहाँ पर आयेगा, इस प्रकार प्रसन्नबुद्धि सौधर्मेन्द्र ने गंभीरतापूर्वक चिन्तवन किया ॥८३-८४॥

कुछ देर तक चिन्तवन करने के पश्चात् वह मन ही मन बोला—अहो ! उसके लाने के लिए मैंने यह उपाय जान लिया है कि विद्या आदि गर्व से युक्त उसउं कुछ दुर्घट (अति कठिन) काव्यादि के अर्थ को शीघ्र उस-ब्राह्मण के आगे जाकर पूछूँ ? उस काव्य के अर्थ को नहीं जानने से वह वाद (शास्त्रार्थ) का इच्छुक होकर स्वयं ही यहाँ पर आ जायेगा ॥८५-८६॥

हृदय में ऐसा विचारकर वह बुद्धिमान सौधर्मन्द्र लकड़ी हाथ में लिये हुए वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाकर के उस गौतम के निकट गया ॥८७॥

विद्या के मद से उद्धत गौतम को देखकर उसने उनसे कहा—हे विप्रोत्तम ! आप विद्वान् हैं, अतः मेरे इस एक काव्य के अर्थ का विचार करे ॥८८॥

मेरे गुरु श्री वर्धमान स्वामी है, वे इस समय मौन धारण करके विराज रहे हैं और मेरे साथ नहीं बोल रहे हैं । अतः काव्य के अर्थ को जानने की इच्छा वाला होकर मैं आपके पास यहाँ आया हूँ ॥८९॥

काव्य का अर्थ जान लेने से यहाँ मेरी बहुत अच्छी आजीविका हो जायेगी—भव्यजनों का उपकार भी होगा और आपकी ख्याति भी होगी ॥९०॥

.२ गणधर गौतम का भगवान् महावीर के पास आगमन :

(क) विचिन्त्येति स कालादिलब्धिप्रेरित आह वै । वादं विप्रं त्वया सार्धं न कुर्वे त्वद्गुरु विना ॥११४॥
 इत्युक्त्वासौ सभामध्ये शिष्यैः पंचशतैर्वृतः । भातृभ्यां च ततो वेगान्निर्णयौ सन्मतिं प्रति ॥११५॥
 क्रमात्सुधीर्बजन् मार्गं हृदये चिन्तयेदिति । असाध्योऽयमहो विप्रो गुरुः साध्योऽस्य मे कथम् ॥११६॥
 अथवा महती योगाद्भावि यत्तन्ममास्तु भोः । किन्तु वृद्धिर्न हानिर्मे श्रीवर्धमानसंश्रयान् ॥११७॥
 इत्थं स चिन्तयन् दूरान्मानस्तंभान्महोन्नतान् । ददर्श पुण्यपाकेन जगदाश्चर्यकारिणः ॥११८॥
 तेषां दर्शनवज्रेण मानाद्रिः शतचूर्णताम् । अगात्तस्य शुभो भावः प्रादुरासीच्च सार्धवः ॥११९॥
 ततोऽतिशुद्धभावेन पश्यन् साश्चर्यमानसः । विभूतिं महतीं दिव्यां प्राविशत्तत्सभां द्विजः ॥१२०॥
 तत्रान्तःस्थं जगन्नाथं विश्वधिगणवेष्टितम् । दिव्यविष्टरमासीनमपश्यत्स द्विजोत्तमः ॥१२१॥
 ततोऽसौ परया भक्त्या त्रिः परीत्य जगद्गुरुम् । स्वकरौ कुङ्मलीकृत्य नत्वा तच्चरणांस्तुजौ ॥१२२॥
 मूर्ध्ना भक्तिभरेणैव नामाद्यैः पङ्क्तिभिः परैः । सार्थकैः स्तुतिनिक्षेपैः स्वसिद्धयै स्तोतुमुद्ययौ ॥१२३॥
 —वीरवर्धच० अधि १५/श्लो ११४ से १२३

इस प्रकार विचार कर और काललब्धि से प्रेरित हुआ वह गौतम बोला—हे विप्र, निश्चय से तेरे गुरु के बिना मैं तेरे साथ वाद-विवाद नहीं करता हूँ । अर्थात् तेरे गुरु के साथ ही बात करूँगा ॥११४॥

इस प्रकार सभा के मध्य में कहकर अपने पांच सौ शिष्यों और दोनों भाइयों से घिरा हुआ वह गौतम विप्र सन्मति प्रभु के समीप जाने के लिए वहाँ से वेगपूर्वक निकला ॥११५॥

वह बुद्धिमान क्रमशः मार्ग में जाते हुए हृदय में इस प्रकार सोचने लगा कि जब यह बूढ़ा ब्राह्मण ही असाध्य है तब इसके गुरु साध्य कैसे हो सकता है ॥११६॥

अथवा महापुरुष के वेग से जो कुछ होनेवाला है, वह मेरे होवे । किन्तु श्री वर्धमान स्वामी के आश्रम में मेरी वृद्धि ही होगी, हानि नहीं हो सकती है ॥११७॥

इस प्रकार चिन्तन करते और जाते हुए गौतमने दूसरे ही संसारमें आश्चर्य करनेवाले अति उत्तम मान स्तंभों को पुण्योदय से देखा ॥११८॥

उत्तके दर्मनरूप वज्र से उसका मानसरूपी पर्वत शतधा चूर्ण-चूर्ण हो गया और उसके हृदय में शुभ मृदुभाव उत्पन्न हुआ ॥११९॥

तब वह गौतम आश्चर्य युक्त चित्तवाला होकर अति शुद्ध भाव से महान् विभूति को देखता हुआ उस समवसरण सभा में प्रविष्ट हुआ। वहाँ पर सभा के मध्य में स्थित, समस्त ऋद्धिगण से वेष्टित और दिव्य सिंहासन पर विराजमान श्री वर्धमान स्वामी को उस द्विजोत्तम गौतम ने देखा।

तब वह परम भक्ति से जगद्-गुरु की तीन प्रदक्षिणा देकर और अपने दोनों हाथों को जोड़कर उनके चरण-कमलों को मस्तक से नमस्कार कर भक्तिभार से अवनत हो नाम, स्थापनादि छह प्रकार के सार्थक स्तुति-निक्षेपों के अर्थ स्तुति करने के लिए उद्यत हुआ।

(ख) अथ दिव्यध्वनेर्हेतुः कोभावीत्युपयोगवान् । तृतीयज्ञाननेत्रेण ज्ञात्वा मां परितुष्टवान् ॥३५६॥
तदैवागत्य मद् ग्रामं गौतमाख्यं शचीपतिः । तत्र गौतमगोत्रोत्थमिद्रभूतिं द्विजोत्तमम् ॥३५७॥
महाभिमानमादित्यविमानादित्यभास्वरम् । शेषैः पुण्यैः समुत्पन्नं वेदवेदांगवेदिनम् ॥३५८॥
दृष्ट्वा केनाप्युपादेन समानीयान्तिकं विभोः । स्वपिपृच्छिवितं जीवभावं दृच्छेत्यचोदयत् ॥३५९॥
अस्ति किं नास्ति वा जीवस्तत्स्वरूपं निरूप्यताम् । इत्यप्राक्षमतो मह्यं भगवान् भव्यवत्सलः ॥३६०॥
अस्ति जीवः स चोपात्तदेहमात्रः सदादिभिः । किमादिभिश्च निर्देश्यो नोत्पन्नो न विनक्ष्यति ॥३६१॥
दिव्यरूपेण पर्यायैः परिणामी प्रतिक्षणम् । चैतन्यलक्षणः कर्त्ता भोक्ता सर्वैकदेशवित् ॥३६२॥
इति जीवस्य यथात्म्यं युक्त्या व्यक्तं न्यवेदयत् । द्रव्यहेतुं विधयास्य वचः कालादिसाधनः ॥३६३॥
विनेयोऽहं कृतश्राद्धो जीततत्त्वविनिश्चये । सौधर्मदूजितः पंचशतब्राह्मणसूनुभिः ॥३६४॥
श्रीवर्धमानमानस्य संयमं प्रतिपन्नवान् । तदैव मे समुत्पन्नाः परिणमविशेषतः ॥३६५॥

—उत्तपु० पर्व ७४/श्लो ३५६ से ३६५

जब वर्धमान तीर्थंकर सर्वज्ञ हो गये तब इसके बाद इन्द्रने भगवान् की दिव्यध्वनि का कारण क्या होना चाहिए इस बात का विचार किया और अर्वाधि ज्ञान से मुझे (गौतम-इन्द्रभूति) को इसका कारण जानकर बहुत ही संतुष्ट हुआ। वह उसी समय मेरे गांव आया। मैं वहाँ पर गौतम गोत्रीय नाम का उत्तम ब्राह्मण था, महाभिमानो था, आदित्य नामक विमान से आकर शेष बचे हुए पुण्य के द्वारा वहाँ उत्पन्न हुआ था। मेरा शरीर अतिशय देदीप्यमान था। और मैं वेद-वेदांग का जानकार था।

मुझे देखकर वह इन्द्र किसी उपाय से भगवान् के पास ले आया और प्रेरणा करने लगा कि तुम जीव तत्त्व के विषय में जो कुछ पूछना चाहते थे—पूछ लो।

इन्द्र की बात सुनकर मैंने भगवान् से पूछा कि हे भगवान् ! जीव नाम का कोई पदार्थ है या नहीं ? उसका स्वरूप कहिए। इसके उत्तर में भव्यवत्सल भगवान् कहने लगे कि जीव नाम का पदार्थ है और वह ग्रहण किये हुए शरीर के प्रमाण है, सत्संख्यादि सदादिक और निर्देश आदि किमादिक में उसका स्वरूप कहा जाता है। वह द्रव्य रूप से न कभी उत्पन्न हुआ है और न कभी नष्ट होगा किन्तु पर्याय रूप से प्रतिक्षण परिणमन करता है। चेतना उसका लक्षण है, वह कर्त्ता है, भोक्ता है और पदार्थों के एक देश तथा सर्व देश का जानकर है

इस प्रकार भगवान् से युक्तिपूर्वक जीव तत्त्व का स्पष्ट स्वरूप कहा। भगवान् के वचन को द्रव्य हेतु मानकर तथा काल लब्धि आदि की कारण सामग्री मिलने पर मुझे जीव तत्त्व का निश्चय हो गया और मैंने पाँच सौ ब्राह्मणों के साथ श्री वर्धमान स्वामी को नमस्कार कर संयम धारण कर लिया।

परिणामों की विशेष शुद्धि होने से मुझे उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं।

(ग) हरे विद्वरे ठिउ सहइ जिणेसरु, भामंडल जुइ णिजिय णेसरु ।

× × ×

एत्थंतरे णिण्णासिय मारवे, अण उप्पज्जमाण दिव्वारवे ।

घत्ता—तहो जिणणाहहो अवहिए मुणेवि गोत्तम-पासे तुरंतउ ।

गउ सुरवइ गणियाणण लइवि मउड-मणीहिं फुरंतउ ॥

—वडूढच० संधि १०/कड १

भामंडल की झूति से सूर्य को भी जीत लेनेवाले जिनेश्वर सिंहासन पर ही बैठे हुए सुशोभित हो रहे थे। किन्तु उस समय जिननाथ का मिथ्यात्व एवं भार-कामनाशक दिव्यध्वनि नहीं ग्विर रही थी।

तब इन्द्र ने अपने अवधि ज्ञान से जाना और गणितज्ञ-देवज-ब्राह्मण का वेष बनाकर वह तुरंत गौतम के पास पहुँचा।

तहिं अवलोएविणु गुण-गणहरु, गोत्तमु गोत्तणहंगण-ससहरु ।

विप्प वडूव रूवेण सुरेदेँ, मेरुमहीहरे ण्हविय जिणेदेँ ।

सइँ वासवेण पुराणिउ तित्तहे, इंदभूइ जिणु सामिउँ जेत्तहे ।

माणथंभु अवलोएवि दूरहो, विहड्डिउ माणुत्तमोहु व सुरहो ।

पणय-सिरेण तेण गय-माणेँ. गोत्तमेण महियले असमाणेँ ।

पुच्छिउ जीव-ट्टिदिपरमेसरु, पयणिय-परमाणंदु जिणेसह ।

सो वि जाय दिव्वज्जुणि भासइ, तहो संदेहु असेसु विणासइ ।

पंच सयहिँ दियसुयहेँ समिल्लेँ, लइय दिक्ख विप्पेण संमिल्लेँ ।

पुव्वण्हइँ सहुँ दिक्खए जायउ, लद्धिउ सत्त-जासु विक्खायउ ।

तम्मि दिवसे अवरण्हए तेण वि सोवंगा गोत्तम णामेण वि ।

जिण-मुह-णिगगय-अत्थ.लंक्रिय वारहंग सुय-पय रयणंकिय ।

—वडूढच० संधि १०/कड २

सुमेरु पर्वत पर जिनेन्द्र का न्हवन करने वाले तथा विप्र बहुक वेषधारी उस सुरेन्द्र ने गौतम गोत्र स्त्री नाभागण के लिए चद्रन्मा के समान तथा गुण-समूह के निवासस्थल उस इन्द्रभूति गौतम को देखा तथा उसे स्वयं ही ले आया, जहाँ कि स्वामी जिन विराजमान थे। दूर से ही मान स्तंभ देख कर उस (गौतम) का मान-अहंकार उसी प्रकार नष्ट हो गया, जिस प्रकार कि सूर्य के सम्मुख अंधकार-समूह नष्ट हो जाता है। उस गौतम ने निरहंकार भाव से नतशिर होकर पृथिवी मंडल पर असाधारण उन परमेश्वर से जीव-स्थिति पर प्रश्न किया, जिसका उत्तर परमानंद जिनेश्वर ने स्पष्ट किया। उस उत्पन्न दिव्य-ध्वनि को उस गौतम ने समझ लिया, जिससे उस (गौतम) का समस्त संदेह दूर हो गया। अपने ५०० द्विज-पुत्रों के साथ मिलकर उस गौतम विप्र ने (तत्काल ही) सब कुछ त्याग कर जिन दीक्षा ले ली।

पूर्वाह्न में दीक्षा लेने के साथ ही गौतम को ७ विख्यात (अक्षीण) लब्धियाँ (बुद्धि, क्रिया, विक्रिया, रस) तप, औषधि एवं बल) उत्पन्न हो गयीं तथा उसी दिन अपराह्न में उस गौतम नामक ऋषि ने महावीर जिनके मुख से निर्गत अर्थों से सांगोपांग द्वादशांग श्रुतपदों की रचना की—

३. अपापा नगरी में दीक्षा-ग्रहण :

(क)

विप्रः पुर्यामपापायां यष्टुमाह्वयोऽथ सोमिलः । आनिनाय श्रद्धया तान् यज्ञकर्मविचक्षणान् ॥६१॥
 तदा च तत्र समवसृतं वीरं विवन्दिषून् ॥ सुरानापततः प्रेक्ष्य बभाषे गौतमो द्विजान् ॥६२॥
 मंत्रेणास्माभिराहूताः प्रत्यक्षा नन्वमी सुराः । इह यज्ञे समायान्ति प्रभावं पश्यत क्रतोः ॥६३॥
 त्यक्त्वा चण्डालवेशमेव यज्ञवाटं सुरेषुतु । प्रति समवसरणं यात्सु लोकोऽब्रवीदिति ॥६४॥
 उद्याने समवसृतः सर्वज्ञोऽतिशयान्वितः । तं वन्दितुं सुराः यान्ति पौराश्चामी प्रमोदिनः ॥६५॥
 सर्वज्ञ इत्यक्षराणि श्रुत्वाऽऽक्रोशामिवोच्चकैः । इन्द्रभृतिः प्रकुपितः स्वानेवमवदजनान् ॥६६॥
 मां त्यक्त्वा किममी यान्ति पाखण्डिनमसं जनाः । त्यक्त्वा चूतमिवाऽविज्ञाः करीरं मरुमानुषाः ॥६७॥
 ममापि पुरतोऽत्रास्ति सर्वज्ञ इति कोऽपि किम् । पंचाननस्य न ह्यग्रे भवत्यन्यः पराक्रमी ॥६८॥
 मनुष्या यद्यमी मूर्खा यान्त्येनं यान्तु तन्ननु । देवाः कथममी यान्ति दम्भः कोऽप्यस्यतन्महान् ॥६९॥
 यादृशो वैष सर्वज्ञो देवा अपि हि तादृशः । यदि वा यादृशो यक्षो जायते तादृशो बलिः ॥७०॥
 अस्य सर्वज्ञतादर्पमसावयहराम्यहम् । देवानां मानवानां च पश्यतामेव सम्प्रति ॥७१॥
 सोऽहंकारादुदीर्यैवं शिष्यपंचशतीवृतः । ययौ समवसरणे वीरं सुरनरावृतम् ॥७२॥
 तत्रद्वि स्वामिनं प्रेक्ष्य रूपं तेजश्च तादृशम् । किमेतदिति साश्चर्यं इन्द्रभृतिरवास्थित ॥७३॥
 भौ गौतमेन्द्रभृते ! किं तव स्वागतमित्यथ । सुधामधुरया वाचा तं बभाषे जगद्गुरुः ॥७४॥
 गौतमोऽचिन्तयन्मेऽसौ गोत्रं नाम च वेत्ति किम् ? जगत्प्रसिद्धमथवा को जानाति न मामिह ॥७५॥
 संशयं हृदयस्थं मे भ.पते च छिनति च । यद्यसौ ज्ञानसंपत्त्या तदाऽऽश्चर्यकरः खलु ॥७६॥
 इत्यन्तः संशयधरं तमूचे परमेश्वरः । अस्ति जीवो न वेत्युच्चैर्विद्यते तव संशयः ॥७७॥
 अस्त्येव जीवः स पुनर्होयो गौतम ! लक्षणैः । चित्तचैतन्यविज्ञानसंज्ञाप्रभृतिभिः खलु ॥७८॥
 न जीवोऽवस्थितश्चेत्स्याद्भाजनं पुण्यपापयोः । यागदानादिकं तर्हि किंनिमित्तं तवाप्यहो ॥७९॥
 इति स्वामिवचः श्रुत्वा मिथ्यात्वेन सदैव सः । उज्ज्वाश्चकार संदेहं स्वामिनं प्रणनामच ॥८०॥
 ऊचे च त्वत्परीक्षार्थं दुर्बुद्धिरहमागमम् । उत्तुंगवृक्षमुद्युक्तः प्रमातुमिव वामनः ॥८१॥
 बोधितोऽस्मि त्वया साधु दुष्टोऽप्येषोऽहमद्य तत् । भवाद्विरक्तं प्रव्रज्यादानेनानुगृहाण माम् ॥८२॥
 आद्यं गणधरं ज्ञात्वा भाविनं तं जगद्गुरुः । स्वयं प्रव्रजयामास पंचशिष्यशतीयुतम् ॥८३॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

(ख) उक्त मानुषद्विकं, प्रकृतमुच्यते—ते हि देवास्तं यज्ञपाटं परिहृत्य समवसरणभुवि निपतितवन्तः, ताश्च तथादृष्ट्वा लोकोऽपि तत्रैव जगाम, भगवन्तं त्रिदशलोकेन पूज्यमानं दृष्ट्वा अतीव हर्षं चक्रे प्रवादश्च सञ्जातः—सर्वज्ञोऽत्र समवसृतस्तं देवाः पूजयन्तीति, अत्रान्तरे खल्वुाकर्णितसर्वज्ञप्रवादोऽमर्षाध्मात् इन्द्रभृतिर्भगवन्तं प्रति प्रस्थितः, तथा चाह—

सोऽण कीरमाणि महिसं देवेहिं जिणवरिदस्स ।
अह एइ अहंमाणी अमरिसिओ इंदभुइत्ति ॥५६८॥

मलय टीका—श्रुत्वा—जनपरम्परात आकर्ण्य, पाठान्तस्तो । दृष्ट्वा वा, महिमां—पूजां-देवैः क्रियमाणां जिनवरेन्द्रस्य भगवतो वर्द्धमानस्वामिनः, अथास्मिन् प्रस्ताव एति — आगच्छति भगवत्समीपम्, अहमेव विद्वानिति मानोऽस्येति अहंमानी अमर्षितोऽमर्षो—मत्सरविशेषः स सञ्जातोऽस्य सोऽमर्षितः, मयि सति कोऽन्यः सर्वज्ञ इत्यपनयाम्यद्य सर्वज्ञवादमित्यादि-संकल्पकलुषितान्तरात्मा, कोऽसावित्याह—इन्द्रभूतिरिति नाम्ना प्रथितः, स भगवत्समीपं प्राप्य भगवन्तं च चतुस्त्रिंशदतिशयसमन्वितः देवसुरनरेश्वर परिवृतं दृष्ट्वा साशङ्कस्तद-प्रतस्तस्थौ ।

—आव० निगा ५६८

मुत्तूण मम लोगो, किं वच्चइ एरु तस्स पामूले ? अन्नोऽवि जाणइ मए ठिअस्मि कत्तुच्चियं एयं ? ॥१२०॥

मलय टीका—मां सकलशास्त्रपारंगं मुक्त्वा किमेष लोकस्तस्य पादमूलं ब्रजति ? न चासौ मदपेक्षया किमपि जानाति, तथाहि—मयि प्रतिवादिनि स्थितेऽन्योऽपि किमपि जानातीति कौतस्यमेतत् ? न चैतत्संभवतीति भावः । पुनरप्याहः—

वच्चिज्ज व मुक्खजणो देवा कहऽणेण विम्हयं नीया ? वंदंति संथुणंति अ जेणं सव्वनुबुद्धीए ॥१२१॥

मलय टीका—ब्रजेद्वा तत्पादमूलं मूर्खजनो, मूर्खतया युक्तायुक्तविवेकविकलत्वात्, देवास्तु कथमनेन विस्मयं नीताः ? येन विस्मयनयनेन सर्वज्ञबुद्धया तं वन्दन्ते संस्तुवन्ति च ।

अहवा जारिसओ च्चिय सो नाणी तारिस्सा सुरातेऽवि ।

अणुसरिसो संजोगो गामनडाणं व मुक्खाणं ॥१२२॥

मलय टीका—अथवा यादृश एव स ज्ञानी तेऽपि सुरास्तादृशा एव, मूर्खा इत्यर्थः । ततोऽनुसदृशं-अनुरूपः संयोगस्तस्य ज्ञानिनः एतेषां च देवानां, कयोखेत्याह—ग्रामनटयोरिव मूर्खयोः, यथा ग्रामो मूर्खो नटोऽपि च तथाविधविद्याविकलत्वात् मूर्ख इति परस्परं तयोः संयोगोऽनुरूपः, एवमेषोऽपीति ।

काउं ह्यप्पयावं पुरतो देवाण दाणवाणं च । नासेहं नीसेसं खणेण सव्वन्नुवायं से ॥१२३॥

मलय टीका—देवानां दानवानां च पुरतः—अग्रे तथाविधप्रश्नजालैर्हृतप्रतापं कृत्वा क्षणेन—क्षणमात्रेण 'से' तस्य सर्वज्ञवादं निःशेषमहं नाशयामि ।

इअ वुत्तूणं पत्तो ददुहुं तेलुक्कपरिवुडं वीरं । चउतीसाइसयनिहिं स संकिओ चिट्ठिओ पुरओ ॥१२४॥

मलय टीका—इति पूर्वोक्तमुक्त्वा प्राप्तो भगवत्समीपं, दृष्ट्वा च भगवन्तं वीरं त्रैलोक्यपरिवृतं चतुस्त्रिंशदतिशयनिधिः स शङ्कितः पुरतोऽवस्थितः ॥ अत्रान्तरे—

—आव० भाष्य गा १२० से १२४

आभट्टो य जिणेणं जाइ-जरा-मरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गुत्तेण य सव्वन्नु सव्वदरिसिणा ॥५६६॥
—आव० निगा ५६६

मलय टीका—आभाषितः—संलप्तो जिनेन भगवता महावीरेण जातिः— प्रसूतिर्जराः वयोहानिलक्षणा मरणं—दशविधप्राणविप्रयोगरूपं एभिर्विप्रमुक्तस्तेन, कथमाभाषित इत्याह—नाम्ना—हे इन्द्रभूते ! इत्येवंरूपेण तथा गोत्रेण च—यथा हे गौतमगोत्र ! किंविशिष्टेन जिनेनेत्याह—सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना ॥

आह—यो जरामरणविप्रमुक्तः स सर्वज्ञ एवेति गतार्थमिदं विशेषणं, न नयवादपरिकल्पितजात्यादिविप्रमुक्तनिरासार्थत्वात्, तथाहि—कैश्चिद् गुणविप्रमुक्तमोक्षवादिभिरचेतना मुक्ता इष्यन्ते उतस्तन्निरासार्थमूचे सर्वज्ञेन सर्वदर्शिनेति ॥

इत्थं नाम गोत्राभ्यां संलप्तस्य तस्यचिन्ता अभवत्—तथा चाह—

हे ! इंदभूइ ! गोअम ! सागवमुत्ते जिणेण चित्तेइ । नामंपि मे विआणइ, अहवा को मं न याणेइ ? ॥१२५॥
टीका— हे इन्द्रभूते ! गौतम ! स्वागतमिति जिनेनोक्ते स चिन्तयति—अहो नामापि मे विजानाति, अथवा सर्वत्र प्रसिद्धोऽहं को मां न जानाति ।

जइ वा हि अयगयं मे संसय मन्निज्ज अहव छिदिज्जा ।

ता हुज्ज विम्हओ मे इय चित्तंतो पुणो भणिओ ॥१२६॥

टीका— यदि मे हृद्गतं संशयं मन्येत-जानीयात्, अथवा छिन्द्यात्—अपनयेत्, ततो मे विस्मयोभवेत्—भविष्यति इति चिन्तयत् पुनरपि भगवता भणितः । किं भणित इत्याह—

किं मन्नि अत्थि जीवो उयाहु नत्थित्ति संसयो तुज्झ ।

वेय पथाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥१२७॥

टीका— हे गौतम ! किं मन्यते—अस्ति जीवः उत नास्तीति, नन्वयमनुचित एव तव संशयः, यतोऽयं संशयस्ते विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तेषां न च वेदपदानामर्थं न जानासि यथा न जानासि तथा वक्ष्यामः, तेषामयमर्थो—वक्ष्यमाणस्वरूपः, अन्ये तु किं शब्दं परिप्रश्नार्थं व्याचक्षते, तन्न युज्यते, भगवतः सकलसंशयातीतत्वात्, संशयवतः परिप्रश्नार्थः किंशब्दप्रयोगो, यथा किमित्थमन्यथा वेत्ति, अथवा किमस्ति जीव उत नास्ति इति मन्यसे, अयं तव संशय इत्येवं व्याख्येयं, शेषं तथैव, यदुक्तं संशयस्तव विरुद्धपदश्रुतिनिबन्धन इति, तान्युक्ति वेदपदानि—‘विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञास्ती’त्यादि, तथा स वै अयमात्मा ज्ञानमय इत्यादीनि च, एतेषां च वेदपदानामयमर्थो भवच्चेतसि विपरिवर्तते—विज्ञानमेव—चैतन्यमेव घनो—नीलादिरूपत्वान् विज्ञानघनः × × × अमूर्त्त आत्मेत्यर्थः, × × × वेदपदानामयमर्थः—

विज्ञानघन एवेति ज्ञानोपयोगदर्शनोपयोगरूपं विज्ञानं ततोऽन्यन्यत्वात् आत्मा विज्ञानघनः, प्रतिप्रदेशमनन्तविज्ञानपर्यायसंघातात्मकत्वाद्वा विज्ञानघनः । × × × ।

आत्मनः प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवेदनप्रमाणसिद्धत्वात्, तथाहि—स्वसंविदिता एवाग्रहेहावायादयः उत्पद्यन्ते व्ययन्ते वा, ततस्तद्गुणस्य स्वसंविदितत्वात्सिद्धत्वात् आत्मनः प्रत्यक्षत्वं । × × × ततः प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणसिद्धत्वाद्देवप्रतिष्ठितत्वाच्च सौम्य । अस्ति जीव इति प्रतिपत्तव्यम् ।

छिन्नमि संसयमि अ जिणेण जर-मरणविप्पमुक्केणं ।

सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहि ॥६०१॥

टीका— उक्तप्रमाणेन जिनेन-भगवता वर्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्तइव विप्रमुक्तः तेन छिन्ने—निराकृते संशये स इन्द्रभूतिः पंचभिः खण्डिकशतैः—छात्रशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः सन् साधुः संवृत्त इत्यर्थः ॥

अपापा नगरी में सोमिल नामक एक धनाढ्य ब्राह्मण यज्ञकर्म में विचक्षण ऐसे इन्द्रभूति आदि ग्यारह विप्रों को यज्ञ करने के लिए बुलाया ।

उस समय वहाँ भगवान् महावीर पधारे हुए थे । वीर प्रभु को बंदन करने की इच्छा से आते हुए देवों को देखकर गौतम—इन्द्रभूति ने अन्य ब्राह्मणों को कहा—“इस यज्ञ के प्रभाव को देखो । अपने मंत्रों से बुलाये हुए ये देव प्रत्यक्ष होकर इस यज्ञ में आ रहे हैं ।

उस समय चंडाल के गृह की तरह यज्ञ की वाट को छोड़कर देव समवसरण में जाते हुए देखकर लोग कहने लगे—हे नगरजनो ! अतिशय सहित सर्वज्ञ प्रभु उद्यान में पधारे है । उन्हें बंदनार्थ ये देव हर्षपूर्वक जाते हैं ।

“सर्वज्ञ” ऐसा अक्षर सुनकर जानो कोई आक्रोश किया हो वैसा इन्द्रभूति कोपकर स्वजन के प्रति बोला—अरे धिक्कार ! अरे धिक्कार ! महदेश के मनुष्यों की तरह आम्र को छोड़कर करीर पास में जाता है उसी प्रकार ये लोग मुझे छोड़कर इस पाखंडी के पास जाते हैं । क्या मेरे से आगे कोई दूसरा सर्वज्ञ है । सिंह के आगे दूसरा कोई पराक्रमी होता ही नहीं है । कदाचित् मनुष्य तो मूर्ख होने से उनके पास जाते हैं तो भले ही जायें—परन्तु ये देव कैसे जाते हैं ? इससे उस पाखंडी का दम्भ अपेक्षा से महान् लगता है—परन्तु वे जैसे सर्वज्ञ हैं वैसे देव भी जाने जाते हैं । क्योंकि जैसे यज्ञ होता है वैसे ही बलि होता है ।

अब इन देवों और मनुष्यों को देखते हुए मैं उसके सर्वज्ञपन का गर्व हनन कर लाऊँगा । इस प्रकार अहंकार से बोलता हुआ गौतम पांच सौ शिष्यों के साथ पदार्पण किया—जहाँ वीर प्रभु मुर-नरों से आवृत्तथे—वहाँ समवसरण में आया ।

प्रभु की समृद्धि और तादृश तेज को देखकर—‘यह क्या है ? इसप्रकार इन्द्रभूति आश्चर्य को प्राप्त हुआ । उसी समय तो हे गौतम-इन्द्रभूति । तुम्हारा स्वागत है । इस प्रकार भगवान् महावीर ने अमृत जैसी वाणी से कहा । यह सुनकर गौतम विचार में पड़ गया । क्या यह मेरा नाम और गोत्र भी जानता है । अथवा हमारे जैसे जगत्प्रसिद्ध

मनुष्यों को कौन नहीं जानता ? परन्तु जो हमारे हृदय में स्थित संशय को जानता है और उसे स्वयं की ज्ञानसंपत्ति से छेद डालता है तो वह वास्तव में आश्चर्यकारी है—ऐसा मैं मानता हूँ ।

इस प्रकार हृदय में विचार करते हुए—ऐसे संशययुक्त इन्द्रभूति को भगवान् ने कहा—हे विप्र ! जीव है या नहीं । ऐसा तुम्हारे हृदय में संशय है । परन्तु हे गौतम ! जीव है, वह चित्त; चैतन्य, विज्ञान और संज्ञादि लक्षणों से जाना जा सकता है । यदि जीव नहीं होता तो पुण्य-पाप का पात्र कौन होता ? और तुम्हारे इस याग, दानादि करने का निमित्त भी क्या होता ?

इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर इन्द्रभूति मिथ्यात्व के साथ संदेह को छोड़ दिया और भगवान् के चरणों में नमस्कार करबोला कि—हे स्वामी । ऊँचे वृक्ष को माप लेने के लिए नीचे पुरुष की तरह मैं दुर्बुद्धि आपकी परीक्षा लेने आया था । हे नाथ ! मैं दोषयुक्त हूँ । ऐसा होते हुए भी सम्यग् प्रकार से मुझे प्रतिबोधित किया । अब मैं संसार से विरक्त हुआ—मुझे दीक्षितकर अनुग्रहित करो ।

फलस्वरूप जगद्गुरु वीरप्रभुने—इन्द्रभूति को स्वयं का प्रथम गणधर होगा—ऐसा जानकर पाँच सौ शिष्यों के साथ स्वयं दीक्षित हुआ ।

(ग) उपनीतं कुबेरेण धर्मोपकरणं ततः । त्यक्तसंगोऽप्याददानो गौतमोऽथेत्यचिन्तयत् ॥८४॥
निरवद्यव्रतत्राणे यदेतदुपयुज्यते । वस्त्रपात्रादिकं ग्राह्यं धर्मोपकरणं हितम् ॥८५॥
छद्मस्थैरिह षड्जीवनिकाययतनापरैः । सम्यक् प्राणिदयां कर्तुं शक्येत कथमन्यथा ॥८६॥
जलज्वलनवायूर्वीतरुत्रसतया बहून् । जीवांस्त्रातुं कथमलं धर्मोपकरणं विना ॥८७॥
गृहीतोपकरणोऽपि करणत्रयदूषितः । असंतुष्टः स आत्मानं प्रतारयति केवलम् ॥८८॥
इन्द्रभूतिर्विभ,व्यैवं शिष्याणां पंचभिः शतैः । समं जग्राह धर्मोपकरणं त्रिदशार्पितम् ॥८९॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

उसी समय—इन्द्रभूति की दीक्षा के समय कुबेरने चारित्रधर्म के उपकरणों को लाकर दिये । निसंग होते उसे ग्रहण करते हुए गौतम ने विचार किया—“निरवद्य व्रत की रक्षा करने में ये वस्त्र-पात्रादिक उपयोग में आते हैं फलस्वरूप ग्रहण करने के योग्य हैं । क्योंकि वे धर्म के उपकरण हैं । उसके बिना छह प्रकार की जीवनिकाय की यतना करने में तत्पर—ऐसे छद्मस्थ मुनियों की सम्यग्रूप से जीव दया का कैसे प्रतिपालन हो सकता है । पृथ्वीकाय आदि जीवों की धर्मोपकरण के बिना कैसे रक्षा हो सकती है ।

उपकरण ग्रहण करने पर भी जो स्वयं की आत्मा को मन, वचन-काल से दूषित और असंतोषी रखता है तो वह केवल आत्मा के साथ धोखेबाजी करता है ।

इस प्रकार विचार कर इन्द्रभूति पाँच सौ शिष्यों के साथ देवों के द्वारा अर्पित किये हुए धर्मोपकरणों को ग्रहण किया ।

(घ) मिथ्यात्वारातिसंतानं हन्तुं मोहादिशत्रुभिः । साधुं विप्राग्रणीर्मुक्त्यै दीक्षामादातुमुद्ययौ ॥१४७॥
ततस्त्यक्तवान्तरे संगान् दश बाह्ये चतुर्दश । त्रिशुद्ध्या परया भक्त्यार्हतीं मुद्रां जगन्नुताम् ॥१४८॥

भातृभ्यां स जग्राह तत्क्षणं च द्विजोत्तमः । शतपंचप्रमैश्वरात्रैः प्रबुद्धस्तत्त्वमञ्जसा ॥१४६॥
 अन्ये च बहवो भव्या जिनवाक्किरणोत्करैः । मोहसद्गतमो हत्वा जगद्गुर्मुनिसंयमम् ॥१५०॥
 —वीरवर्धमानच० अधि १८/

(भगवान की दिव्यवाणी सुनकर) ब्राह्मणों का नेता गौतम वैराग्यपूर्वक मोहादि शत्रुओं के साथ मिथ्यास्वरूपी वैरी की सन्तान को मारने और मुक्ति पाने के लिए दीक्षा लेने को उद्यत हुआ ।

तत्पश्चात् निश्चय तत्त्व के प्रबोध को प्राप्त उस गौतम ने अपने दोनों भाइयों (अग्निभूति, वायुभूति) के साथ पांच सौ छात्रों के साथ चौदह अंतरंग और दशबाह्य परिग्रहको छोड़कर त्रियोग शुद्धिपूर्वक परम भक्ति से जगत्-पूज्य जिनमुद्रा को तत्काल ग्रहण किया ।

•४ गौतम गणधर को सात ऋद्धियाँ व चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान :

(क) तत्क्षणं श्रीगणेशस्य सप्तैवास्य महर्धयः । प्रादुर्बभूवुरत्यन्तपरिणामसुशुद्धितः ॥१६१॥
 सद्य श्रीवर्धमानार्हत्त्वोपदेशेन च । सर्वाङ्गार्थपदान्प्रेव हृदा परिणति ययुः ॥१६३॥
 अर्थरूपेण पूर्वाह्णे श्रावणे बहुले तिथौ । पक्षादौ योगशुद्ध्यास्य हीन्द्रभूतिगणेशिनः ॥१६४॥
 ततः पूर्वाणि सर्वाणि भागोऽस्य पश्चिमे धिया । दिवसस्यार्थरूपेण प्रादुरासन् विधेः क्षयान् ॥१६५॥
 ततोऽसौ ज्ञातसर्वाङ्गपूर्वो धीचतुष्कवान् । तीक्ष्णप्रज्ञोरुबुद्ध्याखिलांगनां रचनांपराम ॥१६६॥
 चकार विश्वभव्यानामुपकारप्रसिद्धये । पूर्वरात्रे सुभक्त्या पदवस्तुप्राभृतादिभिः ॥१६७॥
 पूर्वाणां पश्चिमे भागे यामिन्या रचनां शुभाम् । पदग्रन्थादिरूपेण चक्रोऽसौ तीर्थवृत्तये ॥१६८॥
 इति वृषपरिपाकाद् गौतमः श्रीगणेशः । सकलयति गणानां मुख्य आसीत्सुरार्च्यः ॥१६९॥ पूर्वार्ध ॥

वीरवर्धमानच० अधि १८

जिन-दीक्षा ग्रहण करने पर श्री गौतम गणधर को परिणामों की अत्यन्त विशुद्धि से तत्काल सातों ही महाऋद्धियाँ प्रकट हो गयी ।

श्री वर्धमान जिनके तत्त्वोपदेश से सर्व अंगश्रुतके बीज पद इन्द्रभूति गौतम गणधर के हृदय में श्रावण कृष्णपक्ष के आदि दिन अर्थात् प्रतिपदा के पूर्वाह्ण कालमें योगशुद्धि के द्वारा अर्थरूप से परिणत हो गये ।

तत्पश्चात् उसी दिन के पश्चिम भाग में श्रुतज्ञानावरण कर्म के विशिष्ट क्षयोपशम से प्रकट हुई बुद्धि के द्वारा सभी (चौदह) पूर्व अर्थरूप से परिणत हो गये ।

भावार्थ—श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के पूर्वाह्ण काल में तो गौतम अंगश्रुत के वेत्ता हुए और अपराह्न काल में चतुर्दश पूर्वों के वेत्ता बने ।

इसके पश्चात् सर्व अंग-पूर्व के ज्ञान और चार ज्ञान के धारी गौतम गणधर ने अपनी तीक्ष्ण प्रज्ञा और विशाल बुद्धि के द्वारा समस्त अंगों की उत्कृष्ट रचना समस्त भव्यजनों के उपकार की सिद्धि के लिए पूर्व रात्रि में सुभक्ति से की । और रात्रि के पश्चिम भाग में पद, वस्तु, प्राभृत आदि के द्वारा सर्व पूर्वों की शुभरचना पद-ग्रन्थादि रूप से धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए की ।

इस प्रकार धर्म के परिपाक से देवों से पूज्य श्री गौतम गणधर सर्वसाधु समूह के प्रमुख हुए और सकलश्रुत के विधाता बने ।

(ख) सेणिय हउँ आणिउ दिय - पमुहु ॥

महु संसयेण संभिण्ण मइ । जिणु पुच्छिउ जीवहु तणिय गइ ॥

णाहँ महु संसउ णासियउ । मइँ अप्पउ दिक्खइ भूसियउ ॥

मइँ समउ समण-भावहु गयइँ । पावइयइँ दियहँ पंचसयइँ ॥

घत्ता—पत्ते मासे सावणि बहुले पाड्विए दिणि ।

उप्पण्णउ चउ-बुद्धिउ महु सत्तवि रिसि-रिद्धिउ ॥

—वीरजि० संधि २/कड ६/पृ० ३२

गौतम गणधर राजा श्रेणिक से कहते है कि हे श्रेणिक ! उस समय इन्द्र प्रसन्नमुख होकर मुझे द्विजप्रमुख को यहां ले आया (भगवान् महावीर के पास) उस समय मेरी मति संशय से भ्रंत थी, अतएव मैंने जिनेन्द्र से जीव के गति के विषय में प्रश्न किया । भगवान् ने मेरे संशय को दूर कर दिया, तब मैंने अपने आपको मुनि-दीक्षा से विभूषित किया । मेरे साथ अन्य पाँच सौ द्विज भी भगवान् के पास प्रव्रज्या लेकर श्रमण बन गये ।

तत्पश्चात् श्रावण मास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा का दिन आने पर मुझे चारों प्रकार की बुद्धि तथा सातों ऋषि-ऋद्धियाँ भी उत्पन्न हो गयीं ।

(ग) श्रीवर्धमानमानस्य संयमं प्रतिपन्नवान् तदैव मे समुत्पन्नाः परिणामविशेषतः ॥३६८॥

ऋद्ध्यः सप्तसर्वाङ्गानामप्यर्थपदान्यतः । भट्टारकोपदेशेन श्रावणे बहुले तियौ ॥३६९॥

पक्षादावर्थरूपेण सद्यः पर्याणमन् स्फुटम् । पूर्वाह्णे पश्चिमे भागे पूर्वाणामप्यनुक्रमात् ॥३७०॥

इत्यनुज्ञातसर्वाङ्गपूर्वार्थो धीचतुष्कवान् । अंगानां ग्रन्थसंदर्भं पूर्वरात्रौ व्यधामहम् ॥३७१॥

पूर्वाणां पश्चिमे भागे ग्रन्थकर्ता ततोऽभवम् । इति श्रुतद्विभिः पूर्णोऽभवं गणभृदादिमः ॥३७२॥

—उत्तपु०/पर्व ७४/श्लो ३६६ से ३७२

दीक्षा के बाद-परिणामों की विशेष शुद्धि होने से मुझे (इन्द्रभूति) उसी समय सात ऋद्धियाँ प्राप्त हो गयीं ।

तदनन्तर भट्टारक वर्धमान स्वामी के उपदेश से मुझे श्रावण बदी प्रतिपदा के दिन पूर्वाह्न काल में समस्त अंगों के अर्थ और पद स्पष्ट जान पड़े ।

इसी तरह उसी दिन अपराह्न काल में अनुक्रम से पूर्वों के अर्थ तथा पदों का भी स्पष्ट बोध हो गया ।

इस प्रकार जिसे समस्त अंगों तथा पूर्वों का ज्ञान हुआ है और जो चार ज्ञान से सम्पन्न हैं ऐसे मैंने रात्रि के पूर्वभाग में अंगों की रचना और पिछले भाग में पूर्वों की ग्रन्थ रचना की ।

उसी समय से मैं (इन्द्रभूति) ग्रन्थकर्ता हुआ । इस प्रकार श्रुत ज्ञान रूपी ऋद्धि से पूर्ण । मैं भगवान् महावीर स्वामी का प्रथम गणधर हो गया ।

•५ गौतम का दूसरा नाम इन्द्रभूति :

तदैवास्य गणेशस्य सौधमेन्द्रोऽतिभक्तितः । दिव्यार्चनैः प्रपूज्यैष पादाब्जौ त्रिजगन्नुतौ ॥१५६॥

नत्वा कृत्वा स्तुतिं दिव्यैर्गुणर्मध्ये जगत्सताम् । इन्द्रभूतिरयं स्वामीत्युक्त्वा नामान्तरं व्यधात् ॥१६०॥

—वीरवर्धमानच० अधि १८

उसी समय सौधर्मेन्द्र ने द्वादश गणों के स्वामीपद को प्राप्त हुए गौतम गणधर की अति-भक्ति से दिव्य पूजन-द्रव्यों के द्वारा त्रिलोक-नमस्कृत चरण-कमलों को पूजकर, नमस्कार कर और दिव्य गुणों के द्वारा स्तुति करके सब सत्पुरुषों के मध्य में 'ये इन्द्रभूति स्वामी हैं' ऐसा कहकर उनका इन्द्रभूति यह दूसरा नाम रखा ।

*६ इन्द्रभूति के माता-पिता का नाम :

(क) इतश्च मगधे देशे गोवरग्रामनामनि । ग्रामे गौतमगोत्रोऽभुद्वसुभूतिरिति द्विजः ॥४६॥

तस्येन्द्रभूत्यग्निभूतिवायुभूत्यग्निधाः सुताः । पत्न्यां पृथिव्यामभवन्तंऽपि गोत्रेण गौतमाः ॥५०॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

मगध देश में—गोवर नामक ग्राम में वसुभूति नामक एक गौतम गोत्रीय ब्राह्मण रहता था । उसके पृथ्वी नाम की स्त्री थी । उसके तीन पुत्र हुए—इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति । जिनका गोत्र गौतम था ।

(ख) पुहई—वसुभूई-सुओ गणहारी जयइ इंदभूइ त्ति । वाणउई—वासाऊ गोठवरगामुठभवो पढमो ॥

—धर्मोप० पृ० २२७

इन्द्रभूति की माता का नाम पृथ्वी व पिता का नाम वसुभूति ब्राह्मण था । जन्मस्थान गोवर ग्राम (मगध देश) था । वाणवें वर्ष की आयु थी ।

.७ गौतम गणधर—प्रथम गणधर :

(क) पढमो हु उसहसेणो केसरिसेणो य चारुदत्तो य । वज्जचमरो य वज्जो चमरो वलदत्तवेदभा ॥

णागो कुंथू धम्मो मंदिरणामा जओ अरिट्ठो य । सेणो चक्कायुधयो सयंभु कुंभो विस्सावो य ॥

मल्लीणामो सुप्पहवरदत्ता सयंभुइंदभूदीओ । उसहादीणं आदिमगणधरणामाणि एदाणि ॥

—तिलोप० अधि ४/गा ६६४ से ६६६

पढमित्थ इंदभूई वीए पुण अग्गिभूइत्ति

—आव० भाग २/निगा ५६३

मलय टीका—प्रथमोऽत्र गणधरमध्ये इन्द्रभूतिः

इन्द्रभूति—भगवान महावीर के आदि—प्रथम गणधर थे ।

(ख) एयारह गणहर तहो जायई, इंदभूइ धुरि धरि तणु कायई ।

—वड्डमाणच० मंधि १०/कड४०

उन वीरप्रभु के के संघ में ग्यारह सुप्रसिद्ध गणधर हुए । उन सब में इन्द्रभूति-गौतम सर्व प्रथम गणधर थे ।

.८ साधु-समुदाय में प्रमुख इन्द्रभूति :

श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य इन्द्रभूतिप्रमुखाणि चतुईशश्रमणसहस्राणि १४०००

—आव० निगा २८६

श्रमण भगवान् महावीर के १४००० साधुओं में प्रमुख—इन्द्रभूति थे ।

•६ गौतम स्वामी के छद्मस्थावस्था का एक विवेचन :

(क) तेषां कालेणं तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूतीनामं अणगारे 'गोयमसगोत्ते णं' सत्तूसेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसभनारायसंघयणे कणगपुलगनिघसपम्हगोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओरले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी 'उच्छूढसरीरे संखित्तविउलतेयलेस्से चोइसपुठ्वी चउनाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाती समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्डंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोट्टोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥८॥

—भग० श १/उ १/

(ख) तेषां कालेणं तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभूई णामं अणगारं गोतमगोत्तेणं उत्तूसेहे समचउरंस—संठाण—संठिए वज्जरिसहणाराय—संघयणे कणग—पुलग—णिघस—पम्ह—गोरे उग्गतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे उरले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभचेरवासी उच्छूढसरीरे संखित्त—विउल—तेयलेस्से समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामंते उड्डंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोट्टोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ।

—ओव० सू ८२

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अर्थात् सबसे बड़े प्रथम शिष्य इन्द्रभूति अनगार थे । उनका गोत्र गौतम था ।

उनका शरीर सात हाथ ऊँचा था । उनका संस्थान—समचतुरस्र समचौरस था ।

उनका संहनन—वज्रकृषभ नाराच श । कसौटी पर खीची हुई सोने की रेखा के समान तथा कमल की केशर के समान गौर वर्ण के थे ।

वे उग्र तपस्वी, दिप्त तपस्वी, तप्त तपस्वी, महा तपस्वी, उदार, कर्म शत्रुओं के लिए घोर, घोर गुणवाले, घोर तपस्वी, घोर ब्रह्मचर्य के पालन करने वाले, अतएव शरीर-संस्कार के त्यागी थे ।

दूर दूर तक फैलने वाली विपुल तेजोप्रेष्या को उन्होंने अपने शरीर में संज्ञिप्त कर रखी थी । वे चौदह पूर्व के ज्ञाना थे ।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनःपर्यव—इन चार ज्ञान के धारक थे और और सर्वाक्षर सन्निपाति थे ।

वे श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के न बहुत दूर, न बहुत नजदीक, उर्ध्वजानु और अश्रः शिर हीकर अर्थात् दोनों घुटनों को खड़े करके एवं शिर को कुछ नीचे की ओर झुकाकर ध्यान रूपी कोष्ठक में प्रविष्ट होकर संयम और तप ले अपनी आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे ।

(ग) × × × । तेषां महावीर भडारणण इंदभूदिस्स अज्जस्स अज्जखेत्तुप्पण्णस्स चउरमलबुद्धिमंपण्णस्स दितुग्गतत्तवस्स अणिमादिअट्टविह्विउव्वणलद्धिसंपण्णस्स सव्वट्टुसिद्धिणिवासिदेवेहितो अणंतगुण-वलस्स मुहुत्तेणेक्केण दुवालसंगत्थगंथाणं सुमरणपरिवादिकरणक्खमस्स सपाणिपत्तणिवदिदग्गं पि अमियसरूवेण पल्लट्टावणसमत्थस्स पत्ताहारवसहि-अक्खीणरिद्धिस्स सव्वोहिणाणेण दिट्ठासेसपोगल-दव्वस्स तवोबलेण उप्पायिटुक्कस्स विउलमदिमणपज्जवणाणस्स सत्तभयादीदस्स खविदचटुकसायस्स

जियपंचिदियस्स भग्गतिदंडस्स हज्जीवदयावरस्स णिट्ठवियअट्टमयस्स दसधम्मज्जयस्स अट्टमाउगणपरि-
वालियस्स भग्गबाबीसपरीसहपसरस्स सच्चालंकारस्स अत्थो कहिओ । तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा
अंतोमुहुत्तेणावहारियदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगर्गथरयणेण गुणेहि सगसमाणस्स
सुहमा इरिस्स गंधो बक्खाणिदो । ततो केत्तिएणवि कालेणकेवलणाणमुप्पाइय बारसवासाणि केवल-
विहारेण विहरिय इंदभूदिभडारओ णिवुइं संपत्तो । १२॥

—कसापा०/गा १/टीका/भाग १/पृ० ८३/८४

जो आर्य क्षेत्र में उत्पन्न हुए है, मति, श्रुति, अवधि ओर मनःपर्यय :—इन चार निर्मल ज्ञानों से संपन्न है, जिन्होंने दीप्त, उग्र और तप्त तप को तपा है, जो अणियादि आठ प्रकार की वैक्रियक लब्धियों से संपन्न है, जिनकी सर्वार्थ सिद्धि में निवास करने वाले देवों से अनन्त गुण बल है, जो एक मुहूर्त में बारह अंगों के अर्थ और द्वादशांग रूप ग्रंथों के स्मरण और पाठ करने में समर्थ है, जो अपने पाणिपात्र में दी गई खीर को अमृत रूप से परिवर्तित करने में या अक्षय बनाने में समर्थ है, जिन्हें आहार और स्थान के विषय में अक्षीण ऋद्धि प्राप्त हैं, जिन्होंने सर्वावधि ज्ञान से अशेष पुद्गल द्रव्य का साक्षात्कार कर लिया है, तप के बल से जिन्होंने उत्कृष्ट विपुतमति मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न कर लिया है, जो सात प्रकार के मद से रहित है, जिन्होंने चार कपायों का क्षय कर दिया है, जिन्होंने पांच इन्द्रियों को जीत लिया है । जिन्होंने मन, वचन, कायरूप तीन दण्डों को भग्न कर दिया है, जो छह कायिक जीवों की दया पालने में तत्पर है, जिन्होंने कुलमद आदि आठ मदों को नष्ट कर दिया है ।

जो क्षमादि दस धर्मों में निरन्तर उद्यत है । जो आठ प्रवचन मातृक गणों का अर्थात् पांच समिति और तीन गुप्त्रियों का प्रतिपालन करते है । जिन्होंने क्षुधादि बाइस परीषहों के प्रसार को जीत लिया है । और जिनका सत्य ही अलंकार है—ऐसे आर्य इन्द्रभूति के लिए उन महावीर भट्टारक ने सर्वथा उपदेश दिया । उसके अनन्तर उन गौतम गोत्र में उत्पन्न हुए इन्द्रभूतिने एक अंतर्मुहूर्त में द्वादशांग के अर्थ का अवधारण कर के उसी समय बारह अंग रूप ग्रंथों की रचना की और गुणों से अपने समान ही सुधर्माचार्य को उसका व्याख्यान किया ।

तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् इन्द्रभूति भट्टारक केवल ज्ञान को उत्पन्न करके और बारह वर्ष तक केवल-विहार रूप से विहार करके मोक्ष को प्राप्त हुए ।

.१० छद्मावस्था में गौतम गणधर ने छट्ठ-तप-बेले २ की तपस्या अनेक बार की ।

(क) तेणं कालेणं तेणं समएणं रोहीडएनामं नयरे होत्था । × × × तेणं कालेणं तेणं समएणं सामी समोसढे जाव परिसा पडिगया ।

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी छट्ठकखमणपारणगंसि तहेव जाव रायमग्गमोगाढे × × × ।
—विवा० श्रु १/अ ६/सू २, ५, ६

जब श्रमण भगवान् महावीर रोहितक नगर पधारे थे । उस समय भगवान् के ज्येष्ठ शिष्य गौतम स्वामी षष्ठ क्षमण—बेले के पारणे के लिए भिक्षार्थ गये और रागमार्ग पधारे ।

(ख) तेषां कालेणं तेषां समएणं समणस्स भगवओ समोसरणं जाव परिसा पडिगया । × × × । ६॥
ततेणं से भगवं गोयमे दोच्चंपि छट्ठक्खमणपारणगंसि पढमाए पोरिसीए जाव पाडलिसंडं
णगरं दाहिणिल्लेणं दुवारेणं अणुपविसत्ति । ८॥

—विवा० श्रु १/अ ७/सू ६, ८

तदनन्तर भगवान् गौतम (प्रथम बार प्रवेश करने के पश्चात्) दूसरी बार षष्ठ क्षमण के पारणे में भी अर्थात् लगातार दो दिन के उपवास के अनन्तर पारणा के निमित्त प्रथम पौरुषी-प्रहर में यावत् पाटलिषंड नगर में दक्षिण दिशा के द्वार से प्रवेश करते हैं ।

(ग) तए णं से भगवं गोयमे तच्चंपि छट्ठक्खमण पारणगंसि तदेव जाव पाडलिसंडं नयरं पच्चत्थि-
मिल्लेणं दुवारेणं अणुपविसमाणे तं चेव पुरिसं पासइ-कच्छुल्लं ॥६॥

तएणं से भगवं गोयमे चउत्थंपि छट्ठक्खमणपारणगंसि तहेव जाव पाडलिसंडं नयरं उत्तरेणं
दुवारेणं अणुपविसमाणे तं चेव पुरिसं पासइ-कच्छुल्लं ॥१०॥

गौतम—तीसरी बार षष्ठ क्षमण के पारणे में उसी नगर के पश्चिम द्वार से, चौथीवार षष्ठ क्षमण के पारणे में निमित्त पाटलिषंड नगर के उत्तर दिशा के द्वार से प्रविष्ट हुए ।

नोट : — चारों बार एक पुरुष को कंडू के रोग से अभिभूत हुआ देखा ।

(घ) तेषां कालेणं तेषां समएणं वाणियगामे नामं नयरे होत्था । × × × ॥२॥

तेषां कालेणं तेषां समएणं समणे भगवं महावीरे समोसढे ररिसा निग्गया । × × × ॥११॥

तेषां कालेणं तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभुई नामं अणगारे
गोयमगोत्तेणं जाव संबित्तविउल्लतेयजेसे हट्ठं हट्ठेणं अणिक्खित्तेणं तवोकम्मेणं संजमेणं तवसा
अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥१२॥

—विवा० श्रु १/अ २/सू ८, ११, १२

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर वाणिज्य ग्राम नगर में पधारे । उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति अनगार तेजो लेश्या को संक्षिप्तकर अपने अन्दर धारण किये हुए हैं तथा षष्ठ तप—बेले-बेले की तपस्या करते थे ।

•११ गौतम की जिज्ञासा :

तते णं भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्न-
कोउहल्ले संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोउहल्ले समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले
उट्ठाए उट्ठेत्ति, उट्ठेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं
महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिण-पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता णच्चासन्नेणात्तिदूरे
सुस्समाणे णमंसमाणे अभिमुहे विणएणं पंजलियडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी.....॥१०॥

—भग० श १/३१

जिनको श्रद्धा, संशय और कुतूहल उत्पन्न हुआ है—ऐसे गौतम स्वामी अपने स्थान से उठकर श्रमण भगवान् महावीर के पास आये और श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को तीन बार प्रदक्षिणा करके वंदन-नमस्कार किया।

भगवान् के न अति नजदीक न अतिदूर किन्तु यथोचित स्थान पर रहकर भगवान् के सम्मुख विनयपूर्वक हाथ जोड़कर इस प्रकार बोले—

विवेचन—‘जायसङ्घे, अर्थात् गौतम स्वामी को श्रद्धा-अर्थ तत्त्व जानने की इच्छा उत्पन्न हुई। ‘जायसंसए’ उन्हें संशय पैदा हुआ कि भगवान् ने ‘चलमाण चलिए’, अर्थात् चलते हुए को चलित—चला हुआ कहा है तो वर्तमान कालिक प्रयोग भूतकालिक कैसे कहा गया है। इसका निर्णय करूँ। इस प्रकार निर्णय करने की बुद्धिरूप संशय पैदा हुआ।

‘जायकोऊहल्ले’ उन्हें कोतुहल उत्पन्न हुआ कि भगवान् इसका समाधान किस प्रकार फरमावेंगे।

•१२ केशी और गौतम-संवाद :

[केशी कुमार श्रमण—भगवान् पार्श्वनाथ के संतानीय शिष्य थे। तथा ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रावस्थी नगरी पधारे। वहाँ उनका मिलन गणधर गौतम से हुआ और गौतम स्वामी से संवाद-प्रतिसंवाद हुआ। तथा चतुर्याम और पंचयाम धर्म के भेद का स्पष्टीकरण हुआ। अनगार केशी कुमार ने पंचयाम धर्म को भाव से अंगीकार किया।]

भगवान् जब ५८ वर्ष के थे, उस समय उनके शिष्य गौतम और भगवान् पार्श्व के शिष्य केशीमें वाद हुआ था। उसमें धर्म, वेशशूषा आदि अनेक विषयों पर चर्चा हुई थी। बहुत सम्भव है कि पिटकों में यही घटना काल की विस्मृति के साथ उल्लिखित हुई हो।

•१ केशी-गौतम मिलन :

(क) जिणे पासित्ति णामेणं, अरहा लोगपूइओ । संबुद्धप्पा य सव्वण्णू, धम्म-तित्थयरे जिणे ॥१॥
 तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे । केसीकुमार समणे, विज्जाचरण - पारगे ॥२॥
 ओहिणाणसुए बुद्धे, सीससंघसमावले । गामाणुगामं रीयंते, सावत्थि पुरमागए ॥३॥
 तिंदुयं णाम उज्जाणं, तम्मि णगरमंडले । फासुए सिज्ज-संथारे, तत्थ वासमुवागए ॥४॥
 अह तेणेव कालेणं, धम्मतित्थयरे जिणे । भगवं वद्धमाणित्ति, सव्वलोगम्मि विस्सुए ॥५॥
 तस्स लोगपईवस्स, आसि सीसे महायसे । भगवं गोयमे णाम, विज्जाचरण-पारगे ॥६॥
 वारसंविऊ बुद्धे, सीससंघसमाउले । गामाणुगामं रीयंते, सेऽवि सावत्थिमागए ॥७॥
 कोट्टुगं णाम उज्जाणं, तम्मि णगरमंडले । फासुए सिज्जसंथारे, तत्थ वासमुवागए ॥८॥
 केसीकुमार समणे गोयमे य महायसे । उभओऽवि तत्थ विहरिंसु, अल्लीणा सुसमाहिया ॥९॥
 उभओ सीस-संघाणं, संजयाणं तवस्सिणं । तत्थ चिंता समुप्पण्णा गुणवंताण ताइणं ॥१०॥

—उत्त० अ २३/गा १ से १०

(ख) तंजहा—पाससामिणो तेवीसइम-तित्थयरस्स केसिनामो अणेग-सीस-गण-परिव-रो ससुरा-सुरनरिंद-पणय-पव-पंकओ बोहितो भव्व-कमलायरे, नासितो सिच्छत्तमन्धयारं, अवणेंतो मोह-निईं, मासकप्पेण विहरमाणो समोसरिओ सावत्थीए नयरीए मुणि-गणपाओगे फासुए तिंदुगाहिहाणे उज्जाणे ।

विडरुव्वियं तियसेहिं दिव्वमच्चंत-मणाभिरामं कंचणं-सयवत्तं । ठिओ तत्थ ।
समादत्ता धम्म कहा । संपत्ता देव-दाणव नरिंदाइणो त्ति । अवि य ।

तियसासुर-नय-चलणो धम्मं साहेइ गणहरो केसी । दट्टुव्व-दिट्टु-सारो मोक्ख-फलं सव्व-सत्ताणं ॥
तीय चिय नयरीए उज्जाणे कोट्टगम्मि वीरस्स । सीसो गोयमगोत्तो समोसढो इंदभुइ त्ति ॥
कंचण-पउम-निसण्णो धम्मं साहेइ सो वि सत्ताण । पुव्ववराविरुद्धं पमाण - नय - हेउ-सय-सलियं ॥
नाणा विह-वत्थ-धरा सिसा केसिस्स सियवड-समेया । गोयम-गणहर-सीसा मिलिया एगत्थ चिंतंति ॥
—धर्मोप० पृष्ठ १४०

जिन (राग-द्वेष के विजेता), अरहा (नरेन्द्र-देवों से वंदित), लोक में पूजित, तत्त्वज्ञान से युक्त आत्मावाले, सर्वज्ञ, धर्मतीर्थंकर, समस्त कर्मों को जीतनेवाले पार्श्वनाथ नाम के भगवान् (तेइसर्वे तीर्थंकर) थे ।

लोक में दीपक के समान उन पार्श्वनाथ भगवान् के ज्ञान और चारित्र के पारगामी, महायशस्वी केशीकुमार श्रमण, शिष्य थे । मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान से युक्त, तत्त्वों को जाननेवाले, शिष्यों के परिवार सहित ग्रामानुग्राम विचरते हुए वे केशीकुमार श्रमण श्रावस्ती नामक नगरी में पधारे ।

उस श्रावस्ती नगरी के समीप तिन्दुक नाम का एक उद्यान था । वहाँ प्रासुक (जीव रहित) संस्तारक युक्त स्थान में वे केशीकुमार श्रमण ठहरे ।

अस्तु—उसी समय धर्मतीर्थ की स्थापना करनेवाले, राग-द्वेष के विजेता भगवान् वर्धमान स्वामी समस्त संसार में सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर रूप से प्रसिद्ध थे । लोक में दीपक के समान उन भगवान् वर्धमान स्वामी के ज्ञान और चारित्र के पारगामी, महायशस्वी भगवान् गौतम (अपर नाम—इन्द्रभूति—प्रथम गणधर थे) शिष्य थे ।

बारह अंगों के ज्ञाता, तत्त्वज्ञानी, शिष्यों के परिवार सहित, ग्रामानुग्राम विचरते हुए, गौतम स्वामी श्रावस्ती नगरी में भी पधारे । उस श्रावस्ती नगरी के समीप कोष्ठक नाम का एक उद्यान था । वहाँ प्रासुक (जीव-रहित) संस्तारक युक्त स्थान में ठहरे गये ।

मन-वचन-काय से युक्त, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की समाधिवंत, महायशस्वी केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी दोनों ही वहाँ सुख-शांतिपूर्वक विचरते थे ।

केशीकुमार श्रमण ओर गौतम स्वामी दोनों के संयंती, तपस्वी, ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि गुण सम्पन्न, छःकाय जीवों के रक्षक, शिष्य-समुदाय के मन में वहाँ शंका उत्पन्न हुई ।

नोट—गोचरी के लिए निकले हुए उन दोनों के शिष्य समुदाय को एक ही धर्म के उपासक होने पर भी एक दूसरे के वेषादि में अन्तर दिखाई देने के कारण एक-दूसरे के प्रति शंका उत्पन्न हुई ।

(ग) केरिसो वा इमो धम्मो ? इमो धम्मो व केरिसो ? आयार-धम्मप्पणिही, इमा वा सा व केरिसी ? ११॥
चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंच-सिक्खिओ । देसिओ वट्टमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥१२॥
अचेल्लगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो । एगकज्जपवण्णाणं, विसेसे किण्णु कारणं ॥१३॥
अह ते तत्थ सीसाणं, विण्णाय पवित्कियं । समागमे कयमई, उभओ केसिगोयमा ॥१४॥
गोयमो पडिरुवणू, सीससंघसमाउले । जेटठं कुलमवेक्खंतो, तिंदुयं वणमागओ ॥१५॥

केसीकुमार समणे, गोयमं दिस्समागयं । पडिरूवं पडिवत्ति, सम्मं संपडिवज्जई ॥१६॥
 पलालं फासुयं तत्थ, पंचमं कुसतणाणि य । गोयमस्स णिसेज्जाए, खिप्पं संपणामए ॥१७॥
 केसीकुमार-समणे, गोयमे य महायसे । उभओ णिसण्णा सोहंति, चंदसूरसमप्पभा ॥१८॥
 समागया बहू तत्थ, पासंडा कोउगा मिया । गिहत्थाण अणेगाओ, साहस्सीओ समागया ॥१९॥
 देव - दाणव - गंधवा, जक्ख-रक्खस-किण्णरा । अदिस्साणं च भूयाणं, आसी तत्थ समागमो ॥२०॥
 —उत्त० अ २३/गा ११ से २०

(घ) अब्बो ! मोक्ख-कज्जे साहेयव्वे किं पुण कारणं पास-सामिणा चत्तारि महव्वयाणि निदिट्ठाणि ?
 कारणं णाए य पडिक्कमणं ?

अणस्स मुणिणो कयमण्णस्स कप्पइ । नाणाविहवत्थ-गहणं, सामाइय-संजमाईणिय । कीस
 वद्धमाणसामिणा पंच महव्वयाणि,

उभयकाल-पडिक्कमणमवस्सं, सियवत्थ-गहणं, एगस्स मुणिणो कयं आहाकम्माइ सव्वेसि न
 कप्पणिज्जं सेज्जायरपिंड-विवज्जं, सामाइयं-छेदोवत्था [व] णाईणि त्ति ?

इय एवंविहचित्तं (न्तं) सीसाणं जाणिऊण ते दो वि ।

मिच्छत्त - नासणत्थं संगम - चिंताउरा जाया ॥

तओ जेट्ठं कुलमवेक्खमाणे अणेग-सीस-गण-परिवारो वुच्चंतो विज्जाहराईहिं संपटिठओ
 गोयमो तिंदुगुज्जाणे भगवओ केसिगणहरस्स वंदण-वडियाए । भणियं च परममुणिणा । —

“गोयमो पडिवण्ण [रूवणू]-सीस-संघ-समाउलो । जेट्ठं कुलमवेक्खंतो तिंदुगं वणमागओ ॥

केसी कुमारसमणो गोयमं दिस्समागयं । पडिरूवं पडिवत्ति खिप्पं सो पडिवज्जइ ॥”

तक्खणं च सीसेहि रयाउ निसेज्जाओ कय-जहारिहविणयकम्मो गोयमो केसी य त्ति ।

“केसी कुमार-समणे गोयमे य महायसे । दुइओ निसण्णा सोहंति चंद-सूर-सम-प्पभा ॥”

तओ ताण भगवंताण समागमं सोऊल-विन्नाण-हेउं पूयाइ दंसणत्थमागया सव्वे पासंडिणो,
 गिहत्था, भवणवइ-वाणमंतर-जोइस वेमाणिया [ण] य देवाणमणेगाउ कोडीउ त्ति ।

—धर्मोप० पृ० १४०-१४१

वे शिष्य इस प्रकार शंका करने लगे कि यह हमारा धर्म कैसा है और यह इनका धर्म कैसा है तथा यह हमारी
 आचार-धर्म की व्यवस्था अर्थात् बाह्यवेष धारणादि क्रिया कैसी है और उनकी आचार-धर्म की व्यवस्था कैसी है ?

महामुनि पार्श्वनाथ भगवान् ने जो चतुर्यामि अर्थात् चार महाव्रत वाला धर्म कहा है और वर्धमान स्वामी ने
 जो यह पांच महाव्रत वाला धर्म कहा है तो इस भेद का क्या कारण है ? भगवान् वर्धमान स्वामी ने जो परिमाणोथेत
 श्वेत एवं अल्प मूल्यवाले वस्त्र रखने का धर्म कहा है । और भगवान् पार्श्वनाथ ने जो यह विशिष्ट एवं बहुमूल्य वस्त्र
 रखने रूपधर्म कहा है, तो मोक्ष प्राप्ति रूप एक कार्य के लिए प्रवृत्ति करनेवालों के बाह्याचार में इतना अन्तर होने का
 क्या कारण है ?

इसके बाद वहाँ पर अपने-अपने शिष्यों की शंका को जानकर उसकी निवृत्ति के लिए उन केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी दोनों महापुरुषों ने एक स्थान पर मिलने का विचार किया ।

केशीकुमार श्रमण तेवीसर्वे तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानिये (शिष्यानुशिष्य) थे । इसलिए उनके कुल को ज्येष्ठ मानकर विनय धर्म के ज्ञाता गौतम स्वामी अपने शिष्य समुदाय सहित तिट्ठक उद्यान में जहाँ केशीकुमार श्रमण थे—वहाँ आये ।

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी को आते हुए देखकर बहुमान भक्ति के साथ उनके योग्य सत्कार-सम्मान करने लगे । केशीकुमार श्रमण ने वहाँ गौतम स्वामी के बैठने के लिए प्रामुक, पलाल अर्थात् शाली, ब्रीहि, कोद्रव राख—ये चार और पाँचवां डाभ के तृण—ये पाँच प्रकार के पलाल दिये -

चन्द्र-सूर्य के समान कान्तिवाले महायशस्वी केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी, दोनों आसन पर बैठे हुए चंद्रमा और सूर्य के समान शोभित हो रहे थे ।

उन दोनों मुनियों की चर्चा-वार्ता को सुनने के लिए अनेक हजारों गृहस्थ वहाँ तिट्ठक वन में आये और बहुत से मृग के समान अज्ञानी पाखंडी लोग और कुतूहली लोग भी वहाँ आकर इकट्ठे हुए ।

ज्योतिषी और वैमानिक देव, दानव (भवनपति, गन्धर्व) यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि देव भी वहाँ आये और दिखाई न देनेवाले भूतों का भी वहाँ समागम था अर्थात् अदृश्य भूत भी वहाँ आये थे ।

(च) पुच्छमि ते महाभाग ! केसी गोयममब्बवी । तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥२१॥
पुच्छ भंते ! जहिच्छं ते, केसिं गोयम-मब्बवी । तओ केसी अणुण्णाए, गोयमं इणमब्बवी ॥२२॥

—उत्त० अ २३/गा २१, २२

केशीकुमार श्रमण ने गौतम स्वामी से कहा कि, 'हे महाभाग ! आपने कुछ पूछना चाहता हूँ ।' तब इस प्रकार बोलते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे ।

गौतम स्वामी ने केशीकुमार श्रमण को कहा कि, 'हे भगवन् ! आपकी जैसी इच्छा हो वैसा प्रश्न करो ।' इसके बाद गौतम स्वामी की अनुमति प्राप्त होने पर केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे ।

(छ) कालाणुरूव - किरियं सुयाणुसारेण कुरु जहा-जोगं ।
जह केसिगणहरेणं गोयम - गणहारिणो विहिया ॥५२॥

—धर्मोप० गा ५२/पृ० १४०

टीका — कालानुरूप — क्रियां पंचमहाव्रतादिलक्षणागमानुसारेण यथा — गौतम-समीपे पार्श्वनाथीयकेसि (शि) गणधरेण कृतेति ।

(ज) तओ तित्थाहिव-गणहरो त्ति काऊण सीसाईण वोहणत्थं सविणयं जाणमाणेणावि पुच्छिओ गोयमसामी केसीगणहरेण पव्वुत्त-संसर (ए) । गोयमेण भणियंउसभसामी [तित्थ-साहु] णो अच्चंतमुज्ज (ज्जु) य-जडा, वद्धमाणसामि-तित्थ-साहुणो पुण अच्चंत-वक्क-जडा । अओ पुव्विल्ल-साहूण दुव्विसोहओ, पच्छिमाण पुण दुरणुपालओ । इमिणा कारणेण दोण्हंपि पंचमहव्वयाइलक्खणो । मज्झिम-जिण-तित्थ-साहुणो पुण उजुया विसेसणुणो, तेण धम्मो दुहा कए त्ति ।

निच्छएण पुण सम्मदंसण-नाण-चरित्ताणि निव्वाण-मग्गो, ताणि य सव्वेसिं पि तित्थयरं सोसाणं सरिसाणि त्ति ।

—धर्मोप० पृ० १४१, १४२

.२ केशी-गौतम-संवाद :

(क) चारयाम (महाव्रत) के संबंध में :

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ । देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी ॥२३॥ एगकज्ज पवण्णाणं, विसेसेकिण्णु कारणं ! । धम्मे दुविहे मेहावि ! क्हं विप्पच्चओ ण ते ? ॥२४॥ तओ केसि बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी । पण्णा समिक्खए धम्मं, तत्तं तत्तविणिच्छियं ॥२५॥ पुरिमा उज्जुजडा उ, वक्कजडा य पच्छिमा । मज्झिमा उज्जुपण्णा उ, तेण धम्मो दुहा कए ॥२६॥ पुरिमाण दुव्विसोज्झो उ, चरिमाणं दुरणुपालओ । कप्पो मज्झिमगाणं तु, सुविसोज्झो सुपालओ ॥२७॥

—उत्त० अ २३/गा २३ से २७

पहला प्रश्न—महामुनि पार्श्वनाथ भगवान् ने जो यह चार महाव्रत वाला धर्म कहा है और भगवान् वर्धमान स्वामी ने जो यह पांच महाव्रत वाला धर्म कहा है । एक ही कार्य (मोक्ष प्राप्ति कार्य रूप) के लिए प्रवृत्ति करनेवालों में परस्पर विशेषता का क्या कारण है अर्थात् हम दो प्रकार के धर्म के विषय में हे बुद्धिमन् ! क्या आपको संशय नहीं होता ? अर्थात् भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् वर्धमान स्वामी दोनों सर्वज्ञ हैं, तो फिर मतभेद का क्या कारण है ?

इसके बाद इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे कि जीवादि तत्त्वों का जिसमें निश्चय किया जाता है—ऐसे धर्म तत्त्व को बुद्धि ही ठीक समझ सकती है अर्थात् बुद्धि द्वारा ही तत्त्वों का निर्णय होता है ।

पहले तीर्थंकर के साधु ऋजुजड़ होते हैं और अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं और मध्य के बाइस तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं—इसलिए धर्म दो प्रकार का कहा गया है ।

नोट—प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजुजड़ होते हैं । वे तत्त्वों के अभिप्राय को शीघ्र नहीं समझ पाते हैं । अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं, उन्हें हितशिक्षा दी जाने पर भी वे अनेक प्रकार के कुतर्कों के द्वारा परमार्थ की अवहेलना करने में उद्यत रहते हैं, तथा वक्रता के कारण झलपूर्वक व्यवहार करते हुए अपनी मूर्खता को चतुरता के रूप में प्रदर्शित करने की चेष्टा करते हैं । मध्य के बाइस तीर्थंकरों के साधु ऋजुप्राज्ञ होते हैं अर्थात् सरल और

बुद्धिमान होते हैं। वे सरलतापूर्वक समझाये जा सकते हैं और ऐसे बुद्धिमान होते हैं कि संकेत मात्र कर देने से ही वे उस तत्त्व के मर्म तक पहुँच जाते हैं। इसलिए धर्म के नियमों में भेद किया गया है अर्थात् प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं के लिए पाँच महाव्रतों का विधान किया गया है और मध्य के बाइस तीर्थंकरों के साधुओं के लिए चार महाव्रतों का कथन किया गया है।

पहले तीर्थंकर के साधुओं का आचार दुर्विशोध्य है और अन्तिम तीर्थंकर के साधुओं का आचार दुरनुपालक है और मध्य के बाइस तीर्थंकरों के साधुओं का आचार सुविशोध्य और सुपालक है। अर्थात् प्रथम तीर्थंकर के साधु अपने कल्प (आचार) को शीघ्र समझ नहीं पाते हैं। उनकी प्रकृति सरल होती है, इसलिए उनकी बुद्धि शीघ्रता से पदार्थों के अवधारण करने में समर्थ नहीं होती। अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्रजड़ होते हैं, वे किसी बात को सरलतापूर्वक समझते नहीं और समझ जाने पर भी उसका सरलता से पालन नहीं करते, क्योंकि इस काल के जीव कुतर्क उत्पन्न करने में बड़े कुशल होते हैं। मध्य के बाइस तीर्थंकरों के मुनियों को शिक्षित करना या साधु कल्प का बोध देना और उनके द्वारा उसका पालन किया जाना—ये दोनों बातें रुलभ होती है, इसलिए इनके लिए चार महाव्रतों का विधान किया गया है और प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के मुनियों के लिए पाँच महाव्रतों का विधान किया गया है।

(ख) सचेलक-अचेलक के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णो वि संसओमज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥२८॥
अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो संतरुत्तरो । दंसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥२९॥
एगकज्जपवण्णणं, विसेसे किण्णु कारणं । लिंगे दुविहे मेहावी ! कहं विप्पञ्चओ ण ते ॥३०॥
केसिमेवं बुवाणं तु, गोयमो इणमव्ववी । विण्णाणेण समागम्म, धम्म - साहण - मिच्छिर्यं ॥३१॥
पच्चयत्थं च लोगसस, णाणाविह-विगप्पणं । जत्तत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं ॥३२॥
अह भवे पइण्णा उ, मोक्ख-सब्बुयसाहणा । णाणं च दंसणं चेव, चरित्तं चेव णिच्छए ॥३३॥

—उत्त० अ २३/गा २८ से ३३

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मेरा और भी संशय है इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिए अर्थात् मेरा जो दूसरा संशय है उसे भी दूर कीजिये।

दूसरा प्रश्न—महायशस्वी महामुनिश्वर भगवान् वर्धमान स्वामी ने जो यह अचेलक (परिमाणोपेत श्वेत और अल्प मूल्यवाले वस्त्र रखने) रूप धर्म कहा है और भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी ने जो यह मानोपेत-रहित, विशिष्ट एवं बहुमूल्य वस्त्र रखने रूप धर्म कहा है, तो एकही कार्य के लिए अर्थात् मोक्ष प्राप्ति रूप कार्य के लिए प्रवृत्ति करनेवालों में परस्पर विशेषता होने में क्या कारण है ? हे मेधाविन् ! बाह्यवेश के दो भेद हो जाने पर क्या आपके मन में संदेह उत्पन्न नहीं होता है ? जब दोनों बातें सर्वज्ञ कथित है तो फिर मतभेद का क्या कारण है ?

इस प्रकार कहते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे। भगवान् पार्श्वनाथ स्वामी और भगवान् वर्धमान स्वामी ने विज्ञान द्वारा अर्थात् केवलज्ञान द्वारा जानकर यथायोग्य धर्म-उपकरणों की आज्ञा दी

है। अनेक प्रकार के उपकरणों की कल्पना, लोगों की प्रतीति एवं विश्वास के लिए है और संयम-यात्रा का निर्वाह करने के लिए तथा ज्ञानादि ग्रहण के लिए लोक में लिंग (वेश) का प्रयोजन है।

नोट—‘यह साधु है’ लोक में ऐसी प्रतीति ही इसके लिए लिंग का प्रयोजन है। अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति अपनी पूजा के लिए अपनी इच्छानुसार वेश धारण करके साधु कहलाने का ढोंग कर सकता है। संयम-यात्रा के निर्वाह के लिए तथा ज्ञानादि के ग्रहण के लिए भी वेश की आवश्यकता है। कदाचित् कर्मोदय से संयम के प्रति अरुचि अथवा मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाय तो यह विचार करना चाहिए कि मेरा साधु-वेश है। मुझे इसके अनुसार ही प्रवृत्ति करनी चाहिए।

भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् वर्धमान स्वामी की दोनों तीर्थकरों की प्रतिज्ञा तो यही है कि निश्चय में मोक्ष के वास्तविक साधन ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही है। इसलिए निश्चय में दोनों महापुरुषों की प्रतिज्ञा एक ही है, इसमें कोई मतभेद नहीं है। व्यावहारिक दृष्टि से ब्राह्मवेश में उपरोक्त कारणों से भेद है।

(ग) अंतरंग शत्रुओं के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झ, तं मे कहसु गोयमा ॥३४॥
अणेगाणं सहस्साणं, मज्झे चिट्ठसि गोयमा ! । ते य ते अहिगच्छंति, कहां ते णिज्जिया तुमे ? ॥३५॥
एगे जिए जिया पंच, पंच जिए जिया दस । दसहा उ जिणत्ताणं सब्ब-सत्तू जिणामहं ॥३६॥

—उत्त० अ २३/गा ३४ से ३६

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मेरा और भी संशय है। इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो तीसरा संशय है उसे भी दूर कीजिये।

तीसरा प्रश्न—हे गौतम ! आप अनेक हजारों शत्रुओं के बीच में खड़े हो और वे शत्रु आप पर आक्रमण कर रहे हैं। आपने उन सब शत्रुओं को कैसे जीत लिया है ?

एक के जीतने पर पाँच जीते गये और पाँचों को जीतने पर दस जीते गये और दसों शत्रुओं को जीतकर मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है अर्थात् वश में न किया हुआ आत्मा ही शत्रु है। उस एक शत्रु को जीत लेने पर पाँच (चार कषाय और एक आत्मा) शत्रु जीत लिये जाते हैं और पाँच को जीत लेने पर दस (पाँच इन्द्रियाँ, चार कषाय और एक आत्मा) शत्रु जीत लिये जाते हैं। इनको जीत लेने पर नौकषाय आदि समस्त शत्रु जीत लिये जाते हैं।

सत्तू य इइ के वुत्ते ? केसी गोयम मब्बवी । तओ केसिं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥३७॥
एगण्णा अजिए सत्तू, कसाया ईदियाणि य । ते जिणित्तु जहाणायं, विहरमि अहं मुणि ॥३८॥

—उत्त० अ २३/गा ३७, ३८

उपरोक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वे शत्रु कौन-से कहे गये हैं ? इस प्रकार उक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे।

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! वश में न किया हुआ एक आत्मा ही शत्रु है, कषाय और इन्द्रियाँ भी शत्रु है। उनको न्यायपूर्वक जीतकर मैं विचरता हूँ।

(६) प.स (राग-द्वेषादि) के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥३६॥
दीसंति बह्वे लोए, पासबद्धा सरीरिणो । मुक्क-पासो लहुब्भूओ, कहं तं विहरसि मुणी ॥४०॥
ते पासे सव्वसो छित्ता, णिहंतूण उवायओ । मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ॥४१॥
पासा य इइ के वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४२॥
रागदोसादओ तिब्बा, णेहपासा भयंकरा । ते छिदित्तु जहाणायं, विहरामि जहक्कमं ॥४३॥

—उत्त० अ २३/गा ३६ से ४३

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है । इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो चौथा संशय है उसे भी दूर कीजिये ।

चौथा प्रश्न—केशीकुमार श्रमण पूछते हैं कि लोक में बहुत से प्राणी पाश में बंधे हुए दिखाई देते हैं किन्तु हे मुने ! आप बंधन से मुक्त होकर तथा वायु के समान लघुभूत होकर (हलके होकर) कैसे विचरते हैं ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! उपाय द्वारा उन बंधनों को सर्वथा प्रकार से काटकर एवं उनका सर्वथा नाश करके मैं बंधनरहित होकर तथा अप्रतिबद्धविहारी होने से वायु के समान लघुभूत होकर विचरता हूँ ।

उपरोक्त विषय को स्पष्ट करने के लिए केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी ने इस प्रकार पूछने लगे कि वे पाश कौन-से कहे गये हैं । इस प्रकार प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

गौतम स्वामी कहते हैं कि रागद्वेषादि तथा मोह और तीव्र धन-धान्य-पुत्र कलत्र आदि के स्नेह रूपी पाश बड़े भयंकर है उनका यथान्याय छेदन करके मैं यथाक्रम अर्थात् शांतिपूर्वक विचरता हूँ ।

(च) लता के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥४४॥
अंतो - हिययसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा । फजेइ विसभक्खीणि, सा उ उद्धरिया कहं ॥४५॥
तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं । विहरामि जहाणायं, मुक्को मि विसभक्खणं ॥४६॥
लया य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥४७॥
भवतण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया । तमुद्धित्तु जहाणायं, विहरामि महामुणी ॥४८॥

उत्त० अ २३/गा ४४ से ४८

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो पांचवां संशय है उसे भी दूर कीजिये ।

पांचवां प्रश्न—हे गौतम ! हृदय के अन्दर उत्पन्न हुई एक लता है । वह लता विष के समान जहरीले फल देती है, उम लता को आपने किस प्रकार उखाड़कर समूल नष्ट कर दिया है ।

गौतम स्वामी कहने लगे कि मैंने उस लता को सर्वथा काटकर मूल सहित उखाड़कर फेंक दिया है इसी कारण उसके विष समान फल खाने से मैं मुक्त हूँ। अतः मैं जिनेश्वर देव के न्याययुक्त मार्ग में शांतिपूर्वक विचरता हूँ।

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह लता कौन-सी कही गयी। उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण को गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

हे महामुने ! संसार में तृणारूपी लता कही गयी है। वह अत्यन्त भयंकर है तथा भयंकर फल देनेवाली है, उसको यथान्याय (जिन शासन की रीति के अनुसार) उच्छेदन कर के मुखपूर्वक विचरता हूँ।

(छ) अग्नि (क्रोध-मान-माया-लोभ) के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥४६॥
संपज्जलिया घोरा, अग्गी चिट्ठइ गोयमा ! । जे उहंति मगीरत्था, कहं विज्जाविया तुमे ? ॥५०॥
महामेहप्पसूयाओ, गिज्ज वारि जलुत्तमं । सिचामि सययं ते उ, सित्ता णो व उहंति मे ॥५१॥
अग्गी य इइ के वुत्ता ? केसो गोयममव्ववी । केसिमेवं वुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥५२॥
कसाया अरिगणो वुत्ता, सुय-सील-तवो जलं । सुयधाराभिहया संता, भिण्णा हु ण उहंति मे ॥५३॥

उत्त० अ २३/गा ४६ से ५३

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मेरा और भी संशय है, इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा छट्टा संशय है उसे भी दूर कीजिये।

छट्टा प्रश्न—हे गौतम ! भयंकर जलती हुई एक अग्नि है, जो शरीर में रहकर आत्मगुणों को जलाती है। आपने किस प्रकार उसे बुझाया है ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि महामेघ से उत्पन्न हुए उत्तम जल को ग्रहण करके मैं शरीर में रही हुई उस अग्नि को निरंतर बुझाता रहता हूँ। इस प्रकार बुझाई हुई वह अग्नि मुझे अर्थात् मेरे आत्मगुणों को जलाती नहीं है।

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि, वह अग्नि कौन-सी कही गयी है और महामेघ और जल कौन-सा कहा गया है ? उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

क्रोध-मान-माया-लोभ—ये कषाय रूप अग्नि कही गयी है और श्रुत-शील-तप रूप जल कहा गया है। उस श्रुत रूप जल से सिंचित की जाने पर नष्ट हुई वह अग्नि मुझे नहीं जलाती है।

नोट—श्री तीर्थंकर देव, महामेघ के समान है। जिस प्रकार मेघ से जल उत्पन्न होता है, उसी प्रकार तीर्थंकर भगवान् के मुखारविन्द से श्रुत—आगम उत्पन्न होता है। उसमें वर्णित श्रुतज्ञान, शील और तप रूप जल है। उस श्रुत-शील और तप रूप जल के छिड़कने से कषाय रूपी अग्नि शांत हो जाती है, फिर वह आत्मगुणों को नहीं जला सकती।

(ज) (मनरूपी) दुष्ट अश्व के विषय में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥५४॥
 अयं साहस्सिओ भीमो. दुट्ठस्सो परिधावई । जंसि गोयम ! आरूढो, कहं तेण ण हीरसि ? ॥५५॥
 पहावंतं णिगिण्हामि, सुयरस्सीसमाहियं । ण मे गच्छइ उम्मग्गं, मग्गं च पडिवज्जई ॥५६॥
 आसे य इइ के वुत्ते ? कंसी गोयममव्ववी । कंसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥५७॥
 मनो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई । तं सम्मं तु णिगिण्हामि, धम्मसिक्खाइ कथंणं ॥५८॥

उत्त० अ २३/गा ५४ से ५८

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है । इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो सानवाँ संशय है उसे भी दूर कीजिये ।

सानवाँ प्रश्न—हे गौतम ! यह साहसिक और भयानक दुष्ट घोड़ा चारों ओर भागता-फिरता है । उस पर चढ़े हुए आप उस घोड़े द्वारा उन्मार्ग में क्यों नहीं लिए जाते हो—अर्थात् वह दुष्ट घोड़ा आपको उन्मार्ग में क्यों नहीं ले जाता है ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि हे मुने ! उन्मार्ग की ओर जाते हुए उस दुष्ट घोड़े को श्रुतरूपी लगाम से बांधकर मैं वश कर लेता हूँ । इससे वह मुझे उन्मार्ग में नहीं ले जाता है, किंतु सन्मार्ग में ही प्रवृत्ति करता है ।

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह घोड़ा कौन-सा कहा गया ? इस प्रकार प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

मनरूपी साहसिक और भयानक दुष्ट घोड़ा चारों ओर भागता रहता है । जिस प्रकार जातिवान घोड़ा शिक्षा द्वारा सुधर जाता है । उसी प्रकार मनरूपी घोड़े को सम्यग् प्रकार से धर्म की शिक्षा द्वारा मैं वश में रखता हूँ ।

(झ) सन्मार्ग-कुमार्ग के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु, गोयमा ॥५६॥
 कुप्पहा वहवो लोए, जेहि णासंति जंतवो । अट्ठणे कहं वट्ठंतो, तं ण णाससि गोयमा ? ॥६०॥
 जे य मग्गेण गच्छंति, जे य उम्मग्ग-पट्टिया । ते सव्वे वेइया मज्झं, तो ण णस्सामहं मुणी ॥६१॥
 मग्गे य इइ के वुत्ते, कंसी गोयममव्ववी । कंसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमव्ववी ॥६२॥
 कुप्पवयण - पामंडी, सव्वे उम्मग्ग-पट्टिया । सम्मग्गं तु जिणक्खायं, एस मग्गे हि उत्तमे ॥६३॥

उत्त० अ २३/गा ५६ से ६३

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है, इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो आठवाँ संशय है, उसे भी दूर कीजिये ।

लोक में बहुत से कुमार्ग हैं, जिससे प्राणी सुमार्ग से भ्रष्ट हो जाते हैं । हे गौतम ! सुमार्ग में रहे हुए आप कैसे सुमार्ग से भ्रष्ट नहीं होते हो ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि जो सुमार्ग से जाते हैं और जो उन्मार्ग में प्रवृत्ति करते हैं—उन सबको मैंने जान लिया है, इसलिए हे मुने ! मैं सुमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता ।

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह सुमार्ग और कुमार्ग कौन-सा कहा गया है । इस प्रकार प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे —

जो कुप्रवचन को माननेवाले पाखण्डी लोग हैं, वे सभी उन्मार्ग में प्रवृत्ति करनेवाले हैं । जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्ररूपित मार्ग ही सन्मार्ग है—इसलिए यह मार्ग ही उत्तम मार्ग है ।

(ब) धर्म रूप द्वीप के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥६४॥
महा - उदगवेगेण, बुज्झमाणाण पाणिणं । सरणं गई पइट्ठा य, दीवं कं मण्णसि मुणी ॥६५॥
अत्थि एगो महादीवो, वारिमज्झे महालओ । महाउदगवेगस्स, गई तत्थ ण विज्जई ॥६६॥
दीवे य इइ के बुत्ते ? केसी गोयममब्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥६७॥
अरामरणवेगेणं, बुज्झमाणाण पाणिणं । धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं ॥६८॥

उत्त० अ २३/गा ६४ से ६८

हे गौतम ! अपनी बुद्धिश्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है, इसलिये हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिए अर्थात् मेरा जो नत्रवां संशय है—उसे भी दूर कीजिये ।

नववां प्रश्न—केशीकुमार श्रमण पूछते हैं कि हे मुने पानी के महान प्रवाह द्वारा बहाये जाते हुए प्राणियों के लिए शरणरूप तथा गतिरूप और प्रतिष्ठा रूप अर्थात् दुःख से पीड़ित प्राणी जिसका आश्रय लेकर सुखपूर्वक रह सके ऐसा द्वीप आप किसे मानते हैं ।

(समुद्र) पानी के मध्य में बहुत ऊंचा एवं विस्तृत एक महाद्वीप है उस पर पानी के महान् प्रवाह की गति नहीं है अर्थात् उस महाद्वीप में जल का प्रवेश नहीं हो सकता ।

केशी कुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह द्वीप कौन सा कहा गया है । उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशी कुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे ।

जरा और मरण के वेग से प्रवाहित होते हुए प्राणियों के लिए धर्मरूपी द्वीप है, वह गति रूप है और उत्तम शरण रूप है तथा प्रतिष्ठा रूप है अर्थात् धर्म ही एक ऐसा द्वीप है जिसका आश्रय लेकर प्राणी संसार रूपी समुद्र से पार हो सकते हैं ।

(ट) नौका के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ॥६९॥
अण्णवंसि महोहंसि. णावा विपरिधावई । जंसि गोयम आरूढो क्हं पारं गमिस्ससि ? ॥७०॥

जा उ अस्साविणी णावा, णं सा पारस्स गामिणी । जा णिरस्साविणी णावा, सा उ पारस्स गामिणी ॥७१॥
णावा य इइ का वुत्ता ? केसी गोयममब्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७२॥
सरीरमाहु णावत्ति, जीवो वुच्चइ णाविओ । संसारो अण्णवो वुत्तो, जं तरंति महेसिणो ॥७३॥

—उत्त० अ २३/गा ६६ से ७३

हे गौतम ! आपको बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है, इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो दसवाँ संशय है—उसे भी दूर कीजिये ।

दसवाँ प्रश्न—महाप्रवाह वाले समुद्र में एक नौका विपरीत दिशा में जा रही है । हे गौतम ! उस पर चढ़े हुए आप कैसे पार हो जाओगे ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि—“जो नौका छिद्रोंवाली होती है—वह कभी पार ले जानेवाली नहीं होती, अपितु वह स्वयं समुद्र में डूब जाती है और उस में बैठे हुए मनुष्यों को भी डूबा देती है किन्तु जो नौका छिद्रों रहित है वह अवश्य ही पार ले जानेवाली होती है ।”

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि—‘वह नौका कौन-सी कही गयी है ।’ उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

‘तीर्थंकर देव ने इस शरीर को नौका कही है और जीव नाविक (नौका) को चलानेवाला कहा जाता है तथा संसार, समुद्र कहा गया है, जिसे महर्षि लोग तिरकर पार हो जाते हैं ।’

(ठ) सत्त्वे सूर्य के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७४॥
अंधयारे तमे घोरे, चिट्ठंति पणिणो बहू । को करिस्सइ उज्जोर्यं, सब्वल्लोयम्मि पाणिणं ॥७५॥
उग्गओ विमलो भाणू, सब्वल्लोय-पभंकरो । सो करिस्सइ उज्जोर्यं, सब्वल्लोयम्मि पाणिणं ॥७६॥
भाणू य इइ के वुत्ते, केसी गोयममब्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥७७॥
उग्गओ खीणसंसारो, सब्वण्णू जिणभक्खरो । सो करिस्सइ उज्जोर्यं, सब्वल्लोगम्मि पाणिणं ॥७८॥

उत्त० अ २३/गा ७४ से ७८

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है । मेरा और भी संशय है, इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो ग्यारहवाँ संशय है—उसे भी दूर कीजिये ।

ग्यारहवाँ प्रश्न—जहाँ आँखों की प्रवृत्ति रुक जाने से पुरुष अंधे के समान बन जाता है, ऐसे घोर अंधकार में बहुत से प्राणी रहते हैं । उन प्राणियों के लिए सम्पूर्ण लोक में कौन उद्योत करेगा ।

गौतम स्वामी कहते हैं कि—‘सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करनेवाला एक निर्मल सूर्य उदय हुआ है । वह प्राणियों के लिए सारे संसार में उद्योत करेगा ।’

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि वह सूर्य कौन-सा कहा गया है। उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

क्षीण हो गया है संसार जिसका अर्थात् संसार के मूलभूत कर्मों का क्षय कर देनेवाला सर्वज्ञ, जिनेन्द्र भगवान् रूपी सूर्य उदय हुआ है। वह प्राणियों के लिए सम्पूर्ण लोक में प्रकाश करेगा।

(६) क्षेमरूप, शिवरूप-बाधापीड़ा रहित स्थान के सम्बन्ध में :

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । अण्णोऽवि संसओ मज्झं, तं मे कहसु गोयमा ! ॥७६॥
 सारीरमाणसे दुक्खे, बज्झमाणण पाणिणं । खेमं शिव-मणावाहं, ठाणं किं मण्णसी मुणी ॥८०॥
 अत्थि एगं धुवं ठाणं, लोगगम्मि दुरारुहं । जत्थ णत्थि जरामच्चू, बाहिणो वेयणा तहा ॥८१॥
 ठणे य इइ के दुत्ते ? केसी गोयमम्बवी । केसिमेवं बुवंतं तु, गोयमो इणमब्बवी ॥८२॥
 णिव्वाणं ति अब्बाहं ति, सिद्धि लोगगमेव य । खेमं सिवं अणावाहं, जं चरंति महेसिणो ॥८३॥
 तं ठाणं सासयं वासं, लोगगम्मि दुरारुहं । जं संपत्ता ण सोयंति, भवोहंतकरा मुणी ॥८४॥
 उक्त० अ २३/गा ७६ से ८४

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है। आपने मेरा यह संशय दूर कर दिया है। मेरा और भी संशय है, इसलिए हे गौतम ! उसके विषय में भी मुझे कहिये अर्थात् मेरा जो बारहवाँ संशय है—उसे भी दूर कीजिये।

बारहवाँ प्रश्न—हे मुने ! शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित होते हुए अथवा आकुल-व्याकुल बने हुए प्राणियों के लिए क्षेम रूप, शिवरूप और बाधा-पीड़ा रहित स्थान आप कौन-सा मानते हैं ?

गौतम स्वामी कहते हैं कि—“लोक के अग्रभाग पर एक ध्रुव स्थान है। जहाँ बुढ़ापा, मृत्यु, व्याधि तथा वेदना नहीं है किन्तु वह स्थान दुरारुह है अर्थात् उस स्थान तक पहुँचना बड़ा कठिन है।”

केशीकुमार श्रमण गौतम स्वामी से इस प्रकार पूछने लगे कि, “वह स्थान कौन-सा कहा गया है ?” उपरोक्त प्रकार से प्रश्न करते हुए केशीकुमार श्रमण से गौतम स्वामी इस प्रकार कहने लगे—

“हे मुने ! वह स्थान निर्वाण, अव्याबाध, सिद्धि, क्षेम, शिव और अनाबाध इत्यादि नामों से कहा जाता है और वह स्थान लोकाग्र पर स्थित है, उस स्थान को महर्षि लोग प्राप्त करते हैं।”

वह स्थान शाश्वत है, लोक के अग्रभाग पर स्थित है। वह दुरारुह है अर्थात् वहाँ पर पहुँचना अत्यन्त कठिन है, उरकादि भवों की परम्परा का अन्त करनेवाले मुनि उस स्थान को प्राप्त करते हैं और वहाँ पर पहुँचने पर शोक नहीं करते अर्थात् वहाँ पहुँचने के बाद शोक, क्लेश, जन्म, जरा आदि दुःख कभी भी नहीं होते—फिर कभी संसार में नहीं आना पड़ता।

.३ गौतम स्वामी से केशी स्वामी ने चार महाव्रत से पंच महाव्रत ग्रहण किये।

साहु गोयम ! पण्णा ते, छिण्णो मे संसओ इमो । णमो ते संसयातीत ! सव्वसुत्तमहोयही ॥८५॥
 एवं तु संसए छिण्णे, केसी घोरपरक्कमे । अभिवंदित्ता सिरसा, गोयसं तु महयसं ॥८६॥

पंच महव्ययधम्मं पड्विज्जइ भावओ । पुरिमस्स पच्छिमम्मि, मग्गे तत्थ सुहावहे ॥८७॥
केसोगोयमओ णिच्चं, तम्मि आसि समागमे । सुय-सील-समुक्कसो, महत्थत्थ विणिच्छओ ॥८८॥
त्तेसिया परिसा सव्वा, सम्मग्गं समुवट्ठिया । संथुया ते पसीयंतु, भयवं केसिगोयमे । त्तिवेमि ॥८९॥

उत्त० अ २३/गा ८५ से ८६

हे गौतम ! आपकी बुद्धि श्रेष्ठ है । आपने मेरे इन संशयों को दूर कर दिया है । हे संशयातीत ! हे सर्व सूत्र महोदधि ! अर्थात् सर्वशास्त्रों के ज्ञाता आपको नमस्कार करता हूँ ।

इस प्रकार संशय दूर हो जाने पर घोर पराक्रम वाले केशीकुमार श्रमण ने महायशस्वी गौतम स्वामी को मस्क से वन्दना करके (हाथ जोड़कर तथा सिर झुकाकर) वहीं तिनदुक वन में पाँच महाव्रत रूप धर्म की भावपूर्वक अंगीकार किया और वे उस रुखकारी मार्ग में विचरने लगे जो, प्रथम और अंतिम तीर्थंकर देवों के साधुओं के लिए प्ररूपित किया गया है ।

उस तिनदुक उद्यान में केशीकुमार श्रमण और गौतम स्वामी का जो नित्य, समागम हुआ, उससे श्रुत और चारित्र्य की वृद्धि करनेवाले, महाम् पदार्थों का निर्णय हुआ ।

नोट—श्री केशीकुमार श्रमण और उनके शिष्य तथा श्री गौतम स्वामी और उनके शिष्य जबतक श्रावस्ती नगरी रहे, तबतक नित्य प्रति उनका समागम होता रहा ।

देव, असुर और मनुष्यों से युक्त वह सारी सभा अत्यन्त संतुष्ट हुई और सभी सन्मार्ग में प्रवृत्त हुए तथा वे सभी स्तुति करने लगे कि भगवान् केशीकुमार और गौतम स्वामी सदा प्रसन्न रहें एवं जयवंत रहें ।

.४ श्रमण भगवान् महावीर की समकालीन अवस्था में गौतम स्वामी का भिक्षार्थ जाना :

(क) तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे जाव सिरीवणे विहरइ । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभुई अणगारे जहा पण्णत्तीए जाव पोलासपुरे णयरे उच्चणीय जाव अडइ ।
—अंत० व ६/अ १५

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर ग्रामानुग्राम विचरते हुए श्रीवन उद्यान में पधारे ।

उस समय भगवान् के ज्येष्ठ अंतेवासी इन्द्रभूति भगवान् को पूछकर पोलासपुर नगर में ऊँच, नीच, मध्यम कुलों में गृह सामुदायिक भिक्षार्थ भ्रमण करने लगे ।

.५ गौतम गणधर और आणंद श्रावक :

.१ वाणिज्य ग्राम में भिक्षार्थ आज्ञा मानना—भिक्षार्थ जाना :

(क) तए णं भगवं गोयमे छट्ठकवमणपारणगंसि पढमाए पोरिसिए सज्झायं करेइ, विइयाए पोरिसीए ज्ञाणं झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियं अचवत्तं असम्भन्ते मुहपोत्तियं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता,

भायणं-वत्थाइं पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता भायणाइं वत्थाइं पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइं उग्गाहेइ, उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ, नमंसइ, वंदित्ता, नमंसित्ता एवं वयासी—“इच्छामि णं भंते ! तुब्भेहिं अब्भणुण्णाए [समाणे] छट्ठक्खमणपारणगंसि वाणियगामे नयरे उच्चनीय मज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडितए ।” “अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिवन्धंकरेह” ॥

—उवा० अ १/सू ७०

तदनन्तर भगवान् गौतम ने षष्ठक्षपणा के अर्थात् बेला उपवास के पारणे के दिन प्रथम पौरुषी में स्वाध्याय किया, दूसरी पौरुषी में ध्यान किया, तीसरी पौरुषी में शीघ्रता रहित चपलता रहित असंभ्रांत होकर मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की, प्रतिलेखना करके पात्र और वस्त्रों की प्रतिलेखना की। प्रतिलेखना करके पात्र-वस्त्रों का प्रमार्जन किया। प्रमार्जन करके पात्रों को उठाया। उठाकर जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे—वहाँ आये। आकर श्रमण भगवान् महावीर को वंदना-नमस्कार किया। वंदना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—“भगवन् ! आपकी अनुमति प्राप्त होने पर बेला पारणा के लिए वाणिज्यग्राम नगर में उच्च-नीच और मध्यम कुलों में गृह-समुदानी-सामूहिक घरों में भिक्षाचर्या के लिए पर्यटन करना चाहता हूँ।” भगवान् ने उत्तर दिया—“हे देवानुप्रिय ! जैसे तुमको सुख हो—विलम्ब न करो।”

(ख) तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं अब्भणुण्णाए समाणे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियाओ दूइपलासाओ चेइयाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता अतुरियमचवत्तमसंभंते जुगंतर पडिलोयणाए दिट्ठीए पुरओ रियं सोहेमाणे-सोहमाणे जेणेव वाणियगामे नयरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता वाणियगामे नयरे उच्चनीयमज्झिमाइं कुलाइं घरसमुदाणस्स भिक्खायरियाए अडइ ।

उवा० अ १/सू ७१

तदन्तर भगवान् गौतम श्रमण भगवान् महावीर से अनुमति मिल जाने पर श्रमण भगवान् महावीर के पास से दूतिपलाश चैत्य से निकले। निकलकर बिना शीघ्रता किये चपलता रहित—असंभ्रांत होकर अर्थात् युगपरिमाण अवलोकन करनेवाली दृष्टि से आगे की ओर ईर्या का शोषन करते हुए—जहाँ वाणिज्यग्राम नगर था, वहाँ पहुँचे। पहुँचकर वाणिज्यग्राम नगर में उत्तम, मध्यम, नीच कुलों में गृह समुदानी भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करने लगे।

२. गौतम द्वारा आनंद की चर्चा-विषयक समाचार का श्रवण :

तए णं से भगवं गोयमे वाणियगामे नयरे, जहा पण्णत्तीए तहा जाव भिक्खायरियाए अडमाणे अहापज्जत्तं भत्तपारणं पडिग्गाहेइ, पडिग्गाहेत्ता वाणियगामाओ नयराओ पडिणिग्गच्छइ, पडिणिग्गच्छित्ता कोल्लायस्स सन्निवेसस्स अदूरसामंतेणं वीइवयमाणे, बहुजणसइं निसामेइ, बहुजणो अन्नमन्नस्स एवमाइक्खइ ४—“एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी आणंदे नामं समणोवासए पोसहसालाए अपच्छिम जाव अणवकंखमाणे विहरइ ।

—उवा० अ १/सू ७२

तदनन्तर उस भगवान् गौतम ने वाणिज्यग्राम नगर में भिक्षाचर्या के लिए भ्रमण करते हुए यथापर्याप्त भक्तपान सम्यग् रूप से ग्रहण किया, ग्रहण करके वाणिज्यग्राम नगर से निकले। निकलकर के जब वे कोल्लाक सन्निवेश के पास से जा रहे थे तो बहुत से मनुष्यों को यह कहते हुए सुना, बहुत मनुष्य परस्पर इस प्रकार कह रहे थे—‘हे देवानुप्रियो। इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर का शिष्य आनन्द नामक श्रावक पौषधशाला में अपश्चिम मारणांतिक संलेखना किये हुए यावत् मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए विचर रहा है।’

.३ गौतम का आनन्द के पास पहुँचना :

तए णं तस्स गोयमस्स बहुजणस्स अंतिए एयमट्ठं सोच्चा निसम्मं अयमेयारूवे अज्झत्थिय ४—“तं गच्छामि णं आणंदं समणोवासयं पासामि।”

एवं संपेहेइ, संपेहित्ता जेणेव कोल्लाए सन्निवेशे जेणेव आणंदे समणोवासए. जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छइ।

—उवा० अ १/सू ७३

अनेक मनुष्यों से यह बात सुनकर गौतम स्वामी के यह विचार आया कि मैं इधर का उधर ही जाऊँ और आनंद श्रमणोपासक को देखूँ।

यह विचारकर वे कोल्लाक सन्निवेश में स्थित पौषधशाला में बैठे हुए आनंद श्रावक के पास आये।

.४ आनंद ने गौतम स्वामी को अपने पास आने का निवेदन किया :

तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ठ जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“एवं खलु भंते ! अहं इमेणं ओरालेणं जाव धम्मणिसंतए जाए, नो संचाएमि देवाणुप्पियस्स अंतियं पाउब्भवित्ता णं तिकखुत्तो मुद्धानेणं पाए अभिवंदित्तए, तुब्भेणंभंते ! इच्छाकारेणं अणभिओगेणं इओ चेव एह जा णं देवाणुप्पियाणं तिकखुत्तो मुद्धानेणं पाएसु वंदामि नमंसामि।

—उवा० अ १/सू ७४

तदनन्तर उस आनन्द समणोपासक ने भगवान् गौतम को आते हुए देखा, देखकर हृष्ट, तुष्ट यावत् प्रसन्न हृदय होकर भगवान् गौतम को वंदन-नमस्कार किया। वंदन-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—‘हे भगवान् ! इस प्रकार मैं इस उदार तपस्या से यावत् धमनियों से व्याप्त हो गया हूँ, अतः देवानुप्रिय के पास में आकर तीन बार मस्तक से पैरों को वंदना करने में समर्थ नहीं हूँ।’

हे भगवन् ! आप ही इच्छापूर्वक और बिना किसी दबाव के यहाँ पधारिए। जिससे मैं देवानुप्रिय को तीन बार मस्तक द्वारा चरणों में वंदना-नमस्कार करूँ।

५ आनन्द द्वारा अपने अवधिज्ञान की सूचना :

तए णं से भगवं गोयमे जेणेव आणंदे समणोवासए, तेणेव उवागच्छइ ।

तए णं से आणंदे समणोवासए भगवओ गोयमस्स तिवद्धुत्तो मुद्धानेणं पाएसु वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—“अत्थि णं भंते ! गिहिणो गिहमज्जावसंतस्स ओहिनाणं समुपज्जइ” “हंता अत्थि” ।

जहणं भंते ! गिहिणो जाव समुपज्जइ, एवं खलु भंते । ममवि गिहिणो गिहमज्जावसंतस्स ओहिनाणे समुप्पण्णे—पुरत्थिमे णं लवणसमुद्दे पंचजोयणसयाइं जाव लोलुयच्चुयं नरयं जाणामि पासामि ।

—उवा० अ १/सू ७५

तत्पश्चात् भगवान् गौतम जहाँ आनन्द भ्रमणोपासक था—वहाँ आये ।

तदनन्तर आनन्द ने भगवान् गौतम को तीन बार मस्तक से पैरों में वंदना की, नमस्कार किया ।

वंदना-नमस्कार करके इस प्रकार कहा—‘भगवन् ! क्या गृहस्थ को घर में रहते हुए क्या अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है ?’ भगवान् ने उत्तर दिया—‘हाँ, हो सकता है ।’ पुनः आनन्द ने कहा—‘हे भगवन् ! यदि गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, तो हे भगवन् ! इस प्रकार मुझ गृहस्थ को भी घर में रहते हुए की अवधिज्ञान की उत्पन्न हुआ है—पूर्व की ओर लवण समुद्र में पाँच सौ योजन क्षेत्र को जानने और देखने लगा । इसी प्रकार दक्षिण और पश्चिम में भी पाँच सौ योजन तक जानने-देखने लगा । उत्तर की ओर धुल्लहेमवान् वर्षधर पर्वत को जानने-देखने लगा तथा ऊर्ध्वलोक में सौधर्मकल्प तक जानने-देखने लगा । अधोलोक में इस रत्नप्रथा पृथ्वी के चौरासी हजार वर्ष की स्थिति वाले लोलुयाच्युत नरक तक जानने-देखने लगा ।

६ गौतम का संदेह और आनन्द का उत्तर :

तए णं से भगवं गोयमे आणंदं समणोवासयं एवं वयासी—“अत्थि णं आणंदा ! गिहिणो जाव समुप्पज्जइ । नो चेव णं एमहालए । तं णं तुमं, आणंदा ! एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव तवोकम्मं पडिवज्जाहि ।

तए णं से आणंदे समणोवासए भगवं गोयमं एवं वयासी—अत्थि णं भंते ! जिणवयणे संताणं तच्चाणं तहियाणं सब्भूयाणं भावाणं आलोइज्जइ जाव पडिवज्जिज्जइ ? नो इणट्टे समट्टे । —

‘जइ णं भंते ! जिणवयणे संताणं जाव भावाणं नो आलोइज्जइ जाव तवोकम्मं नो पडिवज्जिज्जइ तां णं भंते ! तुब्भे चेव एयस्स ठाणस्स आलोएह जाव पडिवज्जेह ।’

—उवा० अ १/सू ७७, ७८

तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द भ्रमणोपासक से इस प्रकार बोले—“हे आनन्द, यह ठीक है कि घर में रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान उत्पन्न हो सकता है, किन्तु इतना विशाल नहीं । इसलिए हे आनन्द, तुम मुषावाद रूप इस स्थान की आलीचना करो यावत् उसे शुद्ध करने के लिए तपस्या स्वीकार करो ।”

तत्पश्चात् वह आनन्द श्रमणोपासक भगवान् गौतम को इस प्रकार बोला—‘हे भगवन् ! क्या जिन शासन में सत्य, तात्त्विक, तथ्य तथा सद्भूत भावों के लिए भी आलोचना की जाती है ? और यावत् तपः कर्म स्वीकार किया जाता है ।

गौतम ने उत्तर दिया—ऐसा नहीं है, तब आनन्द ने कहा—हे भगवन् ! यदि जिन प्रवचन में सत्य आदि धार्यों की आलोचना नहीं होती यावत् उनके लिए तपः कर्म स्वीकार नहीं किया जाता । तो हे भगवन् ! आप ही इस स्थान के लिए आलोचना कीजिये । यावत् तपः कर्म स्वीकार कीजिये ।

.७ गौतम का शंकित होकर भगवान् के पास आगमन :

तए णं से भगवं गोयमे आणंदेणं समणोवासएणं एवं वुत्ते समाणे, संकिए कंखिए विइगिच्छा समावन्ने, आणंदस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिकखमइ, पडिणिकखभित्ता जेणेव दूइपलासे चेइए, जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छइ-उवागच्छइत्ता समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरसामन्ते गमणागमणाए पडिक्कमइ पडिक्कमित्ता एसणमणेसणं अलोएइ, अलोइत्ता भत्तपाणं पडिदंसइ, पडिदंसित्ता समणं ‘भगवं वंदइ नमंसइ, विंदत्ता णमंसित्ता एवं वयासी—“एवं खलु भंते ! अहं तुब्भेहिं अब्भगुण्णाए तं चेव सव्वं कहेइ, जाव तएणं अहं × × × संकिए ३ आणंदस्स समणो-वासगस्स अंतियाओ पडिक्खमाभि, पडिणिकखभित्ता जेणेव इहं तेणेव हव्वमागए, तं णं भंते ! किं आणंदेणं समणोवासएणं तस्स ठाणस्स अलोएयव्वं जाव पडिवज्जेयव्वं उदाहु मए ?”

गोयमा इ ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमां एवं वयासी—गोयमा ! तुमं चेवणं तस्स ठाणस्स अलोएहि जाव पडिवज्जाहि, आणंदं च समणोवासयं एवमट्टं खामेहि ।

—उवा० अ १/सू ७६ से ८१

तदनन्तर भगवान् गौतम आनन्द श्रमणोपासक के द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर शंकित, कांक्षित और विचिकित्सा युक्त होकर आनन्द के पास से निकले । निकलकर जहाँ दूतिपलास चैत्य था जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ पहुँचे । पहुँचकर श्रमण भगवान् महावीर के पास में गमनागमन कर प्रतिक्रमण किया । प्रतिक्रमण करके एषणीय-अनेषणीय की आलोचना की । आलोचना करके आहार-पानी दिखलाया । दिखाकर श्रमण भगवात् महावीर को वन्दना कर नमस्कार किया ।

वंदना, नमस्कार करके इस प्रकार बोले—‘हे भगवन् ! इस प्रकार निश्चय ही मैं आपकी अनुमति मिलने पर इत्यादि सारी घटनाएँ कह सुनाई, यावत् उससे मैं शंकित होकर आनन्द श्रमणोपासक के पास से निकला ।”

निकलकर यहाँ आप विराजमान हैं, वहाँ शीघ्रतापूर्वक आया हूँ, तो क्या भगवन् ! उस स्थान के लिए आनन्द श्रमणोपासक को आलोचना करनी चाहिए, यावत् ग्रहण करना चाहिए अथवा मुझे, गौतम ! यह संबोधन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने भगवान् गौतम को इस प्रकार कहा—‘हे गौतम ! तुम ही उस स्थान की आलोचना करो, यावत् तपः कर्म स्वीकार करो और आनन्द श्रमणोपासक से इस बात के लिए क्षमा प्रार्थना करो ।

.८ गौतम द्वारा क्षमा याचना :

तए णं से भगवं गोयमे, समणस्स भगवओ महावीरस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ-जाव पडिवज्जइ, आणंदं च समणोवासयं एयमट्ठं खामेइ ।

—उवा० अ १/सू ८२

गौतम ने भगवान् महावीर के उक्त कथन को विनयपूर्वक स्वीकार किया और उस दोष की आलोचना की तथा प्रायश्चित्त के रूप में आनन्द श्रावक से क्षमा-याचना की ।

.६ महाशतक श्रावक और गौतम गणधर

.१ गौतम का आगमन :

(क) तए णं से भगवं गोयमे समणस्स भगवओ महावीरस्स 'तह' त्ति एयमट्ठं विणएणंपडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्खमित्ता रायगिहं नयरं मज्झं-मज्झेणं अणुप्पविसइ, अणुप्प-विसित्ता जेणेव महासतगस्स समणोवासगस्स गिहे जेणेव महासतए समणोवासए तेणेव उवागच्छइ ।

—उवा० अ ८/सू ४७

तदनन्तर श्री भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान् महावीर की इस बात को (रेवती पत्नी द्वारा दूसरी तथा तीसरी बार ऐसा कहने पर महाशतक क्रुध हो गया । उसने अवधिज्ञान का प्रयोग करके रेवती का भविष्य देखा और उसने नरक में उत्पन्न होने की बात कही ।) यही ठीक है, कहकर—विनयपूर्व स्वीकार किया, स्वीकार करके वहाँ से निकले, निकलकर राजगृह नगर के बीच में प्रवेश किया ।

प्रवेश करके जहाँ महाशतक श्रमणोपासक का घर था—जहाँ महाशतक श्रमणोपासक था—वहाँ आये ।

(ख) तए णं से महासतए समणोवासए भगवं गोयमं एज्जमाणं पासइ, पासित्ता हट्ट जाव हियए भगवं गोयमं वंदइ नमंसइ ।

—उवा० अ ८/सू ४८

महाशतक भगवान् गौतम को आते देखकर प्रसन्न और संतुष्ट हुआ और उन्हें वंदन-नमस्कार किया ।

(ग) तए णं से भगवं गोयमे महासतयं समणोवासयं एवं वयासी—एवं खलु देवाणुप्पिया ! समणे भगवं महावीरे एवमाइक्खइ, भासइ, पण्णवेइ, परूवेइ—“नो खलु कप्पइ देवाणुप्पिया ! समणो-वासगस्स अपच्छिम जाव वागरित्तए । तुमे णं देवाणुप्पिया ! रेवई गाहावइणी संतेहिं जाव वागरिआ ।” तं णं तुमं देवाणुप्पिया । एयस्स ठाणस्स आलोएहि जाव पडिवज्जाहि ।”

—उवा० अ ८/सू ४९

तदनन्तर भगवान् गौतम महाशतक श्रमणोपासक से इस प्रकार बोले—“हे देवानुप्रिय ! इस प्रकार श्रमण भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है, भाषण किया है, प्रतिपादन किया है, प्ररूपित किया है कि हे देवानुप्रिय नहीं कल्पना श्रमणोपासक को—अंतिम संलेखनाधारी को यावत् ऐसा कहना—तुमने देवानुप्रिय ! रेवती गाथापत्नी को तथ्य रूप वचन कहे—अतः हे देवानुप्रिय ! तुम इस स्थान की आलोचना करो यावत् प्रायश्चित्त करो ।

२ महाशतक का भूल स्वीकार करना और प्रायश्चित्त करना :

तए णं से महासतए समणोवासए भगवओ गोयमस्म तह त्ति एयमट्ठं विणएणं पडिसुणेइ, पडिसुणेत्ता तस्स ठाणस्स आलोएइ जाव अहारिहं पायच्छित्तं तवोकम्मं पडिवज्जइ । —उवा० अ ८/सू ५०

तदनन्तर उस महाशतक श्रमणोपासक ने भगवान् गौतम की इस बात को तथेति (ठीक है) कहकर विनयपूर्वक स्वीकार किया । स्वीकार करके उस बात की आलोचना की यावत् यथायोग्य प्रायश्चित्त अंगीकार किया ।

३ गौतम का महाशतक श्रावक के घर से वापस आना :

तए णं से भगवं गोयमे महासतगस्स समणोवासगस्स अंतियाओ पडिणिक्खमइ, पडिणिक्ख-
मित्ता रायगिहं नयरं मज्झंमज्झेणं निग्गच्छइ, निग्गच्छित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव
उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ नमसइ, वंदित्ता नमसित्ता संजमेणं तवसा अण्णाणं
भावेमणे विहरइ । ५१॥ —उवा० अ ८/सू ५१

महाशतक—आणंद आदि दस प्रमुख श्रावकों में एक श्रावक था ।

भगवान् गौतम महाशतक श्रमणोपासक के समीप से निकले—निकलकर राजगृह नगरी के बीच में से होते हुए
जहाँ पर श्रमण भगवान् महावीर थे—वहाँ आये—आकर श्रमण भगवान् महावीर को वंदन-नमस्कार किया ।

वंदन-नमस्कार करके संयम-तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे ।

७ अन्यतीर्थियों से गौतम स्वामी का वाद-विवाद :

१ अन्यतीर्थियों द्वारा प्रश्न :

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे जाव पुढविसिलापट्ठओ, तस्स णं गुणसिलस्स चेइयस्स
अदूरसामंते बहवे अण्णउत्थिया परिवसंति । तए णं समणे भगवं महावीरे जाव समासढे जाव परिसा
पडिगया । तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स जेट्ठे अंतेवासी इंदभुई णामं
अणगारे जाव उड्डंजाणू जाव विहरइ । तए णं ते अण्णउत्थिया जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छंति,
उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी—‘तुब्भे णं अज्जो ! तिविहं तिविहेणं अस्संजय जाव एगंतबाला
यावि भवह ।’

तए णं भगवं गोयमे अण्णउत्थिए एवं वयासी—‘केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं
अस्संजय जाव एगंतबाला यावि भवामो ।’ तए णं ते अण्णउत्थिया भगवं गोयमं एवं वयासी—‘तुब्भे
णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह, अभिहणह जाव उवइवेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतबाला
यावि भवह ।’

तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं वयासी—‘णो खलु अज्जो ! अम्हे रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेमो जाव उद्दवेमो, अम्हे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा कायं च जोयं च रीयं च पडुच्च दिस्सा-दिस्सा पदिस्सा-पदिस्सा वयामो, तए णं अम्हे दिस्सा-दिस्सा वयमाणा पदिस्सा-पदिस्सा वयामो, तए णं अम्हे दिस्सा-दिस्सा वयमाणा पदिस्सा-पदिस्सा वयमाणा णो पाणे पेच्चेमो जाव णो उद्दवेमो, तए णं अम्हे पाणे अपेच्चेमाणा जाव अणोद्दवेमाणा तिविहं तिविहेणं जाव एगंतपंडिया यावि भवामो, तुब्भे णं अज्जो ! अप्पणा चेव तिविहं तिविहेणं जाव एगंतबाला यावि भवह ।

—भग० श १८/३ ८/सू १६३ से १६८

उस काल उस समय में राजगृह नामक नगर यावत् पृथ्वीशिलापट्ट था । उस गुणशील उद्यान के समीप बहुत से अन्यतीर्थिक रहते थे । अन्यदा किसी समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी वहाँ पधारे यावत् परिषद् वंदना कर चली गई । उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के ज्येष्ठ अंतेवासी इन्द्रभूति अनगर यावत् ऊर्ध्वजानु (दोनों घुटने ऊँचे करके) तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे । उस समय वे अन्यतीर्थिक गौतम स्वामी के समीप आकर कहने लगे कि, ‘हे आर्यों ! तुम त्रिविध-त्रिविध (तीन करण तीन योग से) असंयत, अविरत यावत् एकांत बाल हो ।

अन्य तीर्थिकों का आक्षेप सुनकर गौतम स्वामी ने कहा—‘हे आर्यों ! किस कारण हम त्रिविध-त्रिविध असंयत यावत् एकांत बाल हैं ?’ तब अन्यतीर्थिकों ने कहा—‘हे आर्यों ! गमन करते हुए तुम जीवों को आकांत करते हो (दबाते हो), मारते हो, यावत् उपद्रव करते हो । इसलिए प्राणियों को आकांत यावत् उपद्रव करते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत यावत् एकांत बाल हो ।’

इस पर से गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थियों से कहा—‘हे आर्यों ! हम गमन करते हुए प्राणियों को आकांत नहीं करते, यावत् पीड़ा नहीं पहुँचाते । हम गमन करते हुए काययोग (संयमयोग) और सूक्ष्मतापूर्वक (चपलता आदि से रहित) देख देख कर चलते हैं । इस प्रकार चलते हुए हम प्राणियों को आकांत नहीं करते, यावत् पीड़ा नहीं पहुँचाते ।

इस प्रकार प्राणियों को आकांत नहीं करते हुए, यावत् पीड़ा नहीं करते हुए हम त्रिविध-त्रिविध यावत् एकांत पंडित हैं । तुम स्वयं ही त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकांत बाल हो ।’

.२ अन्यतीर्थियों के साथ सैद्धांतिक मतभेद :

तए णं अण्णउत्थिया भगवं गोयमं एवं वयासी—‘केणं कारणेणं अज्जो ! अम्हे तिविहं तिविहेणं जाव भवामो ।’ तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं वयासी—‘तुब्भे णं अज्जो ! रीयं रीयमाणा पाणे पेच्चेह, जाव उद्दवेह, तए णं तुब्भे पाणे पेच्चेमाणा जाव उद्दवेमाणा तिविहं जाव एगंतबाला यावि भवह ।’ तए णं भगवं गोयमे ते अण्णउत्थिए एवं पडिभणइ, पडिभणित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता णञ्जासण्णे जाव पज्जुवासइ ।

—भग० श १८/३ ८/सू १६६ से १७१/पृ० ७८१

अन्यतीर्थियों ने गौतम स्वामी का कथन सुनकर इस प्रकार कहा—‘हे आर्यो ! हम किस प्रकार त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत यावत् एकांत बाल हैं ?’ तब गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थियों से कहा—‘हे आर्यो ! चलते हुए तुम प्राणियों को आक्रांत करते हो, पीड़ित करते हो । जीवों को अक्रांत करते हुए यावत् पीड़ित करते हुए तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत, अविरत, यावत् एकांत बाल हो ।’

इस प्रकार गौतम स्वामी ने उन अन्यतीर्थियों को निरुत्तर किया । इसके पश्चात् गौतम स्वामी श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की सेवा में आकर उद् वंदना-नमस्कार करके न अति दूर, न अति निकट यावत् पर्युपासना करने लगे ।

.३ भगवान् महावीर द्वारा गौतम स्वामी की प्रशंसा :

गोयमादी ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं एवं वयासी—सुट्टु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी—साहु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी, अत्थि णं गोयमा । ममं बहवे अंतेवासी समणा णिग्गंथा छउमत्था, जे णं णोपभू एयं वागरणं वागरेत्तए, जहा णं तुमं, तं सुट्टु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी, साहु णं तुमं गोयमा ! ते अण्णउत्थिए एवं वयासी ।

तए णं भगवं गोयमे समणेणं भगवया महावीरेणं एवं दुत्ते समाणे हट्ट-तुट्ठे समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एवं वयासी—

—भग० श १८/३ ८/सू १७२

हे गौतम ! इस प्रकार सम्बोधित कर श्रमण भगवान् महावीर ने गौतम स्वामी से कहा—‘हे गौतम ! तुमने उन अन्यतीर्थियों को ठीक कहा, हे गौतम ! तुमने उन अन्यतीर्थियों को यथार्थ कहा । हे गौतम ! मेरे बहुत से शिष्य श्रमण-निर्ग्रन्थ छद्मस्थ हैं । जो तुम्हारे समान उत्तर देने में समर्थ नहीं हैं । इसलिए हे गौतम ! तुमने उन अन्यतीर्थियों को ठीक कहा । हे गौतम ! तुमने उन अन्यतीर्थियों को बहुत ठीक कहा ।’

जब श्रमण भगवान् महावीर ने ऐसा कहा—तब हृष्ट-तुष्ट होकर गौतम स्वामी ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदना नमस्कार किया ।

.८ परिनिर्वाण के दिन गौतम गणधर को देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधार्थ भेजा :

स्वामी तद्दिनयामिन्यां विदित्वा मोक्षमात्मनः । दध्यावहो गौतमस्य मयि स्नेहो निरत्ययः ॥२१८॥
स एव केवलज्ञानप्रत्यूहोऽस्य महात्माः । स च्छेद्य इति विज्ञाय निजगादेति गौतमम् ॥२१९॥
देवशर्मा द्वित्रो ग्रामे परस्मिन्नस्ति स त्वया । बोधं प्राप्स्यति तद्धेतोस्तत्र त्वं गच्छ गौतम ! ॥२२०॥
यथाऽऽदिशति मे स्वामीत्युदित्वा च प्रणम्यच । जगाम गौतममुनिस्तथा चक्रे प्रभोर्वचः ॥२२१॥
तदा च कार्तिकदर्शनिशायाः पश्चिमे क्षणे । स्वत्किमृक्षे वर्तमाने कृतषष्ठो जगद्गुरुः ॥२२२॥

×

×

×

×

पंचह्रस्वाक्षरोच्चारमितकालेन तेन तु । ध्यानेन तुर्येण तुर्यपुमर्था व्यभिचारिणा ॥२३६॥

एरंडबीजवद्बद्धाभावादूर्ध्वगतिः प्रभुः । पथा स्वाभावऋजुना मोक्षमेकमुपाययौ ॥२४०॥
नारकाणामपि तदा क्षणमेकमभूत् सुखम् न ये सुखलवस्यापि कदाचिदपि भजनम् ॥२४१॥

×

×

×

×

इत्श्च देवशर्माणं बोधयित्वा निवृत्तवान् । शुश्राव गौतमः स्वामिनिर्वाणं सुरधार्तया ॥२७४॥
गौतमस्वाम्यथोत्ताम्यंश्चिन्तयामास चेतसि । एकस्याहः कृते भर्त्रा किमहं प्रेषितोऽस्मिहा ! ॥२७५॥
जगन्नाथमियत्कालं सेवित्वाऽन्त न दृष्टवान् । अधन्यः सर्वथाऽस्म्येष धन्यास्ते तत्र ये स्थिताः ॥२७६॥
गौतम ! त्वं वज्रमयो वज्रादप्यधिकोऽसि वा । श्रुत्वाऽपि स्वामिनिर्वाणं शतधायन्न दीर्यसे ॥२७७॥
यद्वाऽऽदितोऽपि भ्रान्तोऽहं यद्वागं रागवर्जिते । ममत्वं निर्ममे चास्मिन् कृतवानीदृशे प्रभौ ॥२७८॥
रागद्वेषभृतयः किं चासी भवहेतवः । हेतुना तेन च त्यक्तास्तेनापि परमेष्ठिना ॥२७९॥
ईदृशे निर्ममे नाथे ममत्वेन ममाऽप्यलम् । ममत्वं सममत्वेऽपि मुनीनां न हि युज्यते ॥२८०॥
एवं शुक्लध्यानं परः क्षपकश्रेणिभाक् क्षणात् । चातिकर्मक्षयात्प्राप केवलं गौतमो मुनिः ॥२८१॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

कार्तिक कृष्णा की अमावस्या की रात्रि को स्वयं का मोक्ष जानकर भगवान् ने विचार किया कि—अहो ! गौतम का स्नेह मेरे पर अत्याधिक है और वही उसे केवल ज्ञान की उत्पत्ति में अंतराय करता है । इस कारण उस स्नेह को समुच्छेद कर देना उचित है ।

ऐसा विचार कर भगवान् ने गौतम को कहा—यहाँ से नजदीक के अन्य ग्राम में देवशर्मा नामक ब्राह्मण रहता है—वह तुमसे प्रतिबोध को प्राप्त होगा । अतः तुम वहाँ जाओ ।

यह सुनकर ! जैसी आपकी आज्ञा ! ऐसा कहकर गौतम वीरप्रभु को नमस्कार कर तुरन्त वहाँ आये और प्रभु का वचन सत्य किया अर्थात् उसे प्रतिबोधित किया ।

इधर कार्तिक मास की अमावस्या की पश्चिम रात्रि—चन्द्र स्वाति नक्षत्र था—छटुप था ।

अस्तु गंच ह्रस्वाक्षर का उच्चारण किया जाय—उस काल मात्राला अभ्यभिचारी शुक्लध्यान की चतुर्थ पाद से (चतुर्दशवें गुणस्थान में) एरंड के बीज की तरह कर्मबंध रहित हुए । प्रभु यथास्वभाव ऋजुगति में ऊर्ध्वगमन कर मोक्ष पद प्राप्त किया ।

उस समय जिनको एक क्षणमात्र भी सुख नहीं प्राप्त होता है—ऐसे नारकी जीव को भी क्षणमात्र सुख प्राप्त हुआ ।

अस्तु इधर ही गौतम गणधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध प्राप्त कराकर वापस फिरे । मार्ग में देवों की वार्ता से प्रभु की निर्वाण की बात सुनी । इस कारणचित्त में विचार करने लगे—

एक दिवस में निर्वाण था—ऐसा होने पर अरे प्रभो ! मुझे किस कारण से दूर भेजा ? अरे जगत्पति ! मैं इतने काल तक तुम्हारी सेवा की परन्तु अंतकाल में मुझे आपका दर्शन नहीं हुआ—इससे मैं सर्वथा अधम्य हूँ । अरे, गौतम ! तुम सही अर्थ में वज्रमय है—वे वज्र से भी अधिक कठिन है कि जिससे प्रभु का निर्वाण सुनकर भी तुम्हारे हृदय के सैकड़ों ककडा क्यों नहीं होता अर्थात् ही जाना चाहिए ।

अथवा हे प्रभो ! मैं भ्रांत हो गया हूँ जिस कारण उन निरागी और निर्भय प्रभु के प्रति मैंने राग और ममता रखा है। वे राग और द्वेष संसार के हेतु है। उसका त्याग करने के लिए परमेष्ठी ने मेरा त्याग किया है। ममता रहित प्रभु में ममता रखने से हमारे कुछ भी नहीं हुआ। मुनियों को ममता रखना उचित नहीं है।

इस प्रकार शुक्लध्यान में परायण होते हुए गौतम मुनि ने क्षपक श्रेणी को प्राप्त किया—फलस्वरूप घाती कर्म का क्षय होने से गौतम को केवलज्ञान प्राप्त हुआ।

.६ इन्द्रभूति को कैवल्य ज्ञान :

(क) जादो सिद्धो वीरो तद्विसे गोदमो परमणाणी ।
जादो तस्सिं सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥

—तिलोप० अधि ४/गा १४७६

जिस दिन भगवान् महावीर सिद्ध हुए उसी दिन गौतम गणधर केवलज्ञान को प्राप्त हुए। पुनः गौतम के सिद्ध होने पर उनके पश्चात् सुधर्मा स्वामी केवली हुए।

(ख) णिव्वुइ वीरि गलिय-मय-रायउ । इन्दभूइ गणि केवलि जायउ ॥
सो विउल्लइरिहि गउ णिव्वाणहु । कम्म - विमुक्कउ सासय - ठाणहु ॥
तहिँ वासरि उप्पणउ केवलु । मुणिहि सुधम्महु पक्खालिय-मल्लु ॥

—वीरजि० संधि ३/कड २

वीर भगवान् के निर्वाण प्राप्त करने पर मद और राग को विनष्ट कर इन्द्रभूति गणधर ने केवलज्ञान प्राप्त किया। वे अपने कर्मों से मुक्त होकर, विपुलगिरि पर्वत पर निर्वाणरूपी शाश्वत स्थान को प्राप्त हो गये।

उसी दिन सुधर्म मुनि को पापमल का प्रक्षालन करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ।

.१० वर्धमान महावीर के पश्चात् धर्म का प्रवर्तन :

(क) श्री गौतमः सुधर्माख्यः श्रीजम्बूस्वामिरन्तिमः । मोक्षं गते महावीरे त्रयः केवलिनोऽप्यमी ॥४१॥
मध्ये द्वाषष्टिवर्षाणां जाता ये धर्मवर्तिनः । शरणं तत्क्रमाब्जानां तद्गुणार्थी ब्रजाभ्यहम् ॥४२॥

—वीरवर्धच० अधि १

भगवान् महावीर के मोक्ष चले जाने पर श्री गौतम, सुधर्मा और अंतिम जंबूस्वामी—ये तीन केवली—यहाँ पर बासठ वर्ष तक धर्म का प्रवर्तन करते रहे, अतः उनके गुणों का इच्छुक मैं उनके चरणकमलों की शरण को प्राप्त होता हूँ।

(ख) तद्विषये चैव सुहम्माइरियो जंबूसामियादीणमणेयाणमाइरियाणं वक्खाणिददुवात्तसंगो घाइच्चउक्क-
कखएण केवल्लि जादो। तदो सुहम्मभडारयो वि बारसवस्साणि १२ केवल्लिविहारेण विहरिय
णिव्वुइं पत्तो।
—कसापा०/गा १ टीका/भाग १/पृ० ८४

उसी दिन सुधर्माचार्य, जंबूस्वामी आदि अनेक आचार्यों को द्वादशांग का व्याख्यान करके चार घातिया कर्मों
का क्षय करके केवली हुए।

तदनन्तर सुधर्म भट्टारक भी बारह वर्ष तक केवल्लिविहार रूप से विहार करके मोक्ष को प्राप्त हुए।

.११ गौतम का परिनिर्वाण :

तत्र द्वादशवत्सरीं क्षितितले भव्यान् प्रबोध्योच्चकैः। स्वामीवामलकेवल्लिद्विरमरैरभ्यर्चितो गौतमः ॥२८१॥
गत्वा राजगृहे पुरे क्षत भवोपप्राहिकर्मा प्रभु— भूत्वा मासमुपोषितः पदमगादक्षीणशर्मास्पदम् ॥२८२॥
— त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

केवलज्ञान समुत्पत्ति के बाद—बारह वर्ष पृथ्वी पर विहार कर और भव्य प्राणियों को प्रतिबोधित करते हुए
केवलज्ञान रूप अचल समुद्धि से प्रभु की तरह देवों द्वारा पूजित गौतम मुनि अंत में राजगृह नगरी आये।

वहाँ एक मास का अनशन कर, भवोपग्रही कर्म खपाकर अक्षय सुखवाले मोक्ष पद को प्राप्त किया।

.१२ इन्द्रभूति का एक विवेचन :

(क) थेरे णं इंदभूती वाणउइं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे, वुद्धे —सम० सम ६२
टीका— स्थविरइन्द्रभूतिर्महावीरस्य प्रथमगणनायकः, स च गृहस्थपर्याये पंचाशतं वर्षाणि त्रिंशतं
छद्मस्थपर्यायं द्वादश च केवल्लित्वं पालयित्वा सिद्ध इति सर्वाणि द्विनवतिरिति।

स्थविर इन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम गणधर थे। जिनका गृहस्थ पर्याय पचास वर्ष, छद्मस्थ साधु
पर्याय तीस वर्ष तथा केवल्लि-पर्याय बारह वर्ष का था। सर्वायु ६२ वर्ष की थी।

(ख) वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवताण। धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूवेण ॥

—तिलोप० अधि ४/गा १४७८

गौतम आदि केवल्लियों के धर्म-प्रवर्तन-काल का प्रमाण पिंडरूप से ६२ वर्ष है।

.१३ इन्द्रभूति—सर्वलब्धि संपन्न थे :

मलय टीका—सर्वेऽपि सर्वलब्धिसम्पन्नाः— आमषौषध्याद्यशेषलब्धिसम्पन्नाः।

—आव० निगा ६५६

इन्द्रभूति आमषौषधि आदि सर्वलब्धि से संपन्न थे।

.१४ संहनन और संस्थान :

वज्रऋषभनाराच संहनन व समचतुरस्र संस्थान था

सर्व एव गणधरा × × × । वज्रर्षभसंहननाः समचतुरस्राश्च संस्थाने—संस्थानविषये ।

—आव० निगा ६५६/टीका

.१५ इन्द्रभूति का जन्म नक्षत्र :

जेठ्ठा— × × × ।

टीका—इन्द्रभूतेर्जन्मनक्षत्रं ज्येष्ठा ।

इन्द्रभूति का जन्म-ज्येष्ठा नक्षत्र में हुआ था ।

—आव० निगा ६४६/पूर्वार्ध

.१६ गौत्र :

(क) मगहा गुब्बरगामे जाया तिन्नेव गोयमसगुत्ता ।

—आव० निगा ६४३/भाग २

मलय टीका—मगधेषु जनपदेषु गोब्बरग्रामे जातास्त्रय एवाद्या गणधराः, कथम्भूता एते त्रयोऽपीत्याह—‘गौतमसगोत्राः’ सह गोत्रं येषां ते सगोत्राः, गौतमेन गोत्रेण सगोत्रा गौतमसगोत्राः, गौतमाभिधगोत्रयुक्ता इत्यर्थः ।

(ख) तिन्नि य गोयमगुत्ता × × × ।

—आव० निगा ६४६

टीका—त्रय आद्या गणभूतो गौतमगोत्राः ।

इन्द्रभूति का गौत्र—गौतम गोत्र था ।

.१७ गृहस्थपर्याय :

पन्ना × × × । छद्मत्थं परियागं × × × ।

—आव० निगा ६५०-५१

टीका—इन्द्रभूतेरगारपर्यायः पंचाशद्वर्षाणि ।

इन्द्रभूति पचास वर्ष गृहस्थपर्याय में रहे ।

.१८ छद्मस्थपर्याय :

तीसा × × × छद्मत्थपरिआओ

—आव० निगा ६५२

टीका—इन्द्रभूतेश्छद्मस्थपर्यायस्त्रिंशद्वर्षाणि—

इन्द्रभूति गणधर तीस वर्ष छद्मस्थ पर्याय में रहे ।

.१९ केवलिपर्याय :

मलय टीका—छद्मपर्यायमगारवासं च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेषं तत् जिनपर्यायं विजानीहि, स चायं जिनपर्यायः, इन्द्रभूतेः केवलिपर्यायो द्वादश वर्षाणि ।

—आव० निगा ६५४/टीका

इन्द्रभूति का केवलि-काल बारह वर्ष का था ।

.२० इन्द्रभूति का परिनिर्वाण—भगवान् महावीर के पश्चात् :

इन्द्रभूतिः सुधर्मश्च स्वामिनि वीरे निवृत्ते परिनिवृत्तः, तत्रापि प्रथममिन्द्रभूतिः पश्चात्सुधर्म-
स्वामीः । —आव० निगा ६५८/टीका

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् (१२ वर्ष पश्चात्) इन्द्रभूति का परिनिर्वाण हुआ ।

.२१ गौतम गणधर का श्रुत :

सर्वे य माहणा जन्वा, सर्वे भज्जावया विऊ । सर्वे दुवालसंगीआ, सर्वे चउदसपुव्विणो ॥६५७॥
—आव० निगा ६५७

इन्द्रभूति गणधर—आदि सब गणधर—सर्व ब्राह्मण कुल में समुत्पन्न थे—प्रशस्त जाति कुलोत्पन्न थे । सब
अध्यापक—उपाध्याय थे, विद्वान् थे ।

सब गणधरों ने स्वल्प रूप से द्वादशांगी का अध्ययन किया । इसके बाद सम्पूर्ण द्वादशांगी—चतुर्दश पूर्व के
ज्ञाता थे ।

.२२ गौतम गणधर की आयु :

(क) वाणउई × × × । —आव० निगा ६५५

टीका—इन्द्रभूतेः सर्वायुद्विनवतिवर्षाणि

(ख) टीका—स्थविरइन्द्रभूतिर्महावीस्य प्रथमगणनायकः, स च गृहस्थपर्याये पञ्चाशतं वर्षाणि त्रिंशतं
छद्मस्थपर्यायं द्वादश च केवलित्वं पालयित्वा सिद्धि इति भर्वाणि द्विनवतिरिति ।

—सम० सम ६२/टीका

स्थविर इन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम गणनायक थे । वे गृहस्थपर्याय में पचास वर्ष, छद्मस्थपर्याय में
तीस वर्ष तथा केवलपर्याय में बारह वर्ष रहकर सिद्ध हुए । सर्वायु (५० + ३० + १२ = ९२) बानवें वर्ष की थी ।

.२३ परिनिर्वाण के समय तप :

सर्व एव गणधरा मासं यावत् पादपोपगमनगताः —आव० निगा ६५६/मलय टीका

इन्द्रभूति के पादोपगमन संथारा एक मास का था । —आव० निगा ६५५/टीका

.२४ द्वितीय अग्निभूति (द्वितीय गौतम) गणधर :

.१ अग्निभूति का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन और दीक्षा-ग्रहण :

(क) तं च श्रुत्वा प्रव्रजितमग्निभूतिरचिन्तयत् । तेनेन्द्रजालिकेनेन्द्रभूतिर्नूनं प्रतारितः ॥६४॥
गत्वा जयस्यसर्वज्ञमपि सर्वज्ञमानिनम् । आनयामि भ्रातरं स्वं माययैव पगजितम् ॥६५॥

सर्वशास्त्ररहस्यज्ञमिन्द्रभूतिं महामतिम् । कोऽलं जेतुं विना मायां-माया जैत्री त्वमायिषु ॥६६॥
 स चेन्मं संशयं ज्ञाता ह्येता च हृदयस्थितम् । तदाऽहमपि तच्छिष्यः सशिष्योऽपीन्द्रभूतिवत् ॥६७॥
 अग्निं त्विमृश्यैवं पञ्चशिष्यशाः ऽऽवृत्तः । ययौ समवसरणे तस्थौ चोपजिनेश्वरम् ॥६८॥
 तमालपत्रभुविप्रभूतिं ! गोतानान्वय ! । अस्ति वा नास्ति किं कर्मेत्येष ते संशयोहृदि ॥६९॥
 प्रत्यक्षादिप्रमाणानामगम्यं कर्म मूर्तिमत् । कथंकारं स बध्नीयाज्जीवो मूर्तत्ववर्जितः ॥१००॥
 उपघाताऽनुग्रहाश्च कथं मूर्तेन कर्मणा । जीवस्य स्युरमूर्तस्येत्याशंका हि मुधैव ते ॥१०१॥
 प्रत्यक्षं कर्मातिशयज्ञानिनां त्वाटशां पुनः । अनुमानाभिगम्यं तज्जीववैचित्र्यदर्शनात् ॥१०२॥
 कर्मणामेव वैचित्र्याद्भवन्ति च शरीरिणाम् । सुखदुःखादयो भावास्तत्कर्मास्तीति निश्चिनु ॥१०३॥
 तथाहि स्युर्नृपाः केऽपि हस्त्यश्वरथवाहनाः । केचित्त्र भवे पादचारिणो निरूपानहः ॥१०४॥
 सहस्रकुक्षिभरयो भवन्त्येके महर्द्धयः । भिक्षया स्वोदरमपि पूरयन्त्यपरेपुनः ॥१०५॥
 देशकालादितुल्यत्वेऽप्येकस्य व्यवहारिणः । भूयिष्ठो जायते लाभो मूलनाशोऽपरस्यतु ॥१०६॥
 एवंविधानां कार्याणां ज्ञेयं कर्मैव कारणम् । न विना कारणं कार्यवैचित्र्यमुपजायते ॥१०७॥
 मूर्तानां कर्मणां जीवेनामूर्तेन च संगमः । समीचीनः सोऽपि नूनमाकाशघटयोरिव ॥१०८॥
 उपघाताऽनुग्रहाश्च नानाविधसुरोपधैः । अमूर्तेऽपि भवन्तीति निरवद्यमदोऽपिहि ॥१०९॥
 एवं च स्वामिना च्छिन्नसंशयस्त्यक्तमत्सर । अग्निभूतिः प्रवत्राज शिष्यपंचशतीयुतः ॥११०॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

(ख) तं पट्टव्वअं सोउं वीओ आगच्छई अमरिसेणं ।

वच्चाअ णमाणेमी पराजिणिता ण तं समणं ॥६०२॥

मलय टीका—तं-इन्द्रभूतिं प्रव्रजितं श्रुत्वा द्वितीय :- खल्वग्निभूतिरत्रान्तरे अमर्षेण प्राग्व्यावर्णितस्वरूपेण हेतुभूतेन आगच्छति भगवत्समीपं । केनाभिप्रायेणेत्याह—व्रजामि, णमिति वाक्यालंकारे आनयामि, निजध्रातरमिन्द्रभूतिमिति गम्यते पराजित्यं णमिति पूर्ववत् तं श्रमणमिन्द्र-जालिकवल्पमिति । पुनरपि किं चिन्तयन्नसावागत इत्याह—

छल्लिओ छलाइणा सो मन्ने माइंदजालिओ वावि ।

को जाणइ कहवत्तं इत्ताहे वट्टमाणी से ॥१२७ भा०॥

मलय टीका— दुर्जयस्त्रिभुवनस्यापि मद्भ्रान्ता इन्द्रभूतिः, केवलमहमिदं मन्ये छलादिना छलितोऽसौतेन सहि छलजातिनिग्रहणस्थानग्रहणनिपुणः सम्भाव्यते, अथवा मायेन्द्रजालिकः कोऽपि निश्चितमसौ येनतस्यापि जगद्गुरोर्मद्भ्रातुर्भमितं चेतः, यदिवा को जानाति तयोः किमपि वादस्थानं कथमपि वृत्तं ? मत्परोक्षत्वाद् अत ऊर्ध्वं मयि तत्र गते 'से' तस्य छलादि-कुशलस्य मायेन्द्रजालिकुशलस्य वा 'वट्टमाणी ति या काचित् वार्त्ता वर्त्तनि वा भविष्यति, तां द्रक्ष्यत्ययं समग्रोऽपि लोकइति गम्यते । इदं च तेन तत्रागच्छता प्रोक्तम्—

सो पक्खंतरमेगंपि जाइजइ मे तओ मि तस्सेव ।

सीसत्तं हुज्ज गओ वुत्तुं पत्तो जिणसगासं ॥१२८॥ भा०

मलय टीका— को जानाति तायदिन्द्रभूतिस्तेन कथमपि निर्जितः ? मम पुनरेकमपि पक्षान्तरं-पक्षविशेषं स यदि याति, किमुक्तं भवति ?—मद्विहितस्य सेहेतूदाहरणस्य पक्षविशेषस्य यद्युत्तर-प्रदानेन कथमपि पारं गच्छति ततो मीति वाक्यालङ्कारे तस्यैव श्रमणस्य शिष्यत्वेन गतोऽहं भवेयमिति उक्त्वा प्राप्तो जिनस्य—भगवतो महावीरस्य सकाशं—समीपम् ॥ ततः किमित्याह—

आभट्टो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥६०३॥
हे अग्निभूति गोयम ! सागयमुत्ते जिणेण चित्तेइ । नामंपि मे वियाणइ, अहवा को मं न याणाइ ॥१२६भा० ।
जइ वा हिययगरं मे संसय मन्नेज्ज अहव छिदिज्जा । तो होज्ज विम्हओ मे इय चित्तंतो पुणो भणितो ॥१३०॥

(इदं गाथात्रयमपि पूर्ववदेव ॥)

मलय टीका— × × × । हे अग्निभूति ! गौतम ! स्वागतमिति जिनेनोक्ते स चिन्तयति—अहोनामापि मे विजानाति, अथवा सर्वत्र प्रसिद्धोऽहं को मां न जानाति । यदि मे हृद्गतं संशयं मन्येत—जानीयात्, अथवा छिन्द्यात्—अपनयेत्, ततो मे विस्मयो भवेत्—भविष्यति इति चिन्तयन् पुनरपि भगवता भणितः । किं भणित इत्याह—

किं मन्ये अत्थिकम्मं उयाहु नत्थित्ति संसओ तुज्झं ।

वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६०४॥

मलय टीका— हे अग्निभूते ! गौतम ! त्वमेतत् मन्यसे—चिन्तयसि, यदुत कर्म—ज्ञानावरणीयादि किमस्ति उत तास्ति ? नन्वयमनुचितस्तव संशयः, यतोऽयं संशयस्तव विरुद्धवेद-पदश्रुतिनिबन्धनः, × × × यदा कर्मरहितस्याप्यात्मनः शरीरकरणेच्छोपजायते तदा शरीरमारभते, आत्मनः आत्मनसकलशक्तिसमन्वितत्वात्, अत एव मुक्तात्मनो न भूयः शरीरित्वप्रसङ्गः, शरीरकरणेच्छाया एवाभावान्, तदप्यश्लीलं, शुद्धस्यसतो रागद्वेष-रहिततया शरीरकरणेच्छाया एवाप्रवृत्तेः, मुक्तात्मवत् । × × × ।

तस्मात्कार्मणशरीरपूर्वकं बालशरीरमिति सिद्धं कर्म. अन्यथा प्रतिनियत देशस्थानगर्भप्राप्तिर्न-रपश्वादिरूपेण वैचित्र्यं वा नोपपत्तिमन्, नियामकाभावान्, उक्तं च—

आत्मत्वेनाविशिष्टस्य, वैचित्र्यं तस्य यद्वशान् ।

नरादिरूपं तच्चित्रमदृष्टं कर्मसंज्ञकम् ॥१॥

अथ स्वभाव एव नियामकां वैचित्र्यस्य न कर्मेति कर्मासिद्धिः । × × × अथ मूर्तं तर्हि स मूर्तवस्तुधर्मः पुद्गलपर्यायएवान्यस्य मूर्तवस्तुधर्मत्वायोगात्, कर्मापि च पुद्गलपर्यायानन्यरूपमिति कर्मासिद्धिः । अन्यच्च-समानेऽपि च सेवाद्यारम्भे समानेऽपि च स्वामिचित्तपरिज्ञानादिरूपे तदुपाये यः खलु परस्परं मनुष्याणां फलभेदः सहेत्वन्तरं विना न युक्तिमियत्ति, कारणभेदमन्तरेण कार्यभेदायोगात् । ततो यदेव तत्र किञ्चनापि हेत्वन्तरं तत्कर्मेति प्रतिपत्तव्यम्, उक्तञ्च—

तथा तुल्येऽपि चारम्भे, सदुपायेऽपि यो नृणाम् । फलभेदः स युक्तो न, युक्त्या हेत्वन्तरं विना ॥१॥
तस्मादवश्यमेष्टव्यमत्र हेत्वन्तरं परैः । तदेवाद्दृष्टमित्याहुरन्ये शास्त्रकृतश्रमाः ॥२॥ (शास्त्रवा०)

आगमगम्यं चैतत्, 'पुण्यः पुण्येन कर्मणा, पापः पापेन कर्मणे ति श्रुतिवचनप्रामाण्यात्, अथकर्मास्तीति प्रतीमः, तच्च कर्म पुद्गलस्वरूपं नामूर्तमिति कथं प्रतिपत्तव्यम् ? × × × ।

तथा च सति यस्योपाधेः सम्पर्कवशात् सा शक्तिरात्मनो नारकादिभवभ्रमणरूपा समुदपादि तदेवास्माकं पौद्गलिकं कर्मेति न काचित्क्षति । यदप्युक्तम्, अन्यच्चामूर्तं अत्मा मूर्तं च कर्मण्यादि तदप्यसम्यक्, अमूर्तस्याप्याकाशस्य मूर्तेन घटादिना सह यदिवा द्रव्यस्य पराभिप्रायेणामूर्तया क्रियया सह संयोगभावात्, उक्तं च—

मुत्तस्सामुत्तिमया जीवेण कर्हं ह्वेज्ज संबंधो ? । सोम ! घडस्सव नभसा जह वा दव्वस्स किरियाए ॥१॥
(वि० १६३५)

तथा अमूर्तस्याप्यात्मनो मूर्तकर्मकृतःवनुग्रहोपघातावविरुद्धौ, विज्ञानस्य ब्राह्म्यौषध्यादि-मदिरापानादिभिरनुग्रहोपघातदर्शनात्, आह च—

मुत्तेणामुत्तिमतो उवघायाणुग्गहो कर्हं होज्जा ? जइ विन्नाणाईणं मदिरापाणोसहाईहिं ॥१॥ (वि० १६३७)

एवं भगवताऽभिहितेऽग्निभूतिः किं कृतवानित्याह—

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरेणविप्पमुक्केण । सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥६०५॥

टीका—उक्तप्रमाणेन जिनेन—भगवता वर्धमानस्वामिना जरामरणाभ्यामुक्तलक्षणाभ्यां विप्रमुक्त इव विप्रमुक्तः तेन छिन्ने—निराकृते संशये स अग्निभूतिः पंचभिः खण्डिकशतैः सह श्रमणः प्रव्रजितः सन् साधु सर्व्वत्त इत्यर्थं ॥

इन्द्रभूति को दीक्षित हुआ जानकर अग्निभूति ने विचार किया कि उस इन्द्रजालिक ने अवश्य ही इन्द्रभूति को छुल लिया है । अतः मैं वहाँ जाकर सर्वज्ञ नहीं होने पर भी अपने को सर्वज्ञ माननेवाले धूतारे को जीतना चाहिए और माया से पराजित किये हुए मेरे भाई को वापस लाना उचित है ।

सर्व शास्त्र के रहस्य को जानने वाला और मोटो बुद्धि वाले इन्द्रभूति को माया बिना जीतने में कौन समर्थ हो सकता है । क्योंकि माया रहित पुरुषों में माया-विजय देखा जाता है । परन्तु जो यह मायावी हमारे हृदय के संशय जानकर छेदता है तो मैं भी इन्द्रभूति की तरह शिष्यों सहित उनका शिष्य हो जाऊँगा ।

ऐसा विचार कर अग्निभूति पाँच सौ शिष्यों सहित समवसरण में गया और जिनेश्वर के पास बैठ गया ।

उसे देखकर भगवान् बोले कि—“हे गौतम गौत्री अग्निभूति ! तुम्हारे हृदय में ऐसा संशय है कि कर्म है या नहीं । और यदि कर्म होता है तो प्रत्यक्षादि प्रमाण के अगम्य होने पर मूर्तिमान कहा जाता है । इस प्रकार के कर्म को अमूर्तिमान जीव किस प्रकार बांध सकता है । अमूर्तिमान जीव को मूर्तिवाले कर्म से उपघात और अनुग्रह किस प्रकार होता है । इस प्रकार का तुम्हारे हृदय में संशय है । यह संशय व्यर्थ है । क्योंकि अतिशय ज्ञानी पुरुष कर्म को प्रत्यक्ष ही जानते हैं । और तुम्हारे जैसे छद्मस्थ पुरुष को जीव की विचित्रता देखने से अनुमान से कर्म जाना जाता है । कर्म की विचित्रता से ही प्राणियों को सुख-दुःखादि विचित्र भाव प्राप्त होते रहते हैं । इससे सिद्ध होता है कि कर्म का अस्तित्व है । ऐसा अग्निभूति ! तुम निश्चित करो ।

कितनेक जीव राजा होते हैं और कितनेक हाथी, अश्व और रथ के वाहनपन को प्राप्त होते हैं । उसी प्रकार कितनेक उसके पास उपानह आदि पैर से चलनेवाले होते हैं, कईएक हजारों प्राणियों के उदर भरनेवाले महर्द्धिक पुरुष होते हैं और कोई भिक्षा माँगकर भी स्वयं का उदर नहीं भर सकते हैं । देश, काल एक समान होने पर एक व्यापारी को बहुत लाभ होता है और अन्य की मूल पूँजी भी नष्ट हो जाती है—ऐसे कार्यों का कारण कर्म है क्योंकि कारण बिना कार्य की विचित्रता नहीं हो सकती है । मूर्तिमान् कर्म का अमूर्तिमान जीव के साथ जो संगम है वह भी आकाश और घट की तरह खराखर नहीं मिलता है । तथा विविध जाति के मद्य से और औषध से अमूर्त - ऐसे जीव को भी उपघात और अनुग्रह होता है । इसी प्रकार कर्मों से जीव को उपघात और अनुग्रह होता है—वह भी निर्दोष है ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने अग्निभूति के संशय का निवारण किया । फलस्वरूप अग्निभूति ईर्ष्या छोड़कर पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की ।

२. दीक्षी के समय—अग्निभूति की आयु :

थेरणं अग्निभूई सत्तालीसं वासाइं अगारमज्झा वसित्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ।
—सम० सम ४७/सू २

टीका—‘अग्निभूइ’ त्ति वीरनाथस्य द्वितीयो गणधरस्तस्य चेह सप्तचत्वारिंशद्वर्षाण्यगारवासः उक्तः, आवश्यकं तु षट्चत्वारिंशत्, सप्तचत्वारिंशत्तमवर्षस्यासंपूर्णत्वादविवक्षा, इह त्वसम्पूर्णस्यापि पूर्णत्वविवक्षेति संभावनया न विरोध इति ।

स्थविर अग्निभूति सैंतालीस वर्ष की अवस्था में अनगार—प्रव्रज्या ग्रहण की ।

नोट :—आपके बड़े भाई इन्द्रभूति तीन वर्ष बड़े थे ।

३. अग्निभूति के माता-पिता का नाम :

(क) इतश्च मगधे दश गोवरग्रामनामनि । ग्रामे गोतमगोत्रोऽभूद्वसुभूतिरिति द्विजः ॥४६॥
तस्येन्द्रभूत्यग्निभूतिरापुत्र्यभिधाः सुताः । पत्न्यां पृथिव्यामभवस्तेऽपि गोत्रेण गोतमाः ॥५०॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

इस मगध देश में गोबर नामक ग्राम था । उस ग्राम में वसुभूति ब्राह्मण रहता था । जिसका गौतम गोत्र था । उसकी पत्नी का नाम पृथिवी था । उसके इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायुभूति—तीन पुत्र थे । आगे जाकर अग्निभूति भगवान् महावीर के द्वितीय गणधर हुए ।

(ख) पुह्वी-वसुभूइ-सुओ गणहारी जयइ अग्निभूइ त्ति ।

चउहत्तविःसःऊ गोव्वरगामुव्वभदो बीओ ॥

—धर्मोप० पृ० २२७

(ग) वसुभूई × × ×

—आव० निगा ६४७

टीका—आद्यानां त्रयाणां गणभृतां पिता वसुभूतिः ।

पुह्वी × × × ।

—आव० निगा ६४८

मलय टीका—आद्यानां त्रयाणां गणभृतां माता पृथिवी ।

अग्निभूति की माता का नाम पृथिवी व पिता का नाम वसुभूति था । जन्मस्थान गोबर ग्राम (मगध) था । चउहत्तर वर्ष की आयु थी ।

•४ अग्निभूति गणधर—द्वितीय गौतम से संबोधित :

तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवओ महावीरस्स दोच्चे अंतेवासी अग्निभूई नामं अणगारे गोयमे गोत्तेणं सत्तुःसेहे जाव पज्जुवासमाणे एवं वदासी × × × । दोच्चे गोयमे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव तच्चे गोयमे वायुभूति अणगारे तेणेव उवागच्छइ । × × ×
—भग० श ३/उ १/सू ४/८

उम काल उस समय मोका नगरी में ध्रमण भगवान् महावीर के दूमरे अंतेवासी अग्निभूति अणगार जिनका गौतम गोत्र था, सात हस्त प्रमाण अत्रगाहना थी भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुए ।

कालान्तर में वे दूसरे गौतम भगवान् महावीर को वंदन नमस्कार कर जहाँ तीसरे गौतम वायुभूति अणगार थे वहाँ आये ।

•५ अग्निभूति का परिनिर्वाण—परिनिर्वाण के समय अवस्था :

थेरे णं अग्निभूई गणहरे चोवत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणि-
वुद्धे सव्वदुक्खप्पहीणे ॥
—सम० सम ७४/सू १

टीका— तत्राग्निभूतिरिति महावीरस्य द्वितीयो गणधरः—गणनायकः तस्येह चतुःसप्ततिवर्षाण्यायुः, अत्र चायं विभागः—षट्चत्वारिंशद्वर्षाणि गृहस्थपर्यायः द्वादश छद्मस्थपर्यायः, षोडश केवलिपर्याय इति ।

स्थविर अग्निभूति गणधर चौहत्तर वर्ष की आयु में सिद्ध बुद्ध, मुक्त, अंतकृत-परिनिर्वाण—सर्वदुःख से रहित हुए ।

४३ तृतीय वायुभूति (तृतीय गौतम) गणधर :

१ वायुभूति का भगवान् महावीर के पास आगमन :

संशय का निवारण और दीक्षा—

(क) अथ तृतीयस्य गणधरस्य वायुभूतेर्वक्तव्यतामभिधित्सुराह—

ते पव्वइए सोउं तइओ आगच्छई जिणसगासं ।

वच्चामि ण वन्दामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६०६॥

—आव० निगा ६०६/भाग २

मलय टीका— तौ इन्द्रभृत्यग्निभूति प्रव्रजितौ श्रुत्वा तृतीयो—वायुभूतिनामा द्विजोपाध्यायो जिनसकाशमा गच्छति, सातिशयनिजबन्धुद्वयनिष्क्रमणाकर्णनादपगताभिमानो भगवति सञ्जातसर्वज्ञ-प्रत्ययः सन्नेवमवाधारयत्-व्रजामि ण इति वाक्यात्तङ्कारे तथा वन्दे भगवन्तं वन्दित्वा पर्युपासे इति ॥ अपरं च किं विकल्प्य समागतोऽसावित्याह ।

सीसत्तेणोवगया संपइ इंदुगि भूइणो जस्स । तिहुअणकयप्पणामो स महाभागोऽभिगमणिज्जो ॥भाष्य॥ तदभिगमवन्दणनसंसाणाइणा हुज्ज पूअपावोऽहं । बुच्छिन्नसंसओ वा वुत्तुं पत्तो जिणसगासं ॥भाष्य॥

मलय टीका— गाथाद्वयमपि सुगमं, पूतपापो—विशुद्धपापोऽपगतपाप इत्यर्थः ॥ तत् किमित्याह— आभट्टो य जिणेणं जाइजरा मरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥६०७॥

मलय टीका— अस्या व्याख्या प्रागिव । इत्थं सगौरवमाभावितोऽपि भगवता सकलत्रैलोक्याति-शायिनीं तस्य रूपादिसमृद्धिमभिसमीक्ष्य क्षोभादसमर्थो हृद्गतं संशयं प्रष्टु विस्मयात्तू-ष्णीमाश्रितः पुनरप्युक्तः किमित्याह—

तज्जीवतस्सरीरंति संसओ नवि स पुच्छसे किंचि । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६०८॥

—आव० निगा ६०७, ६०८ भाग २

मलय टीका— हे आयुष्मन् ! —वायुभूते ! तवार्थं संशयो, यदुतं—स एव जीवस्तदेव च शरीरमिति, नापि च पृच्छसि किञ्चित् विदिताशेषतत्त्वं मल्लक्षणं क्षोभात्, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः तेषां च वेदपदानामर्थं न जानासि तेन संशयं कूरुषे तेषां च तव संशयनिबन्धनानां वेदपदानामयमर्थो—वक्ष्यमाण इति गाथार्थः ।

तानि चामूनि परस्परविरुद्धानि वेदपदानि 'विज्ञानघनएवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय पुनस्तान्येवा-नुविनश्यति, न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति' इत्यादि, तथा—'सत्पेन लभ्यस्तपसा ह्येष ब्रह्मचर्येण नित्यं ज्योतिर्मयो हि शुद्धो यं पश्यन्ति धीरा यत्तयः 'संयतात्मनः' इत्यादि च, एतेषां चायर्थमस्तव बुद्धौ प्रतिभासते—न देहात्मनोर्भेदसंज्ञास्ति, विज्ञानघनेत्यादीनां व्याख्या पूर्ववत्, नवरं न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति भूतसमुदयमात्र-

धर्मत्वाच्चैतन्यस्य, तेन चामूनि किल शरीरातिरिक्तात्मोच्छेदपराणि वर्तन्ते, 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येव, इत्यादीनि तु देहातिरिक्तात्मप्रतिपादकानि ततः संशयः, युक्ता च भूतसमुदायमात्रधर्मता चेतनायाः, तस्याः भूतसमुदायमात्र एवोपलम्भात् गौरवादिवत् ।

प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरातिक्रान्तश्च देहातिरिक्त आत्मा इति, तत्र वेदपदानां चार्थं न जानासि, च शब्दान् युक्तिहृदये च, तेषामयमर्थः—तत्र विज्ञानघनेत्यादीनां वेदपदानामर्थः प्रागेव व्याख्यातः, सत्येन लभ्य इत्यादीनि तु सुप्रतीतानि भूतातिरिक्तात्मप्रतिपादकानि, तथाहि—सत्येन—सत्यवचनेन तपसा—अनशनादिरूपेण ब्रह्मचर्येण च स्फुटं निर्वृत्तं नियमेन ज्योतिर्मयो—ज्ञानमयः शुद्धो भवति, यं तथाभूत-मात्मानं धीराः—परमज्ञानकलिता यतयो—महर्षयः संयतास्मानो—ध्यानैकनिषण्णा पश्यति, न च चेतनाया भूतसमुदायमात्र एवोपलभ्यात् भूतधर्मता, विलक्षणतया तस्या मूर्त्तत्वायोगात्, एतच्चप्रागेव भावितम्, न च तस्मिन् सत्येवोपलम्भस्तद्धर्मत्वानुमानायात्, व्यभिचारदर्शनात्, तथाहि—स्पर्शं सत्येव रूपादय उपलभ्यन्ते, न च तेषां तद्धर्मतेति ।

ततः शरीरातिरिक्तात्मख्यपदार्थधर्मश्चेतनेति स्थितं, प्रत्यक्षसिद्धोऽप्येष आत्मा, तद्गुणस्यावप्र-हादिज्ञानस्य स्पष्टसंवेदनप्रत्यक्षसिद्धत्वात् ।

अनुमानगम्योऽपि, तच्चेदं—देहेन्द्रियातिरिक्त आत्मा, तद्विगमेऽपि तदुपलब्धार्थानु-स्मरणात्, पञ्चवातायनोपलब्धार्थानुस्मृतदेवदत्तवत्, इह स्मरणमनुभवपूर्वकतया व्याप्तं, व्याप्यव्यापकभावश्चानयोः प्रत्यक्षेणैव प्रतिपन्नः, तथाहि—योऽर्थोऽनुभूतः स स्मर्यते न शेषस्तथा स्वसंवेदनप्रत्यक्षेण प्रतीतेः, विपक्षे चातिप्रसङ्गो बाधकं प्रमाणं, अननुभूते हि विषयेयदि स्मरणं भवेत् ततोऽननुभूतत्वाविशेषान् खरविषाणादेरपि स्मरणप्रसक्तिरित्यतिप्रसङ्गः, विवक्षिते देहे विवक्षितेषु च इन्द्रियेषु सत्सूपलभ्यो योऽर्थः स भवान्तरे तद्विगमेऽपि जातिस्मरणे स्मर्यते, ततोऽवश्यं तस्यार्थम्योप-लम्भको देहातिरिक्त आत्मा प्रतिपत्तव्यो, न तन्मात्रः, तन्मात्रत्वे तद्विगमे तदुपलब्धार्थानुस्मरणायोगात् अधिकृतदेहेन्द्रियमात्रेण तस्यानुपलब्धत्वारिति, आगमगम्यता त्वस्य सुप्रसिद्धैव, सत्येन लभ्य इत्यादिवेद-प्रमाणाभ्युपगमात् । एवं भगवता व्याकृते स किं कृतवान् ? इत्याह—

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरा मरणविप्पमुक्केण । सो समणो पव्वइतो पंचहिं सह खंडियसएहिं ॥६०६॥

मलय टीका—अस्या व्याख्या पूर्ववत् । प्रथमगणधरादिदं नानात्वं—तस्य जीवसत्तायां संशयः, अस्य तु शरीरातिरिक्ते खलवात्मनि, न तु तत्सत्तायामिति ॥

—आव० निगा ६०६/भाग २

(ख) तस्मिन्नपि प्रव्रजिते वायुभूतिर्व्यचिन्तयत् ! जितौ मे भ्रातरौ येन सर्वज्ञः खल्वयं ततः ॥१११॥ तदेतस्य भगवतोऽभ्यर्हणावन्दनादिभिः । धौतकल्मषकालुष्यः स्यां छिन्नद्यि च संशयम् ॥११२॥ एवं विचिन्त्य सोऽप्यागात् स्वामिनं प्रणनाम च । स्वाम्यप्युवाच जीवः स तद्वपुश्चेतिते भ्रमः ॥११३॥ प्रत्यक्षाद्यग्रहणेन जीवो भिन्नस्तनोर्न हि । जलबुद्बुदवत्सोऽङ्गे मूर्च्छतीति तवाशयः ॥११४॥

मिथ्या तद्देशप्रत्यक्षो जीवः सर्वशरीरिणाम् । तद्गुणानामीहादीनां प्रत्यक्षत्वात्स्वसंविदा ॥११५॥
 देहेन्द्रियातिरिक्तः स इन्द्रियाऽपगमेऽपि यत् । इन्द्रियार्थान् संस्मरति मरणं च प्रपद्यते ॥११६॥
 इति स्वामिगिराच्छिन्नसंशयो विमुखो भवात् । पर्यत्राजीद्वायुभूतिः शिष्यपंचशतीयुतः ॥११७॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

अग्निभूति ने भी दीक्षाग्रहण की है—यह बात सुनकर वायुभूतिने विचार किया कि 'जिसने हमारे दोनों भाइयों को जीत लिया है तो वह निश्चय ही सर्वज्ञ होना चाहिए । अतः मुझे उचित है कि भगवान् के पास जाकर, वंदनकर हमारे कृत पाप को धोना चाहिए । इसी प्रकार मेरा भी संशय दूर कर' । इस प्रकार विचार कर वायुभूति भगवान् के पास आया और प्रणाम कर बैठा । उसे देखकर भगवान् बोले कि हे वायुभूति ! तुम्हें जीव और शरीर के विषय में बड़ा भ्रम है । प्रत्यक्षादि प्रमाण से ग्रहण न होने के कारण जीव शरीर से अलग दिखाई नहीं देता । इस कारण जल में परपोटे की तरह जीव शरीर में ही उत्पन्न होकर शरीर में ही मूर्च्छा को प्राप्त होता है—ऐसा तुम्हारा आशय है । परन्तु वह मिथ्या है । क्योंकि सर्व प्राणियों को यह जाँव देश से तो वह प्रत्यक्ष है क्योंकि उसके इच्छादि गुण प्रत्यक्ष होने से जीव स्वसंविद् है फलस्वरूप उसका स्वयं को ही अनुभव होता है । वह जीव शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है । और जिस समय इन्द्रियाँ नाश को प्राप्त होती है । उस समय भी वे इन्द्रियाँ प्रथम भोगे हुए अर्थ को संस्मरण करती है ।

ऐसी भगवान् की वाणी सुनकर स्वयं का संशय नष्ट होने पर वायुभूति संसार से विमुख होकर पांच सौ शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।

•२ वायुभूति के माता-पिता का नाम :

इतश्च मगधे देशे गोवरग्रामनामनि । ग्रामे गोतमगोत्रोऽभूद्वसुभूतिरिति द्विजः ॥४६॥
 तस्येन्द्रभूत्यग्निभूतिवायुभूत्यभिधाः सुताः । पत्न्यां पृथिव्यामभवस्तेऽपि गोत्रेण गोतमाः ॥५०॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

वायुभूति के पिता का नाम वसुभूति था तथा माता का नाम पृथिवी था । गौतम गोत्र था ।

•३ वायुभूति गणधर-तृतीय गौतम से संबोधित :

तच्चे गोयमे वायुभूई अणगारे समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता जेणेव
 दोच्चे गोयमे अग्निभूई अणगारे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता दोच्चं गोयमं अग्निभूई अणगारं
 वंदइ नमंसइ, वंदित्ता नमंसित्ता एयमट्टं सम्मं विणएणं भुज्जो-भुज्जो खामेइ ।

—भग० श ३/उ १/सू ११

किसी तत्त्वचर्चा में अग्निभूति और वायुभूति का वाद-विवाद हो जाने पर—तत्पश्चात् भगवान् महावीर ने उसका समाधान दिया । इसके बाद तीसरे गौतम—वायुभूति ने अग्निभूति गणधर से बार-बार क्षमत-क्षामना किया ।

•४ वायुभूति की आयु :

दुहई-वसुभूइ-सुओ गणहारी जयइ वाउभूइत्ति । इह सत्तरिवासाऊ गोव्वरगामुब्भवो तइओ ॥५॥

—धर्मोप० पृ० २२७

वायुभूति की माता का नाम पृथिवी व पिता का नाम वसुभूति ब्राह्मण था । जन्मस्थान गोवरग्राम (मगध)
था—३० वर्ष की आयु थी ।

•४४ चतुर्थ गणधर—व्यक्त

•१ व्यक्त गणधर का भगवान् के पास आगमन :

संशय का निवारण—दीक्षा ग्रहण

(क) ते पव्वइए सोउं विअत्त आगच्छई जिणसगासं । वच्चामि ण वंदांमि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६१०॥

मलय टीका— तान्-इन्द्रभूतिप्रमुखान् प्रव्रजितान् श्रुत्वा व्यक्तो नाम चतुर्थो गणधरो जिनसकाशं—
भगवत्समीपं आगच्छति, केनाध्यवसायेनेत्याह—व्रजामि णमिति वाक्यालङ्कारे वन्दे
भगवन्तं वर्द्धमानस्वामिनं, वन्दित्वा च पर्युपास इति ॥ एवंभूतेन च संकल्पेन गत्वा
भगवन्तं प्रणम्य तत्पादान्तिके भगवत्सम्पदुपलब्ध्या विस्मयोत्फुल्लनयनस्तस्थौ । अत्रान्तरे—

आभट्टो अ जिणेणं जाडजरामरणविप्पमुक्केण । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीणं ॥६११॥

मलय टीका— अस्या अपि व्याख्या पूर्ववत् ॥ आभाष्य च भगवता किमुक्तोऽयमित्याह—

किं मन्ने पंच भूआ अत्थि नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६१२॥

मलय टीका— किं पञ्च भूतानि—पृथिव्यादीनि सन्ति किं वा न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत् ।
अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि चामूनि वेदपदानि, 'स्वप्नोपमं वै
सकलमित्येष ब्रह्मविधिर्ऋजसा विज्ञेय' इत्यादि । तथा 'द्यावापृथिवी' इत्यादि, तथा
पृथिवी देवता आपो देवता' इत्यादि, तेषां च वेदपदानामयमर्थः, तव प्रतिभासते-
स्वप्नोपमं-स्वप्नसदृशं वै निपातोऽवधारणे सकलम् - अशेषं जगदित्येष ब्रह्मविधिः—
परमार्थप्रहारः अऋजसा-प्रगुणेन न्यायेन विज्ञेयो-ज्ञातव्यः एवमादीनि ।

किंल वेदपदानि भूतनिहवपराणि, 'द्यावा पृथिवी' त्यादीनि तु सत्ताप्रतिपादकानि,
ततः संशयः, तथा एवंते चित्तविभ्रमो यथा भूताभाव एव समीचीनस्तेषां प्रमाणे-

नाग्रहणात् । तथाहि— चक्षुर्गादिविज्ञानस्यात्स्वनं परमाणवा वा स्युः परमाणुसमूहो । वाऽवयवी वा ? × × × । एवं विभ्रमे स्फुटीकृते भगवानुत्तरमाह—

वेदप्रदानामर्थं न जानामि, चशब्दान् युक्तिं भावार्थं च, तत्र तव संशयनियन्धनानां वेदप्रदानामयमर्थः—स्वप्नोपमं वै सकलमित्यादीनि अध्यात्मचित्तायां मणिकरुतकाङ्गनादि-संयोगस्य अनियतत्वान् अस्थिरत्वान् विपाकेकटुकत्वान् आस्थानिवृत्तिपराणि, न तु तदत्यन्ताभावप्रतिपादकानि, द्यावापृथिवित्यादीनि तु भूतगन्ताप्रतिपादकानि भवतांऽपि प्रतीनानि, ततो वेदसिद्धा सिद्धा भूतानां सत्ता, यदप्युक्तं—भूताभाव एव समीचीनस्तेषां प्रमाणेनाग्रहणादित्यादि, तदप्यसम्यक् भूतानां प्रत्यक्षादिप्रमाणमिद्वन्वान् । × × × ।

अवयविविपक्षोक्तं द्रूपणमनवकाशं, पृथग्द्रव्यान्तररूपस्यावयवितोऽस्माभिर्नभ्युपग-मान, य एव हि परमाणूनां तथ विधदेशकालादिस्माभिर्विशेषमापेक्षाणां विवक्षितजल-धारणादिक्रियासमर्थः समानः परिणामविशेषः, सोऽवयवी, ततः कुतो देशकालान्य-वृत्तिविकल्पदोषावकाशः ? शेषं तु समवायविक्षोक्तमनभ्युपगमात् नः क्षितिमावहति । एवं भगवताऽभिहिते स किं कृतवानित्याह—

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविष्वक्केणं । सो समणो पव्वइओ पंचहिं सह खंडियसण्हिं ॥११३॥
मलय टीका—अस्या व्याख्या पूर्ववन —आव० निगा ६१० से ६१३

(ख) व्यक्तोऽप्यचिन्तयद् व्यक्तं सर्वज्ञो भगवानयम् । इन्द्रभूत्यादयो येन जिता वेदा इवत्रयः ॥११८॥
ममापि संशयं ह्येता निश्चितं भगवानयम् । ततः शिष्यी भविष्यामि ध्यात्वैवं सोऽप्यगात्प्रभुम् ॥११९॥
तमप्युवाच भगवान भो व्यक्त ! तव चेतमि । न हि भूतानि विगन्ते पृथ्व्यादीनीति संशयः ॥१२०॥
तेषां तु प्रतिपात्तया मा भ्रमाज्जलचन्द्रवन । सर्वशून्यत्वमेवैवमितिनं हृद् आशयः ॥१२१॥
तन्मिथ्या सर्वशून्यत्वपक्षे भुवनविश्रुताः । स्युः स्वप्नाऽऽस्वप्नगन्धर्वपुरेतरभिदा न हि ॥१२२॥
इत्थं च च्छिन्न मदेहो व्यक्तोऽपि व्यक्तवामनः । पवित्राज शिष्याणां शतैः पंचभिर्गवितः ॥१२३॥
—त्रिशलाका० पृ १०/सर्ग ५

इसके पश्चात् व्यक्त ने स्पष्टता से विचार किया कि ये अवश्य ही सर्वज्ञ भगवान् है, जिन्होंने तीन वेद की तरह इन्द्रभूति आदि तीनों को जीत लिया है । ये सर्वज्ञ भगवान् हमारा भी संशय अवश्य दूर कर देंगे—ब्राह्म में मैं उनका शिष्य होऊँगा ।

ऐसा विचार कर व्यक्त भगवान् के पास आया । उसे देखकर भगवान् बोले—“हे व्यक्त ! तुम्हारे चित्त में ऐसा संशय है कि पृथ्वी आदि पंचभूत नहीं है । उसकी जो यह प्रतीति होती है वह मम से जल में चन्द्र की तरह है । ये सर्व शून्य ही है—यह तुम्हारा हृद् आशय है । परन्तु यह मिथ्या है—क्योंकि यदि सर्व शून्यता ही पक्ष ग्रहण किया जाता है तो भुवन में विख्यात हुए स्वप्न, अस्वप्न, गन्धर्वपुर आदि भेद घटित ही नहीं होते हैं ।

भगवान् की इस प्रकार वाणी सुनकर व्यक्त का संशय नष्ट हो गया—इस कारण उमने भी व्यक्तवामना को बताकर पाँच सौ शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की ।

२. व्यक्त स्वामी के माता-पिता के नाम :

कोल्लाकंऽभूद्धनुर्मित्रो धम्मिलश्च द्विजस्तयोः । पुत्रौ व्यक्तः सुधर्मा च वारुणीभद्रिलाभवौ ॥५१॥
—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

कौलाक ग्राम में धनुमित्र और धम्मिल नामक दो ब्राह्मण थे । उनके वारुणी और भद्रिला नाम की स्त्रियों से व्यक्त और सुधर्मा नामक दो पुत्र हुए थे ।

३. व्यक्त गणधर की आयु :

कोल्लाग-मन्निवेशे उप्पण्णो जयइ गणहर-चउत्था । धारिणि-धणमित्त-सुओ असीइ-वरिसाउओ वुत्तो ॥
—धर्मोप० पु० २२७

व्यक्त गणधर के माता का नाम धारिणी व पिता का नाम धनुमित्र था । अस्सी वर्ष की आयु थी । कोल्लाग मन्निवेश (मगध) जन्मस्थान था ।

४.५ पंचम गणधर—सुधर्मा गणधर

१. सुधर्म गणधर का भगवान के पास आगमन, संशय निवारण और दीक्षा—

(क) ते पठवइण सोडं सुद्धम्म आगच्छइ जिणसगामं । दच्चामि ण वंदासी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६१४॥
मलय टीका—तान इन्द्रभूतिप्रसुवान प्रव्रजितान श्रुत्वा सुधर्मः पंचमो गणधरो जिनसकाशं—भगवत्-
समीपमागच्छति, किंभूतेनाध्यवसायेनेत्याह, पश्चाद् पूर्ववत् ॥ सच भगवन्तं दृष्ट्वाऽ-
तीव मुमुदे, अत्रान्तरे—

आभट्ठो य जिणं ण जाइजगमरण विप्पमुक्कं ण । नामंणय गोतेणय सव्वन्नुमव्वदग्गिसीण ॥६१५॥

मलय टीका—अस्या व्यख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने जाग्गिसो इह भवमि सो तारिमो परभवेऽवि ।

व्यपयाण य अत्थं न याणसी तेमिमो अत्थो ॥ ६१६ ॥

मलय टीका किं मन्त्यमे यो मनुष्यादिर्यादृशं इह भी स परभवेऽपि तादृशं एव, नन्वयमनुचितस्तव संशयो, यतोऽसौ विद्भवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि चाग्नि पदानि—पुरुषो वै पुरुष-
त्वमश्रते पशवः पशुत्व, मित्यादि, तथा शृगालो वै एव जायते यः सपुगीषो दह्यते इत्यादि च, तत्र वेदपदानां त्वमित्थमर्थमवबुद्धयस्ते—पुरुषो मृतः सन् पुत्रत्वमश्रते प्रप्नोति पशवो गवादयः पशुत्वमेव, अग्नि वेदपदानि किल भवान्तरमादृश्यप्रतिपादकानि, तथा शृगालो वै एव इत्यादीनि तु वैमदृश्यप्रापकानि ततः संशयः, अत्यच्च यत्तेऽभिमायो यथाकारणानुरूपं कार्यं भवति, न खलु शालिवीजान गोधूमाङ्कुरप्रसूतिः

ततो भवान्तरसादृश्यमेवोपपत्तिमत , तत्र वेदपदानामार्थं च शब्दात् युक्ति भावार्थं च न जानासि, तेषां वेदपदानामयमर्थः—पुरुषः खल्विह जन्मनि स्वभावेन मार्हवाज्जवादिगुणयुक्तो मनुष्यनामगोत्र-कर्मणी बद्ध्वा मृतः सन् पुरुषत्वमश्रुते, न तु नियमतः, एवं पशवोऽपि पशुभावमायादिगुणयुक्ताः पशुनाम-गोत्रे कर्मणी बद्ध्वा मृताः सन्तः पशुत्वमासादयन्ति, न तु नियोगतः, जीवानां गतिविशेषस्य कर्मसापे-क्षत्वात् , शेषाणि तु वेदपदानि सुगमानि, न च नियमतः कारणानुरूपं कार्यं वैमदृश्यस्यापि दर्शनात् , तथाहि शृङ्गाच्छरो जायते, तस्मादेव सर्षपात्तुलिप्तात् तृणानीति, गोलोमाविलोमभ्यां दुर्वा, ततो न नियमः अथवा कारणानुरूपकार्यपक्षेऽपि भवान्तरवैचित्र्यमस्य युक्तमेव ।

यतो भवाङ्कुरबीजं सात्मकं कम्म, तच्च तिर्यग्ग्नगमरनारकायुष्कादिभेदभिन्नत्वात् चित्रम् . अतः कारणवैचित्र्यात् कार्यवैचित्र्यमिति, वस्तुस्थित्या तु सौम्य ! किञ्चिदिह लोकेपरलोके वा न सर्वथा समानमसमानं वाऽस्ति, तथा चेह भवे युवा निजैरप्यतीतानागतैर्बालवृद्धादि पर्यायैः सर्वथा न समानोऽवस्थाभेदग्रहणान्, नापि सर्वथाऽसमानः सत्ताद्यनुगमात् एवं परलोकेऽपि मनुजो देवत्वमापन्नो न सर्वथा समानः शरीरान्तरादिभवान् .

नापि सर्वथाऽसमानो जीवत्वात्स्वयान् . इत्थं चेतदङ्गीकर्त्तव्यमन्यथा दानदमदयादीनां वैश्वर्यप्रसङ्गान् , एवं भगवताऽभिहिते स किं कृतवानित्याह —

त्त्रिन्नंमि संसयमी जाडजगामरणविष्यमुक्तेण । सो समणो पव्वडओ पंचहिं मह खंढियमएहिं ॥ ६१६ ॥

मलय टीका—व्याख्या पूर्ववत्

आव० निगा ६१४ से ६१६

(ब) उपाध्यायः सुधर्माऽपि संशयच्छेदवाञ्छया । समाययो महावीरमतुञ्जालोकभास्करम् ॥ १२४ ॥ तभप्यजल्पद्भगवान् सुधर्मस्तव धीरियम् । यादृगत्र भवेदेहा तादृक् परभवेऽपिहि ॥ १२५ ॥ कार्यैहि कारणास्यानुरूपं भवति संसृतौ । न हयुयुप्ते कलमवीजे प्रगेहति यवाङ्कुरः ॥ १२६ ॥ तत्र युक्तं यदभवेऽस्मिन् यो मृदुत्वाऽऽजवादिभिः । नरः कर्म नगायुष्कं बध्नातिस पुनर्नरः ॥ १२७ ॥ मायादियुक् पशुर्यस्तु स प्रेत्याऽपि पशुःखलु । कर्माधीना समुत्पत्तिस्तन्नातात्वं च जन्मिनाम् ॥ १२८ ॥ सदृशं कारणस्यैव कार्यमित्यप्यसंगतम् । शुंगप्रभृतिकेः योऽपि शरादीनां प्रगेहणान् ॥ १२९ ॥ इत्याकण्य सुधर्माऽपि पञ्चशिष्यशतीयुतः । प्रत्रज्यामाददे पार्श्वे स्वामिपादारविन्दयोः ॥ १३० ॥

त्रिशलाका० पर्व १० सर्ग ४

इन्द्रभूति आदि चार दीक्षित ही गये हैं—यह बात सुनकर उपाध्याय सुधर्म भी स्वयं का संशय नष्ट करने की इच्छा से लोकालोक के स्वरूप को देखने में सूर्य जैसे श्री वीरप्रभु के पास आया ।

उसे देखकर भगवान् ने कहा—हे सुधर्मा ! तुम्हारी बुद्धि से ऐसा विचार उत्पन्न हुआ है कि जीव जैसा उस भव में है—वैसा ही परभव में होता है क्योंकि संसार में कारण के मिलने से ही कार्य होता है । शाली बीज के

बाने से उममें से कुछ भी भवांकुर नहीं होता है। परन्तु यह आपका विचार खोटा और अधटित है। क्योंकि इस संसार में जो मनुष्य मृदुता और सरलतादि से मनुष्य का आयु बांधता है। यह करने से मनुष्य होता है परन्तु जो मायादि की रचना करता है—वह यहां पशु रूप में रहता है। वह मनुष्य भविष्यत् में पशु होता है। इस कारण जीव भी पृथक्-पृथक् गति में उत्पत्ति कर्म के आधीन है और इसी के कारण प्राणियों में विविधता दिखाई देती है। फल-स्वरूप कारण के मिलने से ही कार्य होता है ऐसा कहना भी असंगत है। क्योंकि श्रृंग आदि में से शर निकलते हैं। ऐसा भगवान् की वाणी सुनकर सुधर्मा पांच सौ शिष्यों के साथ प्रभु के चरण कमलों में दीक्षा ग्रहण की।

२. सुधर्मा गणधर के माता-पिता के नाम

(क) भद्रिल-धम्मिल-तणओ गणहारी नयड पंचमसुहम्मो ॥

कोल्लाग-सन्निवेशे उपरणो वगिस मय-जीओ

—धर्मो० पृ० २२७

सुधर्मा गणधर के माता का नाम भद्रिला व पिता का नाम धम्मिल था। कोल्लाग सन्निवेश (मगध) जन्म-स्थान था। १०० वर्ष की आयु थी।

(ख) कोल्ला के उद्धनुमिओ धम्मिल्लश्य द्विजस्तयोः पुत्रौ व्यक्तः सुधर्मा च वारुणीभद्रिलाभवौ ॥ ५१ ॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

कोल्लाक ग्राम में धम्मिल नाम का ब्राह्मण रहता था। उसके भद्रिला नाम की स्त्री थी। उसके सुधर्मा नामक एक पुत्र था।

(ग) वग्मुभूधणमित्तो धम्मिल धणदेव सोरिणवेव । देवे वसू अ दत्ते बले अ पिअरो गणहराणं ॥

आव० निगा/६४७

सुधर्मा के पिता का नाम धम्मिल और माता का नाम भद्रिला था।

३. आर्य सुधर्मा का गोत्र

(क) समणे भगवो महावीरे कामवगोत्तेणं । सरणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्जमुहम्मो धेरे अंतवासी अग्गिवेसायणसगात्ते

—कप्प० सू २०५

श्रमण भगवान् महावीर काश्यप गोत्री थे। काश्यप गोत्री श्रमण भगवान् महावीर के अग्नि वैशायन गोत्री स्यावीर आर्य सुधर्मा नामक अंतवासी शिष्य थे।

(ख) तिन्नि य गोयमगुत्ता भग्गहा अग्गिवेस वग्गिहा ।

कासवगोअम हाग्गिअ कोटिन्तदुगं च गुत्ताइं ॥

—आव० निगा ६४८

सुधर्मा अग्नि वैशायन गोत्रीय ब्राह्मण वंश में उत्पन्न हुए थे।

४. सुधर्मा के जन्म के समय—नक्षत्र का योग

जेट्टा कत्तिय साईसवणो हत्थुत्तग महाओअ । गोहिणि उत्तगसाटा मिगमिग तह अस्मिणी पुस्सो ॥

—आव० निगा ६४६

सुधर्मा के जन्म के समय उत्तर-फाल्गुनी नक्षत्र का योग था।

•५ गणधर सुधर्मा का श्रुत—

(क) दीक्षा के पूर्व का श्रुत

सव्वे माहणा जच्चा, सव्वे अज्जावया विऊ ॥

सव्वे दुवालमंगिआ, सव्वे चउदसपुब्बिणो ॥

—आव० निगा ६५७

विदन्तीति विदो—विद्वांसः चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनान् । तानिचतुर्दश विद्यास्थानान्यमुनि अंगानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यामाविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणंच विद्या ह्येताश्चतुर्दश । तत्रांगानि तद्यथा शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं चेति, एष गृहस्थागम उक्तः ।

विद्वद्वंश परम्परा में उत्पन्न होने के नाते आर्य सुधर्मा ने ऋक्, यजुष्, साम और अथर्व—इन चारों वेदों, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद तथा ज्योतिष—इन छहों वेदांगों, मीमांसा, न्याय धर्मशास्त्र तथा पुराण आदि सब मिलकर इन चवदह विद्याओं का सम्यक्तया अध्ययन किया । उनके पूर्ण अधिकारी विद्वान् बने ।

(ख) द्वादशांगी से पूर्व पूर्वों की रचना और सुधर्मगणधर—

धम्मोवाओ पवयणमहवा पुव्वाइं देसयात्तस्स । सव्वज्जिणाण गणहरा चोहसपुव्वी उ ते तस्म ॥
सामाडयाइया वा वयजीवनिकायभावणा पढमं । एसो धम्मोवादो जिणेहिं सव्वेहिं उवड्ढो ॥

—आव० निगा २६२-६३

किसी का अभिमत है कि द्वादशांगी की रचना के पूर्व गणधरों द्वारा अर्हद्भाषित तीन-मातृका पदों के आधार पर चतुर्दश शास्त्र रचे गये जिसमें समग्र श्रुत की अवतरणा की गई है । इसी आधार से सुधर्म गणधर ने पूर्वों की रचना द्वादशांगी के पूर्व की । द्वादशांगी के पूर्व—पहले यह रचना की गई—अतः ये चतुर्दश शास्त्र चतुर्दश पूर्वों के नाम से विख्यात हुए ।

• संहनन व संस्थान—

मासं पाओवगया सव्वेऽविय सव्वलद्धिसंपन्ना । वज्जरिसहसंघयणा समचउरंसा य संठाणे ॥

आव० निगा ६५६

आर्य सुधर्मा सभी लब्धियों से युक्त थे । उनका दैहिक गठन वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन तथा समचतुरस्र संस्थानमय था ।

निर्वाण से पूर्व आर्य सुधर्मा एक मास तक पादोपगमन आमरण अनशन में रहे ।

नोट—पाद का अर्थ वृक्ष का जमीन में गड़ा हुआ जड़ का भाग है । उसकी तरह जिम (गृहीत-अनशन) व्यक्ति की अप्रकंप स्थिति होती है, उसे पादोपगत कहा जाता है । आमरण-अनशन प्राप्त-साधक—जिममें पादप वृक्ष की तरह परिस्पन्दन-कंपन आदि से सर्वथा रहित हो जाता है, उसे पादोपगमन अनशन कहा जाता है ।

७. आर्य सुधर्मा का आयुष्य

(क) थैरेणं अज्जसुहम्मे एकं वाससयं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिवुडे सव्वदुक्खप्पहीणे ।
—सम० सम १०० सू ५ पृ० ६०६

स्थविर आर्य सुधर्मा एक सौ वर्ष का सर्वायु पालनकर सिद्ध हुए यावत् सर्व दुःखों से रहित हुए ।

टीका— एवं 'थैरेवि अज्जसुहमे' त्ति आर्यसुधर्म्मो महावीरस्य पंचमो गणधरः सोऽपिवर्षशतं सर्वायुः पालयित्वा सिद्धस्तथा च तस्यागारवासः पंचाशद्वर्षाणि छद्मस्थपर्यायो द्विचत्वारिंशत्केवलिपर्यायोऽष्टौ, भवति चैतद्राशित्रयमिलने वर्षशतमिति ।

सुधर्मा स्वामी का गृहवास पचास वर्ष, छद्मस्थ पर्याय बैयालीस वर्ष और केवलि पर्याय आठ वर्ष—इस प्रकार सुधर्मा स्वामी की आयुष्य १०० वर्ष की थी ।

(ख) मासं पाओवगया सव्वेऽवि य सव्वलद्धिसम्पन्ना । वज्जरिसहसंधयणा समचउरंसा य संठाणे ॥
—आव० निगा ६५६

निर्वाण से पूर्व आर्य सुधर्मा एक मास तक पादोपगमन आमरण अनशन में रहे । निर्युक्तिकार ने सभी गणधरों के लिए इसी प्रकार के अंतिम तप का उल्लेख किया है ।

८. सुधर्मा गणधर का एक विवेचन—

(क) तेणकालेणं ते णं समएणं चंपा नामं नयरीहोत्था, वण्णओ । तीसे णं चंपाए णयरीए बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए पुण्णभदे नामं चेइएहोत्था । तत्थ णं चंपाए णयरीए कोणिए णामं राया होत्था, वण्णओ । ते णं काले णं, ते णं समए णं, समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतवासी अज्जसुहम्मे नामं थैरे, जातिसंपण्णे, कुलसंपण्णे, बलरूवविणयणाणदंसणचरित्तलाघवसंपण्णे; ओर्यंसी, तेर्यंसी, वच्चंसी, जसंसी; जियकोहे, जियमाणे, जियमाण, जियलोहे, जिइंदिए, जियनिहे, जियपरिस्सहे; जीवियासमरणभयविप्पमुक्के, तवप्पहाणे, गुणप्पहाणे, एवं करणचरणनिग्गहणिच्छयअज्जवमहवलाघवखतिगुत्तिमुत्ति १०, विज्ज मतवंभवेयनयनियमसच्चमोयणाणदंसण २०, चरित्त०; ओगले, घोरे, घोरववए, घोरतवस्सी, घोरवंभचेग्वासी; उच्छृढशरीरे, संखित्तविउलतेयल्लेसे, चोदसपुठ्वी, चउणाणोवगते, पंचहिं अणगारमएहिं मद्धि संपग्गिउडे, पुठ्वाणुपुठ्वि चरमाणे, गासाणुगामे दूत्तिजमाणे, सुहंसुहेणं विहरमाणे; जेणेव चंपा नयरी, जेणेव पुण्णभदे चैत्तिए तेणामेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता, अहापडिस्सवं उग्गहं, उग्गिण्हत्त, संजमेण तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति ॥ सूत्रम-४ ॥

—णाया० श्रुत० १ अ० १

उस काल अर्थात् इस अवसर्पिणी काल के चौथे आरे में और उस समय में अर्थात् कृष्णिक राजा के समय में चंपा नामक नगरी थी ।

उस चंपा नगरी के बाहर, उत्तरपूर्व दिक्कोण में अर्थात् ईशान भाग में पूर्णभद्र नामक चैत्य था । उस चंपा नगरी में कृष्णिक नामक राजा था ।

उम काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आर्य सुधर्मा नामक स्थविर थे। वे जातिसंपन्न-उत्तम मातृपक्ष वाले थे। कुलसंपन्न-उत्तम पितृपक्ष वाले थे, उत्तम मंहनन से उत्तम बल से युक्त थे। अनुत्तर विमान वासी देवों की अपेक्षा भी अधिक रूपवान् थे, विनयवान् चार जानवान्, क्षायिक सम्यक्त्ववान्, लाघववान् (द्रव्य से अल्प उपधि वाले और भाव से ऋद्धि-रम एवं साता रूप तीन गारवों से रहित) थे। ओजस्वी अर्थात् मानसिक तेज से संपन्न या चहुते परिमाण वाले, तेजस्वी अर्थात् शारीरिक कानि से देदीप्यमान, वचस्वी—सगुण वचन वाले, यशस्वी, क्रोध को जीतने वाले, मन को जीतने वाले, माया को जीतने वाले, लोभ का जीतने वाले, पाँचों इन्द्रियों को जीतने वाले, निद्रा को जीतने वाले, परीषहों को जीतने वाले, जीवित रहने की कामना और मृत्यु के भय से रहित तपः प्रधान अर्थात् अन्य मुनियों की अपेक्षा अधिक तप करने वाले या उत्कृष्ट तप करने वाले, गुण प्रधान अर्थात् गुणों के कारण उत्कृष्ट या उत्कृष्ट संयम गुण वाले करणप्रधान—पिण्डविशुद्धि आदि करणसत्तरी में प्रधान, चरणप्रधान—महाव्रत आदि चरणसत्तरी में प्रधान, निग्रहप्रधान—अनाचार में प्रवृत्ति न करने के कारण उत्तम, तत्त्व का निश्चय करने में प्रधान, इसी प्रकार आर्जवप्रधान, मार्दवप्रधान लाघवप्रधान, अर्थात् क्रिया करने के कौशल में प्रधान क्षमाप्रधान, गुप्तिप्रधान, मुक्ति (निर्लोभता) में प्रधान। देव-अधिष्ठित प्रज्ञप्ति आदि, ब्रह्मचर्य, अर्थात् समस्त कुशल अनुष्ठानों में प्रधान, वेद प्रधान अर्थात् लौकिक और लोकोत्तर आगमों में निष्णात, नयप्रधान, नियमप्रधान भाति-भाति के अभिग्रह धारण करने में कुशल सत्यप्रधान, शौचप्रधान, ज्ञानप्रधान दर्शनप्रधान, चारित्रप्रधान उदार अर्थात् अपनी उस तपश्चर्या से समीपवर्ती, अल्प सत्त्ववाले, मनुष्यों से भय उत्पन्न करने वाले घोर अर्थात् परीषहों, इन्द्रियों अर्थात् कषयों आदि आन्तरिक शत्रुओं का निग्रह करने में कठोर, घोरव्रती अर्थात् महाव्रतों को अनन्य मामान्य पालन करने वाले, घोर तपस्वी, उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले, शरीर संस्कार के त्यागी, विपुल तेजो लेश्या का अपने शरीर में ही समाविष्ट करके रखने वाले, चौदह पूर्वों के ज्ञाता, चार ज्ञानों के धनी, पाँच सौ साधुओं के साथ परिवृत्त, अनुक्रम में चलते हुए, एक ग्राम से दूसरे ग्राम में त्रिचरण करते हुए, सुखे-सुखे विहार करते हुए जहाँ चंपा नगरी थी और जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था उमी जगह आये। आकर यथोचित अवग्रह को ग्रहण किया अर्थात् उपाश्रय की याचना करके उममें स्थित हुए। अवग्रह का ग्रहण करके संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे

तत्पश्चात् चंपा नगरी से परिषद् निकली। कूणिक राजा भो (वंदना करने के लिए) निकला। सुधर्मा स्वामी ने धर्मोपदेश दिया।

(ख) तेणं कालेणं तेणं समणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतवासी अज्जसुहम्मा णासं थेरा भगवंतो जातिसंपन्ना कुलसंपन्ना जाव चउहसपुठ्ठी चउणाणोवगया पंचहि अणगासणहि सद्धि सपरिवुडा पुव्वाणुपुठ्ठि चरमाणा गामाणुगामं दुड्जमाणा सुहंसुहेणं विहरमाणा जेणेव रायगिहे णयरे जेणेव गुणसीलए चेइए जाव संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाण्ण विहरन्ति परिसा निग्गया, धम्मो कहिआं, परिसा जामेव दिसं पाउठ्ठभूया तामेव दिसिं पडिगया ॥३॥

—णायो० श्रु २१ अ० १

श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आर्य सुधर्मा—पाँच सौ साधुओं के साथ ग्रामानुग्राम विहार करते हुए राजगृह के गुणशीलक चैत्य में पधारे। संयम और तप के द्वारा आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

(ग) तेषां कालेणं तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतवासी अज्जसुहम्मं णामं अणगारे जाइसंपण्णे कुलसंपण्णे, वण्णओ, चउदसपुव्वी, चउनाणोवगए पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वानुपुव्वि चरमाणे जाव जेणेव पुण्णभइ चेइए × × × अहापडिरुवं जाव विहरइ । परिसा निग्गया ।
न सोच्चा निसम्म जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिसं पडिगया ।

—विवा० श्रु १/अ १ / सू २

एक समय की बात है कि—ग्रामानुग्राम विहार करते हुए उसा समय श्री सुधर्मा स्वामी अनेक गुण गणों से मण्डित, शांत, दांत और चतुर्दशपूर्वक धारी थे, उस उद्यान में अपने ५०० शिष्यों सहित पधारे । नगरवासियों की ज्योंही इस उद्यान में सुधर्मा स्वामी के पधारने की खबर पड़ी त्योंही नगरीजन सब के सब उनके वन्दन दर्शन एवं उनसे धर्म श्रवण करने के निमित्त बड़ी ही उत्कंठा से वहां पर आये, सुधर्मा स्वामी ने उपदेश दिया । उपदेश सुनकर वे सब अपने अपने स्थान गये ॥ सू० २ ॥

(घ) तेषां कालेणं तेषां समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतवासी अज्जसुहम्मं णामं अणगारे जाइसंपन्ने जहा केसी । जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वानुपुव्वि चरमाणे (गामाणुगामं दुइज्जमाणे) जेणेव रायगिहे जाव अहापडिरुवं ओग्गहं ओगिण्हित्ता संजमेण जाव विहरइ । परिसा णिग्गया धम्मो कहिओ । परिसा पडिगया ।

—निरया० व १ / अ १ / सू ३

उस काल उस समय में श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आर्य सुधर्मा पांच सौ अनगरों के साथ तीर्थंकर परम्परा से विचरते हुए ग्रामानुग्राम विहार करते हुए राजगृह नगर में दूतिपलास चैत्य में पधारे ।

(च) तेषां कालेणं तेषां समएणं अज्ज सुहम्मं थेरे जाव पंचहिं अणगारसएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुव्वानुपुव्वि चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहं सुहेणं विरहमाणे जेणेव चंपा नयरी जेणेव पुण्ण भइ चेइये तेषेव समोसरिए । परिसा निग्गया जाव परिसा पडिगया ।

—अंत० व १ / सू १

उस काल उस समय में स्थविर आर्य सुधर्मा स्वामी पांच सौ अनगरों के साथ तीर्थंकर परम्परा से विचरते हुए ग्रामानुग्राम विहार करते हुए, उस चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में पधारे । × × ×

(छ) आर्यिका प्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः ।

—स्थानांगसूत्र वृत्ति ४-३-३२३

साधुवियों के प्रतिजागरक को गणधर कहा गया है ।

सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारस वि गणइरा दुवालसंगिणो चौइसपुव्विणो समत्तगणिपिट्ठगधरा रायगिहे नयरे मासिएणं भत्तिएणं, अपाणएणं कालगयाजाव सव्वटुक्खप्पहीणा । थेरे इंदभुई थेरे अज्जसुहम्मं सिद्धिगए महावीरे पच्छादोत्ति चि परिणिवुया ।

—कप्प० सू २०३

भगवान् महावीर के सभी ग्यारहों गणधर द्वादशांगवेत्ता, चतुर्दश-पूर्वी तथा समस्त गणि पिटक के धारक थे । राजगृह नगर में मासिक अनशनपूर्वक वे कालगत हुए । सर्वदुःखप्रहीण बने । अर्थात् मुक्त हुए । स्थविर इन्द्रभूति

(गौतम) तथा स्थविर आर्य सुधर्मा—ये दोनों ही महावीर के सिद्धिगत होने के पश्चात् मुक्त हुए । ज्यों-ज्यों गणधर कालगत होते गए, उनके गण सुधर्मा के गण में अन्तर्भावित होते गये ।

आर्यिका प्रतिजागरको वा साधुविशेषः समयप्रसिद्धः ।

—ठाण० स्था ४-३-३२३/टोका

गणधर को साधुवियों का प्रतिजागरक कहा है । अतः सुधर्मा गणधर भी साधुवियों के प्रतिजागरक थे ।

नोट— गणधर का यह एक कार्य भी होता था कि वह साधुविवृन्द को प्रतिजागृत रखने—उन्हें संयम-जीवितव्य में उत्तरोत्तर गतिशील रखने में प्रेरक रहे, उनका मार्गदर्शन करे ।

६ सुधर्म का कैवल्यकाल और परिनिर्वाण

(क) तद्वि से चेव सुहम्माइरियो जंबूसामियादीणमणेषाणमाइरियाणं वक्खाणिददुवात्त संगो घाइचउक्कखण केवली जादो । तदो सुहम्मभडारयो वि बारहवस्साणि ।

कसापा० भाग १/गा० १ / पृ० ८४

जिस दिन गौतम स्वामी—इन्द्रभूति ने मोक्षपद प्राप्त किया—उसी दिन सुधर्माचार्य जंबूस्वामी अनेक आचार्यों को द्वादशांग का व्याख्यान करके चार घातिक कर्मों का क्षय करके केवली हुए ।

तदनन्तर सुधर्म भट्टारक भी बारह वर्ष तक केवलविहाररूप में विहार करके मोक्ष का प्राप्त हुए ।

(ख) तहिं वासरि उप्पणउ केवलु । मुणिहि सुधम्महु - पक्खालिय - मत्तु ॥

तण्णिव्वाणइ जंबू - णामहु । पंचमुदिव्व - णाणु ह्य - कामहु ॥

—वीरजि० संधि ३/कड २

इन्द्रभूति के निर्वाण के दिन सुधर्म गणधर को पापमल का प्रक्षालन करनेवाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ । सुधर्म स्वामी का निर्वाण होने पर काम को जीतनेवाले जम्बू नामक मुनि को वही दिव्यज्ञान अर्थात् केवलज्ञान उत्पन्न हुआ ।

(ग) तम्मि कदकम्मणासे जंबूसामित्ति केवली जादो । तत्थवि सिद्धिपवण्णे केवल्लिणो णत्थिअणुबद्धा ॥

—तिलोप० अधि/गा १४७७

सुधर्मा स्वामी के कर्मनाश करने अर्थात् मुक्त होने पर जम्बू स्वामी केवली हुए । फिर जम्बू स्वामी के भी सिद्धि को प्राप्त होनेपर फिर कोई अनुबद्ध केवली नहीं रहे ।

वासट्ठी वासाणि गोदमपहुदीण णाणवंताणं । धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरुवेणं ॥

तिलोप० गा १४७८

गौतम, सुधर्मा और जम्बू का केवल काल ६२ वर्ष का बताया है ।

जादो सिद्धो वीरो तद्विसे गोदमो परमणाणी । जादो तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥
तस्मि कदकाम्मणसे जंबूसामि त्ति केवली जादो । तत्थवि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥

—तिलोप० १४७६, ७७

घाति कर्मों का नाश कर जम्बू स्वामी केवली हुए । जम्बू स्वामी के बाद केवलज्ञान का विच्छेद हो गया ।
जम्बू स्वामी द्वारा सिद्धि प्राप्त कर लिये जाने पर अनुबद्ध केवलि नहीं हुए ।

थेरेस्सणं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणगोत्तस्स । अज्जजंबुनामथेरे अंतेवासी कासवगोत्ते ॥

—कप्प० सू २०५

सुहम्मं अग्गिवेसाणं, जंबू नामं च कासवं ॥

—नंदी० स्थविरावली गा २५

अग्नि वैश्यापन गोत्रोत्पन्न, स्थविर आर्य सुधर्मा के काश्यपगोत्रोत्पन्न आर्य जंबू नामक स्थविर अंतेवासी थे ।
आर्य सुधर्मा के पट्टधर जंबूस्वामी थे ।

(घ) मुक्ते तत्र च पंचमो गणधरो लब्ध्वा सुधर्मप्रभु-ज्ञानं पंचममन्वशाश्चिरन्तरं धर्मं जनान् क्षमातले ॥
प्राप्तो राजगृहाभिधाननगरे निःशेषमप्यन्यदा, जंबूस्वामीमुनेरधीनमनघं संघं निज्जं निर्समे ॥२८३॥
तस्मिन्नेव पुरे सुधर्मगणभृत्क्षीणाष्टकर्मा-क्रमा-त्तुर्यध्यानधरोऽपुनर्भवमगादद्वैतसौख्यं पदम् ।

पश्चादन्तिमकेवली क्षितितले श्रीवीरमार्गाग्रणीधर्मं भव्यजनान् प्रबोध्य सुचिरं जंबूप्रभुश्चान्यदा ॥२८४

— त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

गौतमस्वामी के मोक्ष जाने के बाद पांचवे गणधर सुधर्म स्वामी पंचम ज्ञान को प्राप्त कर बहुत वर्षों तक पृथ्वी
पर विचरण कर लोगों को धर्मदेशना दी । अंत में वे भी राजगृही नगरी में पधारें और स्वयं के निर्दोष संघ को
जंबूस्वामी को स्वाधीन किया ।

बाद में सुधर्मस्वामी गणधर भी उसी नगरी में अशेष कर्मों को क्षय कर शुद्ध ध्यान में अद्वैत सुखवाले
स्थान को प्राप्त किया ।

उसके बाद अन्तिम केवली श्री जंबूस्वामी भी श्री वीरभगवान् के शासन में अग्रणी होकर बहुत वर्षों तक
भक्तजनों को धर्म संबंधी उपदेश दिया और अंत में मोक्ष प्राप्त किया ।

•१० सुधर्मा गणधर से जंबूस्वामी के प्रश्नोत्तर

तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगास्स जेट्ठे अंतेवासी अज्जजंबू णामं अणगारे
कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहेजाव अज्जसुहम्मस्स थेरेस्स अदूरसामंते उड्ढंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोट्टोवगए
संजमेणं तवस्सा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ ॥ ६ ॥

—नाया० श्रु १/अ ६

उस समय सुधर्मा अनगार के ज्येष्ठ शिष्य काश्यपगोत्रोत्पन्न आर्य जंबू अपने गृह के न बहुत दूर, न बहुत
समीप, ऊर्ध्वज्ञानू, प्रणत मस्तक, धर्मध्यान व शुद्ध ध्यानरूपी कोष्ठ में अवस्थित, संयम और तपस्या से अपने को
प्रभावित करते हुए उपस्थित थे ।

•११ भगवान् महावीर के पट्टधर—सुधर्म गणधर

(क) समणस्सणं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्जसुहुम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणगोते ।

—कप्प० सू० २०५

काश्यप गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर के अंतेवासी आर्य सुधर्मा स्थविर अग्निवैश्यायन गोत्रीय थे ।

श्वेताम्बर मवानुसार गौतम के निर्वाण के पश्चात् आठ वर्ष तक वे केवल ज्ञानी रूप में रहे । दिग्म्बर परंपरा में उनका केवल ज्ञान-काल दस वर्ष का माना जाता है ।

(ख) जादो सिद्धो वीरो तद्विवसे गोदमो परमणाणी । जादे तस्सि सिद्धे सुधम्मसामी तदो जादो ॥१४७६॥

तस्मि कदकम्मणासे जंबूसामि त्ति केवली जादो । तत्थवि सिद्धिपवण्णे केवलिणो णत्थि अणुवद्धा ॥१४७७॥

बासट्ठी वासाणि गोदम पट्टदीण णाणवंताणं । धम्मपयट्टणकाले परिमाणं पिंडरूपेणं ॥ १४७८ ॥

—तिलोप० अधि १

जिस दिन भगवान् सिद्ध अवस्था को प्राप्त हुए, गौतम को परम ज्ञान या सर्वज्ञत्व प्राप्त हुआ । गौतम के निर्वाण-प्राप्त कर लेने पर सुधर्मा सर्वज्ञ हुए । सुधर्मा द्वारा समस्त कर्मों का उच्छेद कर दिये जाने पर या वैसा कर मुक्त हो जाने पर जंबू स्वामी को सर्वज्ञत्व लाभ हुआ ।

जंबू स्वामी के सिद्ध प्राप्त हो जाने के पश्चात् सर्वज्ञों की अनुक्रमिक परंपरा विदुष्य हो गयी । गौतम प्रभृति ज्ञानियों के धर्म-प्रवर्तन का समय पिंड रूप में—सम्मिलित रूप में बासठ वर्ष का है ।

(ग) समणस्स णं भगवओ महावीरस्स कासवगोत्तस्स अज्जसुहुम्मे थेरे अंतेवासी अग्गिवेसायणसगोत्ते ।

थेरस्स णं अज्जसुहुमस्स अग्गिवेसायणसगोत्तस्स अज्जजंबुनामं थेरे अंतेवासीकासवगोत्ते ।

थेरस्स णं अज्जजंबुनामस्सकासवगोत्तस्स अज्जप्पभवे थेरेअंतेवासी कच्चायणसगोत्ते ।

थेरस्स णं अज्जप्पभवस्स कच्चायणसगोत्तस्स अज्जसेज्जंभवे थेरे अंतेवासी मणगपिया वच्छसगोत्ते ।

थेरस्स णं अज्जसेज्जंभवस्स मणगपिउणो वच्छसगोत्तस्स अज्जजसभहे थेरे अंतेवासी तुंगियायणसगोत्ते × × × ।

—कप्प० सू० २०५/ पृ० ६१

१—श्रमण भगवान् महावीर, काश्यप गोत्री थे । काश्यप गोत्री श्रमण भगवान् महावीर के अग्निवैश्यायन गोत्री स्थविर आर्य सुधर्मा नामक अंतेवासी-शिष्य थे ।

२—अग्निवैश्यायन गोत्री आर्य सुधर्मा के काश्यपगोत्री स्थविर आर्य जंबू नामक अंतेवासी थे ।

३—काश्यप गोत्री स्थविर आर्य जंबू के कात्यायन गोत्री स्थविर आर्य प्रभव नामक अंतेवासी थे ।

४—कात्यायन गोत्री स्थविर आर्य प्रभव को वात्स्यगोत्री स्थविर आर्य सिज्जंभव नामक अंतेवासी थे । आर्य सिज्जंभव (स्वयंभव) मनक के पिता थे ।

५—मनक के पिता और वात्स्य गोत्री स्थविर आर्य सिज्जंभव (शय्यम्भव) के तुंगियायन गोत्री स्थविर जसभद्र (यशोभद्र) नामक अंतेवासी थे ।

मोट—[तिलोयपणत्तिकार ने गौतम, सुधर्मा और जंबू के कैवल्यवस्था के समय को धर्म-प्रवर्तन काल शब्द से संज्ञित किया है । इसके अनुसार गौतम के बारह वर्ष, सुधर्मा के बारह वर्ष तथा जंबू के अड़तीस वर्ष कुल बासठ वर्ष होते हैं ।]

(छ) सिरिज्जिणनिव्व्राणगमणरयणीए उज्जोणीए चंडपज्जोअमरणे पाल्लओ रायाअहिसित्तो ।

तेणं य अपुत्त उदाइमरणे कोणिअरज्जं पाटलिपुरं पिअट्ठिअं ।

तस्स य वरिसं ६० रज्जे—गोयम १२, सुहम्म ८, जम्बू ४४ जुगप्पहाणा ।

—सिरिटुसमाकाल समय संघथयं—अवचूरिः ८० ॥

श्रीजिन भगवान् महावीर के निर्वाण-गमनकी रात्रि में उज्जयिनी में चंडप्रद्योतका मरण होने पर पालक राजा के रूप में अभिसिक्त हुआ ।

पाटलिपुत्र के राजा उदायी के निष्पुत्र रूप में मरणगत हो जाने पर उसने कोणिक (अजातशत्रु) का पाटलिपुत्र का राज्य भी अधिकृत कर लिया ।

उसके साठ वर्ष के राज्यकाल में गौतम १२ वर्ष, सुधर्मा ८ वर्ष तथा जंबू ४४ वर्ष तक युगप्रधान रहे ।

मोट—आर्य सुधर्मा का जन्म ई० पू० ६०७ में हुआ था । जबकि भगवान् महावीर का जन्म ई० पू० ५६६ में हुआ था । अतः भगवान् महावीर से सुधर्मा आर्य आठ वर्ष बड़े थे । इन्द्रभूति गौतम का भी जन्म ई० पू० ६०७ में हुआ था । सुधर्मा ५० वर्ष की आयु तक गृहस्थ-पर्याय में रहे । ३० वर्ष साधु-पर्याय में रहे । भगवान् महावीर के निर्वाण और गौतम के केवली होने पर गौतम के जीवनकाल में वे १२ वर्ष असर्वज्ञ रूप में संघ के अधिनायक रहे । जिस दिन गौतम का निर्वाण हुआ सुधर्मा को केवल ज्ञान प्राप्त हुआ । उनका आठ वर्ष का केवलिकाल है । अतः इस अवधि में केवली के रूप में संघनायक रहे ।

तत्त्वतः केवली पट्टासीन नहीं होते । केवली के पट्टधर केवली आसीन हों, तो द्वादशांग रूप ज्ञान का परम्परा प्राप्त शृंखलागत स्रोत यथावत् नहीं रह पाता । अतः भगवान् महावीर के पट्टधर गौतम नहीं थे परन्तु सुधर्मा गणधर थे ।

तिलोयपणत्तो में गौतम, सुधर्मा और जंबू का केवलिकाल ६२ वर्ष बताया गया है ।

अपभ्रंश जंबूसामि चरिउ के लेखक और कवि ने जंबूस्वामी के दीक्षित होने के अठारह वर्ष पश्चात् माघ शुक्ला सप्तमी को प्रातः आर्य सुधर्मा मोक्षगामी हुए । सुधर्मा के निर्वाण के अठारह वर्ष बाद जंबू का मोक्ष हुआ ।

•६२ सुधर्म गणधर का मासिक अनशन में परिनिर्वाण—

(क) इंदभुई सुहम्मो अ रायगिहे निव्वुए वीरे ।

—आव० निगा ६५८

सुधर्मा गणधर का परिनिर्वाण राजगृह नगर में हुआ ।

(ख) (एकारस वि गणहरा) रायगिहे नयरे मासिएणं भत्तिएणं अपाणएणं कालगया जा सव्वदुक्खप्पहीणा ।

—कप्प० सू २७

सुधर्मा गणधर—राजगृह नगर में एक मास तक बिना जल के अनशन करके कालधर्म को प्राप्त हुए या सर्वादुःखों का अंत किया ।

•१३ सुधर्मा गणधर की निर्वाणभूमि—

परिनिव्वुया गणहरा जीवन्ते नायए नव जणाड । इंदभूई सुहम्मो अ रायगिहे निव्वुए वीरे ॥

—आव० निगा ६५

सुधर्मा का निर्वाण मगध की राजधानी राजगृह में हुआ ।

नोट—सुधर्मा गणधर ५० वर्ष गृहस्थ जीवन + ३० वर्ष साधु-जीवन + १२ वर्ष असर्वज्ञ रूप में संघप्रधान तथा ८ वर्ष सर्वज्ञ रूप में संघप्रधान = कुल १०० वर्ष का वयोमान होता है । दिग्म्बर-परम्परा इससे कुछ भिन्न है वहाँ इनका केवलि-काल बारह वर्ष माना जाता है ।

जंबूसामि चरिड के रचयिता वीर कवि (११वींशती) ने सुधर्मा के १८ वर्ष तक केवलि के रूप में रहने का उल्लेख किया है ।

•१४ सुधर्म गणधर की श्रुत-साधना—

सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एकारस वि गणहरा दुवालसंगिणो चोहसपुब्बिणो समत्तगणिपिडगधरा ।

—कप्प० सू २७

सुधर्मा गणधर द्वादशांग-वेत्ता, चतुर्दशपूर्वों तथा समस्त गणिपिटक के धारक थे ।

•१५ आर्य सुधर्मा की अपत्य परम्परा या वंशपरंपरा

जे इमे अज्जत्ताते समणा निगगंथा विहरन्ति एएणं सव्वे अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स आवशिज्ज अवसेसा गणहरा निरवञ्जा वोच्छिन्ना ।

—कप्प० सू २७

श्रमण भगवान् महावीर की उत्तरवर्ती श्रमण परम्परा के अधिनायक आर्य सुधर्मा हुए ; इसलिए आगे की सा परम्परा आर्य सुधर्मा की (धर्म) अपत्य-परम्परा या (धर्म) वंश परंपरा कही जाती है ।

अस्तु जो आज श्रमण-निर्ग्रन्थ विद्यमान है, वे सभी अनगार आर्य सुधर्मा की अपत्य परम्परा के हैं, क्योंकि और सभी गणधर निरपत्य रूप में निर्वाण को प्राप्त हुए ।

•१६ सुधर्मा के पट्टधर-जंबूस्वामी—

जंबूस्वामी—एक विवेचन—

•१ तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मस्स अणगारस्स जेट्ठे अंतेवासी अज्जजंबूणामं अणगा कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे जाव अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्डंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोट्टोवगा संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरति ॥६॥

—नाया० श्रु १ अ

उस काल उस समय में आर्य सुधर्मा अनगार के ज्येष्ठ शिष्य आर्य जंबू नामक अनगार थे। जो काश्यप गोत्रीय और सात हाथ ऊँचे शरीरवाले यावत् आर्य सुधर्मा स्थविर से न बहुत दूर, न बहुत समीप अर्थात् उचित स्थान पर, ऊपर घुटने और नीचा मस्तक रखकर, ध्यानरूपी कोष्ठ में स्थित होकर संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

.२ जंबू स्वामी :

तद्विसे चैव जंबू सामिभडरओ विट्ठु (विष्णु) आइरियादीणमणेयाणं वक्खाणिददुवात्तसंगो केवली जादो। सोवि अट्टत्तीसवासाणि ३८ केवलविहारेण विहरिदूण णिव्वुइं गदो। एसो एत्थो-सप्पिणीए अंतिमकेवली।

—कसापा०/गा १/टीका/भाग १/पृ० ८४-८५

जिस दिन सुधर्मा स्वामी मोक्ष पधारे उसी दिन जंबू स्वामी भट्टारक विष्णु आचार्य आदि अनेक ऋषिगण द्वादशांग की व्याख्या करके केवली हुए। वे जंबू स्वामी भी अड़तीस वर्ष तक केवली विहार रूप से विहार करके मोक्ष की प्राप्ति हुए।

ये जंबू स्वामी इस भरत क्षेत्र संबन्धी अवसर्पिणीकाल में पुरुष परम्परा की अपेक्षा अंतिम केवली हुए हैं।

.३ जंबू जाव पञ्जुवासति

पठित जाव—यावत् पद से—

जंबू णामं अणगारे कासवगोत्तेणं सत्तुस्सेहे समचउरंससंठाणसंठिए वज्जरिसहनारायसंघयणे कणगपुत्तगणिघसपम्हगोरे उरगतवे दित्ततवे तत्ततवे महातवे ओराले घोरे घोरगुणे घोरतवस्सी घोरबंभ-चेरवासी ऊद्धदसरीरे संखित्तविउलतेउलेसे चोइसपुठ्वी चउणाणोवगए सव्वक्खरसन्निवाई अज्जसुहम्मस्स थेरस्स अदूरसामंते उड्डंजाणू अहोसिरे ज्ञाणकोट्टोवगते संजमेणं तवसा अप्पाणं भवेमाणे विहरति।

ततेणं अज्ज जम्बू णामं अणगारे जायसड्ढे जायसंसए जायकोउहल्ले, संजायसंसए संजाय-कोउहल्ले, उप्पन्नसड्ढे उप्पन्नसंसए उप्पन्नकोउहल्ले, समुप्पन्नसड्ढे समुप्पन्नसंसए समुप्पन्नकोउहल्ले उट्टाए उट्टे ति उट्टाए उट्टेत्ता जेणामेव अज्जसुहम्मे × × × ।

—विवा० श्रु २/अ १/सू १

आर्य जम्बू अणगार आर्य सुधर्मा स्वामी के पास संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विहरण कर रहे थे, जो कि काश्यप गोत्र वाले हैं, जिनका शरीर सात हाथ प्रमाण का है, जो पालथी मारकर बैठने पर शरीर की ऊँचाई और चौड़ाई बराबर हो—ऐसे संस्थान वाले हैं, जिनका वज्रर्षभनाराच संहनन है, जो सोने की रेखा के समान और पद्मराग (कमलरज) के समान वर्णवाले हैं, जो उग्रतपस्वी—साधारण मनुष्य की कल्पना से अतीत को उग्र कहते हैं—ऐसे उग्र तप के करनेवाले, दीप्ततपस्वी—कर्मरूपी गहन वन को भस्म करने में समर्थ तप के करनेवाले, तप्ततपस्वी—कर्म संताप के विनाशक तप के करनेवाले और महातपस्वी—स्वर्गादि की प्राप्ति की इच्छा बिना तप करने वाले हैं, जो उदार प्रधान हैं, जो आत्म शत्रुओं के विनष्ट करने में निर्भीक हैं, जो दूसरों के द्वारा दुष्प्राणो गुणा को

धारण करने वाले हैं। जो घोर-विशिष्ट तपस्वी है, जो दाहण भीषण ब्रह्मचर्य-व्रत के पालक हैं, जो शरीर पर ममत्व नहीं रख रहे हैं, जो तेजो लेश्या विशिष्ट तपोत्रय लब्धिविशेष, को संक्षिप्त किये हुए है। जो १४ पूर्वों के ज्ञाता है, जो मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्यवज्ञान—इनचारों ज्ञानों के धारक हैं, जिनको समस्त अक्षर संयोग का ज्ञान है। जिन्होंने ने उत्कुटुक नामक आसन लगा रखा है, जो अधोमुख है। जो धर्म तथा शुक्ल ध्यान रूप कोष्ठक में प्रवेश किये हुए हैं अर्थात् जिस प्रकार कोष्ठक में धान्य सुरक्षित रहता है उसी प्रकार ध्यान रूपी कोष्ठक में प्रविष्ट हुए आत्मवृत्तियों को सुरक्षित रख रहे हैं।

४. सुधर्मा के पट्टधर जंबू स्वामी थे :

सुहम्मं अग्निवेसाणं, जम्बू नामे च कासवं ।

—नंदी० स्थविरावली, गा २५

सुधर्मा के पट्टधर आर्य जंबू स्वामी थे ।

५. तम्मि कदकम्मणासे जंबू सामि त्ति केवली जादो । तत्थ वि सिद्धि पवण्णे केवलिणो णत्थि अणुबद्धा ॥

—तिलोप० १४७७

जंबू स्वामी अन्तिम केवली थे । उनके निर्वाण के बाद अनुबद्ध केवली का विच्छेद ही गया ।

१७. सुधर्म गणधर के पट्टधर जंबू के अनन्तर कतिपय विच्छेद :

मण - परमोहि - पुलाए आहारग - खवग - उवसमे कप्पे ।

संजमतिय - केवलि - सिज्झणा य जंबूमि वोच्छिणा ॥

—विशेभा० गा २५६३

जंबू अन्तिम केवली थे । प्रायः सभी जैन परम्पराएं इस सम्बन्ध में एकमत हैं । जैन मान्यता के अनुसार जंबू के पश्चात् १—मनःपर्यव ज्ञान, २—परम अवधि ज्ञान, ३—पुलाकलब्धि, ४—आहारक शरीर, ५—उपसम श्रेणी, ६—क्षपक श्रेणी, ७—जिनकल्प साधना, ८—परिहार-विशुद्धि चारित्र, ९—सूक्ष्म-संपराय चारित्र, १०—यथाख्यात चारित्र, ११—केवल-ज्ञान १२—मोक्ष गमन का विच्छेद हो गया ।

नोट—तिलोपपण्णत्ती में गौतम, सुधर्मा और जंबू का केवलि-काल ६२ वर्ष का बताया गया है । प्रायः दिगम्बर-परम्परा के सभी विद्वानों ने व श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार गौतम, सुधर्मा और जंबू के कैवल्य-काल की कुल संख्या ६४ वर्ष होती है । हियवत् थैरावली में वीर निर्वाणाब्द ७० में जंबू का निर्वाण सूचित किया है । उसके अनुसार गौतम, सुधर्मा और जंबू का सर्वज्ञावस्था का समय ७० वर्ष का होता है ।

१८. सुधर्मा गणधर के बाद जंबू स्वामी आदि:

सुहम्मं अग्निवेसाणं, जम्बू नामं च कासवं । पभवं कच्चायणं वन्दे, वच्छं सिज्जंभवं तथा ॥

—नंदी० स्थविरावली गा २५

थेरस्स णं अज्जसुहम्मस्स अग्गिवेसायणगोत्तस्स अज्जजंबुनामथेरे अंतेवासी कासवगुत्तेण ।

—कप्प० स्थविरावली

अग्निवैश्यायन गोत्रोत्पन्न, स्थविर आर्य सुधर्मा के काश्यप गोत्रोत्पन्न आर्य जंबू नामक स्थविर अंतेवासी थे । आर्य सुधर्मा के पट्टधर आर्य जंबू थे ।

आर्य जंबू के जीवन का कालक्रम सामान्यतः निम्नांकित रूप में माना जाता है :—

१—जन्म : ई० पू० ५४३

२—दीक्षा : ई० पू० ५२७—१६ वर्ष की आयु में भगवान् महावीर के निर्वाण के कुछ बाद ।

यद्यपि भगवान् महावीर का परिनिर्वाण ई० पू० ५२७ में हुआ था । परन्तु जंबू स्वामी की दीक्षा के समय भगवान् महावीर का परिनिर्वाण हो चुका था ।

३—केवलज्ञान : ई० पू० ५०७

४—निर्वाण : ई० पू० ४६३ — सम्पूर्ण आयु ८० वर्ष ।

बुद्ध का परिनिर्वाण ई० पू० ५४४ में हुआ ।

नोट—कतिपय विद्वान् दिगम्बर-परम्परा के अनुसार वीर-निर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् गौतम, उसके १२ वर्ष बाद सुधर्मा तथा उसके ४० वर्ष पश्चात् जंबू का मोक्ष मान्य किये हैं । इस प्रकार १२ + १२ + ४० = वीर निर्वाण से जंबू-निर्वाण ६४ वर्ष होते हैं ।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुमार भी गौतम, सुधर्मा और जंबू के कैवल्य-काल की कुल संख्या ६४ वर्ष होती है । पर वह इस प्रकार है—गौतम का कैवल्य काल १२ वर्ष, सुधर्मा का कैवल्य काल ८ वर्ष तथा जंबू का कैवल्य काल ४४ वर्ष = कुल ६४ वर्ष ।

•१६ भगवान् के परिनिर्वाण के पश्चात् सुधर्मा स्वामी चंपा नगरी में :

तेणं कालेणं तेणं समएणं अज्जसुहम्मे थेरे जाव पंचहिं अणगार सएहिं सद्धिं संपरिवुडे पुब्बाणुपुब्बिं चरमाणे गामाणुगामं दूइज्जमाणे सुहंसुहेणं विहरमाणे जेणेव चंपा णयरी जेणेव पुण्णभहे चेइए तेणेव समोसरिए । परिसा णिग्गया जाव पडिगया ।

—अंत० व १/अ १

उस काल उस समय में स्थविर सुधर्मा स्वामी पांच सौ अनगरों के साथ तीर्थङ्कर भगवान् की परम्परा के अनुसार विचरते हुए एवं ग्रामानुग्राम अर्थात् एक ग्राम से दूसरे ग्राम अनुक्रम से विहार करते हुए चम्पानगरी के पूर्णभद्र नामक उद्यान में पधारे ।

आर्य सुधर्मा स्वामी के आगमन को सुनकर परिषद् अर्थात् नगर निवासी लोगों का समुदाय रूप सभा, उन्हें वंदन करने के लिए एवं धर्मकथा सुनने के लिए अपने-अपने घर से निकल कर वहाँ पहुँची और वंदन करके एवं धर्मकथा सुनकर वापस लौट गयी ।

•२० सुधर्मा गणधर के विहार—

(भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के बाद)

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहे नगरे गुणसिल्लए चेइए, सुहम्मे समोसढे ।

—विवा० श्रु २/अ १

उस काल उस समय में सुधर्म गणधर राजगृह नगर पधारे ।

•४५ षष्ठम् मंडित गणधर :

•१ मंडित-मंडिक गणधर का भगवान् के पास आगमन :

(क) ते पव्वइए सोडं मंडित आगच्छई जिणसगासे ।

वञ्चामि णं वंदांमि वंदिता पज्जुवासामि ॥६१८॥

मलव टीका—तान्—इन्दुभृतिप्रमुखान् पत्रजितान् श्रुत्वा मण्डिकः षष्ठो गणधरो जिनसकाशं—
भगवत्समीपमागच्छति, किं भूतेनाध्यवसाये नेत्याह—वञ्चामि णेत्यादि पश्चाद्धं पूर्ववत् ।
स च भगवत्समीपगत्वा भुवननाथं प्रणम्य प्रमुदितस्तदग्रतस्तस्थौ, अत्रान्तरे—

आभट्टो य जिणेणं जाइजरामरण विप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वण्णूसव्वदरिसीण ॥६१९॥

मलय टीका—व्याख्या पूर्ववत् (× × × नाम्ना हे मण्डिके ! इत्येवंरूपेण तथा गोत्रेण च—यथा हे
वशिष्ठगोत्र ! किं विशिष्टेन जिनेनेत्याह—सर्वज्ञेन सर्वदर्शिना × × ×)

किं मन्ने बन्धमोक्खो अत्थो नत्थोत्ति संसओ तुज्झ । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६२०॥

मलय टीका—किं मन्यसे बन्धमोक्षौ स्तो न वा स्त इति, नन्वयमनुचितः तव संशयः, व्याख्यान्तरं
पूर्ववत्, यतोऽयं तव संशयो विरुद्धवेदपदश्रुतिसमुत्थो वर्तते, तानि च वेदपदान्य-
मूनि—“सएष विगुणो विभुः न बध्यंते संसरति वा न मुच्यते मोचयति वा, नवा एष बाह्यमा-
भ्यंतरं वा वेद” इत्यादीनि “न ह वै सशरीरस्य प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वा
वसन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशत” इत्यादीनि च, एतेषां च वेदपदानामयमर्थस्तव चेतसि
प्रतिभासते स एषः—अधिकृतो जीवो विगुणः सत्त्वादिगुणरहितो विभुः—सर्वगतः न
बध्यते, पुण्यपापाभ्यां न युज्यते इत्यर्थः, संसरति वा, नेत्यनुवर्तते, न मुच्यते न
कर्मणा वियुज्यते, बन्धाभावात्, नाप्यन्यं मोचयति, क्रियारहितत्वान्, अनेनाकर्तृत्व-
मावेदयति, न वा एष बाह्यम् × × × ।

तथाहि—काञ्चनोपल्लयोः संयोगोऽनादिसन्ततिगतोऽपि क्षारमृत्पुटपाकादिद्रव्य-
संयोगोपायतो विघटमानको दृष्टस्तथा जीवकर्मणोरपि ज्ञानदर्शनचारित्र्योपायतो वियोग
इति न कश्चिद्दोषः । × × × ।

तथाहि—संसारिजीवः कषायादियुक्तः, कषायादियुक्तश्च कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते इति तस्य कर्मबन्धोपपत्तिः, मुक्तस्तु कषायादिपरिणामविकलः, शुक्लध्यानमाहात्म्यतस्तेषां समूलमुन्मूलितत्वात्, ततो मुक्त्यवस्थायां कर्मबन्धाप्रसङ्गः न च वाच्यम्— एवं सतितर्हि निरन्तरं मुक्तिगमनतो भव्यानामुच्छेदप्रसङ्गः, अनन्तानन्तसंख्योपेतत्वात्, इह यदनन्तानन्तसंख्योपेतं तत्प्रतिसममेकद्वित्रयादिसंख्ययाऽपगच्छदपि न कदाचन निर्लेपी भवति, यथाऽनागतकालः, तथा च अनन्तानन्तसंख्योपेता भव्या इत्यनुच्छेदः, अथ सिद्धा अप्यनन्तास्तेषामपि प्रबाहतोऽनादित्वात्ततः कथं तेषां तावत्संख्याकानां परिमितक्षेत्रेऽवस्थानाविरोधः, उच्यते, अमूर्त्तत्वात्, तथा ह्यमूर्त्तानां प्रतिद्रव्यमनन्तानां केवलज्ञानदर्शनानां सम्पातोऽस्ति न च विरोध इति,

छिन्नंमि संसयम्मी जाइजरामरणविप्पमुक्केण ।

सो समणो पव्वइओ अद्धुट्ठहिं सह खण्डियसएहिं ॥६२१॥

टीका—व्याख्या पूर्ववत्, नवरम अर्द्धचतुर्थैरिति—साद्धैस्त्रिभिः सह खण्डिकशतैरिति ।

—आव० निगा ६१६ से ६२१

(ख) मंडिकोऽपि जगामाऽथ स्वामिनं संशयच्छिदे । स्वाम्यप्युवाच तं बंधमोक्षयोस्तव संशयः ॥१३१॥ तदसद्बन्धमोक्षौ हि प्रसिद्धौ तत्र चात्मनः । मिथ्यात्वादिकृतः कर्मसंबंधो बंध उच्यते ॥१३२॥ रज्जुबद्ध इव श्रभ्रतिर्यग्नसुरभूमिषु । दुःखं तेनानुभवति प्राणी परमदारुणम् ॥१३३॥ ज्ञानदर्शनचारित्रप्रमुखैर्हेतुभिस्तु यः । वियोगः कर्मणां ज्ञेयः स मोक्षोऽनन्तशर्मदः ॥१३४॥ अप्यनादिमिथः सिद्धयोगानां जीवकर्मणाम् । ज्ञानादिना स्याद्वियोगोऽग्निना स्वर्णाऽश्मनामिव ॥१३५॥ इति स्वामिगिराच्छिन्नसंशयो मंडिकोऽपि हि । सार्धत्रिशत्या शिष्याणां सहितो व्रतमाददे ॥१३६॥

त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

इसके पश्चात् स्वयं के संशय को नष्ट करने के लिए मंडिक विप्र भगवान् के पास आया । उसने भगवान् को कहा कि—'तुम्हें बंध और मोक्ष के विषय में संशय है । परन्तु बंध और मोक्ष आत्मा को होता है—यह बात प्रसिद्ध है ।

मिथ्यात्वादिके द्वारा कृतकर्मों का जो सम्बन्ध है वह बंध कहा जाता है । उस बंध के साथ प्राणी रस्सी के साथ बंधे हुए की तरह नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवरूप चार गति में परिभ्रमण करता हुआ प्राणी परम दारुण दुःख का अनुभव करता है । ज्ञान, दर्शन और चारित्र प्रमुख हेतु के कारण जो कर्म का वियोग होता है उसे मोक्ष कहा जाता है : मोक्ष के द्वारा प्राणी को अनन्त सुख की उपलब्धि होती है । चूंकि जीव और कर्म का परस्पर संयोग अनादि सिद्ध है । देखा जाता है कि अग्नि से सुवर्ण और पाषाण अलग-अलग हो जाते हैं उसी प्रकार ज्ञानादिक से जीव और कर्म का वियोग हो जाता है ।”

इस प्रकार के भगवान् के वचनों से उसका संशय नष्ट हो गया ।

फलस्वरूप ३५० शिष्यों के साथ मंडिक ने भगवान् से पंच महाव्रत रूप दीक्षा ग्रहण की—

.२ मंडित के माता-पिता के नाम :

(क) धनदेव-विजय-देवाइ नंदणो जयइ मंडिओ छट्टो । तेसीईवरिसाऊ मोरियदेसुब्भवो भयवं ।

—धर्मोप० पृ० २२७

मंडित के माता का नाम विजया, पिता का नाम धनदेव था । जन्मस्थान मौर्यसन्निवेश था । तिरासी वर्ष की आयु थी ।

(ख) धनदेवश्च मौर्यश्च मौर्याख्ये सन्निवेशेने । द्वावभूतां द्विजन्मानौ मातृष्वस्त्रेयकौ मिथः ॥५२॥
पत्न्यां विजयदेवायां धनदेवस्य नन्दनः । मंडिकोऽभूत्तत्र जाते धनदेवो व्यपद्यतः ॥५३॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

मौर्यग्राम में धनदेव और मौर्य—दो विप्र थे । जो परस्पर मासी के पुत्र-भाई थे । उनमें धनदेव के विजय नाम की पत्नी से मंडिक नामक एक पुत्र था । अस्तु मंडिक के जन्म होते ही धनदेव मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

.३ मंडित गणधर की श्रमण-पर्याय :

थेरेणं मंडियपुत्ते तीसं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणिन्ता सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिब्बुडे सव्वदुक्खप्पहीणे ।

—सम० सम० ३०/सू १

स्थविर मंडित पुत्र तीस वर्ष की श्रमण-पर्याय का पालन कर सिद्ध हुए यावत् सर्वदुःख से रहित हुए ।

.४ मंडित पुत्र की आयु :

थेरेणं मंडियपुत्ते तेसीइं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जाव प्पहीणे ।

—सम० सम ८३

टीका— तथा स्थविरो मंडितपुत्रो—महावीरस्य षष्ठो गणधरः तस्य च त्र्यशीतिवर्षाणि सर्वायुः, कथं ?
त्रिपंचाशद्गृहस्थपर्याये चतुर्दशान्नस्थपर्याये षोडश केवलित्वे इत्येवं त्र्यशीतिरिति ।

स्थविर मंडितपुत्र भगवान् के छट्टे गणधर थे । उनकी सर्वायु तेरासी वर्ष की थी—जिसमें त्रेपन वर्ष गृहस्थपर्याय, चतुर्दश वर्ष छद्मस्थ दीक्षापर्याय व सोलह वर्ष केवलपर्याय थी ।

.५ परिनिर्वाण के समय तप :

(क) मासं पाओवगया × × × ।

—आव० निगा ६५६

मंडितपुत्र के परिनिर्वाण के समय पादोपगमन संथारा एक मास का था ।

(ख) सव्वे एए समणस्स भगवओ महावीरस्स एक्कारसवि गणहरा दुवालसंगिणो चौदसपुब्बिणो समत्तगणिपिडगधरा गयगिहे नगरे मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं काल गया जाव सव्वदुक्खप्पहीणा ।

—कप्प० सू २०३

भगवान् महावीर के सभी गणधर—मंडितपुत्र गणधर द्वादशांगवेत्ता, चतुर्दशपूर्वो तथा समस्त गणपिटक के धारक थे । राजगृह नगर में मासिक अन्तशनपूर्वक वे कालगत हुए, सर्वदुःख प्रहीण बने अर्थात् मुक्त हुए ।

नोट :—पादो वृक्षस्य भूगतो मूलभागः, तस्येव अप्रकंपतया उपगतम्—अवस्थानं यस्य स तथा ।

—जंबूद्वीपज्ञप्ति—वक्षस्कार ३, सू ७०/वृत्ति

पाद का अर्थ वृक्ष का जमीन में गड़ा हुआ जड़ का भाग है । उसकी तरह जिस (गृहीत-अनशन) व्यक्ति की अप्रकम्प स्थिति होती है । उसे पादोपगत कहा जाता है ।

पादपो वृक्षः उपशब्दश्चोपमेयोऽपि सादृश्येऽपि दृश्यते । ततश्च पादपमुपगच्छति सादृश्येन प्राप्नोतीति पादपोपगमनम् पादपवन्निश्चले ।

—धर्म संग्रहसटीक, अधि/३

सर्वथा परिस्पन्दवज्जिते चतुर्विधाहारत्यागनिष्पन्ने अनशनभेदे ।

—पंचाशक टीका—विवरण १६

पादपस्येवोपगमनमस्पन्दतयावस्थानं पादपोपगमनम्

भग० श २५/उ ७/टीका

आमरण-अनशन-प्राप्त साधक, जिसमें पादपवृक्ष की तरह परिस्पन्दन—कम्पन आदि से सर्वथा रहित कहा जाता है—वह पादपोपगमन अनशन कहा जाता है ।

४६ सप्तम मौर्यपुत्र गणधर

१ मौर्यपुत्र का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन—

(क) ते पव्वइए सोडं, मोरिअ आगच्छई जिणसगासं । वञ्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६२२॥
मलय टीका—व्याख्या पूर्ववत्, नवरमिह मौर्य अ.गच्छति जिणसकाशमिति नानात्वम् ।

आभट्टो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण ॥६२३॥

टीका—अस्याअपि सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने अत्थि देवा उआहु नत्थीत्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६२४॥

टीका—किं सन्ति देवा उत न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं प्राग्वत्, अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपद-श्रुतिप्रभवो वर्तते, तानि चामूनि वेदपदानि—

“स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गलोकं गच्छती ।” त्यादीनि, तथा “अपाम सोमं अमृता अभूम अगमज्ज्योतिर्विदाम देवान् किं नूनमस्मात्पुणवदरातिः किमु धूर्तिरमृतः मर्त्यस्ये” त्यादीनि × × ×

ये पुनर्देवास्ते स्वच्छन्दचारिणः कामरूपिणः प्रकृष्टदिव्यप्रभावा इहागमनसामर्थ्यवन्तस्ततः किमितीह नागच्छन्ति येन न दृश्यन्ते इति, तस्मात्ते न सन्त्यस्मदाद्यप्रत्यक्षत्वान् खरविषाण-वदिति × × × ।

देवा अपि हि स्वकृतभोगफलकर्मपर्यन्ते विनश्वराः, किं पुनः शेषद्विसमुदाया इत्यनित्यत्वभावना-प्रतिपादकमिदं वाक्यं न तु देवसत्तानिषेधकमिति, तथा स्वच्छन्दचारिणोऽप्यमी यदिह नागच्छन्ति तत्रेदं

कारण—नागच्छन्तीह सदैव सुरगणाः, संक्रान्तदिव्यप्रेमतया विषयप्रसक्तत्वात्, प्रकृष्टरूपगुणस्त्रीप्रसक्तविच्छिन्नरम्यदेशान्तरगतमनुष्यवत्, तथा असमाप्तकर्त्तव्यत्वात्, बहुकर्त्तव्यताप्रसाधनप्रयुक्तविनीतपुरुषवत् तथा अनधीनमनुजकार्यत्वात् नारकवत् अनभिमतगोहादौ निःसङ्गयतिवद्वेति, अशुभत्वान् नरभवस्य तद्गन्धासहिष्णुतया नागच्छन्ति, कडेवरमिव हंसा इति,

जिनजन्ममहिमादिषु पुनर्भक्तिविशेषात् भावान्तररागतश्च क्वचिदागच्छन्त्येव, तथा चैते साम्प्रभवतोऽपि प्रत्यक्षा एव, शेषकालमपि सामान्यतश्चन्द्रसूर्यादिविमानप्रत्यक्षत्वात् तद्वासिसिद्धिरिति कृतप्रसङ्गेन,

छिन्नंमि संसयमी जाडजरामरणविप्पमुक्केण । सो समणो पव्वइओ अद्दुट्टहिं खंडियसएहिं ॥६२५॥
टीका—व्याख्या पूर्ववत्

—आव० निगा ६२२ से ६२५

(ग) मौर्यपुत्रोऽपि संदेहच्छिदे स्वामिनमाययौ । स्वाम्युप्यूचे मौर्यपुत्र ! तव देवेषु संशयः ॥१३७॥
स मिथ्या पश्य नन्वेतान् प्रत्यक्षमपि नाकिनः । अस्मिन् समवसरणे शक्रादीन् स्वयमागतान् ॥१३८॥
संगीतकादिवैयग्र्यान्मर्त्यगंधाच्च दुःसहात् । नायान्ति शेषकालेऽमी तद्भावो न तावता ॥१३९॥
अर्हज्जन्माभिषेकादावायान्ति यदमी भुवि । प्रभावः कारणं तत्र गरीयान् श्रीमदर्हताम् ॥१४०॥
इति स्वामिगिरा बुद्धौ मौर्यपुत्रोऽपि तत्क्षणम् । परिवत्राज शिष्याणां सार्धं सार्धैः शतैस्त्रिभिः ॥१४१॥

—त्रिशलाकां० पर्व १०/सर्ग ५

तत्पश्चात् स्वयं के संशय को दूर करने के लिए मौर्यपुत्र भगवान् के पास आया । भगवान् ने कहा—हैं मौर्यपुत्र ! तुमको देवों के विषय में सन्देह है । परन्तु यह मिथ्या है । इस समवसरण में स्वयं की इच्छा से आये हुए इन्द्रादिक देव प्रत्यक्ष है । शेष काल में संगीत कार्यादि की व्यग्रता से और मनुष्यलोक के दुःसह गन्ध के कारण वे देव यहाँ नहीं आते हैं—इस कारण उनका अभाव नहीं हो जाता ।

वे अरिहंत के जन्माभिषेक आदि अनेक प्रसंगों पर इस पृथ्वी पर आते हैं । इसका कारण श्रीमत् अरिहंत का अतिश्रेष्ठ प्रभाव है ।

इस प्रकार भगवान् की वाणी से मौर्यपुत्र भी तत्काल प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और स्वयं के ३५० शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की ।

२. मौर्यपुत्र के माता-पिता के नाम

(क) मोरीए विजयदेवाए नंदणो पंचनऊय-वरिसाऊ । मोरियनिवेस-जाओ मोरियपुत्तो त्ति सत्तमओ ॥

—धर्मोप० पृ० २२७

मौर्यपुत्र गणधर की माता का नाम विजयादेवी और पिता का नाम मौर्य था । जन्मस्थान—मौर्यसन्निवेश था । १५ वर्ष की आयु थी ।

(ख) धनदेवश्च मौर्यश्च मौर्याख्ये मन्निवेशने । द्वावभुतां द्विजन्मानौ मातृष्वस्रेयको मिथः ॥५२॥
पत्न्यां विजयदेवायां धनदेवस्य नन्दनः । मंडिकोऽभुत्तत्र जाते धनदेवो व्यपद्यत ॥५३॥
लोकाचारो ह्यसौ तत्रेयभार्यो मौर्यकोऽकरोत् । भार्यां विजयदेवां तां देशाचारो हि न ह्विये ॥५४॥
क्रमाद्विजयदेवायां मौर्यस्य तनयोऽभवत् । स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नैव पप्रथे ॥५५॥

—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग ५

मौर्यग्राम में धनदेव और मौर्य दो विप्र थे जो परस्पर मासो के पुत्र-भाई थे । उसमें धनदेव के विजयदेवी नाम की पत्नी से मंडिक नामक एक पुत्र था ।

अस्तु मंडिक के जन्म होते ही धनदेव मृत्यु को प्राप्त हुआ ।

इसके बाद लोकाचार प्रमाण से—स्त्रीविनाका मौर्य का विजयदेवी के साथ विवाह हुआ । देशाचार लज्जा के लिए नहीं होता । कालक्रम से मौर्य से विजयदेवी के एक पुत्र हुआ —लोक में वह मौर्यपुत्र नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

अतः मंडितपुत्र और मौर्यपुत्र की माता का नाम विजयदेवी था—लेकिन मंडितपुत्र के पिता का नाम धनदेव था तथा मौर्यपुत्र के पिता का नाम मौर्य था ।

•३ दीक्षा के समय मौर्यपुत्र की अवस्था

श्रेणेणं मोरियपुत्ते पणसट्टिवासाइं अगारमज्जे वत्तिता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइए ।

—सम० सम ६५

टीका—‘मौरियपुत्ते णं’ ति मौर्यपुत्रो भगवओ महावीरस्य सप्तमो गणधरस्तस्य पंचषष्टिर्वाणि गृहस्थपर्यायः आवश्यकेऽप्येवमेवोक्तो, नवरमेतदेव यो बृहत्तरो भ्राता मंडितपुत्राभिधानः षष्ठो गणधरः तदीक्षादिन एव प्रव्रजितस्तस्मावश्यकं त्रिपंचाशद्वर्षाणि गृहस्थपर्याय उक्तो न च बोध-विषयमुपगच्छति यतो बृहत्तरस्य पंचषष्टिर्युज्यते लघुतरस्य त्रिपंचाशदिति ।

मौर्यपुत्र भगवान् महावीर के सातवें गणधर थे । गृहस्थपर्याय ६५ वर्ष की थी । आवश्यकसूत्र में भी ऐसा ही कहा है परन्तु इनसे जो बड़े भाई मंडितपुत्र नाम के छठे गणधर थे । इनकी दीक्षा के दिन ही प्रव्रजित हुए । उनकी गृहस्थपर्याय आवश्यकसूत्र में ५३ वर्ष की कही है । यह सम्यग् प्रकार घटित नहीं होती । अतः बड़े भाई मंडित की आयु ६५ वर्ष की तथा छोटे भाई मौर्यपुत्र की आयु ५३ वर्ष की होनी चाहिए ।

•४ मौर्यपुत्र का आयुष्य

श्रेणेणं मोरियपुत्ते पंचाणउड्ढवासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे जाव प्पहीणे ।

—सम० सम ६५

स्थविर मौर्यपुत्र पचानवें वर्ष के आयुष्य का पालन कर सिद्ध हुए, बुद्ध हुए यावत् सर्व दुःखों से रहित हुए ।

मौर्यपुत्र भगवान् महावीर के सातवें गणधर थे । वे गृहस्थवास में ६५ वर्ष, छद्मस्थ साधुपर्याय में १४ वर्ष तथा केवलीपर्याय में १६ वर्ष रहे । कुल ९५ की आयु थी ।

टीका—मौर्यपुत्रो महावीरस्य सप्तमगणधरस्तस्य पंचनवतिर्वाणि सर्वायुः, कथं ?, गृहस्थत्वत्तद्म-स्थत्वकेवलित्वेषु क्रमेण पंचषष्टिचुर्दशषोडशानां वर्षाणामभावादिति ।

.४७ अष्टम् अकंपित गणधर

.१ अकम्पित गणधर का भगवान् महावीर के पास आगमन

(क) ते पव्वइए सोउं अकंपिओ आगच्छइ जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि । ६२६।
मलय टीका—व्याख्या पूर्ववत् , नवरमत्राकम्पिक आगच्छति-जिनसकाशमिति नानात्वम् ।
आभट्टो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । नामेण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिसीण । ६२७।
मलय टीका—अस्याः सपातनिका व्याख्या प्राग्वत् ।

किं मन्ने नेरइया अत्थी नत्थिन्ति संसओ तुड्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो । ६२८।

मलय टीका—नरान् स्वयोग्यान् कायन्ति-शब्दयन्ति आकारयन्तीति नरकास्तेषु भवा नारकाते
नारकाः किं सन्ति उत न सन्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं प्राग्वत् , अयं च संशयस्तव विरुद्धपद-
श्रुतिसमुद्भवो वर्तते, तानि चामूनि वेदपदानि-नारको वैएष जायते, यः शूद्रान्नमश्नाति, इत्यादि,
अस्यायमर्थः—एषः ब्राह्मणो नारको जायते यः शूद्रान्नमश्नातीत्यादीनि किल वेदवाक्यानि नारक
सत्ताप्रतिपादकानि, 'नह वै प्रेत्य नारकाः सन्ती' त्यादीनि तु नारकाभावप्रतिपादकानि, तथा सौम्यः
त्वमित्थं मन्यसे-देवा हि चन्द्रादयस्तावत्प्रत्यक्षा एव, अन्येपि औपयाचितकादिफलदर्शनतोऽनु-
मानतोऽवगम्यन्ते, नारकास्त्वभिधानव्यतिरिक्तार्थशून्याः कथं प्रयेतव्या इति तदभावः, तथा चात्र
प्रयोगः-न सन्ति नारकाः साक्षादनुमानतो वाऽनुपलब्धेः, व्योमकुसुमवन् , व्यतिरेके देवाः, तत्र
'वेदपदानां चे' त्यादि, तत्र वेदपदानामर्थं च शब्दाद्युक्तिं भावार्थं च न जानासि, यतस्तेषां वेदपदा-
नामयमर्थः—ये खलु निरूपाधितपःसंयमादिना उपचितपुण्यप्राग्भारस्ते न ह वै—न प्रेत्य-परलोके
नारकाः सन्ति-भवन्ति जायन्ते, तेषां स्वर्गसत्कुलप्रत्यायातिपरम्परया केषाञ्चित्तद्भवेऽपि मोक्ष-
गमनात्, ततो नामूनि नारकाभावप्रतिपादकानि वेदपदानि. किन्तु पुण्यवतां नारकभवनप्रतिषेध-
कानीत्युक्तः संशयः, तथा सौम्यः ! ते नारकाः कर्मपदतन्त्रत्वादिहागन्तुमशक्ताः भवद्विधानामपि
कर्मपरतन्त्रत्वादेव तत्र गमनशक्त्यभावः, ततो न युष्मादृशां तदुपलब्धिः क्षायिकज्ञानसम्पदुपेतानां
तु वीतरागाणां ते प्रत्यक्षा एव, अपाम्तममस्तावरणतया समस्तवस्तुज्ञानोपेतत्वान् , न च वाच्यमशेष-
पदार्थविद् एव क्षायिकज्ञानं न सन्तीति, यतो ज्ञस्वभाव आत्मा केवलं यथा ज्ञानावरणीयस्य कर्मणः
क्षयोपशमस्तथा तस्य रूपाविर्भावविशेषो दृश्यते ।

तथा च कश्चिद्बहु जानाति कश्चिद्बहुतरमिति, न चायं ज्ञानविशेषः खलवात्मनस्तत्स्वभावता-
मन्तरेणोपपद्यते, ततोऽवश्यमसौ ज्ञस्वभावः प्रत्तिपत्तव्यः, तस्य चाशेषावरणविलये समस्तज्ञेय-
परिच्छेदकता ज्ञस्वभावत्वान् , तथा चास्मिन्नर्थे लौकिको दृष्टान्तो, यथा पत्रागादिरूपलविशेषो
भास्वरस्वरूपोऽपि स्वगतलकलङ्काङ्कितस्तदा वस्त्वप्रकाशयन्नपि क्षारमृत्पुटपाकाद्युपायतः स्वगत-
मल्लेपापगमे प्रकाशयति, एवमात्मापि ज्ञस्वभावः कर्ममलकलङ्काङ्कितः प्रागशेषं वस्त्वप्रकाशयन्नपि

सम्यक्त्वज्ञानतपोविशेषसंयोगोपायतोऽपेतसमस्तावरणः समस्तं वस्तु प्रकाशयति, प्रतिबंधकाभावान्, न चाप्रतिबन्धस्वभावस्यापि, तस्य सर्वत्र प्रकाशनव्यापाराभावो, ज्ञस्वभावत्वात्, न हि ज्ञो ज्ञेये सति प्रतिबन्धशून्यो न प्रवर्तते, अथ पद्मरागोऽपि प्रकाशकस्वभावः, न चासौ प्रतिबंधाभावे सर्वं प्रकाशयति, ततस्तेनैवव्यभिचार इति, तदसम्यक्, तस्य सन्निकृष्टार्थप्रकाशनस्वभावत्वाद् विप्रकृष्टविषये देशविप्रकर्षेणैव प्रतिबंधाभावात्, न चात्मनोऽपि देशविप्रकर्षः परिच्छेदप्रतिबंधहेतुः, तस्यागमगम्पेपु सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टेष्वखिलपदार्थेष्वधिगतिसामर्थ्यदर्शानात्, तथा च परमाणु-मूलकीलकोदकामरलोक्चंद्रोपरागादिपरिच्छेदसामर्थ्यमस्यागमोपदेशतः क्षयोपशामवतोऽपि दृश्यते, एवं साक्षात्कारि क्षायिकमिति प्रतिपत्तव्यमिति क्षायिकज्ञानवतां प्रत्यक्षा नारकाः, भवतोऽप्यनुमानगम्याः ।

तच्चेदमनुमानं—विद्यमानोत्कृष्टं प्रकृष्टपापफलं कर्मफलत्वात् पुण्यफलवत्, न च तिर्यङ्गा एव प्रकृष्टपापफलभुजः, तस्यौदारिकशरीरवता वेद्यियुमशक्यत्वात्, अनुत्तरसुरजन्मनिबन्धनप्रकृष्ट-पुण्यफलवत् तथा आगमप्रमाणगम्याश्चैते, यत एवमागमः—

‘सततानुबंधयुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् । तिर्यक् तृष्णाभयक्षुद्रधादि दुःखं सुखं चाल्पम् । १। सुखे-दुःखे मनुजानां मनःशरीराश्रये बुक्किल्ले । सुखमेवतु देवनामल्पं दुःखं तु मनसिभवम् । २। इत्यादि, एवम्—

द्विन्नंमि संसयंसी जाइजरामरणविष्पमुक्केणं । सो समणोपव्वइतो तिहिं तु सह खंडियसएहिं । ६२५ मलय टी ११—व्याख्या पूर्ववत्, नवरमत्र नानात्वं त्रिभिः खण्डिकशतैरिति ।

—आव० नि० गा ६२६ से ६२६

(ख) ययावकंपितोऽपीशमीशोऽवोचदकंपितः । न सन्त्यदृश्यमानत्वान्नारका इति ते मतिः । १४२। तदसन्नारकाः कामं पारतंत्र्यवशादिह । आगन्तुमक्षमा गन्तुं तत्र च त्वाद्दृशा अपि ॥१४३॥ प्रत्यक्षं नोपलभ्यास्ते युक्तिगम्यां भवाद्दृशाम् । प्रत्यक्षा एव ते सन्ति क्षायिकज्ञानिनां पुनः ॥१४४॥ क्षायिकज्ञानिनोऽप्यत्र नोसन्तीति स्म मा ब्रवी । मयैव व्यभिचारोऽस्या आशंकायाः परिस्फुटः । १४५। इति श्रुत्या प्रतिबुद्धोऽकंपितः स्वामिनोऽन्तिके । उपादेदे परिव्रज्यां त्रिभिः शिष्यशतैः समम् ॥१४६॥

—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग ५

तत्पश्चात् अकंपित भी भगवान् के पाप आया । भगवान् ने कहा कि—“प्रत्यक्ष में नहीं दिखाई देने से नारकी का अस्तित्व नहीं है—यह तुम्हारी बुद्धि है परन्तु नारकी जीव है परन्तु अत्यन्त परवशता से वे यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं । उसी प्रकार तुम्हारे जैसे सनुष्य वहाँ जाने में समर्थ नहीं हैं । नारकी जीव तुम्हारे द्वारा प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देते । छद्मस्थ जैवों को वे युक्ति गम्य है और जो क्षायिक ज्ञानी है वे प्रत्यक्ष से नारकी को देख सकते हैं ।

परन्तु वर्तमान में इस लोक में कोई भी क्षायिक ज्ञानी नहीं है ऐसा कहना उचित नहीं है । क्योंकि उस शंका का व्यभिचार द्वारा ही स्फुट होता ही है । अर्थात् मैं क्षायिक—प्रत्यक्ष ज्ञानी हूँ ।

भगवान् के ऐसे वचन को सुनकर संशय नष्ट होने से अकंपित प्रतिबोध को प्राप्त हुआ और ३०० शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की—

२ अकंपित के माता पिता के नाम

देव-जयन्तीण सुओ अकंपिओ नाम अट्टमो जयइ । अट्टत्तरिवरिसः ऊ मिहिलाए समुब्भवो भगवं ।
—धर्मो० पृ० २२७

तथैव मिथिलापुर्यां देवनाम्नोद्विजन्मनः । अभूदकंपितो नाम जयन्तीकुक्षिजः सुतः ॥५६॥

—त्रिशलाका पर्व १०।सर्ग ५

अकंपित के माता-पिता का नाम क्रमशः जयन्ती और देव था । जन्मस्थान मिथिला था । अट्टत्तर वर्ष की आयु थी—

३ अकंपित गणधर की आयु—

थेरे णं अकंपिए अट्टसत्तरिं वासाइंसव्वाउयं पालइत्ता म्मिद्धे वुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिव्वुडे
सव्वदुक्खप्पहीणे —सम० सम ७८।सू२

टीका—अकम्पितः स्थविरो महावीरस्याष्टमो गणधरस्तस्य चाष्टसप्ततिवर्षाणि सर्वायुः, कथं ?
गृहस्थपर्याये अष्टचत्वारिंशन् ऋद्धमस्थपर्याये नत्र केवलपर्याये चैकविंशतिरिति

४८ नववै अचलभ्राता गणधर

१—अचलभ्राता का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन

(क) ते पव्वइए सो उं अयलो आगच्छई जिणसगासं । वच्छामि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासासि । ६३०।
—आव० निगा ६३०

मलय टीका—व्याख्या पूर्ववत्, नवरमचलभ्राता आगच्छति जिनसकाशमिति विशेषः ।

आभट्टो य जिणेणं जाइजशमरणविप्पमुक्केणं । नामेणय गोत्तेणय सव्वन्नुसव्वदग्गिणीण ॥६३१॥

—आव० निगा ६३१

मलय टीका—अस्या सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने पुण्णपावं अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो ॥६३२॥

मलय टीका—किं पुण्यपापे स्तः किंवा नेति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत्, अयं च संशयस्तत्र विरुद्धवेदपदश्रुतिप्रभवो दर्शनान्तरविरुद्धश्रुतिप्रभवश्च, तानि चामूनि वेदपदानि—‘पुरुष एवेदं गिनं सर्वं, मित्यादि, अस्य यथा द्वितीयगणधरवक्तव्यतायां व्याख्या तथाऽत्रापि, तथा सौम्य ! अचलभ्रातस्त्वमित्थं मन्यसे—दर्शनविप्रतिपत्तिश्चात्र, तत्र केषांचिदर्शनं—पुण्यमेवैकमस्ति न पापं, तदेव चावाप्तप्रकर्षवस्थं स्वर्गायक्षीयमाणं मनुष्यतियेग्नरकादिभवफलाय, तदशेषक्षयाच्च मोक्ष इति, यथा अत्यन्तपथ्याहारसेवनादुत्कृष्टमारोग्यसुखं भवति, किञ्चित्पथ्याहारपरिवर्जनाच्चारोग्यसुखहानिः, अशेषाहारपरिक्षयाच्च सुखाभावकल्पोऽपवर्गः, अन्येषां तु पापमेवैकं, न पुण्यमस्ति, तदेव चोत्त-

मास्थामनुप्राप्तं नारकभवायालं, क्षीयमाणं तिर्यङ्गरामरभवायेति तदत्यन्तक्षयाच्च मोक्ष इति, यथा अत्यन्तापथ्याहारसेवनान् परमनारोग्यं, तस्यैव किञ्चित्किञ्चिदपकर्पादारोग्यसुखं, अशेषपरित्यागान् मृत्तिकल्पो मोक्ष इति, अन्येषां तूभयमप्यन्योऽन्यानुविद्धस्वरूपकल्पं सम्मिश्रसुखदुःखाख्यहेतु-फलभूतं, तथाहि-नैकान्ततः किल संसारिणः सुखं दुःखं वाऽस्ति, देवानामपि चेष्य दियुक्तत्वात्, नारकाणामपि वा, पंचेन्द्रियत्वानुभवान्, इत्थंभूतपुण्यपापाख्यवस्तुक्षयाच्च मोक्ष इति, अपरेषां तु स्वतन्त्रमुभयं विविक्तसुखदुःखकारणं, तत्क्षयाच्च निःश्रेयसावाप्तिरिति, तदेवंदर्शनानां परस्पर-विरुद्धत्वेनाप्रमाणद्वयादस्मिन् विषये प्रमाणाभाव इति ।

तथा 'पुण्य पुण्येने' त्यादिना प्रतिपादिता तत्सत्ता, ततः संशयः, तत्र वेदपदानां चार्थं, चशब्दात् युक्ति हृदयं च, न जानासि, यतस्तेषामयमर्थः, तत्र द्वितीयगणधरवक्तव्यतायां वेदपदानामर्थः स्वभावपक्षनिराकरणप्रवणोऽभिहितस्तथाऽत्र वक्तव्यः, सामान्यकर्मसिद्धिरपि तथैव वक्तव्या, यच्च दर्शनानामप्रमाणं परस्परविरुद्धत्वेन मन्यसे तदसाम्प्रतम्, एकस्य प्रमाणत्वात्, तथाहि—

पाटलिपुत्रादिविधिवस्वरूपाभिधायकाः सम्यक्स्वरूपाभिधायकयुक्ताः परस्परविरुद्धवचसोऽपि न सर्व एवाप्रमाणतां भजन्ते, तत्र यत्प्रमाणं तत् अप्रमाणनिरासद्वारेण प्रदर्शयिष्यामः, तत्र न तावत्पुण्यमेवापचीयमानं दुःखकारणं, तस्य सुबहेतुत्वेनेष्टत्वात्, स्वल्पस्यापि स्वल्पसुखसाधकत्वात्, तथा चाणीयसो हेमपिण्डादणुरपि सौवर्ण एव घटोभवति, न मार्तिको राजतो वेति, न च पुण्याभावो दुःखहेतुस्तस्य निरूपाख्यतया हेतुत्वायोगात्, न च सुखाभाव एव स्वसत्ताविकलो दुःखं, तस्यानुभूयमानत्वात्, ततः स्वानुरूपकारणपूर्विका दुःखानुभूतिः, अनुभूतिर्वित् सुखानुभूति-वंदिति केवलपुण्यवादनिरासः, केवलपापपक्षेऽपि इहमेवोपपत्तिजालं विपरीतं वक्तव्य, नापि सर्वथाऽन्योऽन्यानुविद्धस्वरूपमुभयात्माकमेकं निरंशवस्त्वन्तरमभ्युपगन्तुं युक्तं, सम्मिश्रसुखदुःखा-ख्यकार्यप्रसङ्गात्, अथ च परस्परपरिहारेण विविक्ते सुखदुःखे अनुभूयेते, तथा स्वसंवेदन-प्रमाणसिद्धत्वात्, अन्यच्च—केवलसुखानुभव श्रूयतेऽनुत्तरसुराणां, केवलदुःखानुभवो नारकाणां, न च सर्वथा सम्मिश्रैकरूपात्कारणादेवंविविक्तः कार्यभेदो युक्तः, तस्मादन्यदेव निमित्तं सुखातिशय-स्यान्यदेव च दुःखातिशयस्य, न च सर्वथैकरूपस्य सुखातिशयनिबंधनांशवृद्धिर्दुःखातिशयकारणां-शहान्या सुखातिशयप्रभवाय दुःखातिशयनिबंधनांशवृद्धिः सुखातिशयकारणांशहान्या दुःखातिशय-प्रभवायकल्पयितुं न्याय्या, भेदप्रसङ्गान् तथा च यद्वृद्धावपि यस्य वृद्धिर्न भवति तत्ततो भिन्नं प्रतीतमेवेति सर्वथैकरूपता पुण्यपापयोर्न सङ्गता, कर्मसामान्यापेक्षयात्वविरुद्धाऽपि, तथाहि—सातसम्यक्त्वहास्यरतिपुरूपवेदशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यमन्यत् पापं, सर्वं च तन् कर्मेति, तस्माद्-विविक्ते पुण्यपापे इति प्रत्तिपत्तव्यम्, सर्वस्यापि च संसारिण एतदुभयमप्यस्ति, केवलं किञ्चित् कस्यचिदुपशान्तं किञ्चित्ज्ञयोपशममुपगतं किञ्चित् क्षीणं किञ्चिदुदीर्णं ततः सुखदुःखवैचित्र्यं जन्तुनामिति ।

छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविमुक्केण । सो समणो पव्वइओ तीहिं उ सह खंडियसएहिं ॥

—आव० निगा ६३० से ६३३

मलय टीका—व्याख्यापूर्ववत्

- (ख) अथाऽऽगादचलभ्राता प्रभुं प्रभुरपि स्फुटम् । ऊचे तवाचलभ्रातः ! संदेहः पुण्यपापयोः ॥१४५॥
मा कृथाः संशयं तत्र यत्फलं पुण्यपापयो । प्रत्यक्षं दृश्यते लोके तथैव व्यवहारतः ॥१४६॥
दीर्घमायुः श्रियो रूपमारोग्यं जन्म सत्कुलै । इत्यादि पुण्यस्यफलं विपरीतं तु पाप्मनः ॥१४६॥
इत्थं भगवताच्छिन्नसंशयः समुपाददे । प्रव्रज्यामचलभ्राता त्रिभिः शिष्यशतैःसह ॥१५०॥
—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग ५

तत्पश्चात् अचलभ्राता भगवान् के पास आया । भगवान् ने उसे स्फुट रूप से कहा—हे अचलभ्राता ! तुमको पुण्य और पाप के विषय में संदेह है । परन्तु तुम्हें उसमें किंचित् भी संदेह नहीं करना चाहिए । क्योंकि इस लोक में पुण्य-पाप का फल प्रत्यक्ष जाना जाता है । उसी प्रकार व्यवहार से भी सिद्ध होता है ।

दीर्घआयुष्य, लक्ष्मी, रूप, आरोग्य और सत्कुल में जन्म—ये पुण्य के फल हैं ।

और इसके विपरीत पाप के फल है ।

इस प्रकार भगवान् की वाणी से अचलभ्राता का संशय नष्ट हो गया । फलस्वरूप ३०० शिष्यों के साथ अचल-भ्राता ने भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की ।

•२ अचलभ्राता—के माता-पिता के नाम

- (क) नंदा-वसूण तणओ गणहारी जयइ अयलग(भा) यत्ति । वावत्तरिवरिसाऊ कोसलदेसुवभवो नवमो ।
—धर्मो० पृ० २२७

- (ख) अभूच्च कोशलापुर्यां वसुनाम्नो द्विजन्मनः । सूनुर्नाम्नाऽचलभ्राता नन्दाकुक्षिसमुद्भवः ॥५७॥
—त्रिशलाका० पर्व १०।सर्ग ६

अचलभ्राता के माता-पिता का नाम क्रमशः नंदा और वसु था । कोशल देश-जन्म स्थान था । बहत्तर वर्ष की आयु थी ।

•३ अचलभ्राता गणधर के शरीर का संहनन-संस्थान

वज्जरिसहसंधयणा समचउरंसा य संठाणे ॥

—आव० निगा ६५६

मलय टीका—सर्व एव गणधरा × × × तथा वज्रर्षभसंहननाः समचतुरस्राश्चसंस्थाने-संस्थानविषये ।
अचलभ्राता का दैहिक गठन वज्र-ऋषमनाराच संहनन तथा समचतुरस्र संस्थान था ।

•४ अचलभ्राता गणधर की आयु

थेरेणं अयलभाया वावत्तरिं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिणिव्वुडे
सव्वदुक्खण्णहीणे ।

—सम० सम ७२।सू ३

टीका—‘अयलभाय’ त्ति अचलो महावीरस्य नवमो गणधरः, तस्यायुद्धिसप्ततिवर्षाणि, कथं ?, पट्चत्वारिंशद्गृहस्थत्वे द्वादश छद्मस्थतायां चतुर्दशकेवलित्वे इति ।
अयलभाता बहत्तर वर्ष की सर्वायु पालकर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए यावत् सर्वदुःखों से रहित हुए ।

.४६ (क) दशम गणधर-मेतार्य

.१ मेतार्य गणधर का श्रमण भगवान् महावीर के पास आगमन और दीक्षा ग्रहण

(क) ते पव्वइए सोडं मेयज्जो आगच्छइं जिणसगासं । वच्चामि ण वंदामि वंदित्ता पज्जुवासामि ॥६३४॥

मलय टीका—पूर्ववत्, नवरं मेतार्य आगच्छतीति नानात्वम् ।

किं मन्ने परलोगो अत्थो नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तैसिमो अत्थो ॥६३६॥

मलय टीका—किं परलोको—भवान्तरगतिलक्षणोऽस्ति किं वानास्तोतिमन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत् ! अयं च संशयस्तव विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि च वेदपदान्यमूनि—विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः इत्यादीनि, तथा ‘सर्वे अयमात्मा ज्ञानमय, इत्यादीनि च प्रथमगणधर-वक्तव्यतायामिव भावनीयानि, तथा सौम्य ! त्वमित्थं मन्यसे—भूतसमुदायधर्मश्चैतन्यमिति कुतो भवान्तरलक्षणपरलोकसम्भवो, भूतसमुदायविनाशे चैतन्यस्यापि विनाशात्, अन्यच्च—भवेदात्मा तथापि स नित्योऽनित्यो वा ? तत्र नित्यपक्षेऽप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकस्वभावतया विभुतया च परलोकाभावः, अनित्यपक्षेऽपि निरन्वयविनश्वरस्वभावतया कारणक्षणस्य सर्वथा विनाशे उत्तर-कालमिह लोकेऽपि क्षणान्तराप्रभव इति कुतः परलोक सम्भवः ?

तत्र वेदानां चार्थं च शब्दाद्युक्तिं हृदयं च, तेषां च वेदापदानामयमर्थः—तत्र विज्ञानघनेत्यादीनां पूर्ववद्वाच्यः, न च भूतसमुदायश्चैतन्यं, सन्निकृष्टदेहोपलब्धावपि चैतन्यविशेषानुपलम्भान्, इह यस्मिन्नुपलब्धेऽपि यदवश्यंनोपलभ्यते तन् ततो भिन्नं, यथा घटात् पटः, नोपलभ्यते च देहो-पलब्धावपि चैतन्यविशेष इति, इतश्च देहादन्यच्चैतन्यं, चलनादिचेष्टानिमित्तत्वात्, इह यत् यस्य चलादिचेष्टानिमित्तं तत्ततो भिन्नं दृष्टं, यथा मूत्रं पादपात्, चलनादिचेष्टानिमित्तं च चैतन्यं देहस्येति न देहस्य धर्मश्चैतन्यं, किन्त्वात्मनः,

तस्य चानादिमत्कर्मसन्ततिसमाल्लिङ्गित्वाद्दुत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तत्वाच्च कर्मपरिणामापेक्षा मनुष्यादिपर्यायनिवृत्त्या देवादिपर्यायान्तरप्राप्तिरस्य विरुद्धेति परलोकसिद्धिः यदपि च नित्यानित्यै-कान्तपक्षोक्तं दूषणं तदपि जात्यन्तरात्मकनित्यानित्यशबलरूपपक्षाभ्युपगमेन तिरस्कृतत्वान्ननो-दौकत इति

—आव०निगा ६३४ से ६३६

(ब) मेतार्यः स्वामिनमगान् स्वाम्युचे तवधीरियम् । भवान्तरप्राप्तिरूपः परलोको न विद्यते ॥१५१॥

भूतसंदोहरूपत्वाज्जीवस्येह चिदात्मनः । परलोकः कथंभूताऽभावे तस्याप्यभावतः ॥१५२॥

तदसत् खलुजीवस्य भूतेभ्यो हि स्थितिः पृथक् । पिण्डितैश्चपि भूतेषु चेतनानुपलम्भतः ॥१५३॥

भूतेभ्यश्चेतनाऽप्येवं जीवधर्मतया पृथक् । परलोकगतिस्तस्याज्जातिस्पृत्यादितोऽपि च ॥१५४॥
इत्थं प्रबुद्धो मेतार्यः समीपे स्वामिपादयोः । शिष्यत्रिशत्या सहितः परिव्रज्यामुपाददे ॥१५५॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

तत्पश्चात् मेतार्य नामक द्विज भगवान् के पास आया । उसे देखकर भगवान् बोले—तुम्हें ऐसा संशय है—
“भवांतर में प्राप्त होने योग्य परलोक नहीं है क्योंकि चिदात्मा रूप जीव का स्वरूप सर्वभूतों के एक संदेह रूप है—
उन भूत का अभाव होने के कारण—अलग-अलग हो जाने से जीव का भी अभाव होना है तो फिर परलोक कैसे हो
सकता है । परन्तु यह मिथ्या है । जीव की स्थिति सर्व भूतों से अलग है क्योंकि सर्वभूतों के एकत्रित होने पर भी उनमें
से कोई चेतना उत्पन्न नहीं होती । इससे चेतना जो जीव का धर्म है—वह भूत से अलग है वह चेतनावाला जीव
परलोक में जाता है और वहाँ भी उससे जाति स्मरण ज्ञान आदि से पूर्वभव का स्मरण होता है ।

इस प्रकार भगवान् की वाणी से प्रतिबोधित हुआ । फलस्वरूप तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षा
ग्रहण की—

२. मेतार्य गणधर के माता-पिता के नाम

(क) तुंगिणिदेसुप्पणो मेयज्जो जयइ गणहरो दसमो । वारुणदेवीए सुओ दत्तस्स विसट्टिवरिसाऊ ॥
—धर्मो० पृ० २२७

(ख) वत्सदेशे तुंगिकाऽऽख्ये सन्निवेशे द्विजन्मनः । दत्तस्य सूनुर्मेतार्यो वरुणाकुक्षिभूरभूत् ॥५८॥
—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

मेतार्य गणधर का जन्म स्थान वत्सदेश में तुंगिकसन्निवेश था । बासठ वर्ष की आयु थी । पिता का नाम दत्त
व माता का नाम वरुणादेवी था ।

३. मेतार्य गणधर के संशय

दशमस्य परलोके संशयः, सत्याप्यात्मनि परलोको-भवान्तरलक्षणः, किमस्ति किंवा नास्ति ।
—आव० निगा ५६६/टीका

मेतार्य गणधर के परलोक के विषय में संशय था । परलोक है या नहीं

४. मेतार्य गणधर का जन्मनक्षत्र

(जन्म नक्षत्र) मेतार्यस्य अश्विनी × × ×

—आव० निगा ६४६/टीका

मेतार्य का जन्म-नक्षत्र—अश्विनी था ।

५. मेतार्य गणधर का गोत्र

कौण्डिनदुर्गं च गुत्ताइ

—आव० निगा ६४६

मलय टीका × × × कौण्डिन्यौ मेतार्यः प्रभासश्च

मेतार्य गणधर का गोत्र कौण्डिन्य था ।

५. **मेतार्य गणधर की अगारपर्याय-गृहस्थपर्याय**
(अगारपर्यायः) मेतार्यस्य षट्त्रिंशत् (वर्षाणि) । आव० निगा ६४६-५१/टीका
मेतार्य गणधर छत्तीस वर्ष गृहस्थ-पर्याय में रहे ।
६. **मेतार्य गणधर की छद्मस्थ दीक्षा-पर्याय**
(छद्मस्थपर्यायवर्षाणि) मेतार्यस्य दश आव० निगा ६५०/टीका
मेतार्य गणधर साधु-पर्याय में—दस वर्ष छद्मस्थ पर्याय में रहे ।
७. **दीक्षा के पूर्व मेतार्य गणधर का अध्ययन**
मलय टीका—विदन्तीति विदोः—विद्वांसः, चतुर्दशविद्यास्थानपारगमनात् । तानिचतुर्दश विद्या-
स्थानान्यमूनिअंगानि वेदाश्चत्वारो, मीमांसा न्यायविस्तरः । धर्मशास्त्रं पुराणं च विद्याह्ये ताश्चतुर्दश ।
तत्रांगानि षट्त्तथा-शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषं चेति, एष गृहस्थाश्रम उक्तः ।
—आव० द्वितीय भाग, पृ० ३३६

विद्वद्बवंश-परंपरा में उत्पन्न होने के नाते—आर्य सुधर्मा ने ऋक्-यजुष्, साम और अथर्व—इन चारों वेदों, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष—इन छहों वेदांगों, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र तथा पुराण, आदि सब मिलकर—इन चवदह विद्याओं का सम्पूणतया अध्ययन किया । उनके पूर्ण अधिकारी विद्वान बने ।

८. **मेतार्य गणधर का केवलिकाल-जिनपर्याय**
(केवलिपर्याय) छद्मस्थपर्यायमगारवासं च व्यवकलय्य यत् सर्वायुष्कस्य शेषतत् जिनपर्यायं
विजानीहि । × × × । मेतार्यस्य षोडश (वर्षाणि),
—आव० निगा ६५३-६५४

गणधरों को सर्वायु में छद्मस्थ-पर्याय और अगारवास को घटाने से जिन-पर्याय—केवलि काल जानना चाहिए ।
मेतार्य की जिनपर्याय —केवलिपर्याय सोलह वर्ष की थी ।

९. **मेतार्य गणधर की आयु**
(क) (मेयञ्जो) विसट्टिवरिसाऊ —धर्मो० पृ० २२७
(ख) बावट्टी चत्ता खलु सव्वगणहराउअं एअं । —आव० निगा ६५६
मलय टीका— × × × मेतार्यस्य द्वाषष्टिः, प्रभासस्य चत्वारिंशत्, एवं क्रमेण गणधराणां
सर्वारु० मिति ।

मेतार्य गणधर की बासठ वर्ष की आयु थी । १

१ नोट—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के ४ वर्ष पूर्व मेतार्य गणधर का परिनिर्वाण हो चुका था ।

.४६ (ख)-ग्यारहवें गणधर-प्रभास

.१ प्रभास गणधर का भगवान् महावीर के पास आगमन और दीक्षा ग्रहण—

(क) एकादशः प्रभासः (गणधरमध्ये)

—आब० निगा ५६४/टीका

ग्यारहवें प्रभास गणधर थे ।

(ख) ते पव्वइए सोडं पभास आगच्छई जिणसगसे । वच्चाणि ण वंदामी वंदित्ता पज्जुवासामि । ६३८
मलय टीका—व्याख्या पूर्ववत्, नवरं प्रभास आगच्छतीति नानात्वं ।
आभट्ठो य जिणेणं जाइजरामरणविप्पमुक्केण । नारंण य गोत्तेण य सव्वन्नूसव्वदरिणीण । ६३९।
मलय टीका—अस्याः सपातनिका व्याख्या पूर्ववत् ।

किं मन्ने निव्वाणं अत्थी नत्थित्ति संसओ तुज्झं । वेयपयाण य अत्थं न याणसी तेसिमो अत्थो । ६४०
मलय टीका—किं निर्वाणमस्ति किं वा नास्तीति मन्यसे, व्याख्यान्तरं पूर्ववत्, अयं च संशयस्त्व
'विरुद्धवेदपदश्रुतिनिबन्धनः, तानि च वेदपदान्यमूनि—जरामयं वा एतत्सर्वं यदग्निहोत्रं' तथा सैषा
गुहा दुःखगाहा, तथा 'द्वे ब्रह्मणी परमपरं च तत्र परं सत्यं ज्ञानमनन्तरं ब्रह्मे' ति, तेषां चायमर्थस्त्व
चेतसि वर्तते—यदेतदग्निहोत्रं तत् जरामयमेव-यावज्जीवं कर्त्तव्यमिति, अग्निहोत्रक्रिया च
भूतवधहेतुत्वात् सबलरूपा, साच स्वर्गफलैवस्यात्, नापवर्गफला, यावज्जीवमिति चोक्तं कालान्तरं
नास्ति यत्रापवर्गहेतुभूतक्रियान्तरारम्भः स्यात्, तस्मात्साधनाभावात् मोक्षाभावः, तदेवममूनि
किल वेदपदानि मोक्षाभावप्रतिपादकानि, शेषाणि तु तदस्तित्वसूचकानि, यतो गुहाऽत्र मुक्तिरूपा,
सा च संसाराभिनन्दिना दुरवगाहा—

दुष्प्रवेशा, तथा परं ब्रह्म सत्यं-मोक्षः, अनन्तरं तु ज्ञानमिति, अमूनि मोक्षास्तित्वप्रतिपादकानीति
तव संशयः, तथा सौम्य ! त्वमित्थं मन्यसे—संसारभवो मोक्षः संसारश्च रागादिनिबन्धनः, रागा-
दीनां चात्यन्तिकः क्षयोऽनुपपन्नः, तथाहि-रागादयो जन्तोरनादिमन्तो, यच्चानादिमत् न
तद्विनाशमाविशति, तथा प्रमाणेन प्रतीतेः, तच्च प्रमाणमिदं-यद् अनादिमत् न तद्विनाशमावि-
शति, यथाऽऽकाशम्, अनादिमन्तश्च रागादयो आत्मनो व्यतिरिक्ता वा, भवेयुव्यतिरिक्ता वा ?
व्यक्तिरेके सर्वेषां वीतरागत्वप्रसङ्गः, रागादिभ्यो व्यतिरिक्तत्वात्, विवक्षितपुरुषवत्, अथाव्यति-
रिक्तास्ततस्तत्क्षये आत्मनोऽपि क्षयप्रसङ्गः, तदव्यतिरिक्तत्वात्, तत्स्वरूपवत्, तथा च कुतस्तस्य
वस्तुतो मोक्ष ?, तस्यैवाभावादिति, तत्र वेदपदानां चार्थः च शब्दात्, युक्तिं हृदयं च न जानामि,
यतस्तेषामयमर्थः 'जरामयं वे' ति वाशब्दोऽप्यर्थे, ततश्च यदेतदग्निहोत्रं तत् यावज्जीवं सर्वमपि
कालं कर्त्तव्यम्, वाशब्दात् मुमुक्षुभिर्मोक्षहेतुभूतमप्यनुष्ठानं विधेयमिति नापवर्गप्रापणक्रियारम्भ-
कालास्तिता निषिद्धा, तथा यद्यपि रागादयो दोषा जन्तोरनादिमन्तस्तथापि कस्यचित्स्त्रीशरीरादिषु
यथावस्थितवस्तुतत्त्वावगमेन तेषां प्रतिपक्षभावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृश्यते, ततः सम्भाव्यते

विशिष्टकालादिसामग्रीसद्भावे भावनाप्रकर्षविशेषभावतो निर्मूलमपि क्षयः, अथ यदि प्रतिपक्ष-
भावनातः प्रतिक्षणमपचयो दृष्टस्तथापि तेषामाल्यन्तिकोऽपि क्षयः सम्भवतीति कथमवसीयते ?
उच्यते, अन्यत्र तथा प्रतिबन्धग्रहणात्, यथाशीतस्पर्शसम्पाद्याः रोमहर्षादयः शीतप्रतिपक्षस्य बह्वे-
मन्दतायां मंदा उपलब्धाः उत्कर्षे च निरन्वयविनाशधर्माणः, ततोऽन्यत्रापि बाधकस्य मन्दतायां
बाध्यस्य मन्दतादर्शनाद्बाधकोत्कर्षे बाध्यस्यावश्यं निरन्वयविनाशो वेदितव्यः, अन्यथा बाधकमन्द-
तायां मन्दता न स्यात्, अथास्ति ज्ञानस्य ज्ञानावरणीयं बाधकं, ज्ञानावरणीयकर्ममन्दतायां च
ज्ञानस्यापि मनाक् मन्दता, अथ च प्रबलज्ञानावरणीयकर्मोदयोत्कर्षेऽपि न ज्ञानस्यनिरन्वयो
विनाशः, एवं प्रतिपक्षभावनोत्कर्षेऽपि न रागादीनामत्यन्तोच्छेदो भविष्यति, तदयुक्तं, द्विविधं हि
बाध्यं—सहभूस्वभावं तदन्यथाभूतं च, तत्र यत् सहभूस्वभावभूतं तन्न कदाचनापि निरन्वयं
विनाशनुपयाति, ज्ञानं चात्मनः सहभूस्वभावम्, आत्माच परिणामिनित्यः, ततोऽत्यन्तप्रकर्षवत्यपि
ज्ञानावरणीयकर्मोदये ज्ञानस्य न निरन्वयो विनाशः, रागदयस्तु लोभादिकर्मविपाकोदयसम्पा-
दितसत्ताकास्ततः कर्मणो निर्मूलमपगमे तेऽपि निर्मूलमपगच्छन्ति, नन्वासतां कर्मसम्पाद्या
रागादयः, तथापिकर्मनिवृत्तौ ते निवर्तन्ते इति नावश्यं नियमो, नहि दहननिवृत्तौ तत्कृता काष्ठे
अङ्कुरता निवर्तते, तदसत्, यत् इह किञ्चित् क्वचित् निवर्त्यविकारमापादयति, यथा अग्निः सुवर्णं
द्रवतां, तथाहि—अग्निनिवृत्तौ तत्कृता सुवर्णं द्रवता निवर्तते, किञ्चित् पुनः क्वचित् अनिवर्त्य-
विकारारम्भकं, यथा स एवाग्निः काष्ठे, न खलु श्यामतामात्रमपि काष्ठदहननिवृत्तौ निवर्तते,
कर्म चात्मनि अनिवर्त्यविकारारम्भकं, भवेत्तर्हि यदपि तदपि कर्मणा कृतं न कर्मनिवृत्तौ
निवर्तते, यथा अग्निना श्यामतामात्रमपि काष्ठे कृतमग्निनिवृत्तौ, ततश्च यदेकदाकर्मणाऽऽपादितं
मनुष्यत्वममरत्वं कृमिकोटत्वं शिरोवेदनादि च तत्सर्वकालं तथैवावतिष्ठेत, न चैतत् दृश्यते,
तस्मान्निवर्त्यविकारारम्भकं कर्म, ततः कर्मनिवृत्तौ रागादीनामपि निवृत्तिः, यदपि च
प्रागुपन्यस्तं प्रमाणं 'यदनादिमत् न तद्विनाशमाविशति यथाऽऽकाश' मिति तदप्यप्रमाणं
हेतोरनैकान्तिकत्वात्, प्रागभ वेन व्यभिचारात्, तथाहि—प्रागभावोऽनादिमानपि विनाशमावि-
शति, अन्यथाकार्यानुत्पत्तेः, भावनाधिकारी च सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रयसम्पत्समन्वितो वेदितव्यः,
इतरस्य तदनुरूपानुष्ठानप्रवृत्त्यभावेन तस्या मिथ्यात्वरूपत्वात्, आह च प्रवचनम्—

“नापी तवमि निरओ चारिती भावणाए जोगो” त्ति, सा च भावना रागादिदोषनिदानस्वरूप-
विषयफलगोचरा यथागममवसा तव्या,

जं कुच्छियाणुजोगो पयइविसुद्धस्स चैव जीवस्स । एएसिमो नियाणं बुहाण न य सुन्दरं एयं ॥१॥
रुवपि संकिलेसोऽभिस्संगापीइमाइलिगाउ । परमसुहपच्चणीओ एयंपि असोहणं चैव ॥२॥
विसओ य भंगुरो खलु गुणरहिओ तह य तहऽतहारुवो! संपत्तिनिप्फलो केवलं तु मूलं अणत्थाणं ।३।
जम्मजरामरणाई विचित्तरुवो फलं तु संसारो । बुहजणनिव्वेयकरो एसोवि तहाविहो चैव ॥४॥

(धर्म० ११६६-७०-१-२)

अपिच—सूत्रानुसारेण ज्ञानादिषु यो नैरन्तर्येणाभ्यासस्तद्रूपा भावना वेदितव्या, तस्या अपि रागादिप्रतिपक्षत्वात्, नहि तत्त्ववृत्त्या सम्यग्ज्ञानाद्यभ्यासव्यापृतमनस्कस्य स्त्रीशरीररामणीकादि-विषयः चेतः प्रवृत्तिमातनोति, तथालुपलम्भात्, यदप्युक्तं, किञ्च-रागादयआत्मनो व्यतिरिक्ता वा भवेयुख्यतिरिक्ता वा, इत्यादि, तदप्युक्तं, भेदाभेदपक्षस्य जात्यन्तरस्याभ्युपगमात्, केवलभेदा-भेदपक्षे, धर्मधर्मिभावानुपपत्ते, तथाहि-धर्मधर्मिणोरेकान्तेन भेदेऽभ्युपगम्यमाने धर्मिणो निःस्वभावतापत्तिः, स्वभावस्यापि धर्मत्वात्. तस्य च ततोऽन्यत्वात्, स्वभावः स्वभावः स्वस्यैव चात्मीया सत्ता, न तु तदर्थान्तरं धर्मरूपं, ततो न निःस्वभावतापत्तिरिति चेत्, इत्थं स्वरूपसत्ता-भ्युपगमे तदपरसत्तासामान्ययोगकल्पनावैयर्थ्यप्रसङ्गात्, अपिच—ज्ञेयत्वादिभिर्धर्मैरनुवेधात् तस्य सर्वथाऽनवगमप्रसङ्गो, 'न ह्यज्ञेयस्वभावं ज्ञातुं शक्यते' इति न्यायात्, तथा च तदभावप्रसङ्गः, कदाचिदप्यवगमाभावात्, तथापि तत्सत्त्वाभ्युपगमेऽतिप्रसङ्गः, अन्यस्यापि यस्य कस्यचित् अनवगतरच षष्ठभूतादेर्भावापत्तेः, एवं च धर्म्यभावे धर्माणामपि ज्ञेयत्वप्रमेयत्वादीनां निराश्रयत्वा-दभावापत्तिः, नहि धर्माधाररहिताः, कापि धर्माः सम्भवन्तीति, अन्यच्च-परस्परमपि तेषां धर्माणामे-कान्तेन भेदाभ्युपगमे सत्त्वाद्यभ्युपगमेऽपि सत्त्वाद्यनुवेधात् कथं भावाभ्युपगमः? तदन्यसत्त्वादि-धर्माभ्युपगमे च धर्मित्वप्रसक्तिरनवस्थावत्ता च, तन्नैकान्तभेदपक्षे धर्मिधर्मभावोपपत्तिः, नाप्ये-कान्ताभेदपक्षे, यतस्तस्मिन्नभ्युपगम्यमाने धर्मयात्रं वा स्यात्, धर्मियात्रं वा, अन्यथैकान्तभेदा-योगात्, अन्यतराभावे चान्यतरस्याभावः। परस्परान्तरीयकत्वात्, धर्मान्तरीयको हि धर्मिधर्मिनान्तरीयकश्च धर्माः, ततः कथमेकस्याभावेऽपरस्यावस्थानमिति, कल्पितो धर्मधर्मि-भावस्ततो न दूषणमिति चेत्, तर्हि वस्त्वभावप्रसङ्गः, नहि धर्मधर्मिस्वभावरहितं किञ्चिदवस्त्व-इति, धर्मधर्मिभावश्च कल्पित इति तदभावप्रसङ्गः धर्मा एवकल्पिता न धर्मा तत्कथमभाव-प्रसङ्ग, इति चेन्न, धर्माणां कल्पनामात्रत्वाभ्युपगमेन परमार्थतोऽमत्त्वाभ्युपगमाद्, तद्भवे धर्मिणोऽप्यभावापत्ते, अथ तदेवैकं स्वलक्षणं सकलसजातीयव्यावृत्तेकस्वभावं धर्मि विजातीयव्या-वृत्तिनिबन्धनाश्च या व्यावृत्तयो भिन्नाइव कल्पितास्ता धर्माः; ततो न कश्चिद्दोषः तदप्युक्तम् एवं कल्पनायां वस्तुनोऽनेकान्तात्मकताप्रसक्तेः अन्यथा सकलसजातीयविजातीयव्यावृत्त्ययोगात्, नहि येनैव स्वभावेन घटाद् व्यावर्त्तते पटस्तेनैव स्तम्भादपि, स्तम्भस्य पटरूपताप्रसक्ते, तथाहि-घटाद् व्यावर्त्तते पटो घटव्यावृत्तिस्वभावतया, स्तम्भादपि चेत् घटव्यावृत्तिस्वभावतयैव व्यावर्त्तते तर्हि बलात् स्तम्भस्य घटस्वरूपताप्रसक्तिः, अन्यथा ततस्तत्स्वभावतया तद्व्यावृत्त्ययोगात् तस्मात् यतो व्यावर्त्तते यत् तत्तद्व्यावृत्तिनिमित्तभूताः स्वभावा अवश्यंभ्युपगन्तव्याः ते च नैकान्तेन धर्मिणो भिन्नास्तदभावप्रसङ्गात् तथा च तदवस्थ एवं पूर्वोक्तो दोषः तस्माद् भिन्नाभिन्नाः भेदाभेदोऽपि धर्मधर्मिणोः कथमितिचेत्, उच्यते;

इह यद्यपि तादात्म्येन धर्मिणा धर्माः सर्वे लोलीभावेन व्याप्तास्तथाऽप्ययं धर्मी एते धर्मा इति परस्परं भेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तद्भावानुपपत्तिः, तथा च सति प्रतीतिबाधा, मिथो भेदोऽपि च

विशिष्टाऽन्योऽन्यानुवेधेन सर्वधर्म्माणां धर्मिणा व्याप्तत्वात् अभेदोऽप्यस्ति, अन्यथा तस्य धर्म्मा इति संबधानुपपत्तिः, ततश्च न सर्वेषां वीतरागत्वप्रसंगः, केवलभेदस्यानभ्युपगमात्, नापि दोषक्षये तदात्मनोऽपि क्षयः, केवलाभेदस्यानभ्युपगमादिति न काचित् क्षतिः ।
 छिन्नंमि संसयंमी जाइजरामरणविप्पमुक्केणं । सो समणो पव्वइतो तिहिं उ सह खंडियसएहिं । ६४१।

टीका—व्याख्या पूर्ववत्

—आव० निगा ६३८ से ६४१

प्रभुमागात् प्रभासोऽपि तमूचे भगवानपि । निर्वाणमस्ति नो वेति प्रभास ! तव संशयः ॥१५६॥
 मा संशयिष्ठा निर्वाणं मोक्षः कर्मक्षयः स तु । वेदान् सिद्धं कर्म जीवाऽवस्थावैचित्र्यतोऽपि च । १५५॥
 क्षीयते कर्म शुद्धैस्तु ज्ञानचारित्रदर्शनैः । प्रत्यक्षोऽतिशयज्ञानभाजां मोक्षस्तदस्ति भोः ? ॥१५८॥
 प्रतिबुद्धः प्रभासोऽपि स्वाभ्युपन्यस्तया गिरा । दीक्षामादत्त सहितः खंडिकानां त्रिभिः शतैः ॥१५६॥
 महाकुलाः महाप्राज्ञाः संविग्नाः विश्ववंदिताः । एकादशाऽपि तेऽभूवन्मूलशिष्याजगद्गुरोः ॥१६०॥

त्रिशलाका पर्व १०/सर्ग ५

इसके पश्चात् प्रभास भगवान् के पास आया । उसे देखकर भगवान् बोले—हे प्रभास ! मोक्ष है या नहीं ?
 ऐसा तुमको सन्देह है ।

परन्तु इसके विषय में तुम्हें किंचित् भी सन्देह नहीं करना चाहिए । कर्म का क्षय रूप मोक्ष-अवश्यमेव है ।
 वेद तथा जीव की अवस्था की विचित्रता से ही कर्म सिद्ध होता है । शुद्ध ज्ञान, दर्शन और चारित्र से कर्म का क्षय होता है । इस कारण अतिशय ज्ञानधारी पुरुष को मोक्ष प्रत्यक्ष भी होता है ।

इस प्रकार भगवान् के वचनों से प्रभाम प्रतिबोध को प्राप्त हुआ । फलस्वरूप ३०० शिष्यों के साथ भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की ।

इस प्रकार महान् कुल में उत्पन्न हुए, महान् प्राज्ञ संवेग को प्राप्त और विश्ववंदित—ऐसे ग्यारह प्रसिद्ध विद्वान् श्री वीर प्रभु के मूल शिष्य हुए ।

२ प्रभास गणधर के माता-पिता का नाम

(क) अइभदाए बलम्म य पुत्तो चालीसवरिसाओ जाओ । रायगिहे उप्पण्णी एक्कारसमो पभासुत्ति ॥
 इय दिय—वंसुप्पण्णा समत्थ (त्त) सत्थत्थ पारगा सव्वे । चरम-शरीरा-मोक्खं विमल-गुण-
 गणहरादित्तु

धर्मो० पृ० २२७

(ख) तथा पुरे राजगृहे बलनाम्नो द्विजन्मनः । प्रभासो नाम पुत्रोऽभूदतिभद्रोदरोद्भवः ॥५६॥

त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ५

प्रभाम गणधर के पिता का नाम बल और माता का नाम अतिभद्र था । जन्म स्थान राजगृह था । चालीस वर्ष की आयु थी । चरम शरीरी थे व मोक्ष स्थान को प्राप्त किया ।

३ प्रभास गणधर का परिवार (गणधर के साथ दीक्षित)

दुण्हंतु जुअलयाणं तिसओ तिसओ हवइ गच्छो

—आ० निगा ५६७

मलय टीका—परिवार $\times \times \times$ । तथा द्वयोर्गणरयुगलकयोः प्रत्येकं त्रिशतस्त्रिशतो गच्छः, किमुक्तं भवति ? उपरिस्थितानां चतुर्णां गणभृतां प्रत्येकं प्रत्येकं त्रिशतमानः परिवारः ।

दो युगल का अर्थात् ऊपर के चार गणधर-अकम्पित, अचलभ्राता, मेतार्य और प्रभास-इन चारों का प्रत्येक-प्रत्येक का ३००-३०० शिष्य-परिवार था । अतः प्रभास गणधर भगवान् के पास ३०० शिष्यों के साथ दीक्षित हुए ।

•४ प्रभास गणधर के संशय—

एकादशस्य निर्वाणे संशयः निर्वाणं किमस्ति किंवा नेति—आह-बंधमोक्षसंशयादस्य कोविशेषः ? , उच्चते स ह्यभ्यगोचराः, अयं तु केवलविभागविषय एव तथा किं संसागभावमात्र एव, मोक्षः किं वाऽन्यः इत्यादि । —आव० निगा ५६६/टीका

एकादशवें गणधर प्रभास के निर्वाण है या नहीं—यह संशय था । संसार का अभाव ही मोक्ष है या अन्य । यह केवल विभाग विषय ही है ।

•५ प्रभास गणधर का श्रुत-अध्ययन

सर्वजिणाण गणहरा चोद्दसपुठ्वी उ ते तस्स ।

—आव० निगा २६२

सर्वे दुवालसंगीआ सर्वे चउदसपुठ्विणो

—आव० निगा ६५७

सर्व जिनों—तीर्थंकरों के गणधर सर्वज्ञ होने के पूर्व-चतुर्दश पूर्वधारी होते हैं । अतः प्रभास गणधर सर्वज्ञ होने के पूर्व चतुर्दश पूर्वधारी थे ।

•६ प्रभास गणधर का जन्म-नक्षत्र

(जन्म-नक्षत्रं) प्रभासस्य पुष्यः ।

—आव० निगा ६५६/टीका

प्रभास गणधर का जन्म नक्षत्र पुष्य था ।

•७ प्रभास गणधर की अगार पर्याय-गृहस्थ पर्याय

(अगार पर्याया) प्रभासस्य षोडश (वर्षाणि)

—आव० निगा ६५०/टीका

प्रभास गणधर सोलह वर्ष गृहस्थ-पर्याय में रहे ।

•८ प्रभास का गोत्र और जाति

(क) (गोत्र) कौडिन्यौ मेतार्य प्रभासश्च

—आव० निगा ६५६/टीका

(ख) सर्वेय माहणा जच्चा

—आव० निगा ६५७

टीका—सर्वे ब्राह्मणा जात्याः—प्रशस्तजातिकुलोत्पन्नाः ।

इन्द्रभूति आदि सब गणधर प्रशस्त जाति कुल में उत्पन्न हुए थे । जाति की अपेक्षा सभी ब्राह्मण थे । अतः प्रभास गणधर जाति से ब्राह्मण थे । कौडिन्य गोत्र था ।

•९ प्रभास गणधर की छद्मस्थ दीक्षा-पर्याय

$\times \times \times$ अंद्गं च छ्दमत्थपरिआओ

—आव० निगा ६५२

टीका— $\times \times \times$ प्रभासस्य वर्षाष्टकमेषामेव यथाक्रमं छ्दमत्थपर्यायः ।

प्रभास गणधर ८ वर्ष छद्मस्थ पर्याय में रहे ।

.१० प्रभास गणधर का केवलिकाल-जिनपर्याय

(सचायं जिनपर्यायः) प्रभासस्य षोडश

प्रभास गणधर की जिनपर्याय १६ वर्ष की थी ।

—आव० निगा ६५३-५४/मलय टीका

.११ प्रभास गणधर की आयु-सर्वायु

इन्द्रभूतेः सर्वायुर्द्विनवतिवर्षाणि × × × प्रभासस्य चत्वारिंशत् । —आव० निगा ६५५-५६/टीका

प्रभास की कुल आयु ४० वर्ष की थी ।

नोट—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के ६ वर्ष पूर्व प्रभास गणधर का परिनिर्वाण ही चुका था । ग्यारह गणधरों में सर्वप्रथम प्रभास गणधर का परिनिर्वाण हुआ । चूंकि प्रभास गणधर गृहस्थावास में १६ वर्ष, छद्मस्थावस्था में ८ वर्ष तथा केवलपर्याय में १६ वर्ष रहे । अतः कुल आयु ४० वर्ष की थी ।

.४६(ग) विविध

.१ द्वादशांग का उपदेश —

× × × भग्गवावीसपरीसहपसरस्स सच्चालंकारस्स अत्थो कहिओ । तदो तेण गोअमगोत्तेण इंदभूदिणा अतोमुहुत्तेणावहारि यदुवालसंगत्थेण तेणेव कालेण कयदुवालसंगगंथरयणेण गुणे ह सगसमाणस्स सुहमा (म्मा) इरियस्स गंथो वक्खाणिदो । तदो केत्तिएण विकालेण केवलणाण-मुप्पाइय वारसवासाणि केवलविहारेण विहरिय इंदभूदिभडारओ णिव्वुइं संपत्तो ।

—कसापा० भाग १/गा १/सू-१/पृ ८४

जिन्होंने क्षुधा आदि बाइस परीसहों के प्रसार को जीत लिया है और जिनका सत्य ही अलंकार है — ऐसे आर्य इन्द्रभूति आदि के लिए उन महावीर भट्टारक ने अर्थ का उपदेश दिया । उसके अनन्तर उन गौतम गोत्र में उत्पन्न हुए इन्द्रभूति ने एक अन्तर्भूत में द्वादशांग के अर्थका अवधारण करके उसी समय बारह अंग रूप ग्रन्थों की रचना की और गुणों से अपने समान ही सुधर्माचार्य को उसका व्याख्यान किया ।

तदनन्तर कुछ काल के पश्चात् इन्द्रभूति भट्टारक केवलज्ञान को उत्पन्न करके और बारह वर्ष तक केवल-विहार रूप से विहार करके मोक्ष को प्राप्त हुए ।

.२ भगवान् महावीर और गौतम का भवान्तरीय सम्बन्ध

रायगिहे जावपरिसा पडिगया ।

गोयमाई ! समणे भगवं महावीरे भगवं गोयमं आमंतेत्ता एवं वयासी—‘चिरं ससिट्ठोसि मे गोयमा ! चिरसंथुओसि मे गोयमा ! चिरपरिचिओसि मे गोयमा ! चिरजुसिओसि मे गोयमा ! चिराणुगओसि मे गोयमा ! चिराणुवन्तीसि मे गोयमा ! अणंतरं देवलोए अणंतरं माणुस्सएभवे, किं परं ? मरणा कायस्सभेदा, इओचुता दो वि तुल्ला एगट्ठा अविसेसमणाणत्ता भविस्सामो ।

—भग० श १४/३७

[विवेचन—केवल ज्ञान की प्राप्ति न होने से खिन्न बने हुए गौतम स्वामी को आशवासन देने भगवान् महावीर स्वामी, गौतम स्वामी के साथ अपना चिरकाल का परिचय बताते हुए कहते हैं कि खिन्न मत हो । इस शरीर के छूटने पर अपने दोनों एक समान सिद्ध हो जावेंगे ।]

राजगृह नगर में यावत् परिषद् धर्मोपदेश श्रवण कर लौट गई । श्रमण भगवान् स्वामी ने इस प्रकार भगवान् गौतम को संबोधित करके इस प्रकार कहा—हे गौतम ! तू मेरे साथ चिर संश्लिष्ट चिरकाल से स्नेह से बद्ध है । हे गौतम ! तू मेरे साथ चिरसंस्तुत है (लम्बे काल के स्नेह से तूने मेरी हे गौतम ! तू मेरे साथ चिर-परिचित है (तेरा मेरे साथ लम्बे समय से परिचय रहा है) हे गौतम चिर सेवित या चिर प्रीत है । (तू लम्बे काल से मेरी सेवा की है अथवा साथ प्रीति रखी है) हे गौतम चिरानुगत है (चिरकाल से तूने मेरा अनुसरण किया है) हे गौतम ! तू मेरे साथ चिरानुवृत्ति है (साथ चिरकाल से अनुकूल बर्ताव रहा है) हे गौतम ! इससे (पूर्व के) अनन्तर देवभव में इससे अनन्तर तेरा मेरे साथ संबंध था । अधिक क्या कहा जाए, इस भव में मृत्यु के पश्चात् इस शरीर के छूट दोनों तुल्य (एक सरीखे) और एकार्थ (एक प्रयोजन वाले अथवा एक सिद्ध क्षेत्र में रहने वाले) विशेष किसी प्रकार के भेद-भाव से रहित हो जायेंगे ।

- ३ भगवान् के परिनिर्वाण के दिन ज्येष्ठ अनगार गौतम को केवल ज्ञान-केवल दर्शन समुत्पन्न
- ४ परिनिर्वाण के समय गौतम स्वामी निकट में नहीं थे ।

जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सठ्वहुक्खप्पहीणे तं रयणिं गोयस्स इंदभूइस्स अणगारस्स अंतेवासिस्स नायए पेज्जबंधणे वोच्छिन्ने अणंते अ केवलवरनाणदंसणे समुत्पन्ने ।

जिस रात्रि में श्रमण भगवान् महावीर ने सर्व दुःखों का अन्त किया—उस रात्रि में उनके पटुशिक्ष के इन्द्रभूति अनगार का भगवान् महावीर के प्रति प्रेम बंधन टूटा । फलस्वरूप इन्द्रभूति अनगार को यावत् केवलज्ञान-केवलदर्शन उत्पन्न हुआ ।

•५ अग्निभूति की अवगाहना

समणस्स भगवओ महावीरस्स दोच्चे अंतेवासी अग्निभूई नामं अणगारे गोयमे गोत्ते जाव पज्जुवासमाणे ।

—भग० श

श्रमण भगवान् महावीर के दूसरे अंतेवासी अग्निभूति (द्वितीय गणधर) की अवगाहना सात हाथ

- ६ नोट—जैनागम किंवा श्वेताम्बर ग्रन्थों तथा दिगम्बर ग्रन्थों में भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों उपलब्ध होते हैं उनमें परस्पर कई नामों में मेल नहीं खाता । दोनों परम्परा के अनुसार ग्यारह गणधरों प्रकार हैं ।

श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार

- १— इन्द्रभूति
- २— अग्निभूति
- ३— वायुभूति
- ४— व्यक्त
- ५— सुधर्मा
- ६— मंडित
- ७— मौर्यपुत्र
- ८— अकंपित
- ९— अचलभ्राता
- १०— मेलार्य
- ११— प्रभास

दिगम्बर परम्परा के अनुसार

- १— इन्द्रभूति
- २— अग्निभूति
- ३— वायुभूति
- ४— सुधर्म
- ५— मौर्य
- ६— मौड्य-मौन्द्र्य
- ७— पुत्र
- ८— मैत्रेय
- ९— अकम्पन
- १०— अन्धवेल
- ११— प्रभास

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के १२ वर्ष पश्चात् इन्द्रभूति तथा २० वर्ष पश्चात् सुधर्मा गणधर का परिनिर्वाण हुआ। शेष गणधरों का भगवान् महावीर के पूर्व ही परिनिर्वाण हो चुका था।

१—चौथे व्यक्त गणधर, छठे मंडित गणधर, सातवें मौर्यपुत्र गणधर, आठवें अकम्पित गणधर, इन चारों गणधरों का परिनिर्वाण—भगवान् महावीर का जिस वर्ष में परिनिर्वाण हुआ—उसी वर्ष में भगवान् महावीर के पूर्व हुआ।

२—द्वितीय अग्निभूति गणधर, तृतीय वायुभूति गणधर का परिनिर्वाण—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के लगभग २ वर्ष पूर्व हुआ।

३—नववें अचलभ्राता गणधर तथा दसवें मेलार्य गणधर का परिनिर्वाण—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के लगभग ४ वर्ष पूर्व हुआ।

४—तथा ग्यारहवें प्रभास गणधर का परिनिर्वाण—भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के लगभग ६ वर्ष पूर्व हुआ।

७. आमशौषधि आदि लब्धि सम्पन्न थे।

मासं पाओवगया सव्वेऽविय सव्वलद्धिसंपन्ना।

—आव० निगा ६५६

टोका—सर्वेऽपि सर्वलब्धिसम्पन्नाः आमशौषध्याद्यशेषलब्धिसंपन्नाः।

शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्ट तप-संयम के आचरण से तत् तत्कर्म का क्षय और क्षयोपशम होकर आत्मा में जा विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसे लब्धि कहते हैं।

आमशौषधिलब्धि, विप्रुडौषधिलब्धि, खेलौषधिलब्धि, जल्लौषधिलब्धि, सर्वौषधिलब्धि, सम्भिन्न-श्रोतोलब्धि, अवधिज्ञानलब्धि, ऋजुमतिलब्धि, विपुलमतिलब्धि, चारणलब्धि, आशीविपलब्धि, गणधरलब्धि, पूर्वधरलब्धि, क्षीरमधुसर्पिराश्रवलब्धि, कोष्ठकलब्धि, पदानुसारिणीलब्धि, वीज-बुद्धिलब्धि, तेजोलेख्यालब्धि, आहारकलब्धि, शीतलेख्यालब्धि, वैकुर्विकदेहलब्धि, अक्षीणमहान-सीललब्धि, पुलाकलब्धि आदि—इन्द्रभूति आदि गणधरों को थी।

अन्त में केवलिलब्धि भी प्राप्त की थी ।

८. गौतम के प्रश्नोत्तर की जिज्ञासा—

तएणं से भगवं गोयमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊइल्ले उप्पणसड्ढे उप्पणसंसए उप्पणको-
ऊहल्ले समुप्पणसड्ढे समुप्पणसंसए समुप्पणकोऊहल्ले उट्टाए. उट्ठेइ, २ ता जेणेव समणे
भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, २ ता समणं भगवं महावीर तिकखुत्तो आयाहिण पयाहिणं
करेइ, २ ता वंदइणंसंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता नच्चासण्णे नाडदूरे सुस्सूसमाणे णमंसमाणे अभिमुहे
विणएणं पंजलिउडे पज्जुवासमाणे एवं वयासी । —ओव० सू ८२

जब भगवान् गौतम भगवान् महावीर के पास संयम और तप से आत्मा को भावित कर विचर रहे थे । तब
भगवान् गौतम में श्रद्धा (= इच्छा), संशय (= अनिर्धारित) अर्थ = शंका कुतूहल की प्रवृत्ति हुई—उत्पत्ति हुई, प्राप्ति
हुई, मूर्तिमान हुए । अतः उठकर खड़े हुए ।

जहां श्रमण भगवान् महावीर थे—वहां आए । तीन बार आदक्षिणा प्रदक्षिणा की । वंदना की नमस्कार किया ।
न अधिक सटकर न अधिक दूर रहकर सुश्रूषा और नमस्कार करते हुए, अभिमुख होकर, करबद्ध होकर पर्युपासना करते
हुए इस प्रकार बोले—

९. गणधर के उपदेशकासमय—

उवरिं पोरुसीए उट्टिते तित्थकरे गोयमसामी अन्नो वा गणहरो वित्तियपोरुसीए धम्मं कहेत्ति,
स्यान्मत्तिः किं कारणं तित्थकर एवं द्वितीयायां पोरुष्यां धर्मं न कप्ययति ? उच्यते

—खेदविणोदो ॥५-६७ ५८८

तित्थगरस्स खेदविणोदो भवति, परिश्रमविश्राम इत्यर्थः, शिष्यगुणाश्च दीपिताः प्रभाविता
भविष्यन्ति ।

—आव० निगा ५८८ —पृ चूर्णी० ३३३

तीर्थंकर प्रथम पौरुषी में तथा गौतम स्वामी गणधर आदि द्वितीय पौरुषी में धर्म का कथन करते हैं । क्योंकि
तीर्थंकर खेद विणोद होते हैं तथा शिष्यों में दिग्गजान्-प्रभावान् गुण होते हैं ।

१०. भगवान् पार्श्वनाथ के संतानीय शिष्य—

१. उदयपेटालपुत्र और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर

तेणं कालेणं तेणं समएणं रायगिहेणामं णयरे होत्था । रिद्धत्थिमियसमिद्धे जाव पडिखुवे ॥१॥
तस्सणं रायगिहस्स णयरस्स बहिया उत्तरपुरत्थिमे दिसीभाए, एत्थ णं णालंदाणामं बाहिरिया
होत्था । × × × ॥२॥

तत्थणं णालंदाए बाहिरियाए लेवेणामं गाहावई होत्था × × × ॥३॥

तस्सणं लेवस्स गाहावइस्स णालंदाए बाहिरियाए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए, एत्थणं सेसदवियाणाम
उदगसाला होत्था × × × ॥५॥

गणधरों का जीवन परिचय

दिनाम्बर शास्त्रों में भगवान् महावीर के ११ गणधरों के नाम और कहीं पर उनके माता-पिता आदि का उल्लेख मात्र पाया जाता है, पर श्वेताम्बर शास्त्रों में इन गणधरों का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। यहां श्वेताम्बर शास्त्रों के आधार पर उनका परिचय दिया जा रहा है—

| संख्या | नाम | गणधर पिता का नाम | गोत्र-नाम | जन्म-नक्षत्र | जन्मस्थान | गृहस्थ-दीक्षास्थान | शिष्य | छद्मस्थ-केवलि-सर्वायु | निर्वाणकाल | १३ | १४ | |
|--------|-----------------------|------------------|-----------|---------------|-----------------|--------------------|-------------------|-----------------------|------------|---------|---------------|-------|
| | | | | जीवन | संख्या | काल | काल | | | | के पूर्व शंका | |
| १ | इन्द्रभृति (ब्राह्मण) | वसुभृति | पृथ्वी | गौतम | ज्येष्ठा | गोबरग्राम (मगध) | ५० वर्ष मध्यमपावा | ५०० | ३० वर्ष | १२ वर्ष | १२ | १३ |
| २ | अग्निभृति | " | " | " | कृत्तिका | " | ४६ " | " | ५०० | १२ " | १६ " | २५ " |
| ३ | वायुभृति | " | " | " | स्वाति | " | ४२ " | " | ५०० | १० " | १५ " | २५ " |
| ४ | व्यक्त | धनमित्र | वारुणो | भारद्वाज | श्रवण | कोह्लाग (मगध) | ५० " | " | ५०० | १२ " | १५ " | ३० " |
| ५ | सुधर्मा | धम्मिल्ल | महिला | अग्निवैश्यायन | उत्तरा-फाल्गुनी | " | ५० " | " | ५०० | ४२ " | ५ " | १०० " |
| ६ | मंडित | धनदेव | विजया | वशिष्ठ | मघा | मौर्यसन्निवेश | ५३ " | " | ३५० | १४ " | १६ " | ५३ " |
| ७ | मौर्यपुत्र | मौर्य | " | काश्यप | रोहिणी | " | ६५ " | " | ३५० | १४ " | १६ " | ६५ " |
| ८ | अकंपित | देव | जयन्ती | गौतम | मुगशिरा | मिथिला | ४८ " | " | ३०० | ६ " | २१ " | ७५ " |
| ९ | अचलभ्राता | वसु | नन्दा | हारित | उत्तराषाढा | कोशल | ४६ " | " | ३०० | १२ " | १४ " | ७२ " |
| १० | मेतार्य | दत्त | वरुणा | कौडिय | अश्विनी | तृणिकसन्निवेश | ३६ " | " | ३०० | १० " | १६ " | ६२ " |
| ११ | प्रभास | बल | अतिभद्रा | " | पुष्य | राजगृह | १६ " | " | ३०० | ५ " | १६ " | ४० " |

अग्निभृति का आयु के सम्बन्ध में समवाओ की अभयदेव सूक्त टीका में इसका स्पष्टीकरण किया गया है। — देखो पृष्ठ २४०

मभी गणधरों का निर्वाणस्थान वैभारगिरि (राजगृह) था।

तोसे णं सेसदवियाए उदगसालाए उत्तरपुरत्थिमे दिसिभाए, एत्थणं हत्थिजामेणामं वणसंडे होत्था । × × × ॥६॥

तरिस च णं गिहपदेसंसि भगवं गोयमे विहरइ, भगवं च णं अहे आरामंसि ॥७॥

—सूय० श्रु २/अ ७

उस काल उस समय में ऋद्धि से समुद्र राजगृह नाम का नगर था । उसके बाहर उत्तर-पूर्व में कई समुद्र भवनों से सुशोभित नालन्दा नामक बाहिरिक (उपनगर) था ।

उस नालन्दा बाहिरिक में लेप नामक एक गाथापति रहता था ।

नालन्दा उपनगर की उत्तर-पूर्व दिशा में, उस लेप गाथापति के 'शेष द्रव्या' नामक उदकशाला थी ।

उस उदकशाला के उत्तर-पूर्व में हस्तियाय नामक रमणीय उपवन था ।

उस उपवन की किसी गृह प्रदेश में भगवान् गौतम ठहरे हुए थे । वे उस आराम के निचले भाग में विराजमान थे ।

•२ उदयपेढालपुत्र का भगवान् गौतम के निकट आगमन

अहे ण उदए पेढालपुत्ते भगवं पासावच्चिज्जे णियंठे मेदज्जे गोत्तेणं जेणेव भगवं गोयमे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता भगवं गोयमं एवं वयासी —

आउसंतो ! गोयमा ! अत्थि खलु मे केइ पदेसे पुच्छियव्वे, तं च मे आउसो ! अहासुयं अहादरि-सियमेव वियागरेहि ॥८॥

सवार्यं भगवंगोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी अवियाइ आउसो ! सोच्चा णिसम्म जाणिस्सामो ॥९॥

—सूय० श्रु २/अ ७

उस समय भगवान् पार्श्वनाथ के सन्तानीय मेतार्य गोत्रीय उदय पेढालपुत्र नामक निर्ग्रन्थ जहां भगवान् गौतम विराजमान थे, वहां आया । आकर उनसे कहने लगा—आयुष्मान् गौतम ! आपसे मुझे कुछ पूछना है । आयुष्मान् ! आपने जैसा सुना हो, जैसा विश्वास किया है वही कहना । भगवान् गौतम उदय पेढालपुत्र से बोले—आयुष्मान् ! यदि आपके प्रश्न को सुनकर-समझकर जान लूंगा तो उत्तर दूंगा ।

•३ उदय पेढालपुत्रका प्रश्न—

सवार्यं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा ! अत्थि खलु कम्मर-पुत्तिया णामसमणा णिग्गंथा तुम्हागं पवयणं पवयमाणा गाहावइं समणोवासगं उवसंपण्णं एवं पचक्खावेति—णण्णत्थ अभिजोगेणं, गाहावइचोरग्गहण - विमोक्खणयाए तसेहि पाणेहिं णिहाय दंडं ।

एवं ण्हं पचक्खंताणं दुप्पच्चक्खायं भवइ । एवं ण्हं पचक्खंतावेमाणाणं दुप्पच्चक्खावियं भवइ । एवं ते परं पचक्खंतावेमाणा अइयरंति सयं पइण्णं कस्स णं तं हेउं ।

संसारिया खलु पाणा-थावरावि पाणा तसत्ताए पच्चायंति । तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति । थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति । तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति । तेसिं च णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं घत्तं

—सूय० क्षु २/अ ७/सू १०

उदक पेढालपुत्र भगवान् गौतम से बोले—आयुष्मान् गौतम ! कुमारपुत्र नामके श्रमण निर्ग्रन्थ है—जो तुम्हारे प्रवचन के अनुयायी है—वे प्रत्याख्यान के लिए आये हुए श्रमणोपासक गृहपतियों को यह प्रत्याख्यान कराते हैं कि अपने से गुरु (बली आदि) के अभियोग (जबरन) को छोड़कर, गाथापति-चोर-ग्रहण-विमोक्षण न्याय से त्रस प्राणियों की हिंसा का त्याग है यह प्रत्याख्यान करना और कराना दुष्प्रव्याख्यान है । ऐसे प्रत्याख्यान करने वाले अपनी प्रतिज्ञा नहीं पा सकते हैं ।

इसका कारण क्या है ?

कारण यह है कि प्राणियों में परिवर्तन होता रहता है —स्थायर प्राणी स्थावर काया को छोड़कर, त्रसकाया में त्रसरूप में उत्पन्न हो जाते हैं और त्रसप्राणी त्रसकाया को छोड़कर स्थावर काया में स्थावर रूप से उत्पन्न हो जाते हैं । उनमें से स्थावर काया में उत्पन्न हुए त्रस प्राणियों की हिंसा, उन श्रमणोपासकों से हो जानी है ।

एवं ण्हं पच्चक्खं ताणं सुपच्चक्खायं भवइ । एवं ण्हं पच्चक्खावेमाण्णं सुपच्चक्खावियं भवइ । एवं ते परं पच्चक्खावेमाणा णाइयंरंति सयं पइण्णं—“णणत्थ अभिज्जोणेणं गाहावइ—चोरग्गहण विमोक्खणयाए तसभूएहिं पाणेहिं णिहायदंडं ।” एवं सइभासाए परिकम्मे विज्जमाणे जे ते कोहा वा लोहावा परं पच्चक्खावेंति । अयं पि णो उवएसे किं णो णेयाउए यवइ ? अविआइं आउसो ! गोयया ! तुव्भं पि एयं एवं रोयइ ।

सूय० श्रु २/अ७/सू १०

इस प्रकार प्रत्याख्यान करना और कराना सुप्रत्याख्यान है । इस प्रकार प्रत्याख्यान कराने से वे प्रतिज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं कि अभियोग को छोड़कर, गाथापति-चोर-ग्रहण-विमोक्षण न्याय से त्रसभूति प्राणियों की हिंसा करने का त्याग है । इस प्रकार की भाषा में (दोष परिहार की) शक्ति विद्यमान होने पर, जो कोई क्रोध से या लोभ से प्रत्याख्यान दूसरे को कराते हैं (उसके) समान यह (भूत' शब्द लगाये बिना कराये गये प्रत्याख्यान) भी उददिष्ट नहीं है—न्यायमंगत नहीं है ।

आयुष्मान् गौतम ! क्या तुमको यह रुचिकर है ।

.४ भगवान् गौतमका उत्तर—

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी—आउसंतो ! उदगा ! णोखलु अम्हं एयं एवं रोयइ । जेते समणा वा माहणा वा एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परुवेंति णो खलु ते समणा वा निग्गंथा वा भास भासंति, अणुतावियं खलु ते भासं भासंति, अब्भाइक्खंति खलु ते

समणे समणोवासए वा । जेहिं वि अण्णेहिं पाणेहिं भूएहिं जीवेहिं सत्तेहिं संजमयंति ताणि वि ते अब्भाइक्खंति ।

कस्स णं तं हेउं ।

संसारिया खलु पाणा—तसावि पाणा थावरत्ताए पच्चायंति । थावरा वि पाणा तसत्ताएपच्चायंति । तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा थावरकायंसि उववज्जंति । थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा तसकायंसि उववज्जंति । तेसिं च णं तसकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं ।

—सूय० श्रु २/अ सू७/११

भगवान् गौतम ने उदय पेठालपुत्र को उत्तर दिया—आयुष्यमान् उदक ! तुम्हारा कथन हमें उचित नहीं लगता है । जो कोई श्रमण-माहण तुम्हारे कथन के अनुसार प्रतिपादन करते हैं । वे श्रमण-निर्ग्रन्थों की भाषा नहीं बोलते हैं—अनुताप करने वाली भाषा बोलते हैं । श्रमण-श्रमणोपासकों पर व्यर्थ कलंक लगाते हैं—जो दूसरे प्राण, भूत, जीव और सत्त्व में संयम करते हैं, उन पर भी व्यर्थ कलंक लगाते हैं । क्योंकि प्राणियों में परिवर्तन होते रहते हैं और उनमें से त्रसकाया में उत्पन्न होनेवाले प्राणियों को उन्हें हनना योग्य नहीं है ।

•५ उदय पेठालपुत्रका प्रतिप्रश्न—

सवायं उदए पेठालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—कयरे खलु आउसंतो ! गोयया ! तुब्भे वयह तसपाणा तसा आउ अण्णहा, ?

—सूय० श्रु २/अ ७ सू १२

उदक पेठालपुत्र ने भगवान् गौतम को कहा—आयुष्मान् गौतम ! तुम त्रस प्राणी को ही त्रस कहते हो कि किन्हीं दूसरे को ।

•६ भगवान् गौतम का प्रत्युत्तर—

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेठालपुत्रं एवं वयासी—आउसंतो ! उदगा ! जे तुब्भे वयह तसभूया पाणा तसा ते वयं वदामो तसा पाणा तसा । जे वयं वयामो तसा पाणा तसा ते तुब्भे वदह तसभूया पाणा तसा । एए संति दुवे ठाणे तुल्ला एगट्टा ।

किमाउसो ! इमे भे सुप्पणीयतराए भवइ-तसभूया पाणा तसा ? इमे भे दुप्पणीयतराए भवइ-तसा पाणा तसा ? तओ एगमाउसो ! पल्लिकोसह एककं अभिणंदह ! अयंपि “भे उवएसे” णोणेयाउए भवइ ।

भववं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वंभवइ-णोखलु वयं संचाएमो मुंडाभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए । वयं णं” अणुपुव्वेणं गोत्तस्स लिस्सिस्सामो । ते एवं संखसावेंति—णण्णत्थं अभिजोगेणं गाहावइ—चोरग्गाहणं-विमोक्खयाए तसेहिं पाणेहिंणिहाय दंडे । तंपितेसिं कुसलमेव भवइ ।

—सूय० श्रु/अ ७/सू १३

भगवान् गौतम—आयुष्मान् उदक ! जिसे तुम त्रसभूत प्राणी कहते हो उसे हम त्रम कहते हैं और जिसे हम त्रस प्राणी कहते हैं उसे तुम त्रसभूत प्राणी कहते हो । इस प्रकार दोनों शब्दमिमान है एकार्थी है । फिर आयुष्मान् ? आप क्यों “त्रसभूत प्राणी” यह सुप्रणीततर (शुद्ध) और त्रम प्राणी यह दुष्प्रणीततर (=अशुद्ध) मानते हैं ? एक का प्रतिकोश (= भर्त्सना) करते हैं और एक का अभिनन्दन ? आपका यह भेद भी न्यायसंगत नहीं है । कई मनुष्य हैं जो श्रमणों से यह कहते हैं—हम इतने समर्थ नहीं है कि मुण्डिन हांकर गृहवासी से अनगर बन जायें । किन्तु हम क्रमशः गुप्त साधु बनेंगे । वे यही विचार करते हैं—यही विचार रखते हैं—यही विचार प्रकट करते हैं कि अभियोग को छोड़कर माथापति चोर ग्रहण विमोक्षण न्यायसे त्रम प्राणियों की हिमा करना छोड़ दें । उनके लिए वह भ कुशल रूप है ।

तसा वि वुच्चंति तसा तससंभारकडेणं कम्मुणा, णामं च णं 'अवभुवगयं भवइ' तसाय च णं पल्लिकखीणं भवइ' तसकायट्टिइया ते तओ आउयं विप्पज्जहंति, ते तओ आउयं विप्पज्जहिता थावगत्ताए पच्चारयंति । थावरा वि वुच्चंति थावरा थावरसंभारकडेणं कम्मुणा, णामं च णं अवभुवगयं भवइ । 'थावगाउयं च णं पल्लिकखीणं भवइ', थावरकायट्टिइया ते तओ आउयं विप्पज्जहंति, ते तओ आउयं विप्पज्जहिता भुज्जो पारलोइयत्ताए पच्चारयंति । ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया ते चिरट्टिइया ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू १४

त्रसजीव भी त्रमनाम कर्म के अनुभव करने से त्रस कहे जाते हैं । त्रस आयु जब परिक्षीण हो जाती है तब वे त्रसकाया में स्थित जीव वहां से वह आयु छोड़ देते हैं । वहां से वे आयु छोड़कर (ही) वे स्थावर अवस्था में आते हैं । स्थावर जीव भी स्थावर नाम कर्म के भोगने से स्थावर कहे जाते हैं । स्थावर आयु जब परिक्षीण हो जाती है तब स्थावर काया में रहने वाले जीव वहां से आयु छोड़ देते हैं—वहां से वे आयु छोड़कर (ही) पुनः पारलौकिकता के लिए जाते हैं । वे प्राणी भी कहे जाते हैं—त्रस भी कहे जाते हैं । वे महाकाय भी होते हैं—अम्बी आयु वाले भी होते हैं ।

७ उदय पेढाल पुत्र का सपक्ष-स्थापना

सवायं उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एवं वयासी—आउसंतो ! गोयमा ! णत्थि णं से केइ परिआए जंसि समणोवासगस्स 'एगपाणाए वि इंडे णिक्खित्ते । कस्स णं तं हेउं ।

संसारिया खलु पाणा—थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चारयंति । तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चारयंति । थावरकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे तसकायसि उववज्जंति । तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायसि उववज्जंति ।

तेसिंच णं थावरकायंसि उववण्णाणं ठाणनेयं घत्तं ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू १५

उदक पेढालपुत्र—आयुष्मान् गौतम ! ऐसी कोई भी पर्याय—अवस्था नहीं है, जिसमें श्रमणोपामक एक भी जीव की हिंसा-विरति रख सके । कारण कि प्राणियों की अवस्था में परिवर्तन होता रहता है । स्थावर काय से निकल कर सभी प्राणी त्रम हो जाते हैं और त्रसकाया से निकल कर सभी प्राणी स्थावर हो जाते हैं । तब वे स्थावर काया में उत्पन्न जीव उनके लिए हिंसा के योग्य हो जाते हैं ।

.C भगवान् गौतम का प्रत्युत्तर—

सवायं भगवं गोयमे उदयं पेढालपुत्तं एवं वयासी-णो खलु आउसो ! अस्माकं वत्तव्वएणं तुब्भं चेव अणुप्पवाएणं अत्थि णं से परियाए जे णं समणोवासगस्स सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजी-वेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते भवइ ।

कस्स णं तं हेउं ?

संसारिया खलु पाणा—तसा वि पाणा थावरत्ताए पच्चारयंति । थावरा वि पाणा तसत्ताए पच्चारयंति । तसकायाओ विप्पमुच्चमाणा सव्वे थावरकायंसि उववज्जंति । थावरकायाओ विमुच्चमाणा सव्वे तसकायंसि उववज्जंति । तेसिंच णं तसकायंसि उववण्णाणं ठाणमेयं अघत्तं । ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकायं ते चिरट्टिइया । ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्टियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णोवा एव वयह—“णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूर० श्रु २/अ ७/सू १६

भगवान् गौतम—हमारे वक्तव्य से यह (तुम्हारा कथन) सिद्ध नहीं होता । और तुम्हारे अनुप्रवाद (मन) से तो यह पर्याय संभव है—जिसमें श्रमणोपासक सर्व प्राण, भूत, जीव और सत्त्वकी हिंसासे रहित हो सकता है ।

कारणकि—[जैसा कि तुम कहते हो] त्रसकाया से निकलकर सभी जीव स्थावर हो जाते हैं और स्थावर कायासे निकल कर सभीत्रस तो उनके लिए त्रसकाया में उत्पन्न जीव हिंसाके अयोग्य हो जाते हैं । वे प्राणी, त्रस, महाकाय और लम्बी स्थिति कहे जानेवाले जीव बहुततर हो जाते हैं । जिनकी हिंसा करने के श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान होते हैं और वे प्राणी अल्पतर हो जाते हैं—जिनकी हिंसा करने के श्रमणोपासक के प्रत्याख्यान नहीं है । ऐसे उन महान त्रसकाया की (हिंसा) से उपशान्त, उपस्थित और प्रतिविरत के लिए तुम और दूसरे जा कहते हो कि श्रमणोपासक की ऐसी कोई पचर्याय—अत्रस्था नहीं है जिसमें वह एक भी प्राणी की भी हिंसा से बच सके—तो यह न्यायसंगत नहीं है ।

.६ श्रमण - दृष्टान्त—

(क) भगवंच णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! णियंठा ! इह खलु संतेगइया मणुस्सा-भवति । तेसिंचणं एवं वुत्तपुव्वं भवइ—जे इमे मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्ता, एएसिं णं आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते । जे इमे अगारमावसति, एएसिं णं आमरणंताए दंडे णो णिक्खित्ते ।

‘केइ च णं समणे, जाव वासाइं चउपंचमाइं छइसम्माइं अप्पयरो वा भुज्जयरो वा देमं दूइज्जित्ता’ अगारं वएज्जा । हंता वएज्जा ।

तस्स णं तमगागत्थं वहभाणस्स से पच्चक्खाणे भग्गे भवइ ?
णेति ।

एवमेव समणोवासगस्स वि तसेहि पाणेहि दंडे णिक्खित्ते, थावरेहि पाणेहि दंडे णो णिक्खित्ते । तस्सणंतं थावरकायं वहमाणस्स से पच्चक्खाणे णो भग्गे भवइ । सेवमायाणह णियंठा ! सेवमायाणियव्वं ।
—सूय० श्रु २/अ७/सू १७

गौतम भगवान्—निर्ग्रन्थ प्रश्न पूछे जाने योग्य होते हैं तो आयुष्मान् निर्ग्रन्थ ! संसार में कई तरह के मनुष्य होते हैं । जो उन्हें आकर, इस प्रकार कहते हैं—जो मुण्डित होकर गृहवास छोड़कर अनगार हो जाते हैं उनकी हिंसा के मृत्यु-पर्यन्त के त्याग हैं और जो गृहस्थ हैं, उनकी हिंसा के मृत्यु पर्यन्त त्याग नहीं । पर कई कुछ वर्ष तक श्रमण रहकर फिर गृहस्थ नहीं बन जाते हैं क्या ? बन जाते हैं । तो उस गृहस्थ बने हुए श्रमण का वध करने से उसके प्रत्याख्यान का भंग होता है ? [तब वे निर्ग्रन्थ यही उत्तर देंगे कि] नहीं होता है ।

इसी प्रकार श्रमणों के त्रस प्राणियों की हिंसा के प्रत्याख्यान है—स्थावर प्राणियों की हिंसा के नहीं । इसलिए [त्रस की अस्था को छोड़कर आये हुए] स्थावर जीवों की हिंसा से उसके प्रत्याख्यान का भंग नहीं होता है—यह समझिए और निर्ग्रन्थों ! यही समझना योग्य है ।

(ख) भगवंच णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! णियंठा ! इह खलु गाहावइणो वा गाहावइपुत्ता वा तहप्पगारेहि कुलेहि आगम्म धम्मस्सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ?

हंता उपसंकमेज्जा ।

तेसिच णं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे हंता आइक्खियव्वे ।

किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुण्णं 'णेयाउयं संसुद्धं' सल्लकत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहं असंद्धिद्धं सब्बदुक्खप्पहीणमग्गं । एत्थठिया जीवा सिज्झंति वुज्झति मुच्चंति परिणिव्वंति सब्बदुक्खाणमंतं करेति ।

इमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहाणिसीयामो तहा तुणयट्ठामो तहा भुंजामो तहा अब्भुट्ठेमो तहा उट्ठाए उट्ठेत्ता पाणणं भुयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो त्ति वएज्जा ?

हंता वएज्जा ।

किं ते तहप्पगारा कप्पति पव्वावेत्तए ! हंता कप्पति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पति मुंडावेत्तए ? हंता कप्पति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पति सिक्खावेत्तए ? हंता कप्पति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पति उवट्ठावेत्तए । हंता कप्पति ।

तेसिच णं तहप्पगाराणं सब्बपाणेहिं सब्बभूणहिं सब्बजीवेहिं सब्बसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ?

हंता णिक्खित्ते ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जव वासाइं चउपंचमाइं छइसमाइंवा अप्पयरोवा भुज्जयरो वा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ।

हंता-वपुज्जा ।

तस्स ण सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ।
णेति ।

से जे से जीवे जस्स परेणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते ।
से जे से जीवे जस्स आरेणं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते ।
से जे से जीवे जस्स इयाणि सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो
णिक्खित्ते भवइ ।

परेणं अस्संजए, आरेणं संजए, इयाणि अस्संजए । अस्संजयस्स णं सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं
सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णो णिक्खित्ते भवइ । सेवमायाणह णियंटा । सेवमायाणियव्वं ।

—सूय० श्रु २/अ ७ सू १८

भगवान् गौतम—जो निर्ग्रन्थ धर्म पृच्छा के योग्य हों । आयुष्मान् निर्ग्रन्थ ! (उनके पास) गृहपति या
गृहपति पुत्र उस प्रकार के कुल में आकर [= जन्म लेकर] धर्म सुनने आ सकते हैं ।

हां आ सकते हैं ?

क्या उस प्रकार के धर्म को कहना चाहिए ?

हां ? कहना चाहिए ।

क्या वे तथा प्रकार धर्म को सुनकर, समझकर इस प्रकार कह सकते हैं कि यह निर्ग्रन्थ प्रवचन ही सत्य, अनुत्तर,
केवल ज्ञानी से कथित, परिपूर्ण, संशुद्ध, नैयायिक=युक्तियुक्त, शल्यकर्तक = आत्मकंटकों का नाशक, सिद्धमार्ग, मुक्ति-
मार्ग, नियमिण मार्ग, निर्वाण मार्ग, अविथ = मिथ्याभाव से रहित, असन्दिग्ध और सर्वदुःख-प्रदाण मार्ग है—जिसमें
स्थित जीव सिद्ध होते हैं, बुद्ध होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिर्वाण पाते हैं और सभी दुःखों का अन्त करते हैं—ऐसे उम
(निर्ग्रन्थ प्रवचन) को आज्ञा के अनुमार हम चर्चें, ठहरें बैठें, सोयें खायें बोलें सावधानी से रहें और उत्थान के
लिए उठें—सभी प्राण, भूत, जीव और सत्त्व के संयम से (अपने को) संयमित करें क्या वे ऐसा कर सकते हैं ।

हाँ कह सकते हैं ?

क्या तथा प्रकार (व्यक्तियों) को दीक्षित, मुण्डित, शिक्षित और (मोक्ष मार्ग में) उपस्थित कर सकते हैं ? हाँ !
कर सकते हैं ।

क्या सब जीवों की हिंसा से निवृत्त हो सकते हैं ?

हाँ ! हो सकते हैं ।

क्या वे कुछ समय श्रमण रहकर, पुनः गृहस्थ बन जाते हैं ?

हाँ ! कई बन जाते हैं ।

क्या उस समय उनका (लिया हुआ) प्राणीघात का प्रत्याख्यान टिक सकता है ?

नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है ?

वह वही है, जिसके पहले हिंसा का त्याग नहीं था। फिर हिंसा से निवृत्त था और अब सब प्राणियों की हिंसा से निवृत्त नहीं है। क्योंकि पहले वह असंयति था, फिर संयति हुआ और अब असंयति है। असंयति की जीव-हिंसा की प्रवृत्ति बन्द नहीं होती है। यह समझिए और निर्ग्रन्थों! यही समझना योग्य है।

(ग) भगवं च णं उदाहु णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! णियंठा ! इह खलु परिव्वायया वा परिव्वाइयाओ वा अण्णयरेहिंतो तिस्थयतणेहिंतो आगम्म धम्मस्सवणवत्तियं उवसंकमेज्जा ? हंता उवसंकमेज्जा ।

किं तेसिं तहप्पगाराणं धम्मे आइक्खियव्वे ? हंता आइक्खियव्वे ।

किं ते तहप्पगारं धम्मं सोच्चा णिसम्म एवं वएज्जा—इणमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं अणुत्तरं केवलियं पडिपुणं णेयाउयं मंसुद्धं सल्लणत्तणं सिद्धिमग्गं मुत्तिमग्गं णिज्जाणमग्गं णिव्वाणमग्गं अवितहं असंदिद्धं सव्वदुक्खप्पहीणमग्गं ।

एत्थठियाजीवा सिज्झंति बुज्झंति, मुच्चंति परिणिव्वंति सव्वदुक्खाणमंतं करेति । इमाणाए तहा गच्छामो तहा चिट्ठामो तहा णिसीयामो तहा तुयट्ठामो तहा भुजामो तहा भासामो तहा अब्भुट्ठेमो तहा उट्ठाए उट्ठत्ता पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं संजमेणं संजमामो मि वएज्जा । हंता वएज्जा ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति पव्वावेत्तए ? हंता कप्पंति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति मुंडावेत्तए ? हंता कप्पंति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति सिक्खावेत्तए ? हंता कप्पंति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति उवट्ठावेत्तए ? हंता कप्पंति ।

किं ते तहप्पगारा कप्पंति संभुजित्तए ? हंता कप्पंति ।

ते णं एयारूवेणं विहारेणं विहरमाणा जायवासाइं चउपंचमाइं छइसमाइं वा अप्पयरो वा भुज्जयरोवा देसं दूइज्जित्ता अगारं वएज्जा ?

हंता वएज्जा ।

ते णं तहप्पगारा कप्पंति संभुजित्तए ? णो इणट्ठे समट्ठे ।

से जे से जीवे जे परेणं णो कप्पंति संभुजित्तए ? से जे से जीवे जे आरेणं कप्पंति संभुजित्तए ।

से जे से जीवे जे इयाणि णो कप्पंति संभुजित्तए । परेणं अस्समणे, आरेणं समणे, इयाणि

अस्समणे । अस्समणेणं सद्धिं णो कप्पंति समणाणं णिग्गंथाणं संभुजित्तए । सेवमायाणह

णियंठा । सेवमायाणियव्वं ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू १६

भगवान् गौतम—आयुष्मान निर्ग्रन्थ ? जो निर्ग्रन्थ धर्म पृच्छा के योग्य होते हैं, उनके पास परिव्राजक, परिव्राजिका या कोई भी अन्यतीर्थी होकर (भी) धर्म सुनने के लिए आ सकते हैं ?

हाँ आ सकते हैं ।

क्या उ हैं धर्म-उपदेश देना चाहिए ?

हाँ ? देना चाहिए ।

क्या वे दीक्षित-धर्म में उपस्थित किये जा सकते हैं ?

हाँ ! किये जा सकते हैं ।

क्या वे तथा प्रकार [व्यक्ति] संभोग—साधुओं की पारस्परिक व्यवहार-क्रिया के योग्य हैं ?

हाँ ! योग्य है ।

उनमें से कोई दीक्षा छोड़कर पुनः गृहस्थ बन जाते हैं क्या ?

हाँ ! बन सकते हैं ।

तो वे तथा प्रकार [व्यक्ति] संभोग के योग्य रहते हैं ?

नहीं ! ऐसा नहीं हो सकता है ।

वह वही जीव है जो पहले संभोग के योग्य नहीं थे । फिर बाद में संभोग के योग्य थे और अब संभोग के योग्य नहीं रहे; क्योंकि पहले वे अश्रमण थे, फिर श्रमण बने और अब अश्रमण है । अश्रमण के साथ श्रमण का संभोग नहीं हो सकता—यह समझिये और निर्ग्रन्थ ! यही समझना योग्य है ।

[इन उदाहरणों के समान ही त्रस स्थावर जीवों के बारे में समझिये ।]

.१० प्रत्याख्यान—विषय-उपदर्शन—

(क) भगवं च णं उदाहु—णियंठा खलु पुच्छियव्वा—आउसंतो ! णियंठा ! इह खलु संतेगइया समणोवासगग्ग भवन्ति । तेसिंच णं एवं दुत्तपुव्वं भवइ - णो खलु वयं संचाएमो मुंडाभवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए, वयं णं चाउइसट्टमुद्धिट्टुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरिस्सामो । 'थूलगं पाणाइवायं पच्चक्खाइस्सामो, एवं थूलगं मुमावायं थूलगं अदिण्णादाण थूलगं मेहुणं थूलगं परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो, इच्छापणिमाणं करिस्सामो दुविहं तिविहेणं ।

मा खलु ममट्टाए किंचि वि करेह वा कारवेह वा तत्थ वि पच्चक्खाइस्सामो । ते णं अभं च्चा अपिच्चा असिणाइत्ता आसंदीपेठियाओ पच्चोरुहित्ता ते तह कालगया किं वत्तव्वं सिया । सम्मं कालगय त्ति वत्तव्वं सिया ।

ते पाणा वि वुच्चन्ति, ते तसावि वुच्चन्ति ते महाकाया, ते चिग्गट्टिइया । ते बहुत्तग्गा पाणाजेहिं समणोवासगग्गस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगग्गस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्टियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एयं वयह—'णत्थिणं से केइ परियाए जंसि समणोवासगग्गस्स एगपाणाएवि दंडे णिक्खित्ते ।' अयंपि 'भे उवएसे' णो जेयाए भवइ ॥

—सूय० श्रु २/अ ७/सू २०

भगवान् गौतम—कई श्रमणोपासक होते हैं—(उनमें से कोई) उनसे (निर्ग्रन्थों से) इस प्रकार (प्रतिज्ञा लेने के लिए] कहते हैं—हम इतने समर्थ नहीं है कि मुण्डन होकर, गृहस्थ से अनगार हो सकें । पर इस पर्व तिथियों के दिन परिपूर्ण पौषध का सम्यग् प्रकार से अनुपालन करेंगे । स्थूल प्राणातिपात, स्थूल असत्य, स्थूल चौर्य, स्थूल मैथून और स्थूल परिग्रह को त्याग देने और इच्छा का परिमाण करेंगे । [ये प्रत्याख्यान] द्विविध-त्रिविध से (= करना और कराना, मन, वचन, काया से) करूँगा । हम अपने लिए [उन दिनों में] बिना खाये, पिये और स्नान किये तथा आसन्दी पीठिका पर बिना बैठे उस अवस्था में कालगत होजायें तो क्या उन्हें सम्यक् कालगत होना चाहिए ।

हाँ, कहना योग्य है ।

अर्थात् वे देवादि होते हैं और प्राण, त्रस महाकाय व चिरञ्जीवी कहे जाते हैं और श्रमणोपासक के उनकी हिंसा के त्याग हैं अतः उनसे...प्रत्याख्यान से रहित हुआ -जो तुम बताते हो—यह तो न्यायसंगत नहीं है ।

(ख) भगवं च उदाहु णियंठा खलु पुच्छियत्वा—आउसंतो ! णियंठा ! इहखलु संतेगइया समणो-वासगा भवन्ति । तेसिं च णं एवं वुत्तापुव्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडाभवित्ता अगाराओ अणगारियं पठवइत्ताए, णो खलु वयं संचाएमो चाउइसट्टमुद्दिट्ठपुण्णमासिणीसु पडिपुण्णं, पोसहं सम्मं अणुपालेमाणा विहरित्ताए । वयं णं अपच्छिममारणंतियसंलेहणाञ्जुसणाञ्जुसिया भत्तापाणप-डियाइविखया कालं अणवकं वमाणा विहरिस्सामो । सव्वं पाणाइवार्यं पच्चक्खाइस्सामो, एवं सव्वं मुसावार्यं सव्वं अदिण्णाद णं सव्व मेहुणं सव्व परिग्गहं पच्चक्खाइस्सामो 'तिविहं' तिविहेणं मा खलु ममट्ठाए किंचिविकरेइवा कारवेह वाकरंतं समणुजाणेह वा तत्थपि पच्चक्खाइस्सामो । तेणं अभोच्चा अपित्त्वा असिणाइत्ता आसं दीपेटियाओ पच्चोऋहिता ते तह कालगया किं वत्तव्वं सिया ?

सम्मं कालगय त्ति वत्तव्वं सिया ।

ते पाणा वि वुत्तन्ति, ते तमा वि वुत्तन्ति, ते महाकाया, चिरट्टिइया । ते बहुतरगा पाण । जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अणो वा एवं वयह—“णत्थि णं से केइ परियाए जसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिकिखत्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ५/सू २१

भगवान् गौतम कई श्रमणोपासक निर्ग्रन्थों से कहते हैं कि हम न दीक्षित होनेमें समर्थ हैं औरत हममें श्रावकके व्रत पालने की सामर्थ्य है । (अब यही इच्छा है कि) हम अन्तिम मरण समयकी संलेखना में आत्मा को लगाकर भत्ता-पान का त्याग करके मरण को वाञ्छा नहीं करते हुए रहेंगे । पूर्णतः हिंसा से लगाकर पूर्णतः परिग्रहतकका त्रिविध-त्रिविध प्रत्याख्यान करेंगे । वे ऐसा ही करते हैं । उन तथा कालगत को क्या सम्यक् कालगत कहना योग्य है ।

हाँ योग्य है । अर्थात् वे देवादि होते हैं । तब वे त्रसही कहेजाते हैं और त्रसजीव की हिंसाके श्रमणोपासक की त्यागहै ही । अतः उन के लिये, एकभी प्राणीकी हिंसासे रहित अवस्था नहीं बताना युक्ति-युक्त नहीं है ।

(ग) भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—महिच्छा महारंभा महापरिग्गहा अहम्मिया अधम्माणया अधम्मिट्ठा अधम्मकखाई अधम्मपापजीविणो अधम्मपलोइणो अधम्मपलज्जणा अधम्म-सील-समुदाचारा अधम्मणेण चेष वित्ति कप्पेमाणा विहरंति, 'हण' छिंद, भिंद विगत्तगा लोहिय-पाणी चंडा रुद्धा खुद्धा साहसिया उक्कचण-वंचण-माया-णियडि-कूड-कवड-साइसपओगवहुत्ता दुस्सीला दुब्बया दुप्पडियाणंदा असाहू । सव्वाओ पाणाइवायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ मुसावायाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ अदिण्णादाणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ मेहुणाओ अप्पडिविरया जावज्जीवाए सव्वाओ परिग्गहाओ अप्पडिविरया ज.वज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिकिखत्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता भुज्जो सगसादाए दोग्गइगामिणो भवंति ।

ते पाणावि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठइया । ते बहुत्तरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चकवायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिकिखत्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ७/सू २२

भगवान् गौतम—कई मनुष्य महेच्छ, महाहिंसक, महापरिग्रही, अधार्मिक, दुष्परिचरित होते हैं अतः पूरी तरह से जीवन भर तक परिग्रह आदि से अप्रतिविरत रहते हैं । श्रमणोपासक के मृत्युपर्यन्त (त्रस होने से) उमकी हिंसा के त्याग हो जाते हैं । वे अधार्मिक पुरुष आयुष्य पूर्ण कर लेते हैं और यहां से अपने पाप कर्म को साथ लेकर दुर्गति (नरक) में चले जाते हैं । तब भी त्रस कहे जाते हैं । जिनकी हिंसा से श्रमणोपासक निवृत्त होते हैं । अतः तुम्हारा कथन युक्तियुक्त नहीं है ।

(घ) भगवं च उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहाअणारंभा अपरिग्गहा धम्मिया धम्माणया धम्मिट्ठा धम्मकखाई धम्मपलोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मणेण चेष वित्ति कप्पेमाणा विहरंति । सुसीला, सुब्बया सुप्पडिय णंदा सुसाहू ।

सव्वाओ पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, सव्वाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिकिखत्ते, ते तओ आउगं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता ते तओ भुज्जो सगमयाए सोग्गइगामिणो भवंति । ते पाणावि वुच्चंति जाव णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू २३

भगवान् गौतम—कई मनुष्य अहिंसक, अपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुगामी यावत् आजीवन पूर्णतः परिग्रह से प्रतिविरत होते हैं—जिनकी हिंसा श्रमणोपासक से आदानशः छूट जाती है । वे धार्मिक व्यक्ति आयुष्यपूर्ण करके सद्गति (देवगति) में जाते हैं । अतः वहां भी प्राण त्रम कहे जाते हैं । उन प्राणियों को श्रावकव्रत ग्रहण के दिन से लेकर मृत्यु पर्यन्त दण्ड नहीं देता है अतः श्रावक का व्रत सविषय है निर्विषय नहीं है ।

(च) भगवं च णं उदाहु-संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा-अप्पिच्छा अप्पारंभा अप्पपरिग्गहा धम्मिया धम्मणुया धम्मिद्वी धम्मक्खाई धम्मप्लोई धम्मपलज्जणा धम्मसमुदायारा धम्मणं चैव वित्ति कप्पेमाणा विहरंति, सुसीला सुव्वया सुप्पडियाणंदा सुसाहू ।

एगच्चाओ पाणाइयाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया । एगच्चाओ मुसावायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया ।

एगच्चाओ अदिण्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया । एगच्चाओ मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया । एगच्चाओ परिग्गहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाओ अप्पडिविरया ।

जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते । ते तओ आउगं विप्पज्जहंति, विप्पज्जहिता ते तओ भुज्जो सगमादाए सोग्गइगामिणो भवंति ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति ते महाकाया, ते चिरट्टिइया । ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठयस्स पडिविरयस्स जणंतुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—“णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते ।” अयंपि भे उवएसे णो णेयाउणभवइ । सूय० श्रु २अ७/ सू २४

कई मनुष्य अल्पेच्छ, अल्पहिंसक, अल्पपरिग्रही, धार्मिक, धर्मानुगामी यात्रत एक अंश से परिग्रही से अप्रतिविरत होते हैं—जिनकी हिंसा के श्रमणोपामक के त्याग होते हैं । वे वहाँ से आयुष्णपूर्ण करते हैं । सङ्गतिगामी होते हैं । जहाँ वे त्रस कहे जाते हैं । अतः ध्रात्रक के व्रत को निर्विषय बगाना न्यायसंगत नहीं है ।

(छ) भगवं च णं उदाहु—संतेगइया मणुस्सा भवंति, तंजहा—आरणिणया आवसहिया गामंतिया कण्हुईरहसिया—जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ—णो बहुसंजया णो बहुपडिविरया सव्वपाणभूयजीवसत्तेहिं अप्पणा सच्चासोसाइं एवं विउंजंतिअहंणं हंतव्वो अण्णे हंतव्वा । अहं ण अज्जावेयव्वो अण्णे अज्जावेयव्वा, अहंण परिघेतव्वो अण्णे परिघेतव्वा, अहं ण परितावेयव्वो अण्णे परितावेयव्वा, अहं ण उद्वेयव्वो अण्णे उद्वेयव्वा ।

एवामेव ते इत्थिकामेहिं मुच्छिया गिद्धा गट्ठिया अज्जोववण्णा जाव वासाइं चउपंचमाइं छद्दसमाइं अप्पयररो वा भुज्जयररो वा भुजित्तु भोगभोगाइं कालमासे कालं किच्चा अण्णयराइं आसुरियाइं किट्ठिसियाइं, ठाणाइं उववत्तारो भवंति । तओ वि विप्पमुच्चमाणा भुज्जो एलमूयत्ताए तमोरूवत्ताए पच्चायंति ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसावि वुच्चंति, ते महाकाया । ते चिरट्टिइया, ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं

भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एव वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ । —सूय० श्रु २/अ ७/सू २५

कई मतुष्य आरण्यक, पर्णकुटीवासी, ग्रामान्तिक, (= ग्राम के समीप के वासी या भ्रमणशील) या रहस्यसाधक होते हैं - जिनसे श्रमणोपासक की हिंसा-प्रवृत्ति हट जाती है । जो बहुसंयत नहीं होते हैं, बहुत प्रतिविरत नहीं होते हैं । जो मनगढन्त झूठ सच बातें इस प्रकार कहते हैं—हम नहीं—दूसरे हनने योग्य हैं । वे यथा समय मरकर अन्यतर असुर या कलिवषी आदि में उत्पन्न होते हैं और वहां से निकलकर पुनः बकरे की तरह गूक और अन्धे होते हैं ! तब भी वे त्रस कहे जाते हैं । अतः श्रावकों के व्रत को निर्विषय बनाना न्यायसंगत नहीं है ।

(ज) भगवं च उदाहु—संतैगइया पाणा दीहाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ । ते पुब्बामेव कालं करेति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति । ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरिद्विइया, ते दीहाउया । ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णोवा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते ।

अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७ सू २६

कई प्राणी [श्रमणोपासक से] दीर्घायुष्य होते हैं—जिनसे उसने अपने हिंसात्मक आदान-प्रवृत्ति को हटाली है । और जिनसे पहले ही वह [श्रमणोपासक] कालकर जाते हैं । कालकरके पारलौकिकता के लिए चले जाते हैं । (इसके बाद भी) वे (दीर्घायुषी प्राणी) त्रस ही कहे जाते हैं ।

वे महान् शरीर वाले हैं और चिरकाल की स्थिति वाले और दीर्घ आयु वाले एवं बहुत संख्या वाले हैं । इसलिए श्रमणोपासक का व्रत उनकी अपेक्षा से सुप्रत्याख्यान होता है अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बनाना उचित नहीं है ।

(झ) भगवं च उदाहु—संतैगइया पाणा समाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ । ते सममेव कालं करेति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति । ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते समाउया, पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

भगवं च उदाहु—संतेगइया पाणा अप्पाउया, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते भवइ । ते पुत्रामेव कालं करेति, करेत्ता पारलोइयत्ताए पच्चायंति ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते अप्पाउया । ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चकखायं भवइ । ते अप्परगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चकखायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्टियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णोवा एवं वयह—“णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ७/ सू २७-२८

कई प्राणी (उनके) सम आयुष्य वाले होते हैं । वे उनके (श्रमणोपासक के) समकाल में ही काल करते हैं । वे त्रस कहे जाते हैं । सम-आयुष्यवाले प्राणी बहुतर होते हैं जिनमे श्रमणोपासक के सुप्रत्याख्यान होते हैं । इसलिए श्रावक के प्रत्याख्यान को निविषय बताना न्यायसंगत नहीं है ।

कई जीव अल्प आयुष्य वाले होते हैं—जिनसे उसने अपने हिंसात्मक आदान-प्रवृत्ति को हटाली है और जिनसे पहले ही वह (श्रमणोपासक) काल कर जाते हैं काल करके पारलौकिकता के लिए चले जाते हैं । (इसके बाद भी) वे (अत्यायुषी प्राणी) त्रस ही कहे जाते हैं और ऐसे प्राणी बहुतर है जिनसे श्रमणोपासक के सुप्रत्याख्यान होते हैं । इसलिये श्रावक के प्रत्याख्यान को निविषय बताना न्यायसंगत नहीं है ।

•११ नव भंगी प्रत्याख्यान—

भगवं च उदाहु—संतेगइया समणोवासगा भवंति । तेसिं च णं वुत्तपुठ्वं भवइ—णो खलु वयं संचाएमो मुंडा भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइत्तए । णो खलु वयं संचाएमो चाउहसट्ठ-मुद्धिट्ठपुण्णमसिणीसु पडिपुण्णं पोसहं अणुपालित्तए । णो खलु वयं संचाएमो अपच्छिद्धमसारणं-तियसंलेहणाञ्जुसणाञ्जुसिया भत्तगणपडियाइक्खिया कालं अणवकं खमाणा विहरित्तए । वयं णं सामाइयं देसावगासियं-पुरस्था पाईणं पडीणं दाह्णिणं उदीणं एतावताव सव्वपाणेहिं सव्वभूएहिं सव्वजीवेहिं सव्वसत्तेहिं दंडे णिक्खित्ते पाणभूयजीवसत्तेहिं खेमंकरे अहमंसि ।

•१—तत्थ आरेणं जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेतओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहत्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चकखायं भवइ ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्टिइया । ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चकखायं भवइ । ते अप्परगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चकखायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्टियस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णो वा एवं वयह—“णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते ।” अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू २६

कई श्रमणोपासक निग्रन्थों से कहते हैं कि—हममें यह सामर्थ्य नहीं है कि दीक्षित हो सकें। श्रावक के व्रत पालन कर सकें या संलेखना कर सकें। पर सामायिक व पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं की प्रतिदिन मर्यादा करके, उसके बाहर सब प्राणियों की हिंसा करना छोड़ देंगे और सब प्राण, भूत, जीव और सत्त्व पर क्षेत्र करनेवाले होकर रहेंगे। यदि मर्यादित भूमि के अन्दर के व्रस जीव—जिनकी हिंसा करना श्रमणोपासक ने जीवन भर के लिए छोड़ दी है—आयु पूर्ण करते हैं मर्यादित भूमि के अन्दर ही व्रस रूप से उत्पन्न होते हैं, तो श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान उनमें सुप्रत्याख्यान होता है। वे प्राणी भी कहलाते हैं तथा व्रस भी कहनाते हैं अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

.२—तत्थ आरेणं जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहत्ति तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्टाए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्टाए दंडे णिक्खित्ते।

ते पाणा वि बुच्चंति, ते तसा वि बुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविगयस्स जं णं तुढ्भे वा अण्णो वा एवं वयह—“णत्थि णं से केइ परियाए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते।” अयंपि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू २६

मर्यादित भूमि के अन्दर जो व्रस जीव हैं—जिनकी हिंसा करने का श्रमणोपासक ने जीवन भर के लिये त्याग कर दिया है—वे आयु पूर्ण करते हैं और काल करके उन स्थावर प्राणियों में उसी भूमि में उतान्न होते हैं—जिनकी सप्रयोजन हिंसा का श्रमणोपासक ने त्याग नहीं किया है और निष्प्रयोजन हिंसा का त्याग किया है अतः उनको सप्रयोजन हिंसा उनके द्वारा होती है और निष्प्रयोजन हिंसा नहीं होती। उन (स्थावर प्राणियों) को (व्रसभू शब्द नहीं होने से) व्रस कहते हैं—यावत् यह कथन योग्य नहीं है।

अर्थात् वे प्राणी भी कहलाते हैं और व्रस भी कहलाते हैं वे चिरकाल तक स्थित रहते हैं उन्हें श्रावक—दंड नहीं देता है अतः श्रावक ने व्रत को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है।

.३—तत्थ ‘आरेणं जे’ तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजत्ति तत्थ आरेणं चेव जे तसा थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते। तेसु पच्चायंति। तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ।

ते पाणा वि बुच्चंति, ते तसावि बुच्चंति, ते महाकाया, ते चिरट्ठिइया। ते बहुतरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ। ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ। से महया तसकायाओ उवसंतस्स उवट्ठियस्स पडिविगयस्स जं णं तुढ्भे वा अण्णो वा एवं

वयह—‘णत्थि णं से केइ परिआए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दण्डे णिक्खित्ते । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।
—सूय० श्रु २/अ७/सू २६

वहां सभी प्रदेश में रहनेवाले जो त्रस प्राणी हैं जिनको श्रावकों ने व्रत ग्रहण के दिन से लेकर मरणपर्यंत दंड देना त्याग दिया है वे अपनी उस आयु को त्याग कर उस देश के दूरवर्ती देश में रहनेवाले जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं जिनको दंड देना श्रावक ने व्रत ग्रहण के दिन से मरणपर्यंत छोड़ दिया है उनमें उत्पन्न होते हैं । उन प्राणियों में श्रमणोपासक का प्रत्याख्यान चरितार्थ होता है वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं उन्हें श्रावक दंड नहीं देता है अतः श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है ।

•४ तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते । ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहिंत्ता तत्थ आरेणं चेव जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति । तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ।

ते पाणा वि वुच्चंति, ते तसा वि वुच्चंति, से महाकाया, ते चिरट्ठइया । ते बहुयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ । ते अप्पयरगा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अपच्चक्खायं भवइ । से महया तसकायाओ उवसंतस्ससं उवट्ठयस्स पडिविरयस्स जं णं तुब्भे वा अण्णोवा एवं वयह—‘णत्थि णं से केइ परिआए जंसि समणोवासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते’ । अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।
—सूय० श्रु २/अ ७/सू २६

मर्यादित भूमि के अन्दर के जो स्थावर जीव है—जिनकी श्रमणोपासक ने सप्रयोजन हिंसा नहीं छोड़ी है किन्तु निष्प्रयोजन हिंसा छोड़ी है—वे मर्यादित भूमि में त्रस रूप से उत्पन्न हों । अर्थात् वे उस आयु को त्याग कर वहां समीप देश में जो त्रस प्राणी हैं जिनको श्रमणोपासक ने व्रत ग्रहण करने के दिन से लेकर मरणपर्यंत दंड देना वर्जित किया है उनमें आकर उत्पन्न होते हैं उनमें श्रमणोपासक का सुप्रत्याख्यान होता है वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः उसके अभाव के कारण श्रावकों के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है ।

•५ तत्थ आरेणं जे थ वरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहिंत्ता ते तत्थ आरेणं चेव जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति । तेहिं समणोवासगस्स अट्ठाए दण्डे अणिक्खित्ते अणट्ठाए दण्डे णिक्खित्ते ।
ते पाणावि जाव अयं पि भेउवए णो णेयाउए भवइ ।
—सूय० श्रु २/अ ७/सू २६

मर्यादित भूमि के अन्दर के स्थावर प्राणी जिनकी श्रमणोपासक ने सप्रयोजन हिंसा नहीं छोड़ी—किन्तु निष्प्रयोजन हिंसा छोड़ी है—वे स्थावर प्राणी अपनी उस आयु को त्याग करके वहां जो समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं जिन्हें श्रावक ने प्रयोजनवश दंड देना नहीं छोड़ा है परन्तु बिना प्रयोजन दंड देना छोड़ दिया—उनमें उत्पन्न होते हैं । उन्हें श्रमणोपासक प्रयोजनवश तो दंड देता है परन्तु बिना प्रयोजन नहीं देता है । इसलिए श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय बताना न्याययुक्त नहीं है ।

६ तत्थ परेणं जे थावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स अट्टाए दंडे अणिक्खित्ते अणट्टाए दण्डे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ परेणं चेव जे तसा थावरा पाणा, जेहिं समणोवास-गस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति । तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ।

ते पाणा वि जाव अयं पि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २अ७/सू २६

वहां जो मर्यादित भूमि के बाहर स्थावर प्राणी है जिनको श्रावक ने अर्थ दण्ड देना नहीं छोड़ा है किन्तु अनर्थ दण्ड देना छोड़ दिया है । वे उस शरीर की आयु को छोड़ देते हैं, छोड़कर वहां से दूर देश में जो त्रस-स्थावर प्राणी है जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण के दिन से मरण पर्यंत दण्ड देना वर्जित किया है । उनमें उत्पन्न होते हैं । जिनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं अतः श्रावक के व्रत को निविषय कहना न्यायसंगत नहीं है ।

७ तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दंडे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे तसा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति । तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ।

ते पाणा वि जाव अयंपि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू २६

मर्यादित भूमि के बाहर जो त्रस-स्थावर प्राणी है—जिनकी हिंसा करने के श्रमणोपासक के आमृत्यु त्याग हैं । वे जीव आयु समाप्त करते हैं और काल करके मर्यादित भूमि के उन त्रस प्राणियों, में उत्पन्न हो जाते हैं—जिनकी हिंसा मृत्यु पर्यन्त श्रमणोपासक ने छोड़ दी है । अर्थात् उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी भी कहे जाते हैं और त्रस भी कहे जाते हैं अतः श्रावक के व्रत को निविषय बताना न्यायसंगत नहीं है ।

८ तत्थ परेणं जे' तसथावरा पाणा जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहित्ता तत्थ आरेणं जे थावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स अट्टाए दण्डे अणिक्खित्ते अणट्टाए दण्डे णिक्खित्ते, तेसु पच्चायंति । तेहिं समणोवासगस्स सुपच्चक्खायं भवइ ।

ते पाणा वि जाव अयंपि भे उवएसे णोणेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु -/अ ७/सू २६

वहां जो वे त्रस और स्थावर प्राणी हैं श्रावक के द्वारा ग्रहण किये हुए देश परिमाण से अन्य देशवर्ती है जिनको श्रावक ने व्रतारम्भ से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना छोड़ दिया है वे उस आयु को छोड़ देते हैं और जो छोड़कर वहां जो समीपवर्ती स्थावर प्राणी हैं जिनको श्रावक ने अर्थ दण्ड देना नहीं छोड़ा है किन्तु अनर्थ दण्ड देना छोड़ दिया है । उनमें वे उत्पन्न होते हैं जिनको श्रावक अर्थ दण्ड देना नहीं छोड़ता है किन्तु अनर्थ दण्ड देना छोड़ देता है वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं इसलिए श्रावक के व्रत को निविषय कहना न्यायसंगत नहीं है ।

.६ तत्थ परेणं जे तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवासगस्स आयाणसो आमरणंताए दण्डे णिक्खित्ते, ते तओ आउं विप्पजहंति, विप्पजहिंत्ता ते तत्थ परेणं चेव जे तसथावरा पाणा, जेहिं समणोवास-गस्स सुपत्त्वक्खायं भवइ ।

ते पाणा वि जाव अयंपि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७ सू २६

उस समय जो त्रस और स्थावर प्राणी श्रावक के द्वारा ग्रहण किये हुए देश परिमाण से अन्य देशवर्ती हैं जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना छोड़ दिया है । वे उस आयु को छोड़ देते हैं और छोड़कर वे श्रावक के द्वारा ग्रहण किये हुए देश परिमाण से अन्य देशवर्ती जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं जिनको श्रावक ने व्रत ग्रहण से लेकर मरण पर्यन्त दण्ड देना छोड़ दिया है उनमें उत्पन्न होते हैं—जिनमें श्रावक का प्रत्याख्यान होता है । वे प्राणी भी कहलाते हैं और त्रस भी कहलाते हैं । अतः श्रावक के व्रत को निर्विषय बताना न्यायसंगत नहीं है ।

अर्थात् मर्यादित भूमि से बाहर के त्रस-स्थावर प्राणी उसी भूमि के त्रस-स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं—जिनकी हिंसा को उसने मृत्यु पर्यन्त छोड़ दी है—तो उनमें उसके सुप्रत्याख्यान होते हैं ।

.१२ त्रस-स्थावर प्राणियों का अविच्छिन्न—

भगवं च णं उदाहु—ण एयं भूयं ण एवं भंठवं 'ण एयं भविस्सं । जण्णं तसा पाणा वोच्छिज्जिहिंति, थावरा पाणा भविस्संति । थावरा पाणा वोच्छिज्जिहिंति, तसा पाणा भविस्संति । अवोच्छिण्णेहिं तसथावरेहिं पाणेहिं जण्णं तुळ्मे वा अण्णोवा एवं वदह—'णत्थिणं से केइ परियाए जंसि समणो-वासगस्स एगपाणाए वि दंडे णिक्खित्ते । अयंपि भे उवएसे णो णेयाउए भवइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७ सू ३०

भगवान् गौतम — (आयुष्मान् ?) इसलिए यह न कभी हुआ, न कभी होता है और न कभी होगा कि सभी त्रस (= जंगम) प्राणी मिट जायं और स्थावर प्राणी हो जायं या स्थावर प्राणी मिट जायं सब जंगम प्राणी हो जायं !

त्रस-स्थावर प्राणियों के अविच्छिन्न होने पर भी जो तुम या और दूसरे कोई ऐसा कहते हो कि—कोई ऐसी पर्याय नहीं है जिसमें श्रमणोपासक के सुप्रत्याख्यान हो सके—यह कथन युक्तिपंगत नहीं है ।

व्याख्या—इस सूत्र के नौ भागों की इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए ।

१—श्रावक ने जितने देश की मर्यादा ग्रहण की है । उतने देश के अन्दर जो त्रस-स्थावर प्राणी निवास करते हैं वे जब मरकर उसी देश में फिर त्रस-योनि में उत्पन्न होते हैं—तब वे श्रावक के प्रत्याख्यान के विषय होते हैं अतः श्रावक के प्रत्याख्यान को निर्विषय कहना ठीक नहीं है । यह इस सूत्र के पहले भाग का आशय है ।

इस सूत्र के दूसरे भाग का तात्पर्य यह है कि—श्रावक ने जितने देश की मर्यादा ग्रहण की है उतने देश के अन्दर रहनेवाले त्रस प्राणी त्रस शरीर को छोड़कर उसी क्षेत्र में स्थावर योनि में आत्म ग्रहण करते हैं तब श्रावक उनको अनर्थ दण्ड देना वर्जित करता है । इस प्रकार उसका प्रत्याख्यान सविषयक होता है, निर्विषयक नहीं होता ।

तीसरे भाग का भाव यह है कि—श्रावक ने जितने देश की मर्यादा ग्रहण की है उसके अन्दर निवास करनेवाले जो त्रस प्राणी हैं । वे जब उस मर्यादा से बाह्य देश में त्रस-स्थावर योनि में उत्पन्न होते हैं । तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के चौथे भाग का भाव यह है कि—श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा के अन्दर रहनेवाले जो स्थावर-प्राणी हैं वे मरकर उस मर्यादा के अन्दर जब त्रस योनि में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के पाँचवें भाग का सार यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा के अन्दर रहनेवाले जो स्थावर प्राणी हैं वे मरकर जब उसी देश में रहनेवाले स्थावर जीवों में उत्पन्न होते हैं तब उनको अनर्थ दण्ड देना श्रावक वजित करता है ।

इस सूत्र के छठे भाग का तात्पर्य यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहनेवाले जो स्थावर प्राणी हैं वे जब उस मर्यादा के अन्दर रहनेवाले त्रस और स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र के सप्तम भाग का अभिप्राय यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहनेवाले त्रस और स्थावर प्राणी जब उसी मर्यादा के अन्दर रहनेवाले त्रस प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इस सूत्र का आठवें भाग का अभिप्राय यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहनेवाले त्रस-स्थावर प्राणी जब उस मर्यादा के अन्दर रहनेवाले स्थावर प्राणियों में उत्पन्न होते हैं तब श्रावक उन्हें अनर्थ दण्ड देना वजित करता है ।

इस सूत्र के नववें भाग का भाव यह है कि श्रावक के द्वारा ग्रहण की हुई मर्यादा से बाहर रहनेवाले त्रस-स्थावर प्राणी जब मर्यादा से बाहर देश में ही त्रस और स्थावर रूप में उत्पन्न होते हैं तब उनमें श्रावक का सुप्रत्याख्यान होता है ।

इसी प्रकार प्रथम भाग से लेकर नौ ही भाग की व्याख्या करनी चाहिए परन्तु जहाँ-जहाँ त्रस प्राणियों का ग्रहण है वहाँ सर्वत्र व्रत ग्रहण के समय से लेकर मरण पर्यन्त उन प्राणियों को श्रावक दण्ड नहीं देता है—यह तात्पर्य जानना चाहिए । और जहाँ स्थावर का ग्रहण है वहाँ श्रावक के द्वारा अनर्थ दण्ड वजित करना समझना चाहिए । शेष अक्षरों की योजना अपनी बुद्धि के अनुसार कर लेनी चाहिए । इस प्रकार बहुत दृष्टान्तों के द्वारा श्रावक के व्रत को सविषय होना सिद्ध करके अब भगवान् गौतम स्वामी उदक के प्रश्न को ही अत्यन्त असंगत बतलाते हैं—भगवान् गौतम उदक से कहते हैं कि हे उदक ! पहले व्यतीत हुए अनन्त काल में ऐसा कभी नहीं हुआ तथा अनागत अनन्त काल में ऐसा कभी नहीं होगा एवं वर्तमान काल में ऐसा नहीं हो सकता है कि सभी त्रस प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सभी स्थावर शरीर में ज-म ग्रहण कर लें तथा ऐसा भी नहीं हुआ है और न है कि सभी स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न हो जायँ और सभी त्रस योनि में जन्म ग्रहण कर लें ।

यद्यपि कभी त्रस प्राणी स्थावर होते हैं और स्थावर प्राणी कभी त्रस होते हैं । इस प्रकार इनका परस्पर संक्रमण होता अवश्य है परन्तु सबके सब त्रस-स्थावर हो जायँ अथवा सभी स्थावर एक ही कल में त्रस हो जायँ—ऐसा कभी नहीं होता है । ऐसा त्रिकाल में भी सम्भव नहीं है एक प्रत्याख्यान करनेवाले श्रावक को छोड़कर बाकी के नारकी द्वीन्द्रियादि तिर्यंच तथा मनुष्य और देवताओं का सर्वथा अभाव हो जायँ । उस दशा में श्रावक का प्रत्याख्यान निर्विषय

ही सकता है। यदि प्रत्याख्यानी श्रावक की जीवन दशा में ही सभी नारकी आदि त्रस प्राणी उच्छिन्न हो जायँ परन्तु पूर्वोक्त रीति से यह बात सम्भव नहीं है तथा स्थावर प्राणी अनन्त है अतः अनन्त होने के कारण असंख्येय त्रस प्राणियों में उनकी उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है—यह बात अति प्रसिद्ध है।

इस प्रकार जब कि त्रस और स्थावर प्राणी सर्वथा उच्छिन्न नहीं होते हैं तब आप तथा दूसरे लोगों का यह कहना कि 'इस जगत में ऐसा एक भी पर्याय नहीं है जिनमें श्रावक का एक त्रस के विषय में भी दण्ड देना वर्जित किया जा सके। यह सर्वथा अयुक्त है।

•१३ उपसंहार पद—

•१ भगवं च उदाहु—आउसंतो ! उदगा ! जे खलु समणं वा माहणं वा परिभासइ मित्ति मण्णइ आगमित्ता णाणं, आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए [उट्टिए ?], से खलु परलोगपल्लिमथत्ताए चिट्ठइ ।

जे खलु समणं वा माहणं वा णो परिभासइ मित्ति मण्णइ आगमित्ता णाणं आगमित्ता दंसणं, आगमित्ता चरित्तं पावाणं कम्माणं अकरणयाए [उट्टिए ?] से खलु परलोगविसुद्धीए चिट्ठइ । ॥३१॥ तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं अणाढायमाणे जामेव दिसिं पाउब्भूए तामेव दिसिं पहारेत्थ गमणाए । ॥३२॥

भगवं च णं उदाहु—आउसंतो ! उदगा ! जे खलु तहारूवस्स समणस्स वा माहणस्स वा अंतिए एगमवि आरियंधम्मियं सुवयणं सोच्चा णिसम्म अप्पणो चेव सुहमाए पडिलेहाए अणुत्तरं जोगखेमपयं लभिए समाणे सो वि ताव.तं आढाइ 'परिजाणेइवंदइ णंसइ सक्कारेइ सम्माणेइ कल्लारं मंगलं देवयं चेइयं पज्जुवासइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७/सू ३१, ३२-३३

भगवान् गौतम—आयुष्मान् उदक ! जो श्रमण-माहण की व्यर्थ निन्दा करते हैं, वे भले ही उनसे मैत्री रखते हो या पाप कर्म को निःशेष करने के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र से युक्त हों तो भी उनका वह (कर्तव्य) परलोक को बिगाड़ने के लिए ही है और जो श्रमण-माहण की व्यर्थ निन्दा नहीं करता है, उनसे मैत्री रखता है और पाप कर्मों के विनाश के लिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त है—उनके (कर्तव्य) परलोक की विशुद्धि के लिए हैं।

इस [प्रकार सुनने] के बाद उदक पेढालपुत्र भगवान् गौतम का अनादर करते हुए, जहां से आया था वहीं जाने को उद्यत हुआ। तब भगवान् बोले—आयुष्मान् उदक ! तथा भूत श्रमण या ब्राह्मण के पास से आर्य धर्म का एक भी सुवचन सुनकर-समझकर, जो सूक्ष्म प्रतिलेखन—विचार करने से उसे अपने लिए वे श्रेष्ठ योगक्षेम रूप पद—वाक्य प्राप्त कराने वाले प्रतीत होते हों तो वह व्यक्ति उनका आदर करता है, उपकार मानता है, उन्हें वन्दना-नमस्कार करता है। सत्कार-सम्मान देता है, उन्हें कल्याणकारी, मंगलकारी, देवस्वरूप समझकर उनकी पर्युपासना करता है।

•२ तए णं से उदए पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एव वयासी—एएसिणं भंते ! पदाणं पुट्ठि अण्णाणयाए अस्सवणयाए अब्बोहीए अणभिगमेणं अदिट्ठाणं अस्सुयाणं अमुयाणं अविण्णायाणं अणिज्जूढाणं अब्बोगडाणं अब्बोच्छिण्णाणं अणिसिट्ठाणं अणिवूढाणं अणुवहारियाणं एयमट्ठं णो सदहियं णो पत्तियं णो रोइयं ।

एएसिणं भंते ! पदाणं एण्हिं जाणयाए सवणयाए बोहीए अभिगमेणं दिट्ठाणं सुयाणं मुयाणं विण्णायाणं णिज्जूढाणं वोगडाणं वोच्छिण्णाणं णिसिट्ठाणं णिवूढाणं उवधारियाणं एयमट्ठं सदहामि पत्तियामि रोएमि 'एवामेयं जहाणं तुब्भे वदह ।

—सूय० श्रु २/अ ७ सू ३४

तब उदय पेढालपुत्र भगवान् गौतम से बोले भंते पहले मैं अज्ञानता अश्रवणता, अबोधि (= अप्रतीति) और अनभिगम (= अप्रवेश) से इन अदृष्ट, अश्रुत अस्मृत, अविज्ञात, अव्याकृत, (= गुरुमुख से अप्राप्त), अनिर्गूढ (= अप्रकट) अविच्छिन्न (= सम्पूर्ण, सांगोपांग), अनिशिष्ट (= विशिष्ट), अनिर्व्यूढ (= अनिर्वाहित) और अनुपधारित (= स्मृतिकोष में असंग्रहित पदों (= वाक्यों) के इस अर्थ की श्रद्धा नहीं की थी, प्रतीति नहीं की थी, और रुचि नहीं की थी । परन्तु अब जानने से, सुनने से और बोध होने से...जैसा आप कह रहे हैं उसी अर्थ की श्रद्धा, प्रतीति और रुचि करता हूँ ।

.३ तएणं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं एवं वयासी—सदहाहि णं अज्जो ! पत्तियाहि णं अज्जो ! रोएहि णं अज्जो ! एवमेयं जहा णं अम्हे वयामो ॥३४॥

तब भगवान् गौतम बोले—(वैसा ही) श्रद्धा करो आर्य ! प्रतीति करो आर्य ! रुचि करो आर्य ! जैसा हम कहते हैं । उदक पेढालपुत्र से चार महाव्रत से पांच महाव्रत रूप धर्म की निवेदन—और स्वीकार करना—

.४ तएणं से उदगं पेढालपुत्ते भगवं गोयमं एव वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अत्तिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ॥३६॥

इसके बाद उदक पेढालपुत्र बोले — भंते मैं आपके पास चार महाव्रत वाले धर्म से (अलग होकर) सप्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रत वाले धर्म को प्राप्त करके रहना चाहता हूँ ।

तएणं भगवं गोयमे उदगं पेढालपुत्तं गहाय जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ । तएणं से उदए पेढालपुत्ते समणं भगवं महावीरंतिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ, करेत्ता वंदइ णमंसइ, वंदित्ता, णमंसित्ता एवं वयासी—इच्छामि णं भंते ! तुब्भं अत्तिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरित्तए ।

अहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेहि ।

तए णं से उदए पेढालपुत्ते समणस्स भगवओ महावीरस्स अत्तिए चाउज्जामाओ धम्माओ पंचमहव्वइयं सपडिक्कमणं धम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ ।

—सूय० श्रु २/अ ७ /सू ३७, ३८

इसके बाद भगवान् गौतम उदक पेढालपुत्र को साथ में लेकर जहां महावीर स्वामी थे । वहां आये । आकर उदक पेढालपुत्र ने श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिणा—प्रदक्षिणा की । फिर वंदना-नमस्कार किया और इस प्रकार बोले—मैं चाहता हूँ—आपके पास चतुर्थात्मिक धर्म से (अलग होकर) प्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रत रूप धर्म को प्राप्त करके, विचरण करने के लिए ।

भगवान् बोले—जैसे सुख हो—वैसे करो, देवानुप्रिय ! प्रतिबंध (= विलम्ब) मत करो ।

तब उदक पेढालपुत्र श्रमण भगवान् महावीर के पास चातुर्थात्मिक धर्म से (अलग होकर), प्रतिक्रमण सहित पांच महाव्रत रूप धर्म का स्वीकार करके विचरण करने लगे ।

. ५१ गौतम गणधर के प्रश्न

जहाणंभंते ! वयं एयमट्ठं जाणामो-पासामो तहाणं अणुत्तरोववाइया वि देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति ?

हंता गोयमा ! जहाणं वयं एयमट्ठं जाणामो-पासामो तहाणं अणुत्तरोववाइया वि देवा एयमट्ठं जाणंति पासंति ।

से केणट्ठेणं जाव पासंति ? गोयमा ! अणुत्तरोववाइयाणं अणंताओ मणोदव्ववगणाओ लद्धाओ पत्ताओ अभिसमण्णागाओ भवति, तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ जाव पासंति ।

— भग० श १४/उ ७ सू ७८, ७९

हाँ गौतम ! जिस अपन दोनों पूर्वोक्त बात को जानते देखते हैं, उसी प्रकार अनुत्तरौपपातिक देव भी इस बात को जानते-देखते हैं ।

अनुत्तरौपपातिक देवों को अवधि ज्ञान की लब्धि से मनोद्रव्य की अनन्त वर्णार्थे ज्ञेय रूप से उपलब्ध है, प्राप्त है, अभिसमन्वागत हुई है । इस कारण हे गौतम ! ऐसा कहा गया है कि यावत् अनुत्तरौपपातिक देव जानते-देखते हैं ।

नोट—भगवान् के कथन से आश्वासन प्राप्त कर गौतम स्वामी ने दूसरा प्रश्न किया कि हे भगवन् ! भविष्यकाल में अपने दोनों तुल्य हो जावेंगे । यह बात आप तो केवल ज्ञान से जानते हैं और मैं आपके कथन से जानता हूँ किन्तु क्या अनुत्तरौपपातिक देव भी यह बात जानते-देखते हैं ? इस प्रश्न का आशय यह है कि अनुत्तरौपपातिक देव विशिष्ट अवधि ज्ञान के द्वारा मनोद्रव्य वर्गणा को जानते-देखते हैं । अयोगी अवस्था में अपन दोनों का निर्वाण-गमन का अनिश्चय करते हैं इस अपेक्षा से यह कहा गया है कि अपन दोनों की भावी तुल्य अवस्था रूप अर्थ को जानते और देखते हैं ।

. ५२ परिनिर्वाण के दिन—भगवान् महावीर ने गौतम गणधर को देवशर्मा को

प्रतिबोधार्थ भेजा—

एवमाख्याय समवसरणान्निर्ययौ प्रभुः । हस्तिपालनरेन्द्रस्य शुल्कशालां जगाम च ॥२१७॥

स्वामी तद्दिनयामिन्यां विदित्वा मोक्षमात्मनः । दध्यावहो गौतमस्य मयि स्नेहो निरत्ययः ॥२१८॥

स एव केवलज्ञानप्रत्यूहोऽस्य महात्मनः । स च्छेद्य इति विज्ञाय निजगादेति गौतमम् ॥२१९॥

देवशर्मा द्विजो ग्रामे परस्मिन्नस्ति सत्वया । बोधं प्राप्स्यति तद्दधेतोस्तत्रत्वं गच्छ गौतम ! ॥२२०॥

यथाऽऽदिशति मे स्वामीत्युदित्वा च प्रणम्य च । जगाम गौतममुनिस्तथाचक्रे प्रभोर्वचः ॥२२१॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३

भविष्य बाकी हकीकत कहकर श्रीवीर प्रभु समयसरण में से बाहर निकले और हस्तिपाल राजा की शुल्क (दान लेने की) शाला में गये । उस दिन (कार्तिक कृष्णा अमावस्या) की रात्रि में ही स्वयं का मोक्ष जानकर भगवान् महावीर ने विचार किया—अहो ! गौतम का स्नेह हमारे पर अत्यन्त है और वही उसको केवल ज्ञान की उत्पत्तिमें अन्तराय करता है । इस कारण उस स्नेह को हमारे से छेदन हो जाना चाहिए । ऐसा विचार कर उन्होंने गौतम को कहा—गौतम ! यहाँ से नजदीक के ग्राम में देवशर्मा नामक ब्राह्मण रहता है । वह तुम्हारे द्वारा प्रतिबोधित होगा । इसलिए तुम वहाँ

जाओ। यह सुनकर गौतम ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा हो। ऐसा कहकर गौतम वीरप्रभु को नमस्कार कर तुरन्त वहाँ गये और प्रभु का वचन सत्य किया। अर्थात् देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोधित किया।

.५३ भगवान् महावीर का परिनिर्वाण सुनकर गौतम का विलाप और केवलज्ञान

.१ गार्हस्थ्ये त्रिंशदब्दी द्विचत्वारिंशत्समा व्रत । इति द्वासप्ततिर्वर्षाण्यायुर्वीरप्रभोरभूत् । श्रीपार्श्वनाथनिर्वाणात् सार्धे वर्षशतद्वये । गते श्रीवीरनाथस्य निर्वाणं समजायत ॥ इतश्च देवशर्माणं बोधयित्वा निवृत्तवान् । शुश्राव गौतमः स्वामीनिर्वाणं सुरवार्तया ॥ गौतमस्वाम्यथोत्ताम्यंश्चिन्तयामास चेतसि । एकस्याह्नः कृते भर्त्रा किमहं प्रेषितोऽस्मि हा ! । जगन्नाथमियत्कालं सेवित्वाऽन्त न दृष्टवान् । अधन्यः सर्वथाऽस्म्येष धन्यास्ते तत्र ये स्थिताः । गौतम ! त्वं वज्रमयो वज्रादप्यधिकोऽसि वा । श्रुत्वाऽपि स्वामिनिर्वाणं शतधा यत्र दीर्यसे । यद्वाऽऽदितोपि भ्रान्तोऽहं यद्वागं राजवजिते । ममत्वं निर्ममे चास्मिन् कृतवानीदृशे प्रभौ । रागद्वेषप्रभृतयः किं चामी भवहेतवः । हेतुना तेन च त्यक्तास्तेनापि परमेष्ठिना । ईदृशे निर्ममे नाथे ममत्वेन ममाऽप्यलम् । ममत्वं सममत्वेऽपि मुनीनां न हि युज्यते । एवं शुक्लध्यानपरः क्षपकश्रेणिभाक् क्षणात् । घातिकर्मक्षयात्प्राप केवलं गौतमो मुनिः । तत्र द्वादशवत्सरीं क्षितितले भव्यान् प्रबोध्योच्चकैः । स्वामीवामलकेवलेद्विरमरैरभ्यर्चितो गौतमः । गत्वा राजगृहे पुरे क्षतभत्रोपग्राहीकर्मा । प्रभुर्भुत्वा मासमुपोषितः पद्मगादक्षीणशर्मास्पदम् । मुक्ते तत्र च पंचमो गणधरो लब्ध्वा सुधर्मप्रभुर्ज्ञानं पंचमन्वशाच्चिरतरं धर्मजनान् क्षमातले । स्मिन्नेव पुरे सुधर्मगणभृत्क्षीणाष्टकर्माक्रमा-त्तु यद्धानधरोऽपुनर्भवमगादद्वैतसौख्यपदम् ।
—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग १३/श्लो २७२ से २८२, ८४

गृहस्थ रूप में तीस वर्ष और व्रत में ब्यालीस वर्ष—ऐसे बहतर वर्ष का आयुष्य-श्री वीरप्रभु ने पूर्ण किया। श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण के २५० वर्ष व्यतीत होने के बाद श्री वीरप्रभु का निर्वाण हुआ।

यहाँ श्री गौतम गणधर देवशर्मा ब्राह्मण को प्रतिबोध प्राप्त कराकर वापस आये। फलस्वरूप मार्ग में देवों की वार्ता से प्रभु के परिनिर्वाण के समाचार सुने। वे ऊपर से उम चित्त में विचार करने लगे कि—

एक दिवस मैं निर्वाण था। यह होने पर अरे प्रभो ! मुझे किसलिए दूर भेजा ? अरे जगत्पति ! मैं इतने दिन तक आपकी सेवा की परन्तु अन्तकाल में मुझे तुम्हारे दर्शन नहीं हुए इस कारण मैं सर्वथा अधन्य हूँ। जो उस समय आपकी सेवा में उपस्थित थे उन्हें धन्य है।

अरे गौतम ! तू वास्तव में वज्रमय है अथवा वज्र से भी अधिक कठिन है कि जिससे प्रभु का निर्वाण सुनकर भी तुम्हारे हृदय में सैकड़ों ककड़े नहीं हुए। अथवा हे प्रभो ! मैं अब अक भ्रान्त हो गया कि जिससे इस निरागी और निर्मम ऐसे प्रभु में रोग और ममता रखी। वे राग और द्वेष संसार के हेतु हैं। उसका त्याग करने के लिए इस परमेष्ठी ने हमारा त्याग किया होगा। इसलिए ऐसे ममता रहित प्रभु में ममता रखनेसे हमें क्या मिला। क्योंकि मुनियों को तो ममतालु में भी ममता रखना युक्त नहीं है।

इस प्रकार शुद्ध ध्यान परायण होने से गौतम मुनि ने क्षपक श्रेणी को प्राप्त किया। इससे तत्काल घाती कर्म का क्षय होने से उनको केवल ज्ञान प्राप्त हुआ।

बाद में बारह वर्ष पृथ्वी पर विहार करके और भव्य प्राणियों को प्रतिबोध देकर केवल ज्ञान रूप अचल समृद्धि से भगवान् महावीर की तरह देवों से पूजित गौतम मुनि अन्त में राजगृही में आये। वहाँ एक मास का अनशन किया भवोपग्राही कर्मों का क्षयकर अक्षय सुख वाले मोक्ष पद को प्राप्त किया।

अस्तु गौतम स्वामी के माक्ष जाने के बाद पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी पंचम ज्ञान को प्राप्त किया। बहुत काल पृथ्वी पर विचरण कर लोगों को धर्मदेगना दो। अन्त में वे भी राजगृही नगरी पधारे और स्वयं के निर्दोष सघ से जम्बूस्वामी को स्वाधीन करके दिया।

बाद में सुषर्मा गणधर भी उसी नगर में अशेष कर्मों का क्षयकर चतुर्थ ध्यान ध्याते हुए अद्वैत सुख वाले स्थान को प्राप्त किया।

२० भगवान् महावीर के परिर्वाण के दिन गौतम गणधर को केवल ज्ञान की उपलब्धि—

(क) ततोऽस्य केवलज्ञानं श्रीगौतमगणेशिनः। प्रादुरासीत्सुशुक्लध्यानेन घात्यरिघातनात् ॥२४८॥

तत्रापि ते महेन्द्राद्याश्चक्रुः कैवल्यपूजनम्। इन्द्रभूतेर्गणैः सार्धं तद्योग्यभूमिभूतिभिः ॥२४९॥

—वीरवर्धच० अधि १६

भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के पश्चात् उत्तम शुक्ल ध्यान से घाति-कर्म-शत्रुओं के घातने से उन श्री गौतम गणधर को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ। वहाँ पर जाकर उन उत्तम देवेन्द्रों ने सर्वगण के साथ उनके योग्य भारी विभूति से इन्द्रभूति केवली के केवल ज्ञान की पूजा की।

२४ ग्यारह गणधरों के नाम (दिग्)

१ महंतो महाणाणवंतो सभूर्ई। गणी वाउभूर्ई पुणो अग्निभूर्ई।
सुधम्मो मुणिंदो कुलायास-चंदो। अणिंदो णिवंदो चरित्ते अमंदो ॥
इमी मोगि मुंडी सुओ चत्त-गावो। समुप्पण्ण - वीरंघि-राईव-भावो ॥
सया सोहमाणो तवेणं खगामो। पवित्तो सचित्तेण मित्तेयणामो ॥
सयाकंपणो णित्चलंको पहामो। विमुक्कंग-राओ रई-णाह-णासो ॥
इमे एवमाई गणंमा मुणिल्ला। जिणिंदम्म जाया अमल्ला महल्ला ॥

—वीरजि० संधि २/कड ७

भगवान् महावीर के इन्द्रभूति गौतम आदि एकादश गणधर थे।

अस्तु महाज्ञानवान् एवं विभूतियुक्ति इन्द्रभूति गौतम महावीर भगवान् के श्रेष्ठ गणधर हुए। दूसरे वायुभूति, तीसरे अग्निभूति, चौथे सुधर्मा मुनिन्द्र जो अपने कुलरूपी आकाश के चन्द्रमा थे। अनिय, नर-बन्ध तथा चारित्र में अमंद थे। पांचवें ऋषि भौर्य, छठे मुण्ड (मौण्य), सातवें सुत (पुत्र), जो इन्द्रियो की आसक्ति से रहित तथा वीर भगवान् के चरण कमलों के भक्त थे।

आठवें मैत्रेय जो महातप से शोभायमान, इन्द्रियजित व शुक्लध्यानी तथा चित्त से पवित्र थे। नवमें अकम्पन जो मदैव तपस्या में अकम्प रहते थे। दशवें अचल और ग्यारहवें प्रभास— जो देह के अनुराग से रहित तथा कामदेव के विनाशक थे।

जिनेन्द्र भगवान् के ये ग्यारह गणधर मुनि हुए जो शल्यसहित और महान थे।

.२ अथेन्द्रभूतिरेवाद्यो वायुभूत्यग्निभूतिकौ । सुधर्ममौर्यमौण्ड्याख्यपुत्रमैत्रेयसंज्ञका ॥

अकम्पनोऽन्धवेलाख्यः प्रभासोऽमी सुगचिताः ।

— वीरवर्धमानच० अधि १६/श्लो २०६

वीर जिनेन्द्र के ग्यारह गणधरों में इन्द्रभूति गौतम प्रथम गणधर थे।

दूसरे वायुभूति, तीसरे अग्निभूति, चौथे सुधर्मा, पांचवें मौर्य, छठे मौण्ड्य (मंडिक), सातवें पुत्र (?) आठवें मैत्रेय, नववें अकम्पन, दशवें अन्धबेल और ग्यारहवें प्रभास गणधर हुए।

.५५ श्रमणी संघ की प्रवर्तिनी (अग्रणी)-आर्यचंदना (साध्वी प्रमुखा)-चंदनबाला

.१ भगवान महावीर का अभिग्रह—आर्यचंदना के द्वारा फलित

(क) × × × ततो सामी कोसंबि गतो, तत्थ मयाणिनो राया मियादेवी तच्चावादी धम्मपाटगो सुगुतो अमच्चो नन्दा से भारिया, सा य समणोवासिया, ततो सड्ढित्ति मियावतीए वयंसिया, तत्थेव नगरे घण्णावहो सेट्ठी, तरस मूला भारिया, एवं तेम कम्मसंपउत्ता अच्छंति, सामीय पोसबहुल पाडिवए इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगेण्हइ चउड्विहं, तंजहा—दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो, दव्वतो कुम्मासे सुप्पकोणेणं, खेत्ततो एलुगं विक्खंभइत्ता कालतो नियत्तेसु भिक्खायरेसु भावतो जइ रायधूया दासत्तणं पत्ता नियज्जवद्धा मुडियमिग, अट्टमभत्तिया एवं कप्पइ, सेसं न कप्पइ, एवं अभिग्गहं घेत्तूण कोसंबीए अच्छइ, दि-वसे-दि-वसे भिक्खायरियां फुसइ, किं निमित्तं ? बावीसं परिसहा भिक्खायरियाए उदिज्जंति, एवं चत्तारिमामे कोसंबीएहिंइइ ।

— आव० निगा ५१८— टीका में उद्धृत

(ख) ग्रामेऽथ मेण्हकग्रामे भगवान् विहरन् ययौ ॥४७२॥ पूर्वार्ध

× × × ×

ततो निष्क्रम्य भगवान् कौशाम्बीं नगरीं ययौ । राज्ञा तस्यां शतानीकः पगानीकभयंकरः ॥४७४॥
चेतकोर्वीशदुहिता तद्राज्ञी च मृगावती । श्राविका तीर्थकृत्पादपूजानिष्ठा सदैवहि ॥४७५॥
राज्ञस्तस्य च सचिवः सुगुप्नो नाम तत्प्रिया । नन्दा नाम श्राविकेति मृगावत्याः परा सखी ॥४७६॥
श्रेष्ठी धनावहो नाम्ना तत्र चाऽऽसीत्महाधनः । मूलाऽभिधाना तस्यापि गृहिणी गृहकर्मणः ॥४७७॥
तत्र स्वामी पोपमासबहुलप्रतिपदिने । दुराचरं दुप्रहंच जग्राहैवमिमग्रहम् ॥४७८॥
अयोनिगडबद्धांघ्रिमुण्डिताऽनशिता सती । रुदती मन्थुना राजकन्यापि प्रेष्यतांगता ॥४७९॥

देहल्यन्तः स्थितैकांघ्रिर्बहिः क्षिप्त्वाऽपरांघ्रिका । गृहात् प्रतिनिवृत्तेषु सर्वाभिक्षाचरेषु च ॥४८०॥
यदि मे शूर्वकोणेन कुलमाषान् संप्रदास्यति । चिरेणापि तदैवाऽहं पारयिष्यामि नान्यथा ॥४८१॥
गृहीत्वाऽलक्ष्यमाणाभिग्रहं प्रतिदिनं प्रभुः । उच्चावचेषु गेहेषु भ्रमति स्म यथाक्षणम् ॥४८२॥
अभिग्रहवशाद्भिक्षां दीयमानामगृह्णति । स्वामिनि प्रत्यहं पौरास्ताम्यन्ति स्मास्मनिन्दिनः ॥४८३॥
अनात्तभिक्षः स्वाम्येवं द्वाविंशतिपरिषहीम् । सहमानोऽनयन्मासांश्चतुरः प्रहरानिव ॥४८४॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ४

(ग) ताहे नंदाए घरमणुपविट्ठो, तीए सामिणो परेण आवरेण भिक्षवा निणिया, सामीनिग्गतो, सो अद्विति पंकया, ताहे दासीतो भणति—एस देवज्जगो दिवसे दिवसे एत्थएड, ताहे ताए नायं—नूणं भयवतो अभिग्रहो कोइ. ततो निरायं चैव अद्विती जाया, सुगुत्तो अमच्चो आगओ, ताहे सो भणइ—किं अद्वितिं करेसि ? तीए कहियं, भणइ य किं अहं अमच्चत्तणेणं ? एच्चिरं कालं सामी भिक्षवं नलहइ ? किं वा तेणं विन्नाणेणजइ एयं अभिग्रहं न याणसि ?, तेण आसामिय, कल्ले दिवसे जहा भिक्षवं लभइ तहा करेमि, एयाए कहाए वट्टमाणीए विजया णाम पडिहारी मियावतीए भणिया सा केणइ कारणेण आगया, सा तं उल्लावं सोऊण मियावतीए साहेइ, मियावईवि तं सोऊणमहया दुक्खेण अभिभूया, साचेडगरस्स धूया, अतीव अद्वितिं पंकया, राया य आगतो पुच्छति, भणइ—किं तुज्झ रज्जेण मए वा ? अज्ज किर चउत्थो मासो सामिस्स हिंडंतस्स भिक्षवाभिग्रहो न नज्जइ. न वा जाणमि एत्थं विहरंतं, तेण आसासिया, तहकरेमि जहा कल्ले लभइ, तहे सुगुत्तं अमच्चं सहावेड अंबाडेड य जहा तुमं आगयं सामिं न याणसि ? अज्ज किर चउत्थो मामो हिंडंतस्स, ताहे तच्चवादी सहावितो, सो पुच्छितो सयाणिएण—तुज्झं धम्मसत्थे सव्वपामंढाण आयाग आगया ते तुमं साह, इमोवि अमच्चो भणितो तुमंपि बुद्धिबलितोतासाह, ते भणति—बहवे अभिग्रहा, न नज्जइ कोऽभिप्पाओ ? दव्वजुत्तो खित्तजुत्तो कालजुत्तो भावजुत्तो सत्तविंडेसण तो सत्त पाणेसणाओ, ताहे रण्णा सव्वत्थमंदिट्ठा पाणेमणा भत्तेसणाओ य, लोणेणवि परलोगकंखिणा कयानो, सामी आगतो, न य तेहिं पगारेहिं नेणइ एवं तावइयं ॥

—आव० निगा ५१८-टीका में उद्धृत

(घ) भिक्षार्थमन्यदा स्वामी सुगुप्रामात्यवेशमनि । प्रविवेश ददृशे च दूरादपि च नन्दया ॥४८५॥
अयमर्हन्महावीरो दिष्ट्या मदगृहमागतः । इति ब्रुवाणाऽभ्युत्तम्यौ नन्दाऽऽनन्देनपूरिता ॥४८६॥
कल्पनीयानि भोज्यानि साऽभज्ञा समुपानयत् । स्वाम्यप्यभिग्रहवशात्तान्यनादाय निर्ययौ ॥४८७॥
धिग्रहं मन्दभाग्याऽस्मि न पूर्णो मे मनोरथः । इति खेदं दगारोच्चैर्नन्दा मन्दमनाः सती ॥४८८॥
तां सखेदां च दाम्यूचे देवार्योऽयं दिने दिने । अनात्तभिक्षो निर्याति खल्वद्यैव निर्गतः ॥४८९॥
एवमाकर्ण्य नन्दाऽपि बुबुधे यद्भिग्रहः । विशिष्टः कोऽपि तन्नोपादत्तेऽसौ प्रासुकान्यपि ॥४९०॥
स्वामिनोऽभिग्रहो ज्ञेयः कथंन्विति विचिन्तया । निरानन्दैव नन्दाऽस्थात् सुगुप्तस्तां ददर्श चाऽऽ ॥४९१॥
सुगुप्तस्तामुवाचैवं किमुद्विग्नेव लक्ष्यसे । खंडिताऽऽज्ञाऽसि किं केनाप्यपराद्धं मयाऽथवा ॥४९२॥

माप्यूचे खंडिता नाज्ञा नापराधस्तवापि च । न पारयामि श्रीवीरमिति खेदाय किन्तु मे ॥४६३॥
 भिक्षार्थी भगवान् वीरो नित्यमायाति याति च । अनात्तभिक्ष एवायमभिग्रहविशेषतः ॥४६४॥
 जानीह्यभिग्रहं भर्तुने चेज्जानासि तन्मुधा । बुद्धिस्त्व महामात्य ! परचित्तापलक्षिणी ॥४६५॥
 सुगुप्तोऽपि जगदैवं जगद्भर्तुरभिग्रहः । यथा विज्ञाम्यते प्रातः प्रयतिष्ये तथा प्रिये ॥४६६॥
 तदैवाऽऽगान्मृगावत्या वेत्रिणी विजय ह्यया । तयोः श्रुत्वा तमाल पं गत्वा देव्याः शशंस च ॥४६७॥
 तथैव खेदं विदधे मृगावत्यपि तत्क्षणम् । संभ्रान्तश्च शतानोकोऽपृच्छन्तः खेदकारणम् ॥४६८॥
 किंचिदुन्नमितभ्रूका व्याजहार मृगवती । अन्तर्विषदकालुष्योद्गागच्छुरितया गिरा ॥४६९॥
 चराचरं जगदिदं चरैर्जानन्ति भूभृजः । त्व तु स्वपत्तन्मपि न वेत्सि ब्रूमहेऽत्र किम् ॥५००॥
 त्रैलोक्यपूज्यो भगवान् वीरश्चरमतीथकृत् । वसत्यत्रेति किं वेत्सि ? राज्यसौख्यप्रमद्वरः ॥५०१॥
 वेश्म वेश्मानुप्रवेशं भिक्षामपरिगृह्य सः । कुतोऽप्यभिग्रहाद्यातीत्येतज्जानासि किं ननु ? ॥५०२॥
 धिह्यां धिक्त्वाममात्यान् शिष्यदत्र परमेश्वरः । अज्ञाताऽभिग्रहोऽनात्तभिक्षस्तथावियच्चिरम् ॥५०३॥
 प्रत्यभापिष्ट भूपोऽपि साधु साधु शुभशो ! । प्रमादो शिक्षितोऽहमेष स्थाने धर्मविचक्षणे ॥५०४॥
 विज्ञायाभिग्रहं प्रातः कारयिष्यामि पारणम् । विश्वस्वामिनमित्युक्त्वा राज्ञा(जा)सचिवमाह्वत ॥५०५॥
 अमात्यमूचे नृपतिर्मुत्पूर्यां त्रिजगद्गुरुः । अनात्तभिक्षश्चतुरो मासांस्तथौ धिग्रन्नः ॥५०६॥
 ज्ञातव्याऽभिग्रहोभंतुः संपूर्याऽभिग्रहं यथा । कारयामि पारणकं जगन्नाथं स्वशुद्धये ॥५०७॥
 अमात्योऽप्यब्रवीद् भर्तुर्ज्ञायतेऽभिग्रहो न ह । इति खिद्येऽहमप्युच्चैरूपायः कोऽपि सूत्र्यताम् ॥५०८॥
 अथ राजा समाह्वय्य नामतस्तथ्यवादिनम् । उपाध्यायं धर्मशास्त्रविचक्षणमवोचत ॥५०९॥
 आचाराः सर्वधर्माणां शास्त्रे तव महामते ! । कीर्त्यन्ते तत्समाख्याहि जिनभर्तुरभिग्रहम् ॥५१०॥
 उपाध्यायोऽप्यभापिष्ट बहवोऽभिग्रहाः खलु । महर्षीणां द्रव्यक्षेत्रकालभावविभेदतः ॥५११॥
 अभिग्रहो भगवता गृहीतोऽयमिति ध्रुवम् । विना विविशिष्टज्ञानेन ज्ञायते न जातुचित् ॥५१२॥
 राजाऽथाघोषयत्पूर्यां यदभिग्रहिणः प्रभोः । अनेकधोपनेतव्या भिक्षा भिक्षार्थमंगुषः ॥५१३॥
 राजाऽऽज्ञया श्रद्धया च तथा चक्रे जनोऽखिलः । अपूर्णाभिग्रहः स्वामी भिक्षां जग्राहन क्वचित् । ५१४॥
 अम्नानांगस्तथाप्यथाद्रिशुद्धज्ञानभाक् प्रभुः । त्रीडाखेदाकुतैः पौरैर्वीक्ष्यमाणो दिने दिने । ५१५॥
 — त्रिशलाका पर्व १०/सर्ग ४

- (च) जहा मयाणोण पिल्लियस्स चंपाए दहिवाहणखंभावारस्स पा (प) लायमाणस्स भारिया धारिणीनामा वसुमडए धूयाए सह इक्केणं पुरिसेण गहिया ।
 पंथम्मि ध.रिणीए मथाए दिन्ना मोल्लेण वसुमई वणिणो ।
 अइविणिय त्ति दिन्नं से नामं चंदणा । जह य वणियजायाए ईसाए केसे मुंडाविऊण नियलिऊण घरे छूढा,
 विलवंतस्स य वणिणो जहाकम्मयरिए साहिया, कुमासे दाऊण लोहार-गेहं वणिओ गओ,

जहा य छम्मासोववासी तित्थयरोपरम-भत्तीए पाराविओ, तियसा अवयरिया,
रमण वुट्टो जाया, तह सब्बमिणं सवित्थरं उवएसमाला-विवरणाओ नेयव्वं त्ति—

—धर्मोप० कथा ३०/पृ० ८६

(ऋ) इतो य सयाणितो चंपं पहावितो, दहिवाहणं गेण्हामि, नावाकडणं गओ एगाए रन्नीए,
अच्चितिया नगरी वेढिया, तत्थ दहिवाहणो पलातो, रण्णा य जग्गहो घोमितो. एव जग्गहे
घुत्ते दहिवाहणस्स रण्णो धारणी देवी तीसे थूया वसुमई, सा सह थूयाए एणेण उट्टिण गहिया,
गाया नियत्तो, सो उट्टितो चित्तेड भणइय—एसा मे भज्जा, इमंच दारियं विककम्सं, सा देवी तेण
माणसिएण दुक्खेण थूया दुक्खेणय एसा मे थूया न नज्जई किं पाविहिइत्ति अंतरा चेवकाल
गया, पच्छा तस्स उट्टियस्स चिंता जाया. दुट्टु मए भणियं—महिला ममं होहित्ति,
एवं थूयं भणामि, मा एसावि मरिहिइ, तो मे मोल्लंपि न होहिइ. ताहेतेण अणुयत्तं तेण
अ णीया—वीहीए उड्डिया, धणवहेण दिट्ठा. अणलं कियलावन्ना अवम्मं रण्णो ईसरम्म वाधूया
एसा मा आवड पावउत्ति त्तित्थं मोभणड तत्तिण मोल्लेण गहिया, वरं तेणं समं गमणागमणं
मे होहिइत्ति. नीया नियधरं, कासि, तुमंति पूच्छिया न माहइ, पच्छा तेण थूयत्ति गहिया.
एवं सण्णाणिया. मूलावि तेण भणिया—एसा तुब्भं थूया. एवं सातत्थ जहा नियधरे तहा
सुहंसुहेणं अच्चइ, तीएविमो सदा सपग्गियणो लोणो मीलेण विणएण य सब्बो अप्पणिज्जो कतो,
ताहे ताणि सब्बाणि भणंति—अहो इमा मोल्लचंणत्ति, ताहे से विडयंपि नामं कयं चंदणत्ति,
एवं कालो वच्चइ ।

—आव निगा ५१८ टीका में उद्धृत

(ज) इतश्च पूर्वं नौसैन्यैः शतानीको निशैकया । गत्वाऽरुणन् पुरीं चम्पां ज्ञपासमसमागमः ॥५१६॥
चम्पापतिः पलायिष्ट ततश्च दधिवाहनः । बलीयसाऽवरुद्धानां त्राणं नान्यत्पलायनात् ॥५१७॥
यद्रहो घोषितस्तत्र शतानीकेन भूभुजा । तदनीकभटाश्चम्पां भवेच्छया मुमुषुस्तातः ॥५१८॥
दधिवाहनराजस्य धारिणीं नामतः प्रियाम् । वसुमत्यासमं पुत्र्या तत्र कोऽप्यौष्ट्रिकोऽग्रहीत् ॥५१९॥
कृतकृत्यः शतानीकोऽप्यनीकैः परिवारितः । समाजगाम कौशाम्बीं वैगिकैरवभास्कर ॥५२०॥
औष्ट्रिकः सोऽपिधारिण्या देव्या रूपेण मोहितः । ब्रजजगाम पुरतो जनानामि दमुच्चकैः ॥५२१॥
प्रोढा रूपवती चैर्यं मम सार्या भविष्यति । विक्रये कन्यकां त्वेतां नीत्वा पुर्याश्चतुष्पथे ॥५२२॥
तच्छ्रुत्वा धारिणी देवी मनस्वेवमधारयन् । जाता महता वंशेहं शशांकादपि निर्मले ॥५२३॥
महावंशप्रसूतस्य दधिवाहनभूपतेः । पत्नी चागिम् परिणतजैनधर्माऽऽदितोऽपिहि ॥५२४॥
श्रुत्वैतान्यप्यक्षराणि धिग्जी वाम्यघ भाजनम् । स्वभावलोल रे जीव ! किमद्याप्यवतिष्ठसे ॥५२५॥
न चेत् स्वयं निःसरसि तथापि हि बलान्मया । निस्सार्यसे सद्य एव नीडादिव विहंगमः ॥५२६॥
इति तद्भर्त्सनोद्विग्ना इव प्राणाः क्षणादपि । तस्या मन्थु प्रस्फुटितहृदयाया विनिर्ययुः ॥५२७॥
औष्ट्रिकस्तां मृतां प्रेक्ष्य दध्यावेतां सतीं प्रति । धिग्धिग्मयैतदुदितं यन्मे पत्नी भविष्यति ॥५२८॥

अंगुलीदर्शनेनेव कूपमांडं दुर्गिरा मम । विगन्तेयं यथा तदवत् कन्याऽप्येषा विपत्स्यते ॥५२६॥
 एवं विमृश्य साभता तामालपन्ननयन् पुरि । कौशाभ्यां सोऽथ निदधे विक्रेतुं राजवत्सनि ॥५३०॥
 देवात्तत्रागतः श्रेष्ठी तामपश्यद्वनावहः । दधौ चेत्यनया मूर्त्या नहि सामान्यपुत्र्यसौ ॥५३१॥
 भ्रष्टा पितृभ्यां प्राप्तेयं निवृत्तेनामुनाऽधुना । यूथच्युता कुरंगोव लुब्धकेन दुरात्मना ॥५३२॥
 विक्रेतुं पलवच्चेह स्थापिताऽनेन मूल्यतः । हस्ते हीनस्य कस्यापि हा यास्यति वराक्यसौ ॥५३३॥
 दत्त्वार्थं बहुमप्यस्य गृह्णाम्येतां कृपास्पदम् । पुत्रीमिव निजां हीमां न क्षमोऽहमुपेक्षितुम् ॥५३४॥
 विनाऽनर्थं ममगृहे तिष्ठन्त्याः क्रमयोगतः । अस्याः स्वजनवर्गेण भविता संगमोऽपिहि ॥५३५॥
 धनावहो विमृश्यैवं दत्त्वा मूल्यं तदीप्सितम् । निन्ये वसुमतीं वालां सानुकंपः स्ववेश्मनि ॥५३६॥
 सोऽपृच्छत् स्वच्छाश्रीस्तां च वत्से ! कस्यासि कन्यका । को वा स्वजनवर्गस्ते मा भैषी-

दुहिताऽसिमे ॥५३७॥

महत्त्वेन समाख्यातुं स्वकुलं सापि चाऽक्षमा । न किञ्चिदूचेऽस्थात्सायं नलिनीव त्वधोमुखी ॥५३८॥
 मूलां च श्रेष्ठिनीमूचे प्रियेऽसौ दुहिताऽऽवयोः । पालया लालया च तदियमतियत्नेन पुष्पवत् ॥५३९॥
 एवं श्रेष्ठिगिरा तत्र गेहेऽवास्सीत्स्वगेहवत् । बाला बालेन्दुलेखेव सा नेत्राऽऽनन्ददायिनी ॥५४०॥

—त्रिशलाका पर्व १०/सर्ग ४

(३) ततो ताए घरिणोए अवमाणो जातो मच्छरिज्जइ य, को जाणइ कयाइएस एयं पडिवज्जेजा ?
 ताहे अहं घरस्स असाभिणी भावस्सामि, तीसे वाला अतीव दीहा रमणिजा किण्हाय, सो संट्टी
 मज्झण्हं जणविरहिए आगतो जाव नत्थि कोऽविजो पाए पक्खालेड, ताहे सा पाणियं गहाय
 निग्गया, तेण वारिया, सा मड्ढाए धोविडं पवत्ता, ताए धोवन्तीए वाला वड्ढेहगा छुहा, मा
 चिकखल्ले पडिहिंतित्ति तस्स सेट्टिस्स हत्थे लीलाकट्टं तेण धरिया बद्धाय मूला य ओवल्लोयणगया
 पेच्छइ, तीए णायं-विण्णं कज्जं, जइ एयं कहवि परिणइ तोममं एसणत्थि, जावतरुणतो वाही
 ताव तिगिच्छामि, सेट्टिमि विणिग्गए तोएण्हावियं वाहरावित्तं साच्चंढणा बोडाविता नियलेहि
 यवद्धा पिट्टिया य, वारियतो अणए परियणो जो माहइ वाणियम्म मो मेणत्थि. सा घरे
 छोट्टणतस्स घरस्स दारं दिन्नं तालयं च, सो सेट्टी आगतो पुच्छइ - कहिं चंढणा ? न कोइ
 साहइ भएण, सो जाणइ -- नूगं रमइ उवरिवा चिट्ठिइ, एवं गत्तिपि पुच्छिया जाणइ—सानूणं सुत्ता,
 विइयदि वसेवि न दिट्ठा, तइय दिवसे षणं पुच्छइ, साहेह मा भे मारेह, ततो थेरदासी एकका
 चिनेइ—किंमम जीविण १, सा जीवउ वराई, ताए कहियं—अमुयघरे, तेण उग्घाडिया दारां,
 पेच्छइ छुहाहयं चंढण, ततो कूरं पमग्गितो, जाव समावत्तीए नत्थि, ताहे कुम्मासा दिट्ठा, ते
 सुप्पकोणे चेतूण तीसे दिन्ना, संट्टी लोहकारघरंगतो. नियलाणि छिंदावेमि ताहे सा हत्थिणीव
 कुलं संभारिउमारद्धा एल्लुगं । विक्खंभइत्ता, तेहिंपुरतो कतंहिं अवभंतरतो रोयइ, सामी आगतो,
 ताए चितियं—सामिस्सदेमि, मम एयं अहम्मफलं, भणइ—भयवं ! कप्पइ ?, सामिणा पाणी
 पसारितो, चउव्विहोऽवि पुन्नो अभिग्गहो ।

—आव निगा ५१८/में उद्धृत

(अ) तस्या वितयवाक्शीलै रञ्जितश्वन्दनोपमैः चन्दनेत्यभिधां श्रेष्ठी ददौ परिजनैः सह ॥५४१॥
 ईपच्च यौवनारम्भं करभोरुवाप सा । राकारात्रिखिवाभोधेः श्रेष्ठिनो ददती मुदम् ॥५४२॥
 निमर्गतो रूपवती यौवनेन विशेषतः । निरीक्ष्य चन्दनां मूला दध्यावेवं समत्सरा ॥५४३॥
 पुत्रीवत्प्रतिपद्याऽपि यद्येतां रूपमोहितः । श्रेष्ठी परिणयेत्तर्हि जीबन्त्यपि मृताऽस्मि हा ॥५४४॥
 एवं स्त्रेणमुलभेन तुच्छत्वेन दिवाऽनिशम् । तदा प्रभृति ताम्यन्ती तस्थौ मूला दुर्गाशया ॥५४५॥
 प्राग्मोष्मार्तोऽन्यदा श्रेष्ठी वेश्मन्य गमदापणात् । तदाऽत्रिक्षालको नासीत् कोऽपि देवात्पुरःसरः ॥५४६॥
 विनीता चन्दनोत्थाय श्रेष्ठिना वारिताऽपि हि । प्रावतत क्षालयितुं तत्पादौ पितृभक्तिः ॥५४७॥
 केशपाशस्तदा तस्याः स्तिरधश्यामलकोमलः । निःसहांग्याः परिस्वस्तः क्षमातले जल्पकिले ॥५४८॥
 वत्सायाः केशपाशोऽयं मा भूद् भूपंकभागिति । लीलायष्ट्योद्भे श्रेष्ठी तमवध्नाच्च सादरः ॥५४९॥
 तच्च मूला गवाक्षस्था निरीक्ष्यैवमचिन्तयन् । वितर्कः संवदति स यः पूर्वं कल्पितो मया ॥५५०॥
 अस्याः स्वयं केगवन्धः पत्नीत्वस्य निबन्धनम् । प्रथमं श्रेष्ठिनो नूनं नेदृशी हि पितुः क्रिया ॥५५१॥
 उच्छेदनीया तदियं मूलाद्द्वयाधिरिवोत्थितः । इति निश्चित्य मूलाऽस्थाच्छाकिनीव दुर्गाशया ॥५५२॥
 क्षणं श्रेष्ठ्यपि विश्रम्य पुनरेव बहिर्ययौ । अमुं ड्यच्चन्दनां च मूलाऽप्याहूय नापितम् ॥५५३॥
 पादयोर्निगडान क्षिप्त्वा चन्दनां बह्ताडयन् । मूलावल्लीमिव वशा विवशा क्रोधरक्षसा ॥५५४॥
 गृहैकदेशे दूरस्थे मूला न्यधित चन्दनाम् । कपाटसंपुटं दत्त्वा परिवारमुवाच च ॥५५५॥
 श्रेष्ठिनः पृच्छतोऽप्येतन् कथनीयं न केनचित् । कथयिष्यति यः कोऽपि मत्कोपाग्रे स आहुतिः ॥५५६॥
 एवं नियन्त्रणां कृत्वा मूला मूलगृहं ययौ । श्रेष्ठो च सायमायातोऽपृच्छत् क्व ननुचन्दना ? ॥५५७॥
 मूलाभयान्न कोऽप्याख्यच्छ्रेष्ठी चैवमनुष्यत । वत्सा मे रमन्ते क्वापि यद्वाऽस्त्युपरिवेश्मनः ॥५५८॥
 एवं रात्राप्यपृच्छन्न कोऽप्यारव्यत्तथैवच । प्रमुप्ता चन्दनाऽस्तीति चाज्ञासीद्वजुधीः सतु ॥५५९॥
 द्वितीयेऽप्यह्नि नापश्यत्तृतीयेऽपि तथैवताम् । शकाकोपाकुलः श्रेष्ठी प्रोचे परिजनंततः ॥५६०॥
 रे रे कथयत क्वास्ति चन्दना मम नन्दना ? नाऽऽख्यास्यथ विदन्तश्चेन्निग्रहीष्यामि वस्तदा ॥५६१॥
 श्रुत्वेदं स्थत्रिरा तत्र काचिच्चेटीत्यचिन्तयन् । जीविताऽहं चिरतरं प्रत्यासन्ना मृतिर्ममः ॥५६२॥
 कथिते चन्दनोदन्ते किं मूला मे करिष्यति ? एवं विचिन्त्य तामाख्यामूलाचन्दनयोः कथाम् ॥५६३॥
 श्रेष्ठिनोऽदर्शयद्गत्या चन्दनारोधवेश्मसा । दूरं चोद्धाघाटयामास स्वयं श्रेष्ठी धनावहः ॥५६४॥
 तत्र च क्षुत्पिपामार्त्ता द्रवस्पृष्टा जतामिव । निगडैर्यन्त्रितामंद्गहोर्नवात्तां करिणीमिव ॥५६५॥
 परिमुण्डितमुण्डां च भिक्षुकीमिव चन्दनाम् । अश्रुपूरितनेत्राब्जामीक्षाञ्चक्रे धनावहः ॥५६६॥
 विश्वस्तां भववत्से ! त्वमिति जल्पन्नुदश्रुदक् । तद्भोज्यार्थं रसवतीं ययौ श्रेष्ठी द्रुतद्रुतम् ॥५६७॥
 विशिष्टं तत्र चाऽऽशयन् भोज्यं देवाद्धनावहः । कुटमापान् शूर्पकोणस्थां श्वन्दनायै समार्पयन् ॥५६८॥
 भुज्जोथास्तावदेतांस्त्व यावत्त्वन्निगडच्छिदे । कर्मारमानयामीति जल्पित्वा श्रेष्ठ्यगाद्बहिः ॥५६९॥
 चन्दनोर्ध्वस्थिता चैवमचिन्तयद्दो क मे । तस्मिन् राजकुले जन्म क्वावस्थेयमीदृशी ॥५७०॥
 भवेऽस्मिन्नाटकप्राये क्षणाद्भवस्त्वन्यथाभवेत् । स्वानुभूतमिदं मे हि किं संप्रति करोमि हा ॥५७१॥

पण्टस्य पारणायामी कुलमाषाः सन्ति संप्रति । यथायात्यतिथिस्तस्मै दत्त्वा भुञ्जेऽन्यथा नहि ॥५७२॥
 एवं विचिन्त्य सा द्वारे ददौ दृष्टिमिनस्ततः । तदाऽऽगान्महावीरो भिक्षायै पर्यटन प्रभुः ॥५७३॥
 अहो पात्रमहो पात्रमहो मे पुण्यसंचयः । मुनिर्महात्मा कोऽप्येष भिक्षायै यदुपस्थितः ॥५७४॥
 चिन्तयित्वेति साऽचालीद्वाला कुलमाष शूपभूत् । एकमंत्रि न्यधादन्तर्देहल्या अवरंबहिः ॥५७५॥
 निगडैर्देहलीं सातु समुल्लंघितुमक्षमा । तत्रस्थैवाऽऽर्द्रया भक्त्या भगवन्तमभापत ॥५७६॥
 स्वामिन्ननुचितं भोज्यं यद्यप्येतत्तथापि हि । परोपकारैकरत ! गृहाणानुगृहाण माम् ॥५७७॥
 द्रव्यादिभेदसंशुद्धं ज्ञात्वा पूजमभिग्रहम् । तस्यै कुलमाषभिक्षायै स्वामी प्रासारयन् कर्म ॥५७८॥
 अहो धन्याऽहमेवेति ध्यायन्ती चन्दनापि हि । चिक्षेप शूर्पकोणेन कुलमाषान् स्वामिनः करे । ५७९॥

—त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग० ४

(ट) कोसंबीइ सयाणिअ अभिग्रहो पोसवहुलपाडिवए । चाउम्मासिमिगावइ विजय सुगुत्तो अनंदाय
 तच्चावाई चंगादहिवाहण वसुमई अ, वीअ मामा । धणवह मूलाऽऽलोअण संपुल दाणेअ पव्वज्जा ।
 आव० निगा/५/१६-२०

टीका—ततो भगवान् कौशम्बीं नगरीं गतः, तत्र शतानीको राजा मृगापतिदेवी, भगवता च पौषमाम-
 बहुलपक्षे प्रतिपदि अभिग्रहो गृहीतः, प्रतिदिवसंच भिक्षामटतो भगवतश्चत्वारो मासा-अतिकान्ताः,
 अन्यदा भगवान् नंदाया गृहे गतः, तथा आनीता भिक्षान् गृहीता. ततः सुगुप्तोऽमात्य आगतः,
 तयोश्च भगवद्भिक्षा विषये संलापे मृगापतिदेवीस्त्वा विजया प्रतीहारी समागता
 मृगापति देव्या अचकथन्, तथा प्रोत्साहितेन राज्ञा तथ्यवादी धम्मपाठक आकारितः. सोऽभिग्रहान्
 विचित्रान् कथितवान् । ततश्च चंपायां दधिवाहनो राजा, तस्य सुता चंदना द्वितीयनाम्ना वसुमती,
 सा कोशाभ्यामौष्ट्रि केषानीता, धनवहेन गृहीता. अन्यदा धनावहस्य पादौ प्रक्षालयन्ती तां
 तस्याः केशपाशंच धनावहेन लीलकम्बिकया संयम्यमानं मूला अवलोकनगता प्रलोकितवती.
 ततो मात्सर्यात् तथा चंदना निगडिता, ततो भगवतो दाणे संपुलनामा कञ्चु की चंदनाया
 मिलितः. ततो भगवतः समोपेऽनया प्रत्रज्या गृहीष्यते इति शक्र वचनतो राज्ञा चंदना सङ्गोपिता ।

जहा सयाणीएणं पिल्लियस्स चंपाए दधिवाहणखंधावारस्स पा (प) लायमाणस्स
 भारिया धारिणी-नामा वसुमइएधूयाए सह इक्केणं पुरिसेण गहिया । पंथम्मि धारिणीए मयाए
 दिन्ना मोल्लेण वसुमई वणिणो । अइविणियत्ति दिन्नं सेनामं चंदणा । जह य वणिय—जायाए
 ईसाएकेसे मुंडाविऊण नियत्तिऊण घरे छुटा. विलवंतस्स य वाणिणो जहा कम्मयरिए साहिया.
 कुंसासे दाऊण लोहार-गेः वणिओगओ; जहा य छम्मासोववासी तित्थयरो परम-भत्तीए
 पाराविओ, तियसा अवयरिया, रयण-नुट्टी जाया, तह सव्वमिणं सवित्थरं उवएसमाला—
 विवरणाओ नेयव्वंति ।

—धर्मो/कथा ३०/पृ० ८६

मेढक ग्राम से विहार कर भगवान् कौशाम्बी नगरी पधारे ।

कौशाम्बी में शतानिक नामक राजा था । उसके चेटक राजा की पुत्री मृगावती नामक रानी थी । वह सदा तीर्थकर के चरण की पूजा में एकनिष्ठा वाली परम श्राविका थी ।

शतानिक राजा के सुगुप्त नामक एक मंत्री था । उसके नन्दा नाम की स्त्री थी । वह भी परम श्राविका और मृगावती की सखी थी ।

उस नगर में एक धनावह नामक एक सेठ रहता था । वह बहुत धनाढ्य था । उसके गृह कार्य में कुशल मूला नामक पत्नी थी ।

अस्तु यहाँ वीरप्रभु का पदार्पण हुआ । उस समय पौष मास की प्रतिपदा थी । उस समय उस दिन भगवान् ने इस प्रकार बहुत ही अशक्य अभिग्रह ग्रहण किया ।

द्रव्य की अपेक्षा—सूयों को एक कोने में स्थित कुल्माष मुझे भिक्षा में दें ।

क्षेत्र की अपेक्षा—अमुक-अमुक क्षेत्र में भिक्षा दें ।

काल की अपेक्षा—नियत काल में भिक्षा दें ।

भाव की अपेक्षा—जो राजकन्या हो, दासत्व को प्राप्त हो, मुडित सिर हो, तीन दिन का उपवास हो विस्तार से इनके निम्नलिखित १३ बोलोंपर अभिग्रह था ।

- (१) राज कन्या हो ।
- (२) अविवाहिता हो - सती हो ।
- (३) सदाचारिणी हो ।
- (४) निरपराध होने पर भी जिसके पाँवों में वेड़ियों तथा हाथों में हथकड़ियाँ हों । बांधकर चुबारे में रखी गयी हो ।
- (५) सिर मुडित हो ।
- (६) शरीर पर काछ लगी हुई हो ।
- (७) तीन दिन का उपवास किये हुए हो - भुखी हो ।
- (८) पारणे के लिए उड़द के बाकले सूप में लिए हों ।
- (९) न घर में हो न बाहर हो ।
- (१०) एक पैर देहली के भातर तथा दूसरा बाहर हो ।
- (११) दान देने की भावना से अतिथि की प्रतीक्षा कर रही हो, सर्वभिक्षुओं का पदार्पण हुआ हो ।
- (१२) प्रसन्न मुख हो ।
- (१३) और आँखों में आँसु भी हों—रदती करती हुई हो ।

उपर्युक्त अभिग्रह पूर्वक उक्त स्त्री मुझे एक कोने में रखे हुए कुल्माष (उड़द) बहरावे तो मुझे लेना है— नहीं तो चिरकाल तक (छः मास तक) मुझे पारणा नहीं करना है ।

इन तेरह अभिग्रह पूर्वक मुझे वह कन्या भिक्षा दे तो मैं उस भिक्षाको ग्रहण करूँगा अन्यथा चिरकार तक भिक्षा ग्रहण नहीं करूँगा अर्थात् पारणा नहीं करूँगा ।

ऐसा अभिग्रह ग्रहण कर भगवान् प्रतिदिन भिक्षा के समय में उच्च-नीच गृह में गोचरी के लिए फिरने लगे। परन्तु भगवान् के उपर्युक्त अभिग्रह होने के कारण यदि कोई भिक्षा देता तो भगवान् भिक्षा को ग्रहण नहीं करते थे। फलस्वरूप नगर के लोग प्रतिदिन सोच करते और स्वयं की निंदा करते थे।

इस प्रकार अशक्य अभिग्रह होने के कारण भिक्षा को ग्रहण किये बिना बावीस परीषहों को सहन करते हुए भगवान् ने चार प्रहर की तरह चारमास व्यतीत किये।

एक समय भगवान् सुगुप्त मंत्री के घर पर भिक्षार्थ पधारे। वहाँ उनकी स्त्री नन्दाने भगवान् को दूर से देखा। ये 'महावीर अर्हत' हमारे भाग्य के कारण हमारे घर पधारे। इस प्रकार बोलती हुई नंदा आनन्दको प्राप्त-भगवान् के सम्मुख गयी। और वह बुद्धिमान श्राविका भगवान् को कल्पित भोजन-पदार्थ भगवान् के पास रखा।

परन्तु भगवान् अभिग्रह के कारण उसमें से किसी को भी ग्रहण किये बिना चले गये। फल स्वरूप-तत्काल नंदा का हृदय मंद हो गया। मैं अभागिनी हूँ, मुझे धिक्कार है, मेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ। इस प्रकार शोक-संताप करने लगी। इस प्रकार खेद करती हुई उसे उमकी दासी ने कहा कि हे भद्र ! ये देवार्थ प्रतिदिन इसी रीति से भिक्षा लिये बिना ही चले जाते हैं—आज तक कार्य पूर्ण नहीं हुआ है।

दासी की यह बात सुनकर नंदा ने विचार किया कि भगवान् ने किसी प्रकार का अपूर्व अभिग्रह किया है—ऐसा जाना जाता है जिससे कि प्रायुक्त अन्य भी नहीं ग्रहण करते हैं।

अब प्रभु के उम ग्रहित अभिग्रह को किसी प्रकार से जाना लेना चाहिए। इस प्रकार चिन्ता करती हुई नंदा आनन्द रहित होकर बैठी हुई थी कि उस समय सुगुप्त मंत्री घर आया। उसने नंदा को चिन्ता से व्याकुल देखकर कहा—हे प्रिया ! तुम उद्विग्न चित्तवाली कैसे दिखाई देती हो। क्या किसी ने तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन किया है। मैंने तुम्हारा क्या अपराध किया है। प्रत्युत्तर में नंदाने कहा—स्वामी ! किसी ने भी मेरी आज्ञा का उल्लंघन नहीं किया है। आपने भी कोई अपराध नहीं किया है।

परन्तु मैं श्री वीर भगवान् को पारणा नहीं कराने सकी—इसमें मुझे बहुत बड़ा खेद है।

भगवान् वीरप्रभु नित्य भिक्षार्थ अपने नगर (कौशाम्बी) में आते हैं और किसी अपूर्व अभिग्रह को ग्रहण करने से भिक्षा लिये बिना ही चले जाते हैं। इसलिए हे महामंत्री ! तुम्हें उस प्रभु के अभिग्रह को जान लेना चाहिये। यदि तुम यह नहीं जानते हो तो दूसरों के चित्त को देखने वाली तुम्हारी बुद्धि व्यर्थ है।

प्रत्युत्तर में सुगुप्त ने कहा—हे प्रिया ! महावीर प्रभुका अभिग्रह जिस रीति-भाति जाना जाय वैसा प्रातः काल प्रयास कर्होगा।

उस समय मृगावती राणी की नाम विजया की छड़ोदार स्त्री वहाँ आयी थी। उसने नंदा की बात को सुना। फलस्वरूप यह सर्व हकीकत उसने स्वयं की स्वामिनी मृगावती के पास जाकर कही। यह बात सुनकर मृगावती राणी को भी तत्काल खेद उत्पन्न हुआ।

शतानिक राजा संभ्रम को प्राप्त हुआ और उसे खेद का कारण पूछा। फल स्वरूप मृगावती जरा भ्रमटो ऊँची कर अंतर के खेद और क्षोभ के उद्गार से व्याप्त ऐसी वाणी से बोली—“राजागण तो इस चराचर जगत को स्वयं की बात-मीदारा से जान सकते हैं और तुम तुम्हारे एक शहर को भी नहीं जान सकते हो—तब तुम्हारे पास

क्या बात करनी चाहिए ! राज्य के मुख में प्रमादी बने हुए हे नाथ ! तीन लोक के पूजित चरम तीर्थंकर श्री वीर भगवंत इस शहर में रहते हैं—यह तुम जानते हो ।

वे किसी अभिग्रह को ग्रहण किये हुए घर-घर फिरते हैं परन्तु भिक्षा को ग्रहण किये बिना ही वापस चल देते हैं । यह तुम जानते हो ? मुझे, तुम्हें और अपने अमात्य को धिक्कार है कि जहाँ श्री वीरप्रभु अज्ञात अभिग्रह के द्वारा इतने सब दिन तक भिक्षा बिना रहे ।”

प्रत्युत्तर में राजा ने कहा—हे शुभाशय ! हे धर्मचतुर ! तुम्हको धन्यवाद है । मेरे जैसे प्रमादी को तुमने बहुसारी शिक्षा—सीख योग्य समय में दी । अब मैं प्रभुका अभिग्रह जानकर प्रातःकाल उन्हें पारणा कराऊँगा ।

ऐसा कहकर राजा ने तत्काल मंत्री को बुलाया और कहा कि हे भद्र ! हमारी नगरी में श्री वीरप्रभु चार मास होने पर भी भिक्षा ग्रहण किये बिना रहे । इससे अपने को धिक्कार है ।

अतः तुम्हें जैसा उचित लगे वैसा उपायकर उनका अभिग्रह जान लेना चाहिये कि जिससे मैं उस अभिग्रह को पूर्णकर हमारी शुद्धता के लिए पारणा कराऊँ ।

प्रत्युत्तर में मंत्रीने कहा कि हे महाराज ! उनका अभिग्रह जाना जाय ऐसा नहीं है—मैं भी उससे खेदित हूँ अतः उसका कोई उपाय सोचना चाहिये ।

तत्पश्चात् राजा ने धर्मशास्त्र में विचक्षण तथ्यकंठी नामक उपाध्याय को बुलाकर कहा कि—हे महामति ! तुम्हारे शास्त्र में सर्व धर्मों के आचार कथित है । उनमें से श्री जिनेश्वर के अभिग्रह की बात मुझे कही ।

प्रत्युत्तर में उपाध्यायने कहा—हे राजन् ! महर्षिगण द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—ये चार भेद से बहुत अभिग्रह कहे हैं । वर्धमान महावीर ने जो अभिग्रह ग्रहण किया है । वह विशिष्ट ज्ञान के बिना कभी भी नहीं जाना जा सकता है ।

तत्पश्चात् राजा ने नगरी में यह उद्घोषणा की कि—अभिग्रह को ग्रहण किये हुए श्री वीरप्रभु भिक्षा को लेने के लिए आये—तब लोग अनेक प्रकार की भिक्षा दी ।

राजा की आज्ञा और श्रद्धा से सर्वलोगों ने वैसा किया । तथापि अभिग्रह के पूर्ण न होने के कारण प्रभु ने किसी भी स्थान से भिक्षा ग्रहण नहीं की ।

इस प्रकार भिक्षा रहित रहते हुए भी विशुद्ध ध्यान दं लीन रहे हुए भगवान् अम्लान मुख रहते थे और लोग प्रतिदिन लज्जा और खेद से विशेष आकुल-ध्याकुल होकर भगवान् को देखते रहते थे ।

इस अवधि में शतानिक राजा सैन्य के साथ वटोलियों की तरह वेग से एक रात्रि में जाकर चंपानगरी को घेर लिया ।

चंपापति दक्षिवाहन राजा उससे भय की प्राप्त होकर भाग गया । अति बलवान् पुरुष से रुंधे हुए मनुष्य को भागने के सिवाय अन्य कोई स्वरक्षा का उपाय ही नहीं है ।

तत्पश्चात् शतानिक राजा ने विचार किया कि—इस नगरी में से जो लेना ही वह लेना चाहिए । ऐसी स्वयं की सैन्य में आघोषणा करायी । फलस्वरूप उसके सुभट चंपानगरी को स्वेच्छापूर्वक लूटने लगे ।

इधर दधिवाहन राजा की धारणी नाम की—राणी व उसकी पुत्री वसुमति को कोई अंटवाला हरण कर ले गया ।

शत्रु रूप कुमुद में सूर्य जैसा शतानिक राजा कृतार्थ होकर सैन्य के परिवार के साथ कौशाम्बी नगरी आया । धारिणी राणी के रूप से मोह को प्राप्त हुआ—पहले सुभट लोगों के सम्मुख उच्च स्वर से कहने लगा कि—यह जो प्रौढ़ रूपवती स्त्री है वह मेरी होगी और इस कन्या को कौशाम्बी के चौक में जाकर बिक्री कर दूँगा ।

यह बात सुनकर धारिणी देवी ने चिन्तन किया कि—मैंने चन्द्र से भी निर्मल वंश में जन्म लिया है तथा महान् वंश में उत्पन्न हुए दधिवाहन राजा की पत्नी हूँ । और जैन धर्म मेरे में परिणत हुआ है तो फिर इस प्रकार के अक्षर को सुनकर भी मैं पाप का भाजन होकर अभी भी जीवित हूँ । इस कारण मुझे धिक्कार है । अरे स्वभाव चपल ऐसा जीव अभी भी देह में वैसे स्थित है । यदि तुम अपने आप देह से अलग नहीं होते हो तो—माला में से पक्षी को निकाला जाता है उसी प्रकार मैं तुमसे बलात्कार निकालूँगी ।

इसप्रकार तिरस्कार से मानो उद्वेग को प्राप्त हुआ हो वैसे खेद से पुटी गए हुए उसके हृदयमें से उसके प्राण क्षण भर में निकल गए । उसे मृत्यु को प्राप्त हुआ देखकर अंटवाले सुभट ने खेद किया—“ऐसी सती स्त्री के लिए मैंने कहा कि यह मेरी पत्नी होगी—यह मैंने बहुत खराब कार्य किया है अतः मुझे भिक्कार है । आंगुल से बताते हुए कुष्मांडफल (कोला) की तरह हमारी दुष्ट वाणी से यह सती जैसे मृत्यु को प्राप्त हुई है उसी तरह कदाचित् यह कन्या भी मृत्यु को प्राप्त होगी । अतः इसे खेद नहीं उत्पन्न करना चाहिए । ऐसा विचार कर उस कन्या को मधुर वचन के द्वारा बुनाता हुआ कौशाम्बी नगरी आया । और उसे राजमार्ग में बिक्री करने के लिए खड़ी किया ।

भाग्यवशात् वहाँ धनावह सेठ का आगमन हुआ । दैवयोग से—उसने वसुमती को देखकर विचार में पड़ गया । इस कन्या की आकृति देखने से ऐसा महसूस होता है कि यह किसी सामान्य मनुष्य की पुत्री नहीं है परन्तु युथ में से भ्रष्ट हुई मृगी जैसे पारधि के हाथ में आती है उसी प्रकार माता-पिता से विखुटी पड़ी हुई यह कन्या इस निर्दय मनुष्य के हाथ में आयी है—ऐसा जाना जाता है । उमने यहाँ मूल्य लेकर बिक्री के लिए लाया है । इससे यह बिचारी जहर किसी हीन मनुष्य के हाथ में चली जायेगी । अतः इस मनुष्य को बहुत धन देकर मुझे ही इस कृपा-पात्र कन्या को खराद करना चाहिए । स्वयं की पुत्री की तरह मैं उसकी उपेक्षा करने में अशक्त हूँ । किसी भी प्रकार की रूकावट के बिना हमारे घर में रहते हुए दैवयोग से इस बाला का उसके स्वजन-वर्ग का संयोग भी हो जाएगा ।

इस प्रकार विचार कर धनावह सेठ ने उस सुभट को इच्छा-प्रमाण उसका मूल्य देकर अनुकम्पा से उस बाला को स्वयं के घर ले आया । उसने स्वच्छ बुद्धि से पूछा कि—हे वत्स ! तुम किसकी कन्या हो और तुम्हारा स्वजन वर्ग कौन सा है । इसका उत्तर दो, भय को प्राप्त मत होना । तुम मेरी पुत्री हो । वह स्वयं के कुल की अति महत्ता होने के कारण कुछ भी नहीं बोलती हुई—सांयकाल में कमलिनी रहती है वैसे अधोमुख कर खड़ी रही ।

बाद में सेठ ने स्वयंकी पत्नी मूला को कहा—प्रिया ! यह कन्या अपनी दुहिता है उसकी अति यत्न से पुष्प की तरह लालन-पालन करो ।

इस प्रकार श्रेष्ठी के वचन से वह बाला वहाँ स्वयं के घरकी तरह रही । और बालचंद्र की लेखा की तरह सब के नेत्रों को आनंदित करने लगी ।

उसके चंदन जैसे शीतल विनय वचन और शील से अनुरंजित हुए श्रेष्ठ ने परिवार के साथ मिलकर उसका चन्दना नाम दिया ।

अनुक्रम से करभ जैसी उधवाली वह बाला यौवनवय को प्राप्त हुई । उस समय समुद्र की तरह पूर्णिमा की रात्रि हर्ष को प्रदान करती है उसी प्रकार वह श्रेष्ठ को हर्ष को प्रदान करने लगी । स्वभाव से ही रूपवती होनेपर यौवन को प्राप्त होने से विशेष रूपवती हुई चंदना को देखकर मूला सेठानी मन में ईर्ष्या लाकर इस प्रकार विचार करने लगी—श्रेष्ठ ने इस कन्या को पुत्री की तरह रखा है परन्तु अब उसके रूप से मोहित होकर कदाचित् सेठ उसके साथ विवाह-संबंध करे तो मैं जीवित हाते हुए भी भूत समान हो जाऊँगी ।

इस प्रकार स्त्रीपन को छाजती तुच्छ हृदय को लिये हुए वह मूला उस समय से रात्रि-दिन उदास रहने लगी ।

एक समय सेठ श्रीष्म ऋतुके ताप से पीड़ित होकर दूधान से घर आया । उस समय दैवयोग से कोई सेवक उसके पैरों को धोनेवाला उपस्थित नहीं था । इस कारण अति विनीत चंदना खड़ी हुई । सेठ के वारण करने पर भी वह पितृभक्ति से सेठ के पैरों को धोने लगी । उस समय उसका स्निग्ध श्याम और कोमल केशपाश अंग की शिथिलता से छुटा जाने से जलरंजित भूमि पर पड़ा । फलस्वरूप इस पुत्री का केशपाश भूमि के कादे से मलिन न हो—ऐसा विचारकर सेठ ने सहज स्वभाव से यष्टि से उसे ऊँचा किया और बाद में चादर से बांध लिया । गौख पर बैठी हुई मूलाने यह देखा । फलस्वरूप उसने यह विचार किया कि मैंने प्रथम जो तर्क किया था—वह बराबर मिलता है ।

इस यौवन स्त्री का केशपाश सेठ ने स्वयं की मेल में बांधा है । यह वास्तव में पत्नीपन का प्रथम चिन्ह सूचित होता है क्योंकि पिता का कार्य इस प्रकार करने का नहीं होता है इसलिए इस बाला का व्याधि की तरह मूलोच्छेद करना उचित है ।

अस्तु यह निश्चय कर यह दुराशा डाकण की तरह उस समय की राह देखने लगी ।

सेठ क्षण भर विश्राम कर फिर बाहर गया । इधर मूला ने एक नापित को बुलाकर चंदना के मस्तिष्क को मुडित किया । तत्परचा, उसके पैरों का बेड़ी में बांधा । क्रोध रूप राक्षस के वशीभूत हुई मूला लता को हस्तिनी की तरह चंदना को बहुत ताड़ित किया ।

तत्परचात् घर के एक दूर के विभाग (ओरड़े) में चन्दनाको पूरी तरह कपाट से बंधकर मूला ने स्वयं के परिवार को कहा—यदि श्रेष्ठ इस विषय में किसी प्रकार प्रश्न पूछे तो किसी को भी कुछ नहीं कहना है । यदि कोई कहेगा तो वह हमारे कोपरूप अग्नि में आहुति रूप होगा ।

इस प्रकार नियंत्रणा कर मूला स्वयं के पियर चली गयी ।

सांयकाल सेठ अपने घर आया । चंदना को न देखकर—पूछा कि चंदना कहाँ है । चंदना के भय के कारण किसी ने भी उत्तर नहीं दिया । सेठ ने विचार किया कि हमारी वत्सा चंदना कुछ रमती होगी अथवा घर के ऊपर होगी ।

इसी प्रकार रात्रि में वापस पूछा परन्तु किसी ने भी कुछ नहीं कहा । सरल स्वभाव बुद्धि वाले सेठ ने यह चिन्तन किया कि चंदना सो गई होगी ।

इस प्रकार दूसरे दिन तीसरे दिन भी चंदना को नहीं देखा। फलस्वरूप शंका और कोप से आकुल-व्याकुल हुआ सेठने परिजन को पूछा—अरे सेवको ! तुम कहो कि हमारी पुत्री चन्दना कहाँ है ? यदि तुम जानते हुए नहीं कहते हो तो मैं तुम सबों का निग्रह कर दूँगा।

यह बात सुनकर किसी वृद्धदासी ने चिंतन किया कि मैं बहुत वर्षों से जीवित हूँ, अब मेरी मृत्यु भी नजदीक है। इसलिये मैं कदाचित् का वृत्तांत प्रकाशित कर दूँ तो मूला मेरा क्या कर सकती है।

यह विचार कर उसने मूला और चंदना की सारी बात सेठ को कही। बाद में वह वृद्धा जाकर जहाँ चंदना को कोठे में बंद किया था उस घर को सेठ को बताया।

अस्तु धनावह सेठ स्वयं की मेल से उसका द्वार खोला। वहाँ चोर से खींची हुई लता की तरह क्षुधा-तृष्णा से पीड़ित, नवीन पकड़ी हुई हस्तनी की तरह बेड़ी से बांधी हुई भिक्षु की तरह मस्तिष्क मुंडित की हुई और जिनके नेत्रकमल अश्रु से पूरित हैं—ऐसी चंदनाको धनावह सेठ ने देखी।

सेठने उसे कहा कि वत्स ! तुम स्वस्थ थी। ऐसा कहकर नेत्र में से अश्रु गिराते सेठ उसे भोजन कराने के लिए रसवती लेने के लिए चपल गति से रसोई घर में गया परन्तु दैवयोग से वहाँ कुछ भी अवशेष भोजन देखने में नहीं आया। इस कारण सुपडे के खोणे में से पड़े हुए कुल्माष उसने चंदना को दिया और कहा—हे वत्स ! मैं तुम्हारी बेड़ी तोड़ने के लिए लुहार को बुलाकर लाता हूँ। वहाँ तक तुम इस कुल्माष का भोजन करो। इस प्रकार कहकर सेठ बाहर गया। इधर चंदना खड़ी-खड़ी विचार करने लगी कि—अहो ! हमारा राजकुल में जन्म कहाँ और इस समय ऐसी स्थिति कहाँ ? इस नाटक जैसे संसार में क्षण में वस्तु मात्र अन्यथा हो जाती है। यह सब मैंने अनुभव किया है। अहो ! अब मैं क्या उसका प्रतिकार करूँ।

आज मुझे अष्टम तप के पारणे में यह कुल्माष प्राप्त हुआ है परन्तु यदि कोई अतिथि आये तो उसे प्रतिलाभित कर फिर भोजन करूँ। अन्यथा भोजन नहीं करूँगी।

यह विचार कर उसने द्वारपर दृष्टि दी। उस समय तत्काल श्री वीरप्रभु भिक्षा के लिए फिरते-फिरते वहाँ आये। उनको देखकर—अहो ! ये कैसे शुद्ध पात्र, अहो ! ये कैसे उत्तम पात्र। अहो ! मेरे पुण्य का संचय कैसा है कि जिस कारण से यह कोई महात्मा भिक्षार्थ यहाँ अचानक प्राप्त हुए हैं।

इस प्रकार चिंतन कर चंदनबाला ने कुल्माष वाला सुपड्ड हाथ में लेकर एक पैर उमरा के अंदर और एक पैर बहार निकाल कर खड़ी रही। बेड़ी के कारण उमरा को उल्लंघन करने में असमर्थ ऐसी बाला वहाँ रहकर आर्द्र हृदय वाली भक्ति से भगवान् को बोलीं—हे प्रभो ! क्या यह भोजन आपके लिये अनुचित है तथापि आप परोपकार में तत्पर हैं। इस कारण आप इसे ग्रहण कर मेरे पर अनुग्रह करना चाहिये।

द्रव्य—क्षेत्र काल-भाव से शुद्ध प्रकार से अभिग्रह पूर्ण हुआ जानकर प्रभु ने कुल्माष को भिक्षार्थ स्वयंका हाथ प्रसारित किया। उस समय अहो ! मुझे धन्य है। इस प्रकार ध्यान करती हुई चंदना सुपडे के एक खुणे से वह कुल्माष प्रभु के हाथ में दिया।

भगवान् का अभिग्रह पूर्ण होने से देव प्रसन्न होकर वहाँ आये

नोट—इस समय चन्दना के नेत्रमें आँसु नहीं थे अतः प्रभु अभिग्रह की अपूर्णता जानकर वापस पधारें । फलस्वरूप चन्दना को पारावार खेद हुआ । अतः इससे आँखों में अश्रुधारा बह निकली । प्रभु अभिग्रह पूर्ण हुआ जान कर वापस पधारें । चंदना से हाथ में दान लिया । यह अन्यत्र कथन है ।

(ङ) कदाचिच्चेटकाख्यस्य नृपतेश्चन्दनात्रिधाम् । सुतां वीक्ष्य वनक्रीडासक्तां कामशरातुरः । ३३८॥
कृतोपायो गृहीत्वैनां कश्चिद्गच्छन्नमश्चरः । पश्चाद्भीत्वा स्वभार्याया महाटव्यां व्यसर्जयत् ॥३३९॥
वनेचरपतिः कश्चित्तत्रालोक्य धनेच्छया । एनां वृषभदत्तस्य वाषिजस्य समर्पयत् ॥३४०॥
तस्य भार्या सुभद्राख्या तथा संपर्कमात्मनः । वणिजः शंकमानासौ पुराणं कोद्रवौदनम् ॥३४१॥
आरनालेन संमिश्रं शरावे निहितं सदा । दिशती शृंखलाबन्धभागिनीं तां व्यधाद्रूपा ॥३४२॥
—उत्तपु० पर्व ७४

(ढ) अथ चेटकराजस्य चन्दनाख्यां सुतांसतीम् । वनक्रीडासमासक्तां कश्चित्कामातुरः खगः । ३४३॥
वीक्ष्योपायेन नीत्वाशु गच्छन् पापपरायणः । पश्चाद्भीत्वा स्वभार्याया महाटव्यां व्यसर्जयत् ॥३४४॥
स्वैनः कर्मोदयं ज्ञात्वा सा तत्रैव महासती । जपन्ती सन्नमस्कारान् धर्मध्यानपराभवत् ॥३४५॥
वनेचरपतिः कश्चित्तत्रालोक्य धनेच्छया । नीत्वा वृषभसेनस्य समर्पयद्वणिकूपतेः । ३४६॥
श्रेष्ठिभार्या सुभद्राख्या दृष्ट्वा तद्रूपसंपदः । भविता मे सपत्नीयमिति शंकां व्यधाद् हृदि ॥३४७॥
ततस्तद्रूपहान्यै सा पुराणं कोद्रवौदनम् । आरनालेन सम्मिश्रं शरावे निहितं सदा ॥३४८॥
ददती चन्दनयाश्चशृंखला बंधनं व्यधात् । तत्रापि सा सती दक्षा नात्यजर्द्धमभावनाम् । ३४९॥
—वीरवर्धच० अधि १३

जब भगवान् महावीर छत्रमस्थावस्था का वारहवाँ वर्ष व्यतीत कर रहे थे—उस समय चेटक राजा की वन क्रीड़ा में आसक्त चंदना नामकी सती पुत्री को देखकर कोई कामातुर और पाप-परायण विद्याधर किसी उपाय से उसे शीघ्र ले उड़ा और आकाश मार्ग से जाते हुए उसने अपनी भार्या के भय में पीछे किसी महाअटवी में उसे छोड़ दिया ।

तब वह महासती अपने पाप कर्मोदय को जानकर पंचनमस्कार मंत्र को जपती हुई उसी अटवी में धर्मध्यान में तत्पर होकर रहने लगी ।

वहाँ पर किसी भौलों के राजा ने उसे देखकर धन-प्राप्ति की इच्छा से ले जाकर वृषभ सेन नाम के वेश्यपति को सौंप दी ।

सुभद्रा नाम की उस मेठ की स्त्री ने उसकी रूप-संपदा को देखकर 'यह मेरी सौत बनेगी' ऐसी शंका को मन में धारण किया ।

तब उसने उसके रूप सौन्दर्य की हानि के लिए (उसके केश मुंडा दिये और) साँकल से बांधकर (उसे एक काल कोठरी में बन्द कर दिया) तथा आरनाल (काँजी) से मिश्रित कोदो का भात मिट्टी के सिक्कोरे में रखकर उसे नित्य खाने को देने लगी । ऐसी अवस्था में भी उन सती ने अपनी धर्म भावना को नहीं छोड़ा ।

(ण) अन्येद्युर्वत्सदेशेऽत्रतकौशाम्बीपुरं परम् । कायस्थित्यै महावीरः प्राविशद्द्रागद्वरगः ॥६१॥
 पात्रोत्तमं तमालोक्य विच्छिन्न बंधनाभवत् । तद्दानाय तदा प्रत्युद्व्रजन्ती चंदना शुभात् ॥६२॥
 ततो नीलालिभाकेशभारस्त्रभूषणाङ्किता । । गत्वा सा विधिना नत्वा प्रतिजग्राह सन्मतिम् ॥६३॥
 शीलमाहात्म्यतस्तस्या अभवत्कोद्रवोदनम् । शाल्यन्नं तच्छरावं च पृथुकाञ्चनभाजनम् ॥६४॥
 अहो पुण्यविधिः पुंसां विश्वानघटितानपि । घटयत्येव दूरस्थान् मनोऽभीष्टान्न संशयः ॥६५॥
 ततोऽस्मै परया भक्त्या तदन्नदानमूर्जितम् । नवप्रकारपुण्याढ्या ददौ सा विधिना मुदा ॥६६॥
 तत्क्षणाजितपुण्येन सा चापाश्चर्यपंचकम् । संयोगं बन्धुभि सार्धं दानात्कि नाप्यतेऽत्रमोः ॥६७॥
 जगद्व्यापि यशस्तस्या अभवच्छशिनिर्मलम् । इष्टबन्ध्वादिवस्तूनां सङ्गमोऽभूत्सुदानतः ॥६८॥
 —वीरवर्धमानच० अधि १३

किसी एक दिन उन महावीर प्रभु ने राग से रहित होकर शरीर-स्थिति के लिए वत्सदेशकी इस कौशाम्बीपुरी में प्रवेश किया । उन उत्तमात्र महावीर प्रभु को देखकर चंदना के भाव दान देने के हुए । पुण्योदय से उसके बंधन तत्कात्र टूट गये । सिर काले भौरों के सामान केशभारसे, और शरीर माला-आभूषणों से युक्त हो गया । तब उसने सामने जाकर और उन्हें नमस्कार कर सन्मति प्रभु को पडिगाह लिया ।

उसके शील के माहात्म्य से कोदों का भात शालि चावलों का हो गया और वह मिट्टी का सिकोरा विशाल सुवर्ण पात्र बन गया । आचार्य कहते हैं कि अहो, यह पुण्य कर्म पुरुषों को समस्त अघटित और दूरवर्ती भी अभीष्ट मनोरथों को स्वयमेव घटित कर देता है, इसमें कोई संशय नहीं है ।

तब उस चंदना सती ने परम भक्ति के साथ नव प्रकार के पुण्यों से युक्त होकर अर्थात् नवधा भक्ति पूर्वक विधि से हर्षित होते हुए श्री महावीर प्रभु को वह उत्तम दान दिया ।

इस महान् दान के प्रभाव से उसी समय उपाजित पुण्य के द्वार वह पंचाश्रयों को प्राप्त हुई और सभी बंधुओं के साथ उसका संयोग भी हो गया ।

अहो ! पुण्य से क्या नहीं प्राप्त होता है ।

उस चन्दना का सुदान के प्रभाव से चंद्रमा के समान निर्मल यश जगत् में व्याप्त हो गया और इष्ट बंधु-जनों और इष्ट वस्तुओं का भी सगम हो गया ।

(त) अण्णहिं दिणि भव्व-समुद्धरणु ॥ पिंडत्थिउ जाणिय-जीव-गइ । कोसंवी-पुर-वरि पइसरइ ॥
 प्पित्ता-णियल-णिरुद्ध पयाइ चेडय-णिव-दुहियाइ ॥ आविवि संमुहियाइ पणवेघिणु दुहियाइ ॥४७॥
 —वीरजि० संधि २।३७४

एक दिन श्रमण भगवान् महावीर भव्यों के उद्धार की भावना रखते हुए तथा जीवों की विचित्र-गति को समझते हुए आहार के निमित्त कौशाभ्बीपुरी में प्रविष्ट हुए ।

सभी सांकल के बंधे हुए पैरों से युक्त उस दुःखी चेटक राजपुत्री ने भगवान् के समुख आकर प्रणाम किया ।

.२—अभिग्रह फलित होने पर देवों द्वारा वृष्टि

(क) कोइव - सित्थइँ सरावि कयइँ । सउवीर - विमीसइँ ह्यमयइँ ॥
 मुणि - णाहहु करयलि ढोइयइँ । तेणवि णियदिट्ठिइँ जोइयइँ ॥
 जायाइँ भोज्जु रस - दिण्ण-दिहि । अट्टारहा - खण्ड - पयार - विहि ॥
 जिण - दाण - पहावँ दुइमइँ । आयस - घडियइँ रोहिय - कमइँ ॥
 सज्जण - मण - णयणाणंदणहि । परिगलियइँ णियलइँ चंदणहि ॥

—वीरजि० संधि २/कडू

अमरहिँ महुर - मुह - पेल्लियइँ । कुंदइँ मंदारइँ घल्लियइँ ॥
 रयणाइँ वण्ण - दब्बुरियाइँ । पसरंत - किरण - विण्णुरियाइँ ॥
 ह्य दुंदुहि साहुक्कारु कउ । गुणि - संगेँ कारुण जाउ जउ ॥
 कण्णहि गुणोहु विउसेहिँ थुउ । सहुँ बंधवेहिँ संजोउ हुउ ॥

—वीरजि० संधि २/कडू

परेध्वर्त्सदेशस्य कौशाम्बीनगरान्तरम् । कायस्थित्यै विशन्तं तं महावीरं विलोक्य सा ॥३४३॥
 प्रत्युद्ब्रजन्ती विच्छिन्नशृङ्खलाकृतबंधना । लोलालिकुललीलोरुकेशभाराच्चलाचलात् ॥३४४॥
 विगलन्मालतीमालादिव्याम्बरविभूषणा । नवप्रकारपुण्येशा भक्तिभावभरानता ॥३४५॥
 शीलमाहात्म्यसंभूतपृथुहेमशराविका । शाल्यन्नभाववत्कोद्रवौदनं विधिवत्सुधीः ॥३४६॥
 अन्नमाश्राणयत्तस्मै तेनाप्याश्चर्यपंचकम् । बंधुभिश्च समायोगः कृतश्चन्दनया तदा ॥३४७॥

—उत्तपु० पर्व ७४

(ख) पंच दिव्याणि पाउब्भूयाणि, ते वाला तदवत्था चेव जाया, नियलाणि फिट्टाणि, सोवन्नयाणि नेउराणि जायाणि, देवेहिय सव्वालंकारा कया, सक्को देवराया आगतो, वसुहाराए पमाणं अड्ढतेरस हिरण्ण कोडी, कोसंबीए य सव्वतो उरघुट्टं—केणइ पुण्णं तेण अज्ज सामी पडिलाहितो, ताहे राया संतेउरयरियणो आगतो, तत्थ संपुलो नाम दहिवाहणस्स कंचुकी, सोरणा बंधित्ता आणीतो, सोऽविरण्णा सहत्तथागतो, तेणसा चंदणा पच्चभिजाणिया, पच्छा पाएसु पडिऊण परुन्नो, राया पुच्छति—काएसा ? तेण से कहियं, जहा-एसा दहिवाहणस्स रण्णो दुहिया, मियावती भणइ-मम भागिणिधूया, अमच्चोवि सपत्तीतो आगतो सामी वंदइ, सामीविनिग्गतो, ताहे रायात्तं वसुहारं पगहिओ, सक्केण वारितो, जस्स एसा देइ तस्स आभवइ, सा पुच्छिया भणइ—ममपिउणो, ताहे सक्केण सयाणितो भणितो-एसा चरमसरीरा एवं संगोवाहि जावसामिस्स नाणं उप्पज्जइ, एसा पढमसिस्सिणी, ताहे कन्नं तेउरे हूढा संचिट्ठइ, छम्मासा तथा पंचहिँ दिवसेहिँ उणगा अभिगहस्स गहियस्स जाया जद्विस्सं सामिणा भिक्खालद्धा, सावि मूला लोणेण अंबाडिया हीलियाय । अमुमेवार्थं सज्जिघृक्षुराह—

(ग) स्वाम्यभिप्रहसंपूर्त्या प्रीतास्तत्राययुः सुराः । वसुधाराप्रभृतीनि पंच दिव्यानि चव्यधुः ॥५८०॥
 तुवुडुनिगडास्तस्यास्तत्पदे कांचनानि च । जज्ञिरे नू पुराण्यासीत् केशपाशश्च पूर्ववत् ॥५८१॥
 सर्वांगोणं च तत्कालं रत्नकालंकारधारिणो । श्रीवीरभक्तैर्विदधे विबुधैरथ चन्दना ॥५८२॥
 उत्कृष्टनादं विदधू रोदः कुक्षिभरि सुराः । जगुश्च ननृतुश्चोच्चै रंगाचार्या इवोन्मुदः ॥५८३॥
 मृगावतीशतानीकौ सुगुप्तो नन्दया सह । तत्रैयुः सपरीवाराः श्रुत्वातं दुन्दुभिध्वनिम् ॥५८४॥
 आययौ देवराजोऽपि शक्रो मुदितमानसः । संपूर्णाभिग्रहं नाथं नमस्तकतुं द्रुतद्रुतम् ॥५८५॥
 दधिवाहनराजस्य संपुलो नाम कचुकी । चंपावस्कन्द आनीतो राज्ञा मुक्तस्तदैवहि ॥५८६॥
 तत्रायातो वसुमतीं दृष्ट्वा तत्पादयोर्नतः । विमुक्तकण्ठमरुद्रत् सद्यस्तामपि रोदयन् ॥५८७॥
 किं रोदिषीति राज्ञोक्तः साश्रुः प्रोवाच कंचुकी । दधिवाहनराजस्य धारिण्याश्चेयमात्मजा ॥५८८॥
 तादृग्विभवविभ्रष्टा पितृभ्यां रहिता च हा । इयं वसत्यन्यगृहे दासीवत्तेन रोदिमि ॥५८९॥
 राजाऽप्युचे न शोच्येयं संपूर्णाभिग्रहो यया । जगत्त्रयत्राणवीरः श्रीवीरः प्रतिलाभितः ॥५९०॥
 मृगावत्यप्यभाषिष्ट धारिणी भगिनि मम । इयं तद्दुहिता बाला ममापि दुहिता खलु ॥५९१॥
 पंचाहन्यूनपणमासतपःपर्यन्तपारणम् । कृत्वा धनावहगृहान्निर्ययौ भगवानपि ॥५९२॥
 वसुधारामथाऽऽदित्सु लोभप्रावलयतो नृपम् । व्याजहार शतानीकं सौधर्माधिपतिः स्वयम् ॥५९३॥
 नेह स्वस्वामिभावो यद्रत्नवृष्टिं जिवृक्षसि । यस्मै ददाति कन्येयं स एव लभते नृप ! ॥५९४॥
 गृह्णात्विमां क इत्युक्ता राज्ञा प्रोवाच चन्दना । अयं धनावहः श्रेष्ठी पिता हि मम पालनात् ॥५९५॥
 जग्राह वसुधारां तां ततः श्रेष्ठीधनावहः । भूयोऽप्याखंडलोऽवोचच्छतानीकनरेश्वरम् ॥५९६॥
 बाला चरमदेहेयं भोगवृणापराङ्मुखी । भविष्यत्यादिमा शिष्यात्पन्ने वीरस्य केवले ॥५९७॥
 आस्वामिकेवल्लोत्पत्ति रक्षणीया त्वया ह्यसौ । इत्युक्त्वा मघवा नाथं नत्वाच त्रिदित्त्वं ययौ ॥५९८॥
 कन्यकाऽन्तःपुरे निन्ये शतानीकेन चन्दना । सा स्वामिकेवल्लोत्पत्ति तत्र ध्यायन्त्यवास्थित ॥५९९॥
 अनर्थमूलं मूला च श्रेष्ठिता निरवास्यत । अपध्यानवती साऽथ विपद्य नरकं ययौ ॥६००॥

—त्रिशलाका० पर्व १० । सर्ग ४

भगवान् का अभिग्रह पूर्ण होने के कारण देव प्रसन्न होकर वहाँ आये । और उन्होंने वसुधारा आदि पांच दिव्य प्रगट किये । तत्काल चंदनबाला को बेड़िये टूट गयी । उसके स्थानपर मुवर्ण के नृपुत्र ही गये । और केशपाश पूर्व की तरह सुशोभित हो गये ।

श्री वीरप्रभु के भक्त देवगण तत्काल चंदना को (सर्व अंग में) वस्त्रालंकार से सुशोभित किया ।

तत्पश्चात् देव पृथ्वी और अंतरिक्ष के उदर को पूरि करे वैसे उत्कृष्ट नादकर मुवधार की तरह हर्ष को प्राप्त होते हुए गीतनृत्यादिक करने लगे ।

दुन्दुभि की ध्वनि का सुनकर मृगावती और शतानीक राजा तथा सुगुप्त मंत्री और नंदा मोटे परिवार के साथ वहाँ आये ।

देवपति शक्रेन्द्र भी पूर्ण अभिग्रह वाले प्रभु को वंदन करने के लिए मन में हर्ष को प्राप्त—प्राप्त वेग से वहाँ आया ।

अस्तु दहिवाहन राजा का संपुल नामक एक कंचुकी था । उसने जिन समय चंपानगरी को लूटा उस समय वहाँ से शतानिक राजाने पकड़ कर लाया था । उसे इस समय मेंही छोड़ देने से वह भी वहाँ आया । फलस्वरूप स्वयं के राजा की पुत्री वसुमती को देखकर उसके पैरों में पड़ गया और खुले कंठों से रुदन करने लगा । इससे उस बाला को भी रुदन आया वह बाला भी रोने लगी ।

यह देखकर शतानिक राजाने उसे पूछा कि तुम क्यों रो रहे हो । तब उस कंचुकी ने अश्रुधारा सहित कहा—कि महाराज ! दधिवाहन राजा की धारिणी रानी की यह पुत्री है । अहो ! कैसे उत्कृष्ट वैभवमे भूष्ट होकर माता-पिता के बिना यह बाला हमरों के घर में दामी की तरह रहती है । यह देखकर मैं रोने लगा ।

तब राजा ने कहा कि हे भद्र ! यह कुमारी शोक करने योग्य नहीं है, क्योंकि उसने तीन जगतको रक्षण करने में शूरवीर ऐसे वीर प्रभुका अभिग्रह पूर्णकर प्रतिलाभित किया है ।

उस समय मृगावती ने कहा—अरे ! धारिणी तो हमारी बहिन भी होती है उसकी यह दुहिता है । तब हमारी भी यह दुहिता है ।

तत्पश्चात् वर्धमान—महावीर छः मास में पाँच दिन न्यून तप का पारणा कर धनावह सेठ के घर से बाहर निकले ।

अस्तु भगवान् के विहार करने के बाद लोभ की प्रबलता से शतानिक राजा उस वसुधारा का धन लेने की इच्छा की । तब सौधर्मपति ने शतानिक राजा को कहा—हे राजन् ! तुम यह रत्नवृष्टि लेने की इच्छा करते हो परन्तु इस द्रव्य पर तुम्हारा स्वामीभाव नहीं है ।

इस कारण यह कन्या जिसका दी जायेगी वह यह द्रव्य ले सकता है । राजा ने चंदना को पूछा कि—चंदना ! यह द्रव्य कौन ले सकता है । प्रत्युत्तर में चंदना ने कहा कि—यह धनावह सेठ यह द्रव्य ग्रहण करेगा—क्योंकि हमने मेरा प्रतिपालन करने से मेरा पिता है ।

तत्पश्चात् धनावह सेठ ने वसुधारा का द्रव्य ग्रहण किया । बाद में इन्द्र ने दूसरी बार शतानिक राजा को कहा कि यह बाला चरम शरीरी, और भोगतृष्णा से विमुख है ।

इस कारण जिस समय वीरप्रभु को केवल ज्ञान होगा—उस समय वह उनकी प्रथम शिष्या होगी ।

उमलिए जहाँ तक प्रभु को केवल ज्ञान न उत्पन्न हो । वहाँ तक इस कन्या का रक्षण करना ।

इस प्रकार कह कर—प्रभु को नमस्कार कर इन्द्र देवलोक में गया ।

अस्तु राजा शतानिक चंदना को स्वयं के घर ले गया और कन्याओं के अंतःपुर में उसे रखा ।

चंदना भी प्रभु का केवलज्ञान की उत्पत्ति का ध्यान करती हुई वहाँ रही ।

पूर्व जो धनावह सेठ की स्त्री मूला सेठाना—जो अनर्थ का मूल कारण थी । उसे धनावह सेठ ने निकाल दिया ।

वह दुर्ध्यान करती हुई मृत्यु प्राप्त कर नरक गयी ।

३. भगवान् महावीर से दीक्षा ग्रहण—

इतश्च चन्दना तत्र शतानीकगृहस्थिता । पश्यन्ती यान्तमायान्तं दिविषज्जनमम्बरे ॥१६१॥
 स्वामिनः केवलोत्पत्तिनिश्चयाद्वतकांक्षिणी । त्रिदशैरदवीयोभिर्निन्द्ये श्री वीरपर्वदि ॥१६२॥
 सात्रिः प्रदक्षिणीकृत्य नत्वा चोपास्थित प्रभुम् । प्रत्रज्यार्थं नृपाऽमात्यपुत्रयो बह्व्योऽपरा अपि ॥१६३॥
 चन्दनां धुरि कृत्वाताः स्वयं प्रात्राजयत् प्रभुः । अस्थावयच्छ्रावकत्वे नृन्नारीश्च सहस्रश ॥१६४॥
 —त्रिशलाका० १० पर्व सर्ग ६

भगवान् महावीर की द्वितीय देशना अपापा नगरी में थी—उस समय शतानिक राजा के घर में रही हुई चंदन बाला ने आकाश मार्ग में देवों का आवागमन देखा । उसके कारण वर्धमान महावीर को केवल ज्ञान समुत्पन्न हुआ है—ऐसा निश्चय होने के कारण उसको व्रत ग्रहण करने की इच्छा हुई ।

तत्पश्चात् नजदीक में रहे हुए किसी देव ने उसे श्री वीर प्रभु की परिषद् में उठा कर रखा । चंदनबाला ने भगवान् की वदन—नमस्कार, किया और दीक्षा ग्रहण के लिए तत्पर हुई तथा भगवान् के सम्मुख खड़ी हो गयी ।

उस समय अन्य अन्य भी अनेक राजा तथा अमात्यों की पुत्रियाँ दीक्षा ग्रहण करने के लिए तैयार हुई ।

भगवान् ने चंदना को आगे कर उन सबको दीक्षा ग्रहण करवायी । उस समय हजारों नर-नारियों ने श्रावक के बारह व्रतों को ग्रहण किया

४. भगवान् महावीर की मुखिया — चंदना साध्वी

बम्हप्यकुज्जणाभा धम्मसिरी मेहसेणअयणंता । तह रत्तिसेणा मीणा वरुणा घोसाय धरणाय ।
 चारणवरसेणाओ पम्मासव्वरिससुव्वदाओ वि । हरिसेणभावियाओ कुंथूमधुसेणपुव्वदत्ताओ ।
 मग्गिणिक्रिखसुलोया चंदणणामाओ उसहपहुदीणं एदा पढमगणीओ एककेक्का सव्वविरदीओ ॥
 —तिलोप० अधि ४/गा १४७८ से ११८०

ब्राह्मी यावत् चंदना नामक ये एक-एक आर्थिकार्ये कम से ऋषमादिक के तीर्थ में रहनेवाले आर्थिकार्यों के समूह में मुख्य थी ।

अतः भगवान् महावीर के समस्त साध्वियों में आर्य चंदना प्रमुख थी ।

५. चंदना आर्या को केवलज्ञान की उत्पत्ति—

एवंच बोधयन् भव्यानम्भोजानीव भास्करः । भूयो जगाम कौशाम्बी नगरीं परमेश्वरः ॥३३७॥
 प्रमोश्चरमगौहस्यां वन्दनायेन्दुभास्करौ । स्वाभाविकविमानस्थौ तस्यां युगपदेयतुः ॥३३८॥
 तयोर्विमानतेजोभिर्नभभ्युद्योतिते सति । लोकस्तथैव तत्राऽस्थात् कौतुकव्यग्रमानसः ॥३३९॥
 विज्ञायोत्थानसमयं चंदना तु प्रवर्तिनी । वीरं प्रणाम्य वसति स्वां ययौ सपरिच्छदा ॥३४०॥
 मृगावती तु तत्रस्थमार्तण्डोद्यततेजसा । नाज्ञासीद्रात्रिमायातां तत्रैवाऽस्थाद्दिनभ्रमात् ॥३४१॥

चंद्रार्कयोगतवतोर्जात्वा रात्रि मृगावती । प्रतिश्रयमुपेयाय चकिता काललंघनात् ॥३४२॥
 तामूचे चंदना साध्वि ! कुलीनायास्तवेदशम । किं युज्यते ! यन्नशायां बहिरैकाकिनी स्थिता ॥३४३॥
 इत्युक्ते चंदनां तस्या क्षमयन्त्या मुहुर्मुहुः । घातिक्षयान्मृगावत्या उदपद्यत केवलम् ॥३४४॥
 निद्रान्त्याश्च प्रवर्तिन्या भुवो बाहुमुदक्षिपत् । तत्पाश्वे यान्तमुरगं दृष्ट्वा कैवलशक्तितः ॥३४५॥
 प्रबुद्धया चंदनया पृष्टा किं बाहुर्दधृतः । महाहिरिह यातीति शशंस च मृगावती ॥३४६॥
 भूयोऽपि चन्दनाऽवोचत्सूचीभेद्ये तमस्यपि । मृगावती ! कथं दृष्टस्त्वयाऽहिर्विस्मयोमम ॥३४७॥
 मृगावती भगवतीत्याचक्षे प्रवर्तिनि । उत्पन्नकेवलज्ञानचक्षुषा ज्ञातवत्यहम् ॥३४८॥
 केवलयाशातनीं धिङ्मामित्यश्रान्तं स्वगर्हया । उत्पेदे केवलज्ञानं चन्दनाया अपि क्षणात् ॥३४९॥
 —त्रिशलाका० पर्व १०/सर्ग ८

एकदा भगवान् महावीर का कौशम्बी में पदार्पण हुआ—दिन के अंतिम प्रहर में चंद्र-सूर्य स्वाभाविक विमान में बैठकर भगवान् को वदनार्थ आये । उनके विमान के तेजसे आकाशमें उद्योत हुआ देखकर लोग कौतुकसे वहाँ बैठे रहे ।

रात्रि पड़नेसे स्वयं के उठने का समय देखकर चंदना साध्वी स्वयं के परिवार के साथ वीरप्रभु को नमस्कार स्वयं उपाश्रय में गयी । परन्तु मृगावती सूर्य के उद्योत के तेजसे दिव्य के भ्रमसे रात्रि हुई—नहीं जानी । इस कारण वह वहाँ बैठे रही ।

तत्पश्चात् जिस समय चंद्र-सूर्य चले गये उस समय मृगावती रात्रि हुई जानकर कालातिक्रम के भयसे चकित होकर उपाश्रय में आयी ।

चंदना ने उसे कहा—अरे मृगावती ! तुम्हारी जैसी कुलीन स्त्री को रात्रि में अकेली बाहर रहना क्या उचित है । यह वचन सुनकर वह चंदना आर्या को बारम्बार खमाने लगी । ऐसे करते-करते शुभ भाव से घाती कर्म के क्षय से मृगावती को केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

उस समय निद्रावश हुई चंदना के पड़खे से सर्प जा रहा था—उसको केवलज्ञान की शक्ति से देखकर मृगावती ने उसका हाथ संथारापर से ऊँचा किया । इससे चंदना ने जागारित होकर पूछा—मेरा हाथ ऊँचा क्यों किया ? मृगावती बोली—यहाँ मोटा सर्प जा रहा था । चंदना ने वापस पूछा—अरे मृगावती ! हम सोये हुए थे—तब तुमने गाढ़ अंधकार में सर्प को कैसे जाना । इससे मुझे विस्मय होता है ।

मृगावती बोली—हे भगवती ! मुझे उत्पन्न हुआ केवल ज्ञान रूपी चक्षु से देखा ।

यह सुनकर—बोली अरे केवल ज्ञान की आशातना करने वाली मुझे धिक्कार है—

इस प्रकार स्वयं की आत्मा की निंदा करने से आर्या चंदना को भी केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ ।

अध्ययन, गाथा, सूत्र आदि को संकेत-सूची

| | |
|------|-----------------|
| अ | अध्ययन, अध्याय |
| आव | आवश्यक |
| उ | उद्देश, उद्देशक |
| गा | गाथा |
| चू | चूर्णी |
| पृ | पृष्ठ |
| दिग् | दिगम्बर |
| श | शतक |
| श्रु | श्रुतस्कंध |
| श्लो | श्लोक |
| श्वे | श्वेताम्बर |
| सम | समवाय |
| सू | सूत्र |
| स्था | स्थान |
| कड | कडवक |
| भा | भाग |
| नि | निर्युक्ति |
| मलय | मलयगिरि |

—:०:—

संकलन-सम्पादन-अनुसंधान में प्रयुक्त ग्रंथों की सूची

आयारो—(जैन आगम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, (वर्तमान नाम—
युवाचार्य श्री महाप्रज्ञ) प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

सूयशाडो—(जैन आगम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन विश्व
भारती लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

ठाणं—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन विश्व भारती
लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

समवाओ—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन विश्व
भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

भगवई—(विवाहपण्णनी)—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल,
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

नायाधम्मकहाओ—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—
जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

उपासगदसाओ—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन
विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

अन्तगडदसाओ—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन
विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

अणुत्तरोववाइयदसाओ—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल,
प्रकाशक—जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

पण्हावागरणाई—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन
विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

विवागसूयं—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—जैन विश्व
भारती, लाडनूँ (राजस्थान) वि० सं० २०३१

ओववाइयं—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—श्री जैन
श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा ई० सं० १९७०

रायपसेणइयं (जैनागम)—सम्पादक—स्वर्गीय पं० बेचरदासजी डोशी, प्रकाशन—गुर्जरग्रन्थरत्न कार्यालय
अहमदाबाद-१९३६

जीवाजीवाभिगमो—(जैनागम)—समलयगिरिप्रणीत विवृति-प्रकाशक—देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारक
फण्ड, सूरत

पणवणासुत्तं—(जैनागम)—समलयगिरिकृत वृत्ति-दी भाग, प्रकाशक—आगमोदय समिति, मेहसाना ।

जंबुदीवपणत्तो—(जैनागम)—शान्तिचन्द्र विहित वृत्ति-प्रकाशक देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धार फण्ड,
सूरत १९२०

चंदपणत्तो—(जैनागम)—प्रकाशक—लाला सुख सहाय, ज्वाला प्रसाद-हैदराबाद

सूरपणत्तो—(जैनागम)—प्रकाशक—समलयगिरिविहित विवरण प्रकाशक—आगमोदय समिति, मेहसाना

निरयावल्लियाओ—(जैनागम)—सम्पादन गोपानी तथा चौकसी, प्रकाशन—गुर्जर ग्रन्थ रत्न कार्यालय,
अहमदाबाद-१९३४

ववहारो—(जैनागम)—सम्पादन—प्रो० बोल्थर श्युत्रिग प्रकाशन—डा० जीवराज घेलाभाई डोसी,
अहमदाबाद-१९२५

विहकप्पो—(जैनागम)—६ भाग-सम्पादन—चतुर विजय, पुण्य विजय प्रकाशन—श्री आत्मानन्द जैन
सभा, भावनगर-१९३४ से १९४२ । (निर्युक्ति भाष्य टीका)

निस्तीहज्झयणं—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—श्री जैन
श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता, सन् १९६७

दसासुयक्खंधो—(जैनागम)—सम्पादक व अनुवादक आत्मारामजी महाराज, प्रकाशक—जैन शास्त्रमाला,
लाहौर १९३६

दसवेअलियं सुत्तं—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा-कलकत्ता-१, वि० सं० २०२३

उत्तरज्झयणाइं—(जैनागम)—वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, सम्पादक—मुनि नथमल, प्रकाशक—
श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता-१, वि० सं० २०२३

नंदीसुत्तं—(जैनागम)—सम्पादक मुनि पुण्य विजय, पं० दलसुख मालवणिया, प्रकाशक—श्री महावीर
जैन विद्यालय, बम्बई १९६८

अणुओगद्वाराइं—(जैनागम)—सम्पादक—मुनि पुण्य विजय, पं० दलसुख मालवणिया, प्रकाशक—
श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९६८

आवस्सयं सुत्तं—(जैनागम)—प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर जैन शास्त्रीद्वार समिति राजकोट

कप्पसुत्तं—प्रकाशक—साराभाई मणिलाल नवाब-अहमदाबाद १९४१

आचारांग चूर्णी—रचयिता—जिनदास गणि, प्रकाशक—ऋषभदेव केशरीलाल संस्था, रतलाम-१९४१

आवश्यक चूर्णी(भाग २) —रचयिता—जिनदास गणि, प्रकाशक—ऋषभदेव केशरीलाल संस्था रतलाम-१९२८

आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु—मलयगिरि वृत्ति सहित प्रकाशक—आगमोदय समिति, बम्बई १९२८

आवश्यक निर्युक्ति—आचार्य भद्रबाहु—हारिभद्रीय वृत्ति सहित, आगमोदय समिति, बम्बई १९१६

आचारांग टीका—टीका—शिलांगाचार्यकृत, तदुपरि श्री जिनहंस सूरिकृत दीपिका, तदुपरि पार्श्वचन्द्र सूरिकृत

बानावबोध—प्रकाशक—श्रीयुक्त धनपतिसिंह बहादुरसिंह अजीमगंज संवत् १९३६

ठाणं टीका—अभयदेव सूरि टीका—प्रकाशक—सेठ माणिकचन्द्र चुनीलाल—सेठ कांतिलाल चुनीलाल, अहमदाबाद सन् १९३७

समवाओ टीका—अभयदेव सूरि टीका प्रकाशक—सेठ माणिकचन्द्र चुनीलाल, अहमदाबाद सन् १९३८

सूत्रकृतांग चूर्णी—रचयिता—जिनदास गणि, प्रकाशक ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था सन् १९४७

व्याख्या प्रज्ञप्ति—(भगवती सूत्र) टीका—अभयदेव सूरि प्रकाशक—ऋषभदेव केशरीमल जैन श्वेताम्बर संस्था सन् १९४७

सूत्रकृतांग टीका—शीलांगाचार्य टीका—प्रकाशक—सेठ छगनमलजी साहेव मुन्धा, बेंगलोर सन् १९६५

उत्तरज्जयणाहं टीका—(४ भाग)—लक्ष्मी वल्लभकृत टीका, अनुवादक—पं० हीरालाल हंसराज, प्रकाशक—मणिबाई राजकरण-अहमदाबाद-सन् १९३५

कल्पसूत्र—कल्पलता व्याख्या—प्रकाशक—बेलजी शिवजी कम्पनी, दाणानगर बम्बई-सन् १९१८

चउप्पन महापुरिसचरियं—शीलांगाचार्य, (वि० सं० ६२५) प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद—वाराणसी-५-सन् १९६१

तिलोयपण्णत्ती—रचयिता—आचार्य यति वृषभ, प्रकाशक—जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर-१९५१

उत्तर पुराण—आचार्य गुणभद्र, (१० वीं शदी) प्रकाशक—भारतीय ज्ञान पीठ वाराणसी सन् १९६८

आगम और त्रिपिटक—प्रकाशक—जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा कलकत्ता-सन् १९६६

युजुर्वेद—वैदिक यन्त्रालय-अजमेर

युक्त्यनुशासनम्—

अभिधान चिंतामणि कोष—आचार्य हेमचन्द्र

चतुर्विंशतिस्तवन—श्री मज्जयाचार्य, प्रकाशक—ओसवाल प्रेस, कलकत्ता

धर्मोपदेशमाला—प्रकाशक—सिधो जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९४६

ग्लकरण्ड श्रावकाचार—प्रकाशक—माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति बम्बई

तित्थोगालीपइनय—(जैन ग्रन्थ)—अप्रकाशित

त्रिषष्टिश्लाकापुरुष चरित्र—श्रीमती गंगाबाई जैन चेरिटेबल ट्रस्ट-बम्बई

दर्शनसार—देवसेनाचार्य—सं० पं० नाथूराम प्रेमी, प्रकाशक—जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई-१९२०

पंचवस्तुक ग्रन्थ—आचार्य हरिभद्र सूरि, प्रकाशक—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड, सूरत-१९२७

परिशिष्ट पर्व—आचार्य हेमचन्द्र, सं०—सेठ हरगोविन्ददास, प्रकाशक—जैन धर्म प्रचारक समा, भावनगर १९५७

भरतेश्वर ऋाहुबलि वृत्ति—शुभशील गणि, प्रकाशक—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार फंड सूरत १९३२

अभिधान राजेन्द्र कोष (भाग ७)—आचार्य विजय राजेन्द्र सूरि, रतलाम-१९१३-१४

पाइअसइमहण्णवो—कर्त्ता—पं० हरगोविन्द दास त्रिकमचन्द्र सेठ, सं० डा० वासुदेव अग्रवाल, पं० दलसुख-भाई मालवणिया, प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद—वाराणसी ५ (द्वितीय संस्करण—१९६३)

- मत्स्य पुराण—प्रकाशक नन्दलाल मोर, ५ बलाईव रो कलकत्ता-१९५८
- वायु पुराण - प्रकाशक धनमुख राय मोर, ५ बलाईव रो कलकत्ता-१९५९
- महावीरचरियं—श्री गुणचन्द्रगणि, (वि०सं०११३९) प्रकाशक—श्री जीवनचन्द रखबचन्द जवेरी, बम्बई-१९२९
- ऋग्वेद मण्डल—प्रकाशक—वैदिक यन्त्रालय अजमेर
- सिद्धहेमशब्दानुशासनम्—हेमचन्द्राचार्य प्रकाशक—सिद्धचक्र साहित्य प्रचारक समिति, बम्बई
- विशेषावश्यक भाष्य - दिव्य दर्शन कार्यालय, अहमदाबाद
- प्रवचनसारोद्धार—प्रकाशक—देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार संस्था, बम्बई १९७८
- आप्ते संस्कृत अंग्रेजी छात्र कोष—वमन शिवदास आप्ते
- विचार श्रेणी—आचार्य मेरुतुंग-प्रकाशक जैन साहित्य संशोधक (पत्रिका) पूना १९२५
- सिरिटुसमाकाल समण संघथयं—अवचूरि
- हरिवंश पुराण -जिन सेन सूरि, (७८३ ई०)सं० पं० पन्नालाल जैन, प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ-काशी १९६३
- न्यायविन्दु—आचार्य धर्मकृति
- ऋग्वेद मंडल प्रकाशक—वैदिक यन्त्रालय, अजमेर
- महापुराण—प्रकाशक—माणिकचन्द्र जैन, ग्रन्थमाला बम्बई
- अष्टप्राभृत—रचयिता—कुंदकुदाचार्य प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास
- सप्ततिशत द्वार - प्रकाशक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर
- वीरवर्धमान चरित्रम्—प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७४, कर्ता—भट्टारक सकल कीर्ति (१४७१-८०)
- वीरजिणिदचरिउ—प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७४, महाकवि पुष्पदन्त विरचित (शक सं० ८८७) संपादक—डा० आ० ने० उपाध्याय, एम० ए०, डि० लिट्
- वड्डमाणचरिउ—प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी १९७५, कर्ता—विबुध श्रीधर (वि० सं० ११९०)
- ज्येष्ठ शुक्ला १५
- स्कन्ध महा पुराण—नटवर चक्रवर्ती, बंगवासी प्रेस, कलकत्ता
- अंगुत्तर निकाय—(त्रिपिटक)—हिन्दी अनुवाद, भाग १-२) अनुवादक—महंत आनन्द कौशल्यायन, प्रकाशक—महाबोधि सभा, कलकत्ता-१९५७-६३
- दीर्घनिकाय—(त्रिपिटक)—सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशन मण्ड - नव नालन्दा, महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य-१९५८
- मज्झिमनिकाय—(त्रिपिटक)—सं० भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशन मण्ड—नव नालन्दा, महाविहार नालन्दा बिहार राज्य-१९५८
- विनय पिटक—(त्रिपिटक)—सं०—भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशन मण्ड—नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा बिहार राज्य-१९५६

संयुक्त निकाय—सं०—भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशन मण्ड—नव नालन्दा महाविहार, नालन्दा, बिहार राज्य-१९५६

सुत्तनिपात्तपालि—संपादक—भिक्षु जगदीश काश्यप, प्रकाशन मण्ड—नव नालन्दा, महाविहार नालन्दा बिहार राज्य-१९५९

उपदेशमाला सटीक—रचयिता—धर्मदास गणि, टीकाकार—रामविजय गणि, प्रकाशक—हीरालाल हंसराज जामनगर, १९३४

कषायपाहुडं—रचयिता—वीरसेनाचार्य—प्रकाशक—भारतीय दिगम्बर जैन संघ, मथुरा

लेश्या कोश—संपादक—मोहनलाल बांठिया, श्रीचन्द्र चोरड़िया, प्रकाशक—मोहनलाल बांठिया, कलकत्ता-१९६६

क्रियाकोश—संपादक—मोहनलाल बांठिया, श्रीचन्द्र चोरड़िया, वाचना प्रमुख आचार्य तुलसी, प्रकाशक—

जैन दर्शन समिति कलकत्ता

तुलसीप्रज्ञा—प्रकाशन—सन् १९६९ जैन विश्व भारती, लाडनूँ (राजस्थान) पत्रिका—अक्टूबर-दिसम्बर १९७५

पउमचरियं—प्रकाशक प्राकृत ग्रन्थ परिषद, वाराणसी

अन्ययोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका—रचयिता—हेमचन्द्राचार्य (बारहवीं शदी) टीकाकार—आचार्य मल्लिषेण

(ई० सं० १२६३) प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, आगास (गुजरात, वि० सं० २०२६)

धर्मसंग्रह सटीक—शान्ति विजयगणि, प्रकाशक—वसंती त्रिकमजी—पालीताना, सन् १९०५

पंचाशकटीका—रचयिता—हरिभद्र सूरि/टीकाकार—अभयदेव सूरि। प्रकाशक—जैन धर्म प्रसारक संघ, भावनगर, ई० सन् १९१२

अयोगव्यवच्छेदिका—रचयिता—हेमचन्द्राचार्य (बारहवीं शदी)—प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल,

आगास (गुजरात) वि० सं० २०२६

पंचसंग्रह—टीकाकार—मलयगिरि प्रकाशक—जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर १९१९

लेश्या-कोश पर विद्वानों की सम्मति

प्रज्ञाचक्षुषं सुखलालजी संघवी, अहमदाबाद

लेश्या कोश के प्रारम्भिक ३४ पृष्ठों को पूरा सुन गया हूँ। अगला भाग अपेक्षा के अनुसार ही देखा है। पर उसका पूरा ख्याल आ गया है। प्रथम तो यह बात है कि एक व्यापारी फिर भी अस्वस्थ तबीयतवाला इतना गहरा श्रम करे और शास्त्रीय विषयों में पूरी समझ के साथ प्रवेश करे यह जैन समाज के लिए आश्चर्य के साथ खुशी का विषय है। आपने कोशों की कल्पना को मूर्त बनाने का जो संकल्प किया है वह और भी आश्चर्य तथा आनन्द का विषय है। इतना बड़ा भारी जवाबदेही का काम निर्विघ्न पूरा हो—यही कामना है।

Dr. A. N. Upadhyaya, M. A. D. Litt., Shivaji University, Kolhapur,

"I have read the major portion of this KOSA. You are to be congratulated on having brought out a valuable source book on the Lesya Doctrine. I appreciate your methodology and have all praise for the pains you have taken in collecting and systematically presenting the material. Such works really advance the cause of Jainological studies. Please accept my greetings on this useful work and convey the same to your colleagues who have collaborated with you in this project. Such Kosas for 'PUDGAL' etc. would be welcome in the interest of the progress of Jainological studies."

Dr. P. L. Vaidya, M. A. D. Litt. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.

"I am very grateful to you for your sending me a copy of your book 'Lesya-Kosa.' I have read a goodly portion of it and am deeply impressed by your methodical work on an important topic of Lesya in Jain Philosophy. All students of Jain Literature and Philosophy would surely be grateful to you for your having placed in their hand a work of tremendous utility."

Dr. Suniti Kumar Chatterjee, National Professor of India, Calcutta

"I am not a student of Philosophy, much less of Jain Philosophy. But I have learnt a lot from your work, which is very thorough study, with a wealth of quotations from both Prakrita and Sanskrita, on the concept of Lesya. This, as it would appear, is not known in Brahmanical and Buddhist philosophy. I did not know anything about it before I got your book. This, as it would appear from your study, is a very important concept in Jain Philosophy with regard to the nature of Soul, both in the static or contemplative and its dynamic or active aspect.

I am sure specialists will give a welcome accord to your book."

'Wishing you all success in your noble work of interpreting one of the most important aspects of our Indian civilisation and thought namely, the Jaina."

Dr. Prof. L. Alsdorf, Seminar für Kultur und Geschichte Indiens, Universität Hamburg.

"I acknowledge receipt of your Lesya-Kosa and accept my very sincere thanks for this most valuable and welcome gift. The theory of Karman of which Lesya Doctrine is an

integral part is the very centre and heart of Jainism; at the same time it is a most intricate and complex subject the study of which presents a great many difficulties and problems, not all of which have been solved so far. With erudition and acumen, you have furnished a most useful contribution and successfully advanced our knowledge "

Prof. Dr. K. L. Janert, Director, Institut für Indologie Der Universität Zu Köln.

"I have received your book *Lesya Kosa*, I also owe you a valuable addition to my Library. It is always a matter of great satisfaction to me to see a scholar not recoil from the arduous task of compiling dictionaries, indexes etc.—even that great English Critic and Lexicographer, Dr. Samuel Johnson, called it drudgery some two hundred years ago. And it is of course only diligent collection and comparison of all relevant material that genuine advance in knowledge is based on. So we shall have to thank you for having made work easier for those who come after you.

Prof. Padamanath S. Jain, Dept. of Linguistics, The University of Michigan, U.S.A.

"Please forgive me for the delay in acknowledging the receipt of your excellent gift of the *Lesya-Kosa*. This is an extraordinary work and you deserve our gratitude for publishing it. You have opened a new field of research and have established a new model for all future Jain studies. The subject is fascinating not only for its antiquity but also for its value in the study of Indian Psychology."

क्रिया-कोश पर प्राप्त समीक्षा

Prajnachakshu Pandit Sukhlal D. Litt., Ahmedabad.

After *Kesya-Kosa* I have received your *Kriya-Kosa*, thanks. I have heard the Editorial, Forward, Preface in full and certain portions thereafter. I am surprised to find such diligence such concentration and such devotion to learning. Particularly so because such person is rarely found in business community who dedicates himself to learning like a BRAHMIN.

Dr. Adinath Neminath Upadhye D. Litt. Shivaji University, Kolhapur.

I am in receipt of the copy of the '*Kriya-Kosa*' so kindly sent by you. It is a remarkable source book which brings in one place so systematically, the references and extracts which shed abundant light on the usage of the term *Kriya* in Jainism. The *Kosas* that are being brought out by you will prove of substantial help to the future compilation of an encyclopaedia on Jainism. I shall eagerly look forth to the publication of your *DHYAN KOSA*.

With felicitations on your scholarly achievements

Dr. P. L. Vaidya, D. Litt. Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-4.

I am very grateful to you for your sending me a copy of your *Cyclopaedia of Kriya*. I have read a few pages already and find it as useful as your *Lesya Kosa*. Please do bring out similar volumes on different topics of Jain Philosophy, of course, this may not bring you any material wealth, but I am sure students of Jain Literature will surely bless you for having offered them a real help in their study

Prof. Hiralal Rasikdas Kapadiya, Surat Bombay.

This work (*Kriya Kosa*) will be very useful to scholars interested in Jainology. The learned editors deserve hearty congratulations for having undertaken such a laborious and tedious task.

मिथ्यात्वीका आध्यात्मिक विकास पर अभिमत

भँवरलाल जैन न्यायतीर्थ, जयपुर

पुस्तक में नौ अध्याय है—विभिन्न दृष्टिकोणों से मिथ्यात्वी अपना आत्म विकास किम रूप में किस प्रकार कर सकता है—यह दर्शाया है। जैन सिद्धान्त के प्रमाणों के आधार पर इस विषय को स्पष्टतया पाठकों के समक्ष लेखक ने सरल सुबोध भाषा में रखा है। जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। शास्त्रीय चर्चा को अभिनव रूप में प्रस्तुत करने में लेखक सफल हुए हैं। (वीर वाणी)

राम सुरी (डेलावाला), कलकत्ता

‘मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास’ पुस्तक में आलेखित पदार्थों के दर्शन से जैन दर्शन व जैनागमों की अजैनों की तरफ उदात्त भावना और आदरशीलता प्रकट होती है। एवं जैन धर्म को अप्राप्त आत्माओं में कितने प्रमाण में आध्यात्मिक विकास हो सकता है—इत्यादिक विषयों का आलेखन बहुत सुन्दरता से जैनागमों के सूत्रपाठों से दिखाया गया है। इसलिए विद्वान् श्रीचन्द्र चोरड़िया का प्रयास बहुत प्रशंसनीय है और यह ग्रन्थ दर्शनीय है।

डा० नरेन्द्र भणावत, जयपुर

लेखक की यह कृति पाठकों का ध्यान एक नई दिशा की ओर खींचती है। शास्त्र मर्मज्ञ विद्वानों को विविध विषयों पर गहराई से चिन्तन करने की और प्रवृत्ति करने में यह पुस्तक सहायक बनेगी।

डा० ज्योति प्रसाद जैन, लखनऊ

प्रायः यह समझा जाता है कि मिथ्यात्वी व्यक्ति धर्माचरण का अधिकारी नहीं है और उसका आध्यात्मिक विकास नहीं हो सकता। भ्रान्ति का निरसन विद्वान् लेखक ने सरल-सुबोध किन्तु विवेचनात्मक शैली में और अनेक शास्त्रीय प्रमाणों की पुष्टिपूर्वक किया है।

जमनालाल जैन वाराणसी

यह अपने विषय की अपूर्वकृति है। मनीषी लेखक ने लगभग दो सौ ग्रन्थों का गम्भीर परायण एवं आलोडन करके शास्त्रीय रूप में अपने विषय को प्रस्तुत किया है। परिभाषाओं और विशिष्ट शब्दों में आवद्ध तात्त्विक प्ररूपणाओं एवं परम्पराओं को उन्मुक्त भाव से समझने के लिए यह कृति अतीव मूल्यवान् है। (श्रमण पत्रिका)

भँवरलाल नाहटा, कलकत्ता

शास्त्र प्रमाणों से परिपूर्ण इस ग्रन्थ में विद्वान् लेखक ने नौ अध्यायों में प्रस्तुत विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है।

पं० चन्द्रभूषणमणि त्रिपाठी, गजगृह

लेखक ने काफी विस्तार के साथ उक्त चर्चा को पुनः चिन्तन का आयाम दिया है। पुस्तक एक अच्छी चिन्तन सामग्री उपस्थित करती है।

दत्तसुख मालवणिया, अहमदाबाद

श्री चोरड़ियाजी ने इस विषय में जो परिश्रम किया है वह धन्यवाद के पात्र हैं। यह ग्रंथ इतःपूर्व प्रकाशित लेखा-कोश, किया-कोश की कोटिका ही है। इन ग्रन्थों में श्री चोरड़ियाजी का सहकार था। हमें आशा है कि वे आगे भी इस कोटि के ग्रन्थ देते रहेंगे। विशेषता यह है कि आगमों में जितने भी अवतरण इस विषय में उपलब्ध थे—उनका संग्रह किया है। इतना ही नहीं आधुनिक काल के ग्रन्थों के भी अवतरण देकर ग्रन्थ को संशोधकों के लिए अत्यन्त उपादेय बनाया है—इसमें सन्देह नहीं है।

Glory of India, दिल्ली

'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' यह पुस्तक अनेक विशिष्टताओं से युक्त है। एक मिथ्यात्वी भी सद्-अनुष्ठानिक क्रिया से अपना आध्यात्मिक विकास कर सकता है। साम्प्रदायिक मतभेदों की बातें या तो आई ही नहीं है अथवा भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों का समभाव से उल्लेख कर दिया गया है।

श्री चोरड़ियाजी ने विषय का प्रतिपादन बहुत ही सुन्दर और तलस्पर्शी ढंग से किया है। विद्वज्जन इसका मूल्यांकन करें। निःसन्देह दार्शनिक जगत के लिए चोरड़ियाजी की यह एक अप्रतिम देन है।

मुनिश्री जशकरण, सुजानगढ़

अनुमानतः लेखक ने इस ग्रंथ को लिखने के लिए अनेकानेक ग्रंथों का अवलोकन किया है। टीका भाष्यों के सुन्दर संदर्भों से पुस्तक अतीव आकर्षक बनी है।

डा० भागचन्द्र जैन, नागपुर

विद्वान् लेखक ने यह स्पष्ट करने का साधार प्रयत्न किया है कि मिथ्यात्वी का कब और किस प्रकार विकास हो सकता है। लेखक और प्रकाशक इतने सुन्दर ग्रंथ के प्रकाशन के लिए बधाई के पात्र हैं।

डा० दामोदर शास्त्री, दिल्ली

लेखक ने अपने इस ग्रंथ में शोधसार समाविष्ट कर शोधार्थी विद्वज्जनों के लिए मार्ग प्रशस्त किया है। यत्र-तत्र पेचीदे प्रश्नों को उठाकर उनका सीदाहरण व शास्त्र सम्मत समाधान भी किया गया है।

मुनिश्री राकेशकुमार, कलकत्ता

श्रीचन्द्र चोरड़िया के विशिष्ट ग्रन्थ 'मिथ्यात्वी का आध्यात्मिक विकास' में शास्त्रीय दार्शनिक दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण प्रतिपादन हुआ है। जैन धर्म के तात्त्विक चिन्तन में रूचि रखनेवालों के लिए तो यह पुस्तक ज्ञानवर्द्धक और रसप्रद है ही, किन्तु साम्प्रदायिक अनाग्रह और वैचारिक उदारता के इस युग में हर बौद्धिक और चिन्तनशील व्यक्ति के लिए इसका स्वाध्याय उपयोगी भी है।

वर्धमान जीवन कोश-प्रथम खण्ड पर प्राप्त समीक्षा

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

यह ग्रन्थ भगवान् महावीर के जीवन सम्बन्धी संदर्भों का विस्तृत विश्वकोश है। लेश्या कोश क्रिया कोश की भांति इसका निर्माण भी अन्तरराष्ट्रीय दशमलव वर्गीकरण पद्धति से किया गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि शोधार्थियों के लिए यह ग्रंथ अतीव उपयोगी सिद्ध होगा।

डा० नेमीचन्द्र जैन, इन्दौर

'वर्धमान जीवन कोश' जैन विद्या के क्षेत्र का एक अपरिहार्य, अपूर्व, बहुमूल्य संदर्भ ग्रंथ है। पूर्व प्रकाशित लेश्या कोश-क्रिया कोशों का जो स्वागत देश-विदेश हुआ है वह उजागर है। इसी तरह का मूल्यवान् संदर्भ ग्रंथ यह भी है। अस्तु कोश उपयोगी है और भगवान् महावीर के जीवन के सम्बन्ध में बहुविध जानकारी दे रहा है।

मुनिश्री लालचन्द्र (श्रमण संघीय), कलकत्ता

'श्री वर्धमान जीवन कोश' प्रथम खण्ड देखने को मिला। यह पुस्तक सर्वप्रथम पुस्तक है जिसमें भगवान् महावीर की जीवनी यथार्थ रूप से लिखने में आई है।

श्री कन्हैयालाल सेठिया, कलकत्ता

सम्पादक द्वय का गहन अध्ययन और अथक श्रम इस ग्रन्थ में प्रतिबिम्बित हुआ है। शोधार्थियों के लिए यह ग्रंथ अत्यन्त उपयोगी है।

अखिल भारतीय प्राच्यविद्या सम्मेलन, ३१वां अधिवेशन में

जैन दर्शन समिति (—१६ सी डोवर लेन, कलकत्ता-२६) द्वारा श्री श्रीचन्द्र चोरड़िया के सम्पादन में 'वर्धमान जीवन कोश' कृति का प्रकाशन हुआ है। प्रारम्भ में स्वनामधन्य आदरणीय जैनरत्न श्री मोहनलालजी बांठिया इस योजना के प्रवर्तक थे। श्री चोरड़ियाजी के सहयोग से यह ग्रन्थ तैयार हुआ था। भगवान् महावीर की जीवनी से सम्बन्धित सामग्री को प्रस्तुत करने वाला यह ग्रंथरत्न अत्यन्त उपयोगी एवं संग्रहणीय है।

प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग-अध्यक्षीय भाषण

२६ से ३१-१०-८२

डा० भागचन्द्र जैन, नागपुर

प्रस्तुत समीक्ष्य ग्रन्थ 'वर्धमान जीवन कोश' का प्रकाशन जैन विषय कोश योजना के अन्तर्गत हुआ। सम्पादक द्वय ने इस ग्रंथ की सामग्री साम्प्रदायिकता के दायरे से हठकर उपलब्ध समस्त वाङ्मय से एकत्रित की है। प्रस्तुत प्रकाशित प्रथम खण्ड में तीर्थंकर महावीर के जीवन विषयक, चरवन से परिनिर्वाण तक का विषय संयोजित हुआ है। सामग्री की प्रस्तुति में सम्पादन कला का निर्दोष उपयोग हुआ है।

पाल जैन, दिल्ली

भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित यह 'विश्व कोश' है। भगवान् महावीर के जीवन और सिद्धांतों के विषय में विपुल साहित्य की रचना हुई है, किन्तु वह इतना फैला हुआ है कि शोधकर्त्ताओं को इसकी पूरी जानकारी करने में बड़ी कठिनाई होती है। आलोच्य कोश ने उस कठिनाई को बहुत कुछ अंशों में दूर कर दिया।

सरलाल नाहटा, कलकत्ता

भगवान् महावीर की जीवनी सम्बन्धी समस्त पहलुओं के अवतरणों का संग्रह करने में विद्वान् सम्पादकों ने बड़े धैर्यपूर्वक श्रुतसमुद्र का अवगाहन कर बहुत ही महत्वपूर्ण भागीरथ प्रयत्न किया है।

गालप्रकाश मेहता, वाराणसी

यह ग्रन्थ जैन आगम और आगमेतर साहित्य पर शोध कर रहे छात्रों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

श्री० नरेन्द्र भाणावत, जयपुर

वर्धमान महावीर के जीवन की आधारभूत सामग्री का यह प्रामाणिक संदर्भ ग्रन्थ शोधार्थियों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी और पथ प्रदर्शक है।

श्री रतनलाल डोशी, सैलाना

यह ग्रन्थ अपने आप में अद्वितीय अनूठा और विद्वानों के लिए बहुमूल्य निधि है। इसके पीछे सूझ-बूझ के साथ कष्ट साध। पुरुषार्थ हुआ है। भगवान् के जीवन सम्बन्धी जो और जितनी सामग्री इसमें संकलित हुई है, पहले किसी ग्रन्थ में नहीं हुई। जिस निष्ठा, अनुभव और धैर्य से यह कोश सम्पन्न हुआ है, वह अभिवन्दनीय है।

मंगलदेव शास्त्री, राजगृह

महाश्रमण भगवान् महावीर पर अब तक अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी है, पर प्रस्तुत ग्रन्थ का अपना विशेष महत्व है। यह सम्पादक द्वय की उदार एवं समन्वयवादी दृष्टि को उजाकर करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ विद्वानों के लिए, विशेष रूप से शोध छात्रों के लिए विशेष उपयोगी है।

श्री भंवरलाल जैन न्यायतीर्थ, जयपुर

भगवान् महावीर के जीवन से परिनिर्वाण तक का विस्तारपूर्वक विवेचन इस कोष में किया गया है। दिगम्बर-श्वेताम्बर एवं जैनेतर सामग्री का यथास्थान संकलन कर इतिहास प्रेमियों एवं शोध छात्रों के लिए इसे एक संदर्भ ग्रन्थ बना दिया है।

कंवर साहब मानसिंहजी, लावा सरदारगढ़

भगवान् महावीर के जीवन की अपूर्व व विशद सामग्री है। इस कार्य को पूरा कर दिखाने में यह आपके परिश्रम व तप का ही फल है।

युगप्रधान आचार्य श्री तुलसी

इसमें भगवान् महावीर के जीवन से सम्बन्धित काफी सामग्री एकत्रित है। इस विषय में शोध करने वालों के लिए यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी बन सकेगा—ऐसा विश्वास है।

Vardhamana-Jivana-Kosha compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria, Jain Darsan Samiti, 16C, Dover Lane, Calcutta-700 021, 1980 p.p. 51+584.

The publication of **Vardhamana-Jivana-Kosha** (Cyclopaedia of the life of Vardhamana Mahavira) compiled and edited by Mohanlal Banthia and Srichand Choraria, is a unique contribution to the scholarly world of Jainistic studies. The conception of compiling a dictionary on the life and teaching of Lord Mahavira is itself a new one, and the compilers must be thanked for such a venture.

This type of cyclopaedia has been a desideratum for a long time. The book is divided into several sections as far as 99 and sub-divided into several other decimal points for the easy reference. The system followed in this classification is the international decimal system. Each decimal point is arranged in accordance with the topic connected with the life and history of Vardhamana Mahavira. In each section and under each topic the original quotations from nearly 100 books followed by Hindi translation are given. These quotations are not only valuable, but they represent the authenticity of the incidents of the life of Mahavira. To compile such quotations in one place is a monumental one and tremendous labour is involved therein.

This Jain Darsana samiti has published two other Kosas *Les'ya Kos'a* (1966) and *Kriya Kos'a* (1969). The *Pudgala Kos'a* and the *Dhyana-Kosa* seem to have been compiled and awaiting publications for a decade now.

The **Vardhamana Jivana-Kosa** is not only unique but also very useful for the handy reference, to the source material on Mahavira's life story. The author has ransacked both the Svetambara and Digambara materials. This is an exceptionally good book and must be used by all scholars who want to work on Jainism, particularly on Mahavira's life.

The book is well-printed and carefully executed. The printing mistakes are exceptionally few. The book is well bound as well. I hope this book will receive good demand from the libraries of the world.

University of Calcutta.
20th Sept 1984

—SATYA RANJAN BANERJEE

Mithyatvi Ka Adhyatmika Vikasa written by Sri Srichand Choraria, Jain Darsana Samiti 16C, Dover Lane, Calcutta 29 p.p. 24 and 360.

This is a philosophical treatise. It describes carefully the manifestation of the soul according to Jain tradition. It deals with the problem whether the mithyatva can have a manifestation and the author has proved that in a possible way.

The book is divided into nine chapters including conclusion. Each chapter has several sub sections, or rather points on which the author has discussed a lot, each section of each chapter is replete with ample quotations proving the conclusion of the author.

This book shows the masterly scholarship of Sri Srichand Choraria over the subject. The language of the author is simple, but forceful and the analysis is praise-worthy. The author has consulted quite a number of books and has given a sustained effort for the better production of the thesis. The work is more than a D. Lit.

The printing of the book is good and the binding as well. The book must be in the shelf of the library of every learned scholar.

University of Calcutta
20 Sept. 1984

—SATYA RANJAN BANERJEE

